स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAPS-07

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास बेन्थम से माओ तक

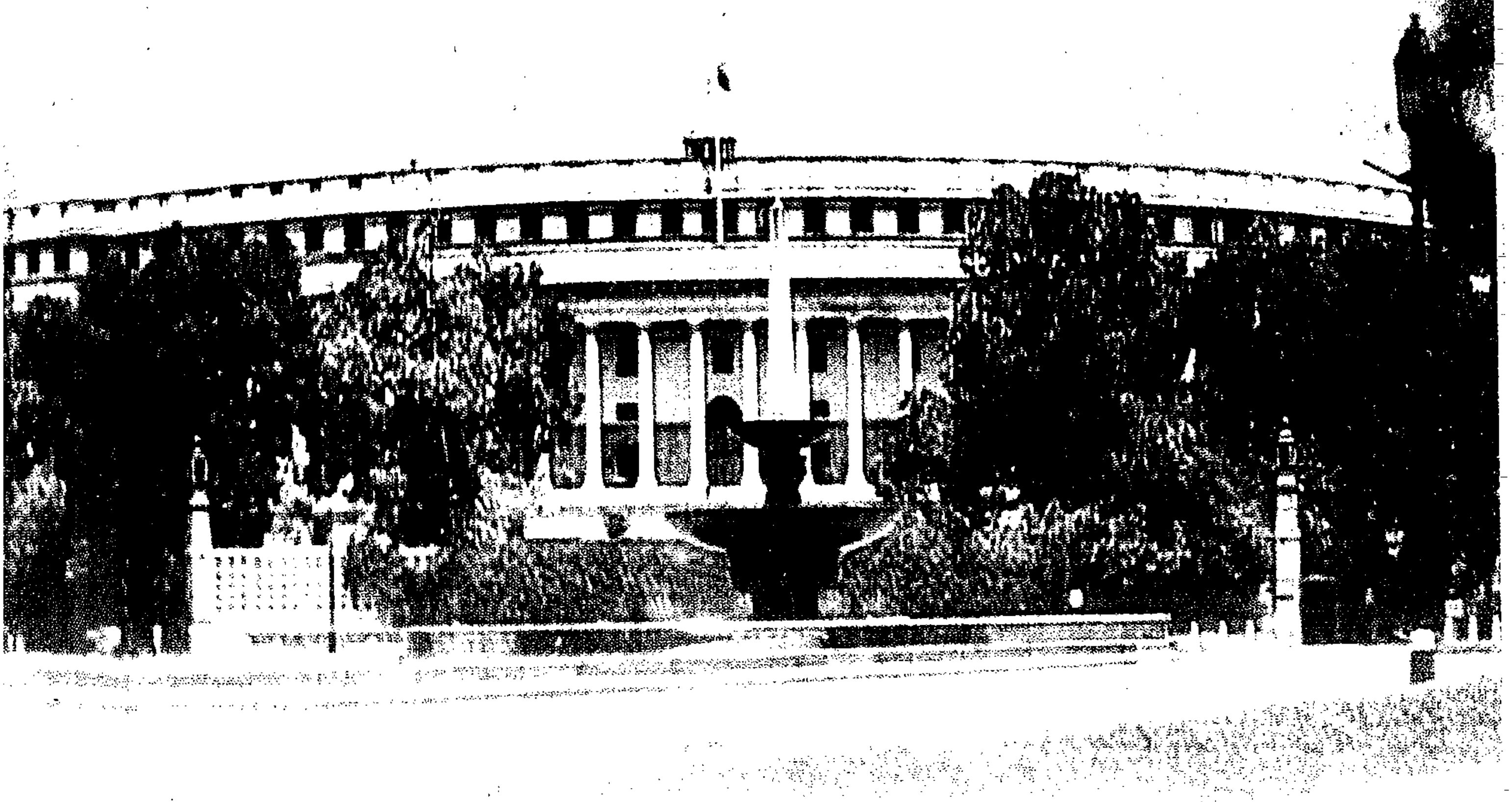

प्रथम खण्ड : उपयोगितावाद और वैज्ञानिक उदारवाद
द्वितीय खण्ड : प्रत्ययवादी दार्शनिक
तृतीय खण्ड : मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय
चतुर्थ खण्ड : मार्क्स तथा मार्क्सवादी
पंचम खण्ड : विकासवादी तथा क्रान्तिकारी समाजवाद के सिद्धन्त

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS - 07
पाश्चात्य राजनीतिक
चिन्तन का इतिहास
बेन्थम से माओ तक

खण्ड

01

उपयोगितावाद और वैज्ञानिक उदारवाद

इकाई-1	5
जेरेमी बेन्थम (1748-1832)	
इकाई-2	18
जान स्टुअर्ट मिल (1806-1873)	
इकाई-3	34
हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903)	

खण्ड 1 का परिचय : उपयोगितावाद और वैज्ञानिक उदारवाद

पिछले वर्ष आप लोगों ने पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के इतिहास में प्राचीन और मध्यकालीन चिंतकों का अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त आपने इसका भी अध्ययन किया था कि पुनर्जागरण और पुनर्सुधार आन्दोलनों ने किस प्रकार व्यक्तिवाद, राष्ट्रीय सम्प्रभुतावाद और वैज्ञानिक विचारधारा को जन्म देते हुए आधुनिक राजनीतिक चिंतन को आरम्भ किया। मैकियावेली और बोदां ने आधुनिक चिंतन का सूत्रपात किया और संविदावादी विचारकों-हाब्स, लाक, रूसो ने इसे संपुष्ट किया।

व्यक्तिवाद/उदारवाद आधुनिक युग की देन है। 19वीं शताब्दी में इस विचारधारा के विकास में ब्रिटिश उपयोगितावाद का महत्वपूर्ण योगदान है। बेन्थम वैज्ञानिक उदारवाद/उपयोगितावाद के संस्थापक थे। जान स्टुअर्ट मिल और स्पेन्सर ने विभिन्न तरीकों से इसमें नवीन आयाम जोड़े। उन्होंने उदारवादी-व्यक्तिवादी चिंतन में 'व्यक्ति' के महत्व के साथ-साथ 'समाज' अथवा 'समुदाय' के महत्व को समझने की चेष्टा की। उदारवाद का इन तीन चिंतकों के माध्यम से किस प्रकार विकास हुआ, और विकास की इस प्रक्रिया में किस प्रकार इसने 20वीं शताब्दी के उदारवाद और समकालीन उदारवाद को प्रभावित किया-यही समझना इस इकाई का उद्देश्य है।

उदारवाद का मूल स्वर 17वीं शताब्दी में लाक में तथा अन्य सामाजिक संविदा के सिद्धान्तकारों में पाया जाता है। वास्तव में लाक को तो उदारवाद का जनक ही माना जाता है। 19वीं शताब्दी में आते-आते उदारवाद में यथेष्ट परिवर्तन आ गया। लाक द्वारा प्रतिपादित उदारवाद प्राकृतिक अधिकारों के क्रान्तिकारी-व्यक्तिवादी अवधारणा पर आधारित था। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकारों की श्रेणी में रख कर यह शास्त्रीय उदारवाद मध्यकालीन सामन्तशाही व्यवस्था का भी पोषण कर रहा था। किन्तु 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक इग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के सफल होने से एक नवीन वर्ग-मध्यम वर्ग का उद्भव हुआ। अब आवश्यकता इस बात की थी कि इस नवीन वर्ग के अधिकारों को सुरक्षित किया जाय और यह कार्य क्रान्तिकारी प्राकृतिक अधिकारों के व्यक्तिवादी सिद्धान्त में परिवर्तन करके ही सम्भव था क्योंकि औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास के लिए क्रान्तिकारी सिद्धान्त की नहीं, वरन् शनैः - शनैः परिवर्तन के सिद्धान्त की आवश्यकता थी। शनैः-शनैः परिवर्तन का तात्पर्य है 'परम्परा' एवं 'परिवर्तन' के मध्य समन्वय और तद्नुसार 'विकास'। इसे 'परिवर्तन' एवं 'निरन्तरता' का समन्वय भी कहा जा सकता है। उदारवाद में परिवर्तन एवं निरन्तरता का यह समन्वय आज भी विद्यमान है।

इस इकाई में जिन राजनीतिक चिन्तकों का अध्ययन किया जा रहा है (जेरेमी बेन्थम, जान स्टुअर्ट मिल और हरबर्ट स्पेन्सर का), वे सभी उपयोगितावादी विचारधारा के अनुयायी हैं। उपयोगितावाद उन्नीसवीं शताब्दी में शास्त्रीय उदारवाद का ही रूपान्तर है। उपयोगितावाद के संस्थापक बेन्थम हैं; जे0 एस0 मिल ने उसमें यथेष्ट संशोधन किया; और स्पेन्सर ने उपयोगितावाद की प्रकृति को ही परिवर्तित कर दिया।

18वीं शताब्दी तक के उदारवाद को शास्त्रीय उदारवाद (Classical Liberalism) की संज्ञा दी गयी है। इसमें प्रमुख रूप से जान लाक एवं कुछ अर्थशास्त्रियों (जैसे एडम स्मिथ, रिकार्डो और माल्थस) के चिंतन का समावेश है। 19वीं शताब्दी का उदारवाद 'संशोधित' उदारवाद है। संशोधित

उदारवाद ने ही 20वीं शताब्दी के प्रथम अर्ध-शतक में कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की अवधारणा का मार्ग प्रशस्त किया, और द्वितीय अर्धशतक के अन्त तक विकसित होते हुए यह समुदायवादी (Communitarianism) चिन्तन का आधार बना। इसका अत्याधुनिक समकालीन स्वरूप वैश्वीकरण (Globalization) का है।

इकाई 1 - जेरेमी बेन्थम (1748-1832)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 बेन्थम की प्रमुख पुस्तकें

1.3 उपयोगितावाद का सिद्धान्त

1.4 राज्य की अवधारणा

1.5 बेन्थम का सुधारवाद

1.6 बेन्थम का महत्व

1.7 सारांश

1.8 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

1.9 संबंधित प्रश्न

1.10 प्रश्नोत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप

- उपयोगितावाद की आधारभूत विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।
- जेरेमी बेन्थम के राजनैतिक विचारों का विवेचन कर सकेंगे।
- राजनैतिक चिन्तन में बेन्थम के महत्व तथा योगदान का आंकलन कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

शास्त्रीय उदारवाद को वैज्ञानिक उदारवाद की ओर मोड़ने का प्रथम प्रयास बेन्थम ने किया। उपयोगितावादी सिद्धान्त के प्रतिपादन से उन्होंने औद्योगिक क्रान्ति के उभरते हुए मध्यम वर्ग के अधिकार को सुरक्षित करने का प्रयास किया, और इसी प्रयास में 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया।

बेन्थम ने प्रयोगवादी एवं आनुभाविक अध्ययन पद्धति का अनुसरण किया। उन्होंने न तो मान्टेस्क्यू और बर्क की तरह भूतकाल और वर्तमान की ऐतिहासिक एकबद्धता पर विश्वास किया, और न वह बर्क द्वारा अनुमोदित दार्शनिक रूढ़िवाद को ही स्वीकार कर सके। उन्होंने हीगल और मार्क्स की 'ऐतिहासिक अनिवार्यता' (Historical Determinism) के सिद्धान्त को भी नकार दिया। वह स्वयंसिद्ध नैतिक और प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त के भी प्रबल विरोधी थे।

बेन्थम के चिन्तन में प्रमुख रूप से दो तत्व उभर कर सामने आते हैं; और यह दो तत्व उनकी दो प्रमुख रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं :

(1) A Fragment on Government (1776), और

(2) The Principles of Morals and Legislation (1789) ।

बेन्थम कानून के महत्व को स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि विधि निर्माण में रूढ़िवादी परम्पराओं का नहीं वरन् सचेतन बुद्धि का प्रयोग होना चाहिए। इसी आशय से वह लोकप्रशासन के भी सकारात्मक योगदान की बात करते हैं। उनका मानना है कि कानून और प्रशासन एक दूसरे के पूरक हैं। कानून सिद्धान्त का निर्माण करता है और प्रशासन उसे व्यवहार में उतारने की चेष्टा करता है।

बेन्थम के उपयोगितावाद के सिद्धान्त में आधुनिक राज्य का प्रारूप उभरता है। मैकियावेली की तरह उन्होंने राजनीति को एक प्रहार का नीति विज्ञान (पालिसी साइन्स) बनाया। किन्तु जहाँ मैकियावेली का नीति विज्ञान शासन/शासकों को स्थाइत्व और सुरक्षा प्रदान करने की चेष्टा करता है, वहीं बेन्थम का उपयोगितावाद समाज में 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकमत सुख प्रदान करने की चाह रखता' है।

सारांशतः बैन्थम के उपयोगितावाद के निम्न तीन प्रमुख बिन्दु हैं-

(1) यह मानव मनोविज्ञान के सुखवादी दृष्टिकोण पर आधारित है।

(2) मानव स्वभाव के सुखवाद के आधार पर यह शासन के सिद्धान्त एवं राजनीतिक संस्थाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। और,

(3) अन्ततः यह शासन के सिद्धान्त की व्याख्या प्रयोगवादी-वैज्ञानिक विधि के अनुसार करता है और 'अधिकतम व्यकित्यों के अधिकतम सुख' की आकांक्षा रखता है।

1.2 बेन्थम की प्रमुख पुस्तकें

(1) Fragment on Government (1776)

(2) Principles of Morals and Legislation (1789)

(3) तत्पश्चात् विधि शास्त्र (Jurisprudence) में उन्होंने फ्रांसीसी भाषा में पुस्तक लिखी। सन् 1820 के पश्चात् उनके कुछ लेखों का अंग्रेजी में अनुवाद हुआ और जान स्टुअर्ट मिल के उनके कुछ लेखों का सम्पादन किया। अतः Rationale of Judicial Evidence 1827 में प्रकाशित हुई।

(4) बेन्थम के मित्र जेम्स मिल (जान स्टुअर्ट मिल के पिता) के प्रयास से उनके मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक लेखों का संकलन The Phenomena of the Human Mind में 1829 हुआ।

1.3 उपयोगिता का सिद्धान्त

बेन्थम ने 'शुभ', 'ग्राह्य', 'सुन्दर', अथवा 'मूल्य' को उपयोगी (utility) का ही पर्याय माना। उनके अनुसार जो कार्य सुख प्रदान करे वह ग्राह्य है। उनका कहना था कि 'प्रकृति ने मानव को दो सम्प्रभु स्वामियों के अन्तर्गत रखा है- दुख और सुख। यह उसके सोचने का विषय

है कि वह कौन सा कार्य करे (जो उसे सुख दे) और कौन सा कार्य न करे (जो उसे पीड़ा दे)। दुख और सुख की गलत और सही का मापदण्ड है।' उपयोगितावाद की निम्न विशेषताएं हैं-

(i) उपयोगितावाद का सिद्धान्त एक सुखवादी (Hedonistic) सिद्धान्त है। हार्टल की तरह बेन्थम भी यह मानते हैं कि सुख-दुख की अनुभूति संवेदनाओं (सेवंदनशील नाड़ियों) के माध्यम से होती है। व्यक्ति के सभी अनुभव या तो सुख प्रदान करते हैं या दुख। किन्तु बेन्थम के अनुसार सुख का तात्पर्य विभिन्न कार्यों से प्राप्त सुखों का 'जोड़' अथवा 'ढेर' नहीं है; यह अनेक कार्यों का ऐसा सारांश है जो कभी-कभी ऐसे सुख का परित्याग भी करता है। जिसके परिणाम पीड़ादायक हों।

(ii) उपयोगितावाद मात्रा-संबन्धी सुखवाद का सिद्धान्त है, न कि गुणात्मक-सुखवाद का सिद्धान्त। जो कार्य मात्रा में अधिक सुख प्रदान करता है वही ग्राह्य है। यहाँ बेन्थम के चिन्तन में कुछ विरोधाभास है, क्योंकि मात्रात्मक सुख कार्यों का ऐसा सारांश नहीं हो सकता जो कभी-कभी तत्काल सुख का परित्याग कर सके। बेन्थम का कहना था कि यदि ताश के पत्तों के खेल और कविता-पाठ से प्राप्त सुख में समान आनंद मिलता हो तो दोनों प्रकार के सुख में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है।

(iii) किसी कार्य से प्राप्त सुख की मात्रा के निर्धारण के लिए बेन्थम ने एक 'सुखवादी मापदण्ड' अथवा 'नैतिक मापदण्ड' (Felicific Calculus) की भी संरचना की है। इस मापदण्ड के सात घटक हैं। दो या अधिक प्रकार के कार्यों के परिणाम को उन कार्यों से प्राप्त सुख की (i) निश्चितता, (ii) तीव्रता, (iii) दूरीपन, और (iv) टिकाऊपन के आधार पर मापा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह जानना भी आवश्यक है कि किसी कार्य को करने से प्राप्त सुख क्या अन्य प्रकार के सुख प्रदान करने की भी क्षमता रखता है अथवा नहीं ? अतः नैतिक मापदण्ड के दो अन्य तत्व हैं- (v) उर्वरता, और (vi) शुद्धता । (vii) अन्ततः वह कार्य अधिक ग्राह्य है जो 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' प्रदान करें। नैतिक मापदण्ड का इसलिए अन्तिम तत्व है 'विस्तार'।

(iv) उपयोगिता का सिद्धान्त कार्य के परिणाम से संबंधित है, न कि उस कार्य को करने की मनोवृत्ति से। बेन्थम यह भी मानते हैं कि 'परिणाम' दो प्रकार के होते हैं- प्राथमिक और सहायक। कभी-कभी सहायक परिणाम अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं। जैसे, यदि एक व्यक्ति राज्य को अपना 'कर' (टैक्स) अदा नहीं करता तो यह 'पीड़ा' का विषय है, क्योंकि राजकीय खजाने को थोड़ी सी राजस्व की हानि होगी। किन्तु यदि उस व्यक्ति से प्रेरित होकर राज्य के अधिकांश नागरिक अपने-अपने निर्धारित टैक्स अदा नहीं करते तो यह अधिक पीड़ा का कारण है, क्योंकि राज्य को एक बड़े पैमाने में राजस्व की हानि होगी- यह सहायक परिणाम है। अतः बेन्थम का आग्रह है कि विधि-वेत्ताओं को कानून बनाते समय इस प्रकार के 'सहायक' परिणामों को अधिक ध्यान में रखना होगा।

(v) बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगिता का सिद्धान्त हाब्स की भांति 'मनोवैज्ञानिक आत्महित' एवं 'सुखवाद' (Psychological-egoistic Hedonism) का सिद्धान्त है। मात्रा-सम्बन्धी सुखवाद का सिद्धान्त होने के कारण विधि-वेत्ताओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वह ऐसे कानून बनाये जो 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' प्रदान करें। जो व्यक्ति समूह अपने कार्यों से समाज को पीड़ा पहुँचाते हैं, उन्हें राज्य 'अस्वाभाविक पीड़ा' अथवा 'दण्ड' के माध्यम से सुधार सकता है।

(vi) उपयोगिता का सिद्धान्त यह भी बताता है कि व्यक्ति/व्यक्तिसमूह अपना व्यवहार कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर नहीं वरन् सुख की भावना से प्रेरित होकर नियन्त्रित करते हैं।

(vii) उपयोगिता का सिद्धान्त एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है। प्रत्येक कार्य व्यक्ति सुख की प्राप्ति की आकांक्षा से ही करता है। यहाँ तक की एक शहीद भी अपना जीवन अर्पण सुख की भावना से प्रेरित होकर करता है। इसी प्रकार एक संन्यासी भी संन्यास ग्रहण सुख की भावना से प्रेरित होकर करता है।

(viii) अन्ततः बेन्थम मानते हैं कि उपयोगिता का सिद्धान्त प्रयोग सिद्ध है और वस्तुगत तथ्यों पर आधारित है। यह स्वयंसिद्ध नैतिक नियमों में विश्वास नहीं करता, बल्कि यह अनुभव पर आधारित है। इसीलिए यह प्राकृतिक विधि, प्राकृतिक न्याय, आदि, पारभौतिक नियमों को पूर्णरूप से नकार देता है। यही तत्व उपयोगिता के सिद्धान्त को वैज्ञानिक और आनुभाविक धरातल पर उतार देता है।

आलोचना - (i) उपयोगितावाद का सिद्धान्त अपर्याप्त है। मानव जीवन में सुखाकांक्षा ही एक मात्र उद्देश्य नहीं होता है। अधिकांशतः व्यक्ति कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। बेन्थम कर्तव्य और आत्म-हित में समरूपता मानते हैं; पर वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है। अधिकांशतः कर्तव्य और आत्म-हित में संघर्ष होता है और व्यक्ति कर्तव्य का अनुसरण करते हैं। वास्तव में बेन्थम भी अप्रत्यक्ष रूप से यह मानते प्रतीत होते हैं जब वह 'स्थाई' और 'अस्थाई' सुख में अन्तर स्पष्ट करते हैं और कहते हैं कि व्यक्ति को स्थाई सुख (जिसमें पीड़ा भी सम्मिलित है) को अपनाना चाहिए।

(ii) उपयोगितावाद का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं है। इसके द्वारा प्रस्तुत नैतिक मापदण्ड के विभिन्न घटक साथ ही उपलब्ध नहीं हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी कार्य को करने से सुख की प्राप्ति 'निश्चित' है, तो यह भी हो सकता है कि वह सुख 'टिकाऊ' न हो अथवा उसकी 'तीव्रता' में संदेह हो, अथवा वह सुख बहुत 'दूरगामी' हो। सच तो यह है कि नैतिक मापदण्ड का प्रयोग करना ही सर्वथा असम्भव है।

(iii) अन्ततः उपयोगितावाद का सिद्धान्त आध्यात्मिक सुख के स्थान पर सापेक्षिक, भौतिकवादी सुख को दृष्टिकोण में रखने के कारण अराजकतावाद, स्वार्थपरता, आदि, के भावों से भरा पड़ा है।

(iv) राल्स जैसे समकालीन उदारवादी चिंतकों का कहना है कि उपयोगितावाद 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की आकांक्षा रखता हैं। किन्तु इस प्रयास में समुदाय के 'कुछ' व्यक्ति छूट जाते हैं, और यह उनके लिए अन्याय है।

(v) उपयोगिता सामान्य सुख (common happiness) की धारणा को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि उसके द्वारा समर्थित समाज 'आणविक' (atomistic) समाज है, न कि 'सावयविक' (organic)- ऐसा समाज मात्रात्मक संख्या पर आधारित है, न कि गुणात्मक सावयविक एकबद्धता पर।

1.4 राज्य की अवधारणा

बहुधा राजनीतिक चिंतक राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं- कुछ इसे

ईश्वर-कृति, कुछ मानव इच्छाओं से निर्मित (संविदा का सिद्धान्त) मानते हैं, और कुछ इसे विकासवादी आधार देते हैं। बेन्थम यह मानते हैं कि राज्य की उत्पत्ति मनुष्यों की जरूरतों को पूरा करने के लिए होती है, और उनकी सबसे बड़ी जरूरत है सुख की प्राप्ति और दुख का निवारण। राज्य व्यक्ति समूह का वह संगठित रूप है जो सुख की प्राप्ति के लिए निर्मित एवं संचालित होता है। यह संविदा की देन नहीं है। राज्य की प्रकृति निषेधात्मक है। यह 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। इसलिए व्यक्ति 'प्राथमिक' है और राज्य 'गौण' है। व्यक्ति 'साध्य' है और राज्य 'साधन'।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समूह, और प्रत्येक संस्था का उद्देश्य अधिकतम सुख की प्राप्ति है, तो राज्य अन्य संस्थाओं से किस प्रकार भिन्न है? बेन्थम का आग्रह है कि राज्य का महत्व इस बात पर हैं कि वह कानून का एकमात्र श्रोत है, और कानून सम्प्रभु सत्ता का आदेश है। राज्य संप्रभु है। कानून का नियन्त्रण अन्य सभी प्रकार के नियन्त्रणों से मजबूत होता है। व्यक्ति नैतिक, धार्मिक, प्राकृतिक, तथा भौतिक नियमों का अवहेलना कर सकते हैं; परन्तु राज्य (संप्रभु) द्वारा निर्मित कानून की अवहेलना करने पर वह दण्ड के भागी होंगे।

राज्य दोषी व्यक्तियों को दण्ड के द्वारा अस्वाभाविक पीड़ा पहुंचाकर और कानून के द्वारा सभी नागरिकों के हितों का इस प्रकार समन्वय करता है कि 'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख' की प्राप्ति हो सके। स्पष्ट है कि राज्य अधिकतम सुख प्राप्त करने का केवल एक माध्यम है, किन्तु राज्य ही संप्रभु है। 'एक आवश्यक बुराई' होते हुए भी राज्य सर्वोच्च है और संप्रभु के आदेश ही कानून है। बेन्थम के अनुसार कानून व्यक्ति के वाह्य आचरण को ही नियंत्रित कर सकता है, उसकी अर्न्तचेतना को नहीं। व्यक्ति को मनोभावों को नियंत्रित नैतिक अथवा धार्मिक नियम पर कर सकते हैं, पर यह नियम बाध्यकारी नहीं हो सकते। इसलिए बेन्थम ने कहा है कि 'कानून और नैतिकता का केन्द्र बिन्दु एक ही है। (अधिकतम सुख की प्राप्ति), किन्तु उनकी परिधि भिन्न है।' व्यक्तिवादी और उदारवादी होते हुये भी बेन्थम हाब्स की तरह सर्वोच्च एवं अदेय और अविभाज्य संप्रभु सत्ता की धारणा का समर्थन करते हैं। संप्रभु सत्ता का आदेश ही कानून हैं; और कानून के उद्देश्य है- नागरिकों को (i) सुरक्षा, (ii) आजीविका, (iii) प्रचुरता, और (iv) समानता प्रदान करना।

बेन्थम के अनुसार नागरिक-अधिकारों का स्रोत भी राज्य ही है। वह प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा का खण्डन करते हैं, और कहते हैं कि प्राकृतिक अधिकार का सिद्धान्त 'निरर्थक' है, और एक प्रकार का 'अराजकतावादी झूठ ("anarchic fallacies") है। वह नागरिक को राज्य का विरोध करने का अधिकार नहीं देते हैं, किन्तु यदि अधिकतम व्यक्तियों को विरोध करने में अधिकतम सुख मिलता है तो ऐसा विरोध किया जा सकता है। फिर भी विरोध करना अधिकार की श्रेणी में नहीं आता है। अधिकार तो राज्य ही देता है, और राज्य अपने विरोध में कोई अधिकार नहीं दे सकता। इस संदर्भ में भी बेन्थम के विचार पूर्णरूपेण हाब्स की तरह है। क्योंकि बेन्थम प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं, इसलिए वह स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के प्राकृतिक अधिकारों का भी समर्थन नहीं करते; किन्तु वह अप्रत्यक्ष रूप से नागरिक के इन दोनों अधिकार को मान लेते हैं। सम्पत्ति व्यक्ति को सुख प्रदान करती है, इसलिए राज्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करें। इसी प्रकार वह नागरिक स्वतंत्रता का भी समर्थन करते हैं। उनके अनुसार स्वतंत्रता तो

अराजक स्वच्छन्दता है, किन्तु नागरिक स्वतंत्रता समुदाय के हितों (सुख) का संवर्धन करती है।

बेन्थम उदारवाद के आर्थिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं, और लैसे-फेयर (Laissey-faire) सिद्धान्त को मानते हैं। लैसे-फेयर व्यापार की स्वतन्त्रता और आर्थिक मामलों में राज्य के कम-से कम हस्तक्षेप का सिद्धान्त है। बेन्थम का कहना है कि मुक्त व्यापार एवं स्पर्धा से ही उत्पादन में वृद्धि होती है तथा नीचे सुन्दर एवं सस्ती होती है। राज्य जिस सीमा तक व्यापार में हस्तक्षेप करता है उसी सीमा तक राष्ट्रीय आय घट जाती है। अतः शासन का कर्तव्य है कि वह अर्थ-व्यवस्था में कम से कम हस्तक्षेप करें।

बेन्थम एक ऐसे राज्य की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं जिसमें सभी नागरिकों का अधिकार समान हो। अधिकारों व अवसरों की असमानता पीड़ा को जन्म देती है और यह अधिकतम व्यकित्तयों के अधिकतम सुख में बाधक बन जाती है।

संक्षेप में बेन्थम राज्य के सावयविक सिद्धान्त को नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में राज्य एक प्रकर का यन्त्र है जो मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्मित होता है; और मानव की सबसे बड़ी आवश्यकता है सुख की प्राप्ति। •

राज्य के संप्रभुतावादी दृष्टिकोण का समर्थन करने के बावजूद भी बेन्थम प्रजातांत्रिक राज्य के पक्षधर है। वह यह मानते हैं कि व्यक्ति केवल आत्महित की भावना से संचालित होकर कार्य करता है। शासक अथवा शासक-वर्ग भी अपने ही आत्महित के सर्वद्धन में कानून बनाते हैं। अतः उनके स्वार्थ पर अंकुश एक प्रजातांत्रिक राज्य में नागरिकों के द्वारा ही लगाया जा सकता है। यहाँ तक कि एक प्रजातांत्रिक सरकार में भी आँख मूँदकर विश्वास करना त्रुटिपूर्ण है; अतः ऐसी सरकार में भी नियंत्रण रखना आवश्यक है। प्रजातांत्रिक सरकार पर नियंत्रण निम्न तरीके से स्थापित किया जा सकता है:- (i) सार्वभौम, (ii) संसद का हर वर्ष चुनाव, (iii) बैलेट द्वारा मतदान प्रणाली, (iv) संवैधानिक साधनों का उपयोग, (v) संसद द्वारा प्रधानमंत्री का निर्वाचन, और (vi) जनसेवकों की नियुक्ति प्रतियोगिता द्वारा। इन साधनों के द्वारा शासकों के आत्महित पर कुछ नियंत्रण तो अवश्य स्थापित होगा।

आलोचना - बेन्थम द्वारा प्रतिपादित राज्य एवं कानून की उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कानून को विधि-निर्माणकर्ताओं के सचेतन बुद्धि का प्रयास मानते हैं। वह विधि को परम्पराओं पर आधारित नहीं मानते हैं। उनके अनुसार विधायकों को 'नैतिक मापदण्ड' के आधार पर इस प्रकार के कानून का निर्माण करना चाहिए जो अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख प्रदान कर सके और जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, इन कानूनों को व्यवहारिक रूप प्रदान करना लोकप्रशासन का कर्तव्य है। लोक प्रशासन के द्वारा ही सामाजिक सुधार का कार्य सम्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में 'कानून' और 'प्रशासन' का सम्बन्ध सिद्धान्त एवं व्यवहार का सम्बन्ध है; और यह संबंध मिलकर ही समाज सुधार अथवा सामाजिक अभियन्तीकरण (social engineering) का कार्य सम्पन्न करते हैं।

इस बिन्दु पर एक प्रश्न विचारणीय हो जाता है। बेन्थम एक ओर तो राज्य के निषेधात्मक स्वरूप पर बल देते हैं, और राज्य को अधिकतम सुख प्राप्त करने का एक साधन और एक 'आवश्यक बुराई' मानते हैं; वह अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में भी लैसे-फेयर दर्शन के समर्थक हैं। किन्तु दूसरी ओर वह यह मानते हैं कि कानून विधायकों के सचेतन वुद्धि का प्रतिफल है और इसके प्रयोग से प्रशासन समाज-सुधार अथवा सामाजिक-अभियन्तीकरण का कार्य सम्पन्न करता

है। प्रशासन के यह कार्य वास्तव में राज्य के सकारात्मक स्वरूप को प्रतिबिम्बित करते हैं। बेन्थम ने कानून के साथ-साथ दण्ड व्यवस्था एवं जेल व्यवस्था में भी सुधार के अनेक उपाय बतायें हैं। यह सब बेन्थम द्वारा राज्य के निषेधात्मक स्वरूप को राज्य के कल्याणकारी स्वरूप की ओर मोड़ने का संकेत है। लाक के उदारवादी चिन्तन में राज्य का स्वरूप पूर्ण रूप से निषेधात्मक है। बेन्थम के उदारवाद ने राज्य के इस स्वरूप में परिवर्तन का संकेत दिया है (यद्यपि उनके चिन्तन में विरोधाभास है)। उन्नीसवीं शतांब्दी के उत्तरार्द्ध में जान स्टुअर्ट मिल और विशेष कर टी0 एच0 ग्रीन ने कल्याणकारी राज्य का विचार-चित्र प्रस्तुत कर उदारवादी राज्य के सकारात्मक कार्यों को विस्तृत किया।

इस संदर्भ में एक रोचक बात यह है कि 1776 में बेन्थम ने अपनी पुस्तक The Fragment on Government द्वारा उपयोगितावाद के सिद्धान्तों को उजागर किया; इसी वर्ष एडम स्मिथ की पुस्तक Wealth of Nations प्रकाशित हुई; और इसी वर्ष अमेरीकी स्वतन्त्रता की घोषणा हुई। इन तीनों ने मिलकर आधुनिक उदारवाद का बीजारोपण किया।

1.5 बेन्थम का सुधारवाद

बेन्थम का विचार है कि उपयोगितावाद एक ऐसा बुद्धिसंगत (Rational) और वैज्ञानिक (Scientific) सिद्धान्त है जो निजी एवं सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में हमारा समुचित मार्गदर्शन कर सकता है। इसकी सहायता से हम संवैधानिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप और प्रक्रियाओं का मूल्यांकन कर सकते हैं, और उनके दोषों का निवारण कर सकते हैं। बेंथम ने कहा कि वर्तमान राजनीतिक एवं वैधानिक व्यवस्था 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। उसमें अनेक विसंगतियाँ एवं बुराइयाँ हैं, अनेक अमूर्त और अनावश्यक धारणाओं ने इंग्लैंड की संवैधानिक प्रणाली एवं विधि व्यवस्था को लचर और अलाभकारी बना दिया है। वस्तुतः बेंथम के उपयोगितावादी विचारों का मूल उद्देश्य इंग्लैण्ड की वैधानिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रणाली में आमूल परिवर्तन और सुधार करना ही था ताकि रूढियों व परम्पराओं में उलझी व्यवस्था को प्रगति की ओर उन्मुख किया जा सके। उसके सुधारवाद के दो प्रमुख पक्षों वैधानिक एवं राजनीतिक का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

1. वैधानिक सुधार

बेंथम एक विधि शास्त्री था। उसका विचार था कि 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' का सिद्धान्त ब्रिटिश विधि-व्यवस्था को नए और वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने का प्रभावशाली यंत्र हो सकता है। प्रो. जार्ज सेबाइन के अनुसार बेंथम के विधिशास्त्रीय विचारों का सार यह था कि वह रूढ़ियों व प्रथाओं के स्थान पर विधि-निर्माण की आवश्यकता व महत्ता का प्रतिपादन करता है। वह अपने उपयोगितावादी विचारों के आधार पर इंग्लैण्ड की न्यायिक, प्रणाली, दीवानी व फौजदारी कानून, प्रक्रियात्मक कानून को आमूल रूप से संशोधित करना चाहता था। वह ब्लैकस्टोन के विधिशास्त्रीय सिद्धान्तों जिनमें विधिशास्त्र का उद्देश्य विधियों का स्पष्टीकरण एवं व्याख्या (Exposition) करना माना गया, से सहमत नहीं था। उसका विचार है कि विधि-शास्त्र को मूलतः समालोचनात्मक होना चाहिए। सभी वैधानिक प्रक्रियाओं व निषेधों की कसौटी अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख होना चाहिए।

अपनी उक्त विधिशास्त्रीय मान्यताओं के संदर्भ में बेंथम ने इंग्लैण्ड के दीवानी व फौजदारी

के कानूनों, न्यायालयों के ढांचे व प्रक्रियाओं आदि की समीक्षा की और उनमें व्यापक सुधारों का पक्ष ग्रहण किया। दीवानी कानूनों के अन्तर्गत प्रदत्त अधिकारों का आधार उनकी उपयोगिता होना चाहिए। वह व्यक्ति के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों का समर्थक हैं क्योंकि सम्पत्ति सुरक्षा एवं सुख का प्रमुख स्रोत है, परन्तु बेंथम कहता है कि सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को 'अधिकतम व्यक्तियों के सुख' के संदर्भ में भी देखने की आवश्यकता है। फलस्वरूप वह व्यक्तिगत सुरक्षा व समानता के बीच सन्तुलन स्थापित करने पर बल देता है, अर्थात् सम्पत्ति के अधिकार के कारण सामाजिक विषमताएं नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। बेंथम सम्पत्ति के अपेक्षाकृत समान वितरण का समर्थक है।

फौजदारी कानून के क्षेत्र में बेंथम ने अनेक सुधारों का समर्थन किया। उसने अपराधों के उचित वर्गीकरण पर बल दिया ताकि प्रत्येक अपराध के लिए समानुपातिक दण्ड की व्यवस्था की जा सके। दण्ड का मोटा सिद्धान्त यह होना चाहिए कि अपराध से होने वाले लाभ की अपेक्षा दण्ड से मिलने वाला कष्ट अधिक होना चाहिए। वह छोटे-मोटे अपराधों के लिए कठोर व अमानवीय दण्ड दिए जाने का विरोधी था। इस संदर्भ में वह प्रसिद्ध दार्शनिक बेकारियो के इस विचार का अनुयायी था कि अपराधियों में डर पैदा करने वा अपराधों को रोकने की दृष्टि से दण्ड की कठोरता की तुलना में दण्ड की निश्चितता अधिक कारगर होती है। (Certanity of punishment is more effective deterrent than severity)

बेंथम ने न्यायिक प्रक्रियाओं में व्यापक सुधार की पुरजोर वकालत की। उन्होंने न्यायिक प्रक्रिया में होने वाली देरी के लिए, इसके अत्यन्त व्यय साध्य होने के लिए और आम-जनता की अन्य परेशानियों के लिए कानूनों की अस्पष्टता और न्यायालयों के अमूर्त न्यायिक सिद्धान्तों को जिम्मेदार माना। वकील लोग इनका लाभ उठाकर मुकदमों को लम्बा खींचते रहते हैं जिससे आम जनता को न्याय मिलने में काफी देरी और परेशानी होती है। बेंथम ने ब्लैकस्टोन व सामान्य कानून (Common Law) की प्रणाली की आलोचना करते हुए कहा कि वे जिन-न्यायिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं वे तर्क व उपयोगिता पर आधारित न होकर सदियों पुरानी मान्यताओं पर आधारित हैं। इनके कारण कानून अनावश्यक रूप से जटिल और अनुपयोगी हो जाते हैं। न्यायालयों का कार्यक्षेत्र अस्पष्ट और विसंगतिपूर्ण है, जूरी प्रणाली को अनावश्यक महत्व दिया जाता है। कानून संहिताबद्ध न होकर, न्यायाधीशों के निर्वचन पर आश्रित है। इन कमियों को दूर करने के लिए बेंथम ने कानूनों के संहिताकरण पर बल दिया ताकि कानूनों को सरल व सुबोध बनाया जा सके और वह न्यायाधीशों की व्याख्या पर आश्रित न रहे। उसका विश्वास था कि संहिताकरण के द्वारा आम जनता को वकीलों के चंगुल से मुक्त किया जा सकेगा, और हर व्यक्ति स्वयं अपना वकील बन सकेगा। (Every man his own laywer)

सेबाइन का मत है कि बेंथम के विधि सिद्धान्त ने विश्लेषणवादी विधिशास्त्र (Analytic Jurisprudence) की आधारशिला रखी और यह दृष्टिकोण कालान्तर में इंग्लैण्ड व अमरीका में काफी लोकप्रिय हुआ। जान आस्टिन ने बेंथम की मान्यताओं को ही आगे बढ़ाया। 19वीं सदी में इंग्लैण्ड की न्यायिक संरचना में बेंथम के सुझावों के अनुरूप महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। सर फ्रेडरिक पोलक का विचार है कि बेंथम के विचार 19वीं सदी में ब्रिटिश वैधानिक प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों व सुधारों के प्रेरणा स्रोत थे। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि डब्ल्यू0 टी0 जोन्स मानते हैं कि बेंथम कोई उग्र सुधारक नहीं था, वरन् वह अन्ततः अनुदारवादी ही सिद्ध होता है। जोन्स इसके लिए तीन तर्क देते हैं। प्रथम तो उपयोगितावादी सिद्धान्त पूरी तरह से

वस्तुनिष्ठ व वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं है। वस्तुतः यह काफी व्यक्तिनिष्ठ (Subjective) सिद्धान्त है जिसके कारण एक विचारक या राजनेता की अपनी रूचि-अरूचि, उसके पूर्वाग्रह व संकल्प निर्णयों को प्रभावित कर सकते हैं। अतः सुधार का कार्यक्रम लागू करते समय काफी सावधानी और सूझबूझ के साथ कार्य करना पड़ेगा। बेंथम अहस्तक्षेपवादी राज्य का पक्षधर है। राज्य की भूमिका मूलतः सकारात्मक न होकर नकारात्मक होना चाहिए। तीसरे, मनुष्य सामान्यतः यथास्थितिवादी होता है, अपनी स्थिति, अपनी सम्पत्ति में बहुत अधिक बदलाव से उसे कष्ट होता है। अतः सरकार के लिए व्यापक सुधारों का उग्र मार्ग अपनाना संभव नहीं होगा।

2. राजनीतिक सुधार

बेंथम इंग्लैण्ड की संवैधानिक व राजनीतिक प्रणाली में व्यापक सुधारों का पक्षधर था। यहाँ यह उल्लेखाय है कि प्रारंभ में वह एक रूढ़िवादी (Tory) था और उसे आम जनता की बौद्धिक व नैतिक सामर्थ्य में अधिक भरोसा न था। परन्तु शनैःशनैः उसके विचारों में परिवर्तन हुआ और वह यह मानने लगा कि 'अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख' के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए लोकतंत्र अपरिहार्य है। राजा, या कुलीन समान्यतः अपने संकीर्ण हितों व स्वार्थों के दायरे में ही सोंचते हैं। उसने कहा-"शासक वर्ग के लोग, वंशपरम्परागत आधार पर बना कुलीन वर्ग, कामन सभा में पहुँचे प्रतिनिधि, पादरी वर्ग, न्यायाधीश-इन सभी में अपनी अपनी शक्ति का अधिकतम विस्तार करने की इच्छा ही सर्वोपरि होती है।" अतः सुख की वृद्धि करने के लिए शासन-शक्ति का सबमें निहित होना आवश्यक है। जब सभी निर्णय व शासन का अधिकार रखते हैं तो किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष के हित के प्रभावी होने की संभावना समाप्त हो जाती हैं, और सर्व-सामान्य के सुख की वृद्धि का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। बेंथम का विचार है कि वर्तमान राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की स्थापना तो संभव नहीं रह गयी है, अतः हमें प्रतिनिधि लोकतंत्र की प्रणाली को ही स्वीकार करना होगा। जन-प्रतिनिधि 'अधिकतम लोगों के सुख' की कसौटी से भटकने न पाएं इसके लिए वह कतिपय संवैधानिक उपायों के अपनाए जाने पर बल देता है। ये उपाय निम्नलिखित हैं-

1. सार्वभौमिक मताधिकार

2. संसद के चुनाव प्रतिवर्ष होने चाहिए क्योंकि पाँच या सात वर्ष का कार्यकाल जन प्रतिनिधियों को निरंकुश व अनुत्तरदायी बना देता है।

3. मतदान गुप्त होना चाहिए। (Secret Ballot)

4. प्रधानमंत्री का चयन संसद के द्वारा होना चाहिए।

5. लोक सेवकों की कार्यकुशलता बढ़ाने के लिए लोक सेवकों (Civil Servants) का चयन प्रतियोगी परीक्षाओं के द्वारा होना चाहिए।

बेंथम का विचार है कि जन-प्रतिनिधि भी स्वार्थ, अहंकार व लोभ में पड़कर सार्वजनिक कल्याण के लक्ष्य से भटक सकते हैं। अतः उन पर आँख मूँद कर विश्वास नहीं किया जा सकता। उक्त उपायों का उद्देश्य जन-प्रतिनिधियों पर जन-नियंत्रण की वृद्धि करना है। उसने कहा कि जनता की निगरानी प्रतिनिधियों को सही मार्ग पर बनाए रखती है:

(The eye of the public makes the statesman virtuous).

1.6 बेन्थम का महत्व

18वीं शदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड की सामाजिक-आर्थिक संरचना में काफी व्यापक परिवर्तन हो रहे थे। नवोदित व्यापारी व पूंजीपति वर्ग अब सामन्तवादी समाज की मान्यताओं व प्रतिबन्धों को स्वीकार करने को तैयार न था। वाणिज्यिक एवं औद्योगिक क्रान्तियों के फलस्वरूप व्यक्ति व समाज की नई अवधारणाएं उभर रही थीं जिन्हें उदारवाद के रूप में एक व्यवस्थित दर्शन का आकार दिया जा रहा था। परम्परागत राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक सिद्धान्त अब अप्रासंगिक एवं अलाभप्रद प्रतीत हो रहे थे। इस परिवेश में बेंथम ने उपयोगितावादी दर्शन का प्रतिपादन कर नए एवं युगानुरूप राजनीतिक, नैतिक व आर्थिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जिनके आधार पर पुर्नरचना की जा सके। उसका दावा था कि उपयोगितावाद एक सार्वभौमिक दर्शन है जिसे विभिन्न संस्कृतियों, परम्पराओं व राजनीतिक प्रणालियों में समान सरलता व सफलता के साथ लागू किया जा सकता है। यद्यपि बेंथम में दार्शनिक मौलिकता का अभाव था और उसे दार्शनिक सिद्धान्तों की समुचित समझ भी न थी, पर इसके सिद्धान्त में विद्यमान सरलता व व्यावहारिकता ने काफी लोगों को आकर्षित किया। अपने सुखवादी सिद्धान्त के द्वारा बेंथम ने प्रचलित मनोवैज्ञानिक, नैतिक व वैधानिक कपोल-कल्पनाओं (Fictions) को निर्मूल करने का प्रयास किया जिन्होंने इंग्लैण्ड व यूरोप के अन्य देशों के विद्वानों व विचारकों को जकड़ रखा था। सेबाइन के शब्दों में, वह वस्तुतः नीतिविज्ञान का न्यूटन (Newton of the moral sciences) बनना चाहता था। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बेन्थम का महत्व निम्न दृष्टियों से है-

1. बेंथम का राजनीतिक चिन्तन 18वीं सदी की मूलभूत प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करता है। प्रसिद्ध समीक्षक मान्टेगू के शब्दों में इतिहास व अतीत के प्रति वितृष्णा और भविष्य के प्रति प्रखर आशावाद, मानव स्वभाव को लेकर निराशा लेकिन साथ ही एक उदार मानववाद, चुनौतीपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि लेकिन साथ ही अहंकार से लबरेज सिद्धान्त-निष्ठा-अठारहवीं सदी की इन सभी विशेषताओं का समावेश बेंथम के चिन्तन में देखने को मिलता है। ('Bentham's writings are highly characteristic of that remarkable age of thought which is commonly styled the eighteenth century. They display all it's most striking attributes- it's immense hopefulness of the future joined with the extravagant contempt for the past, its generous humanity alloyed with a some what sordid conception of human nature, its venturous scientific spirit suffused with the most arrogant dogmatism'; its grotesque pedantry blended with the shrewdest common sense')

2. प्रो० डब्ल्यू० टी० जोन्स के अनुसार बेन्थम एक बहुत व्यावहारिक एवं परिणाम-उन्मुखी विचारक होने के कारण आधुनिक मस्तिष्क के बहुत नज़दीक हैं। वह तत्वशास्त्रीय मान्यताओं और व्याख्याओं में नहीं उलझता, वह किन्ही जटिल सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं करता। उसका सुखवाद एक सीधा, सरल विचार है जिससे व्यक्तिगत व राजनीतिक जीवन के

सम्बन्ध में उपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रो० जोन्स के शब्दों में - "Bentham may be said to have been a harbinger of the ever increasingly pragmatic temper of the modern mind". वेपर का विचार है कि बेन्थम ने राजनीतिक सिद्धान्त को मध्ययुगीन शैली व शब्दावली से मुक्त कर दिया और इस प्रकार विलियम जेम्स के व्यावहारिकतावाद के लिए भूमि तैयार की।

3. बेंथम संवैधानिक, कानूनी, शैक्षिक आदि विभिन्न प्रकार के सुधारों का अग्रदूत था। प्रो० जोन्स इसीलिए यह मानते हैं कि वह पहले और आखिर में एक सुधारक है। ('First, last and always he is a reformer') जहाँ वर्क ने इतिहास व परम्परा के प्रति आदर प्रकट करते हुए संस्थाओं और सिद्धान्तों की निरंतरता के बहुत महत्व प्रदान किया, वहाँ दूसरी ओर बेंथम इतिहास व परम्परा से उपयोगिता को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। उसका विचार है कि बार बार पीछे मुड़कर देखने वाले समाज आगे नहीं बढ़ पाते। प्रगति व सुधार के लिए प्रायः हमें ऐतिहासिक संस्थाओं व मान्यताओं को तिलांजलि देनी होती है। वह इंग्लैण्ड की परम्परागत राजनीतिक व वैधानिक संस्थाओं व प्रक्रियाओं में आमूल सुधार की वकालत करता है। वह बेंथम का ही प्रभाव था कि 19वीं सदी में इंग्लैण्ड की संसद ने अपनी विधायी गतिविधियों को तेज करते हुए अनेक सुधारवादी कानून पारित किया। कानून और दण्ड की व्यवस्था में और कारागारों में हुए व्यापक सुधारों का श्रेय भी बेंथम को दिया जाता है। प्रो० जोन्स का मानना है कि बेंथम के संप्रभुता, शासन प्रणाली और अन्य राजनीतिक समस्याओं पर चिन्तन के मूल में वैधानिक सुधार की उसकी प्रबल इच्छा ही विद्यमान थी।

4. बेंथम के विचारों का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उसने क्रान्ति की तुलना में सुधारों को राजनीतिक-सामाजिक परिवर्तन का अधिक प्रभावी मार्ग माना। 19वीं सदी में यूरोप के कई देशों विशेषतः फ्रांस में भारी, उथल-पुथल रही, परन्तु इंग्लैण्ड में अनेक महत्वपूर्ण राजनीतिक व सामाजिक परिवर्तन बिना उथल-पुथल व रक्तपात के सम्पन्न हुए। क्रान्ति यूं भी ब्रिटिश मानसिकता के विपरीत है। इस प्रकार बेंथम न केवल ब्रिटेन की सुधारवादी व शान्तिवादी मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है, वरन् अपने विचारों द्वारा वह उस मनोवृत्ति को और परिपुष्ट करता है। वेपर के शब्दों में बेंथम ने अंग्रेजों का अपनी विवेकशीलता में विश्वास दृढ़ किया। (Bentham increased Englishmen's belief in the essential reasonableness of Englishmen')

5. बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्तों ने केवल उदारवादी विचारधारा को ही प्रभावित नहीं किया अपितु नवोदित समाजवादी सिद्धान्तों पर भी अपनी छाप छोड़ी। वस्तुतः प्रसिद्ध फेबियन समाजवादी सिडनी वेब बेंथम को अपना 'बौद्धिक पिता' (Intellectual God father) मानते थे। बेंथम की तरह फेबियन समाजवादी भी प्रचलित राजनीतिक संस्थाओं व मान्यताओं की समीक्षा को नव-निर्माण की पूर्व शर्त मानते थे। बेंथम की तरह वे भी अनुभववादी थे और प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त को अस्वीकार करते थे। प्रसिद्ध विद्वान मैक के अनुसार बेंथम को ब्रिटिश व्यक्तिवाद के बजाय ब्रिटिश समष्टिकार का जनक कहा जाना चाहिए। चाडविक व फारस्टर के माध्यम से फेबियन समाजवादी बेंथम के ही वंशज

हैं। ब्रेवनर को उद्घृत करते हुए मैक पूछते हैं 'फेबियन समाजवादी बेंथमवाद के उत्तराधिकारी नहीं तो और क्या हैं?' ('What were the Fabians but the latter day Benthamites?')

1.7 सारांश

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि उदारवाद के विकास में बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद एक महत्वपूर्ण चरण है। उदारवाद का आर्थिक पक्ष यदि एडम स्मिथ, रिकार्डो और माल्थस ने उजागर किया तो उसके वैधिक पक्ष के निर्माण का श्रेय बेन्थम को जाता है। वास्तव में बेन्थम ने कानून-व्यवस्था, न्याय प्रणाली और कारागार व्यवस्था सुधारों की इतनी बड़ी योजना बनायी कि सर हेनरी मैन का कथन था कि बेन्थम के समय से आज तक इन व्यवस्थाओं में जो कुछ भी सुधार और परिवर्तन हुए हैं, उनमें बेन्थम की छाप अमिट है। इग्लैण्ड में 1832 का सुधार अधिनियम यद्यपि बेन्थम के मृत्यु के कुछ समय बाद पारित हुआ, तथापि उसमें भी बेन्थम की अमिट छाप है। जान स्टुअर्ट मिल ने ठीक ही कहा कि 'बेन्थम एक राजनीतिक दार्शनिक नहीं वरन् दार्शनिक सुधारक थे।'

1.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. Wayper, C. L.: Teach yourself Political Thought. (Hindi translation available).
2. Stephen, Leslie : The English Utilitarians, vol. 1 Bentham.
3. Davidson, W.L.: Political Thought in England-The Utilitarians from Bentham to Mill.
4. Plamenatz, John P.: The English Utilitarians.
5. Catlin, George, The Story of Political Philosophers.
6. सबाइन पॉलिटिकल थेयरी (हिन्दी अनुवाद)
7. प्रभुदत्त शर्मा : राजनैतिक विचारों का इतिहास

1.9 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. बेन्थम द्वारा प्रतिपादित उपयोगितावाद की प्रमुख विशेषताओं का परीक्षण कीजिए।
2. बेन्थम की राज्य की अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए।
3. बेन्थम और जान स्टुअर्ट मिल के उपयोगितावादी सिद्धान्त की तुलना कीजिए।
4. बेन्थम के राज्य की अवधारणा क्या निषेधात्मक है? कारण सहित प्रश्न का उत्तर दीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित में टिप्पणी कीजिए-

1. 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख'।

2. प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकार में बेन्थम के विचार।
3. बेन्थम द्वारा प्रतिपादित नैतिक मापदण्ड (felicific calculus)
4. सम्प्रभुता की धारणा पर बेन्थम के विचार।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. Fragment on Government के लेखक हैं-
   (अ) जे0एस0मिल
   (ब) बेन्थम
   (स) जेम्स मिल
   (द) इनमें से कोई नहीं।
2. उपयोगितावद के संस्थापक हैं-
   (अ) लाक
   (ब) हाब्स
   (स) हार्टले
   (द) इनमें से कोई नहीं।
3. Wealth of Nations के लेखक हैं -
   (अ) एडम स्थिम
   (ब) रिकार्डो
   (स) माल्थस
   (द) बेन्थम
4. The Principles of Morals & Legislation के लेखक हैं-
   (अ) जे0 एस0 मिल
   (ब) लाक
   (स) रिकार्डो
   (द) बेन्थम
5. यह किसने कहा है कि प्राकृतिक अधिकार का सिद्धान्त एक प्रकार का 'अराजकतावादी झूठ' ("Anarchic Fallacies") है?
   (अ) रूसों
   (ब) बर्क
   (स) बेन्थम
   (द) जेम्स मिल

1.10 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ब
2. द
3. अ
4. द

इकाई 2 - जान स्टुअर्ट मिल (1806-1873)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 मिल की प्रमुख पुस्तकें एवं लेख

2.3 बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा संशोधन

2.4 मिल की स्वतंत्रता की अवधारणा

2.5 मिल के प्रजातंत्र संबंधी विचार

2.6 प्रतिनिधि लोकतंत्र पर मिल के विचार

2.7 मिल का मूल्यांकन

2.8 सारांश

2.9 संदर्भ ग्रन्थ

2.10 संबंधित प्रश्न

2.11 प्रश्नोत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत जान स्टुअर्ट मिल के राजनैतिक विचारों का विवेचन किया जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपः-

- बेन्थम के उपयोगितावादी सिद्धान्त में मिल द्वारा किए गए संशोधन का विश्लेषण कर सकेंगे।
- मिल के लोकतंत्र तथा स्वतन्त्रता विषयक विचारों का उल्लेख कर सकेंगे।
- जान स्टुअर्ट मिल के विचारों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

बेन्थम यद्भाव्यम (लैसे फेयर) नीति के समर्थक थे। यद्भाव्यम दो प्रमुख बिन्दुओं पर बल देता है - (1) राज्य के कार्यों का संकुचित क्षेत्र तथा सरकार द्वारा व्यक्तियों के कार्यों में अहस्तक्षेप की नीति की अनिवार्यता, और (2) आर्थिक क्षेत्र में व्यापार एवं संविदा की स्वतंत्रता का अनुमोदन। औद्योगिक क्रान्ति और तकनीकी विकास ने जिस मध्यम वर्ग को जन्म दिया था, बेन्थम ने उसी वर्ग के अधिकारों को उपयोगितावाद (अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख) के सिद्धान्त के माध्यम से सुरक्षित करना चाहा। किन्तु समय के प्रवाह के साथ इसमें अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी।

वास्तव में इग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति 19वीं शताब्दी के मध्य तक अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी, और धीरे-धीरे इस क्रांति की सफलता के साथ इससे उत्पन्न बुराइयाँ भी दृष्टिगोचर होने लगी थीं। जैसे कारखानों एवं खदानों में कार्य करने वाले मजदूरों की दशा निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। उनसे न्यूनतम मजदूरी में अधिक घण्टे काम लिया जाता था और उन्हें स्वास्थ्य के लिये अत्यन्त हानिकारक परिस्थितियों में कार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ता था। स्त्री-मजदूरों की हालत तो और भी दयनीय थी। मजदूर वर्ग के लिए स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकार का कोई मूल्य नहीं था, क्योंकि उनके पास सम्पत्ति थी ही नहीं। इसलिए उनके लिए आवश्यकता इस बात की थी कि राज्य उनके अधिकारों को जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करें। और यह सब ऐसा राज्य ही कर सकता था जिसके कार्यों का विस्तार किया जाय। इंग्लैण्ड में सन् 1867 का सुधार अधिनियम पारित होने से वोटरों का एक ऐसा वर्ग भी उभर कर आ गया था जो अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य की सहायता का आकांक्षी था। समाजवादी लहर भी धीरे-धीरे जोर पकड़ने लगी थी। सन् 1848 में यूरोप के कई देशों में समाजवादी क्रांतियाँ हुईं। इसी वर्ष मार्क्स एवं एगिंल्स "The Communist manisfesto" प्रकाशित हुई; और इसी वर्ष जान स्टुअर्ट मिल का लेख "The Political Economy" इन्साइक्लोपीडिया में प्रकाशित हुआ।

इन परिस्थितियों में यह महसूस होने लगा कि यदि उदारवाद को जीवित रहना है तो इसमें निम्नलिखित परिवर्तन की आवश्यकता है-

(i) राज्य के कार्यों का विस्तार और उसके कार्यों के निषेधात्मक स्वरूप का परित्याग।

(ii) व्यक्ति की स्वतंत्रता के निषेधात्मक स्वरूप (स्वतंत्रता बंधनों का अभाव है) के स्थान पर स्वतंत्रता के सकारात्मक स्वरूप (स्वतंत्रता उन कार्यों को करने में निहित है जो करने योग्य हों) का समर्थन।

(iii) व्यक्ति और समाज एवं व्यक्ति और राज्य के मध्य नवीन सम्बन्धों की स्थापना।

उदारवाद में यह परिवर्तन दो स्वरूप में आया- (i) एक ओर तो जान स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद और व्यक्तिवादी स्वतंत्रता की धारणा में संशोधन किया, और हरबर्ट स्पेंसर ने उदारवाद/उपयोगितावाद में जीव शास्त्र और प्राकृतिक विज्ञान का समन्वय किया; और इस प्रकार उदारवाद/उपयोगितावाद को समयोपयोगी बनाने का प्रयास किया। (ii) दूसरी ओर आक्सफोर्ड आदर्शवादी चिन्तक टी0एच0ग्रीन ने ब्रिटिश उदारवाद में जर्मन आदर्शवाद का समन्वय कर समय के अनुरोध को पूर्ण करने का प्रयास किया। इन प्रयासों में मिल और स्पेंसर के दर्शन में कुछ असंगतियाँ रह गईं किन्तु ग्रीन का चिन्तन विरोधाभासों से अपेक्षाकृत मुक्त रहा।

2.2 मिल की प्रमुख पुस्तकें एवं लेख-

(पुस्तकों का नाम इटेलिक्स में है, और लेख इनवर्टेड कोमा के अन्दर हैं)

(1) System of Logic (1943)

(2) "Principles of Political Economy" (1848)

(3) On Liberty (1859)

(4) Considerations of Representative Government (1860)

(5) Utilitarianism (1861)

(6) The subjection of women (1869)

(7) The Autobiography (1873)

(यह आत्मकथा उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुई।)

2.3 बेन्थम के उपयोगितावाद में मिल द्वारा संशोधन

जान स्टुअर्ट मिल को अन्तिम उपयोगितावादी और प्रथम व्यक्तिवादी कहा जाता है। यह इसलिए क्योंकि जहाँ मिल ने एक ओर बेन्थम की उपयोगितावाद में विपुल परिवर्तन किये, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन भी किया। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि मिल ने उपयोगितावादी दर्शन का स्पष्टतः कभी परित्याग नहीं किया, किन्तु परिस्थितियोंवश उसमें जाने-अनजाने अत्यधिक सुधार कर दिये।

जान स्टुअर्ट मिल के पिता जेम्स मिल बेन्थम के मित्र और उनके विचारों के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने अपने पुत्र का प्रशिक्षण उपयोगितावाद के समर्थन में बहुत नियोजित एवं नियंत्रित ढंग से कराया। सन् 1836 में अपने पिता की मृत्यु के बाद जब उन्हें इस नियंत्रण से छुटकारा मिला तो वह अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के साहित्य में रूचि लेने लगें। (यह बात उन्होंने अपनी आत्मकथा में कहीं हैं)। अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से उन पर जर्मन आदर्शवादी/प्रत्ययवादी विचारों का (विशेषकर इमेनुअल कान्ट का) प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव ने उन्हें समुदायिक जीवन की महत्ता और समाज के आंगिक स्वरूप की सीख दी। इसी बीच वह फ्रान्सीसी काम्ट (Auguste Comte) के विचारों से प्रभावित हुये। काम्ट ने ऐतिहासिक एकबद्धता और सामाजिक विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। मिल ने चिन्तन में इस प्रकार परस्पर-विरोधी तीन प्रकार के सिद्धान्तों का प्रभाव था- उपयोगितावादी-प्रयोगवाद अनुभववाद (जो उन्हें जन्म से मिली थी), जर्मन आदर्शवाद/प्रत्ययवाद और काम्ट का सामाजिक विकास का सिद्धान्त।

मिल अपने चिंतन का प्रारम्भ वेन्थम से सुखवादी-आत्महित के सिद्धान्त से करते हैं। वह वेन्थम की तरह यह मानते हैं कि सुख-दुख की अनुभूति व्यक्ति को संवेदनशील नाड़ियों से होती है और सुख की चाह ही व्यक्ति को कार्य करने को प्रेरित करती हैं; किन्तु 'सुख' की व्याख्या से वह बेन्थम से भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हैं। बेन्थम के सिद्धान्त के विपरति मिल यह मानते हैं कि सुख की मात्रा में केवल अधिक या कम का मात्रा-सम्बन्धी अन्त ही नहीं पाया जाता है; बल्कि उच्च अथवा निम्न श्रेणी का गुणात्मक अन्तर भी होता है। उनके अनुसार कुछ सुख अधिक मूल्यवान एवं वांछित होते हैं। बेन्थम ने कहा था कि 'सुखो की मात्रा समान होने से ताश के खेल और कविता के पाठ के आनंद में कोई अन्तर नहीं होता है।' किन्तु मिल का कहना था कि 'एक सन्तुष्ट शूकर से एक असंतुष्ट मानव को होना अधिक अच्छा है, और एक संतुष्ट मूर्ख से असंतुष्ट सुकरात का होना अच्छा है।' मिल द्वारा सुखों के इस गुणात्मक अन्तर ने उपयोगितावाद को नैतिकता का पाठ तो पढ़ाया, किन्तु यह बेन्थमवादी उपयोगितावाद के अनुरूप नहीं था।

मिल ने बेन्थम द्वारा प्रतिपादित 'नैतिक मापदण्ड' (Felicific Calculus) को भी अस्वीकार कर दिया। क्योंकि यदि सुखों का मापदण्ड गुणात्मक है तो मात्रा सम्बन्धी नैतिक

मापदण्ड निरर्थक हो जाता है।

इस बात का प्रतिपादन कर कि कुछ सुख अधिक मूल्यवान होते हैं, मिल ने उपयोगितावाद सिद्धान्त को मानव गरिमा के भावों से भर दिया। बेन्थम के भौतिकवादी सुखवाद में शुभ जीवन की अवधारणा का समावेश करके उन्होंने ब्रिटिश उदारवादी/उपयोगितावादी दर्शन में आदर्शवादी मोड़ देने का प्रयास किया। उपयोगितावाद में इस नैतिक मापदण्ड का समावेश एक क्रांतिकारी परिवर्तन था। अप्रत्यक्ष रूप से मिल यह स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं कि राज्य एक नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य व्यक्ति को शुभ जीवन (न कि अधिकतम सुख) उपलब्ध कराना है।

मानव गरिमा का विश्लेषण करते हुए मिल उपयोगितावाद के नैतिक एवं राजनैतिक कृतज्ञता (Moral and political obligation) के सिद्धान्त में भी परिवर्तन कर देते हैं। उपयोगितावाद के अनुसार राज्य और अन्य मानव संस्थाएँ केवल मनुष्य की स्वार्थ भावना पर आधारित है; और व्यक्ति दण्ड के भय के कारण उनके प्रति कृतज्ञता का भाव दर्शाता है। किन्तु मिल के अनुसार प्रेम, सहानुभूति, धार्मिक भाव एवं शुभ जीवन के प्राप्ति की आकांक्षा आदि समान रूप से राज्य के प्रति भक्ति भावना के निमित्त योगदान देते हैं। मिल इस प्रकार राज्य के भावात्मक आधार को स्वीकार करके व्यक्तिगत सुखों के स्थान पर नैतिकता को महत्व प्रदान कर देते हैं।

एक कट्टर उपयोगितावादी के लिए 'अधिकतम सुख' ही साध्य है। किन्तु मिल के लिए मानव स्वतंत्रता भौतिक सुख से अधिक मूल्यवान है। उनके लिए स्वतंत्रता मूल है। जो उपयोगिता से बढ़कर बड़ा साध्य है। (मिल की स्वतंत्रता की अवधारणा का अगले पृष्ठों में उल्लेख है)।

मिल उपयोगिता में एक और महत्वपूर्ण परिवर्तन कर देते हैं। सुखवाद के सिद्धान्त को ही निर्धारक तत्व मानते हुये बेन्थम परम्पराओं और इतिहास को मानव संगठन के लिए महत्वपूर्ण नहीं मानते। किन्तु मिल परम्पराओं और सामाजिक संगठन एवं ऐतिहासिक एकबद्धता को स्वीकार करते हुए ऐतिहासिक सापेक्षवाद की शरण में चले जाते हैं। इस संदर्भ में उनके और बेन्थम के विचारों की भिन्नता उनकी प्रजातन्त्र सम्बन्धित विचारों से स्पष्ट हो जाती है। बेन्थम प्रजातंत्र का समर्थन व्यक्ति के स्वार्थपूर्ण स्वभाव के कारण करते हैं और मानते हैं कि प्रजातंत्र के अन्तर्गत ही शासकों के आत्महित में जनता द्वारा अंकुश लगाया जा सकता है। किन्तु मिल प्रजातंत्र की सफलता के लिए पूर्व निश्चित दशा को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार प्रजातंत्र के लिए ऐसे सुसंस्कृत एवं प्रशिक्षित नागरिकों की आवश्यकता होती हैं जिनकी ऐतिहासिक परम्परा उन्हें उत्तरदायित्व की भावना का बोध कराती है। उनकी मान्यता है कि ऐसा न हो तो प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता।

मिल राज्य का आधार शुभ मानव-इच्छा मानते हैं न कि सुखवाद। उनकी मान्यता है कि एक व्यक्ति की शुभ इच्छा 99 व्यक्तियों की अनुचित इच्छा से कहीं अधिक अच्छी होती है। इस प्रकार मिल राज्य का आधार शुभ इच्छा मानते हुए आदर्शवाद के निकट पहुँच जाते हैं। इसी धारणा को तर्कसंगत बनाते हुए ग्रीन ने कहा कि 'राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं'।

उपयोगितावाद में उपर्युक्त परिवर्तन करके मिल ने उपयोगितावाद को अधिक उदार एवं मानववादी तो बना दिया, किन्तु उनका दर्शन अनेकानेक विरोधाभासों से युक्त हो गया। कारण यह है कि न तो वह बेन्थमवाद को पूर्णरूप से नकार सके और न ही वह आदर्शवादी और

ऐतिहासिक एकबद्धता एवं विकास के सिद्धान्त को पूर्णरूप से आत्मसात कर सकें। इनकी यह असमंजसता उनके अनेक विचारों में परिलक्षित होती है।

'The Political Economy" के तृतीय संस्करण में तो मिल ने यह भी स्वीकार किया था कि बेन्थम की यह धारणा गलत है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने सुख (आत्महित) को प्राप्त करने की प्रेरणा से कार्य करें तो स्वतः ही सामाजिक-हित सम्पन्न हो जाता है। यह धारणा इसलिए गलत है क्योंकि मिल के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का कार्य आरम्भ करने का धरातल समान नहीं है। कोई व्यक्ति धनी है तो कोई निर्धन है, कोई कुशाग्र बुद्धि वाला है तो कोई उतना बुद्धिमान नहीं है। व्यक्तियों की विरासत से मिली परिस्थितियां भी भिन्न होती हैं। इस पृष्ठभूमि में राज्य द्वारा निर्मित कानून भी बुद्धिमानों, धनिकों और शक्तिशालियों के हित में ही क्रियान्वित होते हैं। इसलिए मिल समाजवादी चिन्तकों की भांति यह स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं कि यदि परिस्थितियों के भिन्नता के कारण व्यक्ति अपने अधिकारों की स्वयं सुरक्षा नहीं कर सकता तो राज्य अपने कार्यों का विस्तार कर उनके अधिकारों के सुरक्षित करें। वे ग्रीन की भांति इसका भी संकेत देते हैं कि राज्य व्यक्ति के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करें। इसी दृष्टि से वह भू-सम्पत्ति को व्यक्ति का मौलिक अधिकार नहीं मानते और कहते हैं कि राज्य द्वारा भूमिगत सम्पत्ति पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। वह यह भी मानते हैं कि राज्य द्वारा शिक्षा को अनिवार्य करना आवश्यक हैं। (यद्यपि वह राज्य द्वारा पाठ्यक्रम को निर्धारित करना उचित नहीं समझते)। सम्पत्ति के वंशानुगत अधिकार को भी वह नियंत्रित करने के पक्षधर हैं।, वह सामाजिक न्याय के लिए राज्य द्वारा इस प्रकार के कानून बनाने को उचित मानते हैं जैसे कल-कारखानों में कार्य करने वाले मजदूरों के काम के घंटे निश्चित करना और उनकी न्यूनतम मजदूरी तय करना, आदि। स्पष्ट है कि इन सभी विषयों में वह राज्य में कार्यों के निषेधात्मक स्वरूप को अस्वीकार करते हुए आदर्शवाद तथा समाजवाद की ओर उन्मुख होते प्रतीत होते हैं। किन्तु राज्य के कार्यों के इस तरह के विस्तार के बावजूद भी वह उन्मुक्त व्यापार और लेसे-फेयर दर्शन का ही समर्थन करते हैं, और आधारतः राज्य के निषेधात्मक स्वरूप पर ही बल देते हैं।

उपर्युक्त प्रकार की विडम्बना मिल के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों में भी देखने को मिलती है।

2.4 स्टुअर्ट मिल की स्वतंत्रता की अवधारणा

मिल की स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार उनकी छोटी सी पुस्तक On Liberty (1859) में संकलित है। इस पुस्तक ने उपयोगितावादी साहित्य में एक नवीन स्वर का सूत्रपात किया। मिल के लिये 'अधिकतम सुख' नहीं बल्कि 'स्व-नियंत्रित नैतिक निर्णय की स्वतंत्रता' ही साध्य है। वह अंग्रेजी कवि मिल्टन की भांति स्वतंत्रता का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते हैं; और विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मौलिक मानते हैं।

मिल के अनुसार विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता न केवल व्यक्ति के लिए ही उपयोगी होती है बल्कि उस समाज के लिए भी उपयोगी होती है जिसमें वह रहता है। इसलिए एक उदार समाज का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्ति को न केवल विचारों को अभिव्यक्ति करने की

स्वतंत्रता दे, वरन् इसमें सकारात्मक योगदान भी दे। विचारों के दमन से प्रगतिशीलता समाप्त हो जाती है। इसलिए एक विरोधी मत का महत्व बहुमत से कम नहीं है। स्वतंत्रता विवाद से ही संपुष्ट विचारों का जन्म होता है क्योंकि सभी प्रकार के मतों में कुछ न कुछ सत्यांश रहता है। इसलिए मिल ने कहा है कि 'सम्पूर्ण मानव जाति को भी एक विरोधी को शान्त करने का अधिकार नहीं है।' विचारों के आदान-प्रदान से ही नैतिक चरित्र का विकास होता है और व्यक्ति की विवेक -शक्ति परिमार्जित होती है।

मिल स्वतंत्रता की चर्चा करते समय निम्नलिखित स्वतंत्रता को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं- (i) अन्तःकरण की स्वतंत्रता, (ii) विवेचन और चेतना की स्वतंत्रता, (iii) विभिन्न विषयों पर अपना मत प्रकट करने और भावों को प्रदर्शित करने की स्वतंत्रता, (iv) प्रकाशन की स्वतंत्रता और (v) संगठन की स्वतंत्रता। स्पष्टतः मिल की स्वतंत्रता सम्बन्धी विचारों का झुकाव उतना राजनीतिक स्वतंत्रता से नहीं है जितना सामाजिक स्वतंत्रता से है। मिल इस बात का आग्रह करते हैं कि न केवल निरंकुश शासकों के अत्याचार से ही व्यक्ति को सुरक्षा की आवश्यकता है, बल्कि प्रचलित विचारधाराओं और समाज के उस वृत्ति से भी सुरक्षा की आवश्यकता है जिसके द्वारा व्यक्ति पर उसकी इच्छा के विरुद्ध परम्परागत विचारों को थोपा जाता है। उनके अनुसार व्यक्तिगत स्वतंत्रता में सामूहिक विचारधाराओं का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए और उसकी सीमाएं निर्धारित होनी चाहिए। सेबाइन के अनुसार 'मिल प्रथम राजनीतिक दार्शनिक हैं जिन्होंने यह महसूस किया कि एक उदार सरकार की पृष्ठभूमि में एक उदार समाज का होना अति आवश्यक है।'

इस प्रकार मिल द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए समाज एक आवश्यक इकाई बन जाता है। अभी तक कि उदारवादी विचारधारा में- जैसे लाक और बेन्थम की विचारधारा में-व्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों तक ही सीमित था। मिल का उदारवाद में यह महत्वपूर्ण योगदान है कि उन्होंने समाज/समुदाय को व्यक्ति और राज्य के मध्य सम्बन्धों को निर्धारित करने का एक आवश्यक सूत्र माना, और इसीलिए सामाजिक स्वतंत्रता को व्यक्तिगत और राजनीतिक स्वतंत्रता का आधार माना। मिल ने इन विचारों का बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामुदायिक विचारकों (Communitarions) - जैसे माइकेल सेण्डल, चार्ल्स टेलर, वालजर, पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा।

यहाँ तक तो मिल के स्वतंत्रता-सम्बन्धी विचार समय के अनुरूप थे। ऐसा प्रतीत हुआ कि उन्होंने स्वतंत्रता के निषेधात्मक सिद्धान्त के स्थान पर सकारात्मक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। किन्तु इसके पश्चात् वह अपनी इस नवीन विचारधारा को आगे नहीं बढ़ा सके। इस सन्दर्भ में भी उनके चिंतन में उनको विरासत से मिली उपयोगितावादी विचारधारा और नवीन विचारधारा के मध्य संघर्ष स्पष्ट दिखाई देता है।

मिल स्वतंत्रता की दो परिभाषाएँ देते है। दोनों परिभाषाएँ स्वतंत्रता की निषेधात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हैं; किन्तु जब मिल इन परिभाषाओं की व्याख्या करते हैं तो वह उसे सकारात्मक मोड़ दे देते हैं।

पहली परिभाषा के अनुसार वह व्यक्ति को पूर्ण सार्वभौमिक मानकर 'अपने आप पर छोड़ने' ("being left to oneself") को स्वतंत्रता मानते हैं। इसलिए वह व्यक्ति के क्रिया-कलापों में किसी भी प्रकार का नियंत्रण बुरा समझते हैं। "(All restraint qua-restraint is bad") इस परिभाषा के अनुसार वह व्यक्ति के कार्यक्षेत्र को दो भागों में बाटते हैं- आत्मगत कार्य (self regarding actions) और समाजगत कार्य (Other regarding actions) ।

राज्य और समाज, समाजगत कार्यों में हस्तक्षेप कर सकते हैं पर व्यक्तिगत कार्यों में नहीं। परन्तु विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि स्वतंत्रता की यह धारणा क़ितनी खोखली है। क्योंकि व्यक्ति समाज में रहता है, इसलिए उसका कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता जो पूर्णतया आत्मगत हो। उसके सभी कार्य किसी-न-किसी रूप में राज्य/समाज दखल दे सकता है। इसीलिए बारकर का कहना है कि 'मिल खोखली स्वतंत्रता और निरपेक्ष व्यक्ति के समर्थक हैं''। ("Mill is the prophet of empty liberty and abstract individual")

मिल की दूसरी परिभाषा के अनुसार व्यक्ति और समाज के उचित सम्बन्ध स्थापित करने के आधार पर व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कुछ नियंत्रण अनिवार्य है। यहाँ पर मिल व्यक्ति के भावी हित को ध्यान में रखकर समाज और राज्य को अधिक अनुभवी मानते हैं। इस दृष्टि से वह स्वतंत्रता की दूसरी परिभाषा देते हैं- उनका कथन है कि 'स्वतंत्रता व्यक्ति के अपने इच्छानुसार काम करने में निहित है'। ("liberty consists in doing what one desires") जैसे, एक व्यक्ति पुल पार करना चाहता है तो उसकी तत्कालीन स्वतंत्रता पुल पार करने में निहित है; परन्तु पुल के कच्चे होने की सम्भावना से बचाने वाला व्यक्ति उसकी भावी स्वतंत्रता का ख्याल कर उसे पुल पार करने से रोक सकता है। इसी प्रकार राज्य भी व्यक्ति के उन हितों की प्राप्ति के लिए नियंत्रण स्थापित कर सकता है जिन हितों को व्यक्ति खुद न समझता हो। इस व्याख्या के अनुसार मिल रूसो द्वारा समर्थित 'बाध्य स्वतंत्रता' (forced freedom) की मंजिल तक पहुँच जाते हैं और राज्य के कार्यों को बहुत विस्तृत कर देते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से बाध्य स्वतंत्रता की मंजिल तक पहुँच जाने के कारण मिल अप्रत्यक्ष रूप से ही मानव की विवेक-सम्मत इच्छा को भी स्वतंत्रता का आधार मान लेते हैं। स्वतंत्रता के अधिकार के सम्बन्ध में मिल की यह दुविधा टी0एच0 ग्रीन के आदर्शवादी चिंतन में दूर हुई। ग्रीन ने राज्य का आधार व्यक्ति के अधिकार माने-ऐसे अधिकार जो व्यक्ति की विवेक-सम्मत इच्छा पर आधारित हों। इसीलिए, जैसे कहा भी जा चुका है कि ग्रीन का कथन था कि 'राज्य' का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं' ("Will, not force, is the basis of the state")

मिल की स्वतंत्रता सम्बन्धी धारणा यद्यपि कई विरोधाभासों से युक्त है, तथापि वह प्रथम उदारवादी चिंतक थे जिन्होंने राज्य को कार्यों और व्यक्ति के स्वतंत्रता के सकारात्मक स्वरूप को उजागर किया। मेकफरसन ने बेन्थम और मिल के विचारों की तुलना करते हुए कहा है कि बेन्थम का व्यक्ति स्वतंत्रता के अधिकार का प्रयोग अनन्त रूप से वस्तुओं को प्राप्त करने और उन वस्तुओं का अनन्त रूप से उपभोग करने के लिए करता है। (Man is infinite appropriater and infinite consumer); (मिल और ग्रीन) का व्यक्ति स्वतंत्रता का प्रयोग अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए करता है-वह कर्मयोगी (doer and exerter of his personality) है।

2.5 मिल के प्रजातन्त्र सम्बन्धी विचार

मिल को प्रजातंत्र का 'अनिच्छुक समर्थक' (The Reluctant Democrat) कहा जाता है। लिबर्टी और रिप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट पुस्तकों में मिल का आग्रह है कि यद्यपि प्रजातन्त्र शासन का सबसे अच्छा स्वरूप है, किन्तु यह सभी देशों के लिए उपयुक्त नहीं है। प्रजातांत्रिक व्यवस्था के लिए कुछ पूर्व-निश्चित दशाओं का होना अति आवश्यक है। प्रजातांत्रिक शासन वही सफल हो सकता है जहाँ की जनता शिक्षित हो और जहाँ का लोकमत जाग्रत हो, तथा जहाँ

नागरिक मतदान का प्रयोग कर्तव्य की भावना से करते हों। जिस देश में इस प्रकार की पूर्व निश्चित दशाएं विद्यमान हो वहां, मिल के अनुसार, प्रजातंत्र शासन का सर्वोत्तम स्वरूप है। प्रजातंत्र के अन्तर्गत ही व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं चरित्र का विकास होता है। कार्य करने से ही कार्य करने की क्षमता परिमार्जित होती है। वोट देना, विधि-निर्माण के कार्य में भागीदार होना, उत्तरदायी होना, आदि, उच्च प्रकार के नैतक चरित्र का निर्माण करते हैं। जाग्रत समाज में मतदाता अपने व्यक्तिगत इच्छा के अनुरूप वोट न देकर कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर वोट देते हैं। मिल के अनुसार निर्वाचन का काल एक प्रकार की शिक्षात्मक प्रक्रिया का समय होता है।

मिल का विश्वास है कि जहां प्रजातंत्र के लिए अनुकूल वातावरण हो वहाँ सभी नागरिकों को, सभी पुरुष एवं महिलाओं को, वोट देने का एवं निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में सहभागी होने का अधिकार होना चाहिए। मिल ने पश्चात्य राजनीतिक चिंतन धारा में इस प्रकार महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों की वकालत की। इस सन्दर्भ में उनकी पुस्तक Essay on the Subjection of Women महत्वपूर्ण है।

मिल प्रजातन्त्र को सभी देशों के लिए क्यों उचित नहीं मानते इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि 19वीं शताब्दी के मध्य तक प्रजातंत्रिक शासन के बुरे परिणाम भी दृष्टिगोचर होने लगे थे। दी ताकविल का *डेमोक्रेसी इन अमेरिका* में कहना था कि यद्यपि सभी देशों में प्रजातांत्रिक व्यवस्था का आना अवश्यंभावी है, तथापि इसके आने से एक ओर तो निरंकुश बहुमत की स्थापना हो रही है और दूसरी ओर मध्यम स्तर के सदस्य विधान-सभाओं में पहुँच रहे हैं। मिल, ताकविल के विचारों से सहमति रखते हुए यह जानने का प्रयास करते हैं कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था को किस तरह जनता के हित में सुरक्षित किया जाय। इस सन्दर्भ में वह इस कथन से भी सहमत होते प्रतीत होते हैं कि 'प्रजातंत्र वह पारितोषिक नहीं है जिसे नागरिक उपभोग की वस्तु समझे; बल्कि यह उस प्रवृत्ति का द्योतक है जिसे परिश्रम से प्राप्त किया जाता है और जिसका प्रयोग सर्वसाधारण के हित में किया जाता है। इसके अन्तर्गत समाज से प्राप्त करने की आकांक्षा से अधिक समाज में देने की भावना निहित है।'

2.6 प्रतिनिधि लोकतंत्र पर मिल के विचार

अपनी पुस्तक 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) में मिल ने प्रतिनिध्यात्मक लोकतंत्र की प्रणाली पर विचार किया है। यद्यपि मिल के मन में लोकतंत्र प्रणाली के सम्बन्ध में अनेक शंकाएं थी और वह लोकतंत्र के दोषों से अपरिचित नहीं था, और उसका यह विश्वास भी था कि लोकतांत्रिक प्रणाली हर देश और हर सभ्यता के लिए उपयुक्त नहीं है, फिर भी वह सभी शासन-प्रणालियों में लोकतंत्र को ही सर्वश्रेष्ठ मानता था। मिल प्रतिनिधि लोकतंत्र का पक्षधर है क्योंकि वह यह मानता है कि यह मनुष्यों को सुखी और श्रेष्ठ बनाती है। इस प्रणाली में व्यक्ति को अपनी विभिन्न मानसिक व नैतिक क्षमताओं का उपयोग करने का अवसर मिलता है जिसके फलस्वरूप उनकी बुद्धि व गुणों का समुचित विकास होता है। प्रतिनिधि लोकतंत्र की प्रणाली नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करती है. नागरिकों को मिलजुल कर सार्वजनिक मामलों का संचालन करने का अवसर मिलता है। नीतियों व कार्यक्रमों के बारे में जनता के बीच व्यापक विचार विमर्श होता है, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सभी को अपना अपना

दृष्टिकोण रखने को प्रेरित करती है, और इन कारणों से श्रेष्ठ नीतियों व सिद्धान्तों का निर्माण संभव होता है। लोकतांत्रिक प्रणाली में किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष के स्वार्थों के आधार पर नहीं, वरन् सम्पूर्ण जनता के कल्याण के आधार पर निर्णय लिये जाते हैं। इस प्रकार सार्वजनिक कल्याण की सर्वाधिक संभावना लोकतंत्र में ही रहती है।

19वीं सदी में यूरोप के कुछ देशों व संयुक्त राज्य अमरीका में लोकतंत्र का प्रचलन हो चुका था, और लोकतांत्रिक प्रणाली में अन्र्तनिहित कुछ खतरे भी सामने आ रहे थे। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान डी टॉकविले ने अपनी पुस्तक 'डेमोक्रेसी इन अमरीका' में इनकी ओर संकेत भी कर दिया था। टॉकविले का विचार था कि यद्यपि लोकतंत्र के आगमन से नागरिकों की क्षमताओं का विकास हुआ है, परन्तु साथ ही 'बहुमत के अत्याचार' का परिदृश्य भी उभरा है। बहुमत का दृष्टिकोण सही माना जाता है, बहुमत से असहमति रखना असंभव होता जा रहा है, और बहुमत का विरोध करने के भयंकर दुष्परिणाम भी भुगतने पड़ते हैं। एक बार जब जनमत ने किसी प्रश्न को तय कर दिया तो फिर विचार-विमर्श या असहमति की गुंजाइश नहीं रह जाती। टॉकविले ने बहुमत या जनमत की बढ़ती निरंकुशता की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि यदि ऐसा ही रहा तो लोकतंत्र के विकास का परिणाम यह हो सकता है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं विशिष्टता लुप्त हो जाए। मिल टाँकविले के निष्कर्षो से सहमत था। लोकतंत्र एक नई प्रकार की दासता का हेतु बन सकता है। बहुमत सत्-असत्, नीति-अनीति, उचित-अनुचित की व्याख्या करेगा और अपनी संख्या की शक्ति के मद में चूर होकर उसे अल्पमत पर आरोपित करेगा। ऐसी स्थिति में असहमति या आलोचना काफी जोखिम पूर्ण हो जाता है।

मिल ने सच्चे लोकतंत्र (True Democracy) और विकृत लोकतंत्र (False Democracy) में स्पष्ट अन्तर किया और इस अन्तर को बहुत महत्वपूर्ण माना। उसका दृढ़ विश्वास था कि मात्र संख्या पर आधारित लोकतंत्र व्यक्ति व समाज दोनों के लिए पतनकारी है। ('The democracy of numbrs is the final form of the degeneracy of all govrnments') वह बेंथम के उस सिद्धान्त कि हर व्यक्ति समान है व कोई किसी से श्रेष्ठतर नहीं है (Everyone to count for one, no one for more than one') से असहमत है क्योंकि इसमें साधारण मनुष्यों व विशिष्ट व असाधारण गुणों से सम्पन्न मनुष्यों के अन्तर को नकारा गया है और इसका परिणाम यह होगा कि समाज से बौद्धिक व नैतिक श्रेष्ठता धीरे-धीरे लुप्त हो जाएगी। मिल वस्तुतः ऐसे लोकतंत्र का पक्षधर है जो गुणात्मक और संख्यात्मक कारकों का समुचित सामंजस्य करता है, और जो कुलीनता (Aristocratic temper) को विशेष महत्व देता है। उसका यह भी विश्वास है कि शिक्षा के द्वारा जन-सामान्य के नैतिक व बौद्धिक स्तर को उठाया जा सकता है। समाज में श्रेष्ठ व योग्य लोगों की उपस्थिति भी लोगों को उन्नयन हेतु प्रेरित करती है और ऐसे महामानव एक श्रेष्ठ समाज की आधारशिला रखने के लिए आवश्यक हैं। मिल को जब अनिच्छुक लोकतंत्रवादी (Reductant-democrat) या लोकतंत्र का आधा-अधूरे मन से समर्थन करने वाला (Half-hearted democrat) कहा जाता है तो इसी संख्यात्मक लोकतंत्र के प्रति उसकी शंकाओं व आपत्तियों के कारण कहा जाता है। लोकतंत्र को सुदृढ़ गुणात्मक आधार प्रदान करने के लिए मिल ने कई सुझाव दिए हैं जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

1. मिल ने सार्वभौमिक मताधिकार (Universal Suffrage) का समर्थन किया। 19वीं सदी में बेंथम आदि कुछ दार्शनिक सभी पुरुषों को मताधिकार दिए जाने की वकालत कर रहे थे, लेकिन मिल ने एक कदम आगे जाकर सभी स्त्रियों व पुरुषों को मताधिकार दिए जाने का समर्थन किया। मिल सार्वजनिक जीवन में स्त्री-पुरूष दोनों की समान भागीदारी को श्रेष्ठ लोकतंत्र के विकास के लिए आवश्यक मानता है। जॉन आफ आर्क, एलिजाबेथ एवं आस्ट्रिया की साम्राज्ञी मार्गरेट का दृष्टान्त देते हुए उससे कहा कि राजनीतिक जीवन में भाग लेने व सार्वजनिक पदों की जिम्मेदारियों का निर्वहन करने में स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नहीं होतीं। मेरी वॉलस्टोन क्राफ्ट एवं मार्गरेट फुलर जैसी नारीवादियों की भाँति मिल भी स्त्री मताधिकार का प्रबल समर्थक था।

2. मिल ने मताधिकार के साथ कतिपय योग्यताओं व अयोग्यताओं को जोड़े जाने का समर्थन किया ताकि लोग मताधिकार का सदुपयोग करें। मताधिकार उसी व्यक्ति को दिया जाना चाहिए जो कुछ न्यूनतम शैक्षिक योग्यता रखता हो। मिल ने कहा कि जो व्यक्ति लिख-पढ़ नहीं सकता अथवा जिसको गणित का प्रारंभिक ज्ञान नहीं है, उसे मताधिकार देने का कोई औचित्य नहीं।

   मिल ने दो प्रकार के व्यक्तियों को मताधिकार से वंचित किए जाने का समर्थन किया - (i) वे लोग जो स्थानीय करों को अदा करने में असमर्थ हैं (ii) वे लोग जो दीवालिया घोषित किए जा चुके हैं, जो मद्यपान की लत का शिकार हैं। इस प्रकार नैतिक पतन और वैधानिक दायित्वों का निर्वहन न कर पाने की स्थितियों में व्यक्ति मतदान करने के कर्तव्य का भी भली प्रकार से पालन नहीं कर सकता है।

3. मिल खुले मतदान (Open Ballot) का समर्थक है। वह गुप्तमतदान (Secret Ballot) की प्रणाली को ठीक नहीं मानता क्योंकि व्यक्ति गोपनीयता की आड़ में नैतिक व कानूनी रूप से अवांछनीय हथकंडे अपना सकता है। उसका विचार है कि मतदान एक ऐसा पुनीत कर्तव्य है जिसका निर्वहन सबकी आँखों के सामने किया जाना चाहिए। ('Voting is a public trust which should be performed under the eye and criticism of the public')

4. गुणात्मक लोकतंत्र की स्थापना के लिए मिल द्वितीय सदन (Second Chamber) को आवश्यक मानता है। द्वितीय सदन में योग्य व गुणी सांसदों की उपस्थिति से जनता द्वारा चुने गये प्रथम सदन के सदस्यों की जल्दबाजी अदूरदर्शिता और निरंकुशता पर लगाम लगी रहेगी। बहुमत की मनमानी को रोकन में द्वितीय सदन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, और इस संदर्भ में वह डी टॉकविले के तर्कों से सहमत था।

5. एक सच्चे लोकतंत्र में संसद में जनता के सभी वर्गों और हितों का समुचित प्रतिनिधित्व होना चाहिए। मिल का विश्वास था कि भौगोलिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली में ऐसा संभव नहीं है, अतः उसने समानुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) की प्रणाली का समर्थन किया ताकि संसद केवल बहुमत को नहीं वरन् अल्पमत की इच्छा व आकांक्षाओं का भी प्रतिनिधित्व करें।

6. मिल जन-प्रतिनिधियों को किसी प्रकार का वेतन-भत्ता दिए जाने का विरोधी था। उसका

विचार था कि ऐसा करने से पेशेवर राजनीतिज्ञों की जमात पैदा हो जाएगी जो जनता की सेवा के नाम पर अपने भौतिक आर्थिक हितों को साधेंगे। (If you allow M.P.s to be paid, the calling of a demagogue would be formally inaugurated')

7. मिल ने संसद की भूमिका पर भी विचार किया है। उसका मत है कि संसद का कार्य स्वयं प्रशासन चलाना नहीं है वरन् प्रशासकों पर नियंत्रण रखना व उनका मार्गदर्शन करना है। साथ ही वह इस बात पर भी बहुत जोर देता है कि शासन की शक्तियों में अनावश्यक वृद्धि नहीं होनी चाहिए क्योंकि इससे जन-स्वातंत्र्य में हस्तक्षेप होगा एवं जनता में परजीविता की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा। इससे नौकरशाही की शक्तियों में वृद्धि होगी, और मिल शक्तिशाली व निरंकुश नौकरशाही को जनतंत्र के लिए एक खतरा मानता है।

8. मिल "एक व्यक्ति, एक मत के सिद्धान्त को ठीक नहीं मानता। उसके अनुसार यह सिद्धान्त भीड़ के शासन का मार्ग प्रशस्त करता है न कि सच्चे लोकतंत्र का। सच्चे लोकतंत्र की स्थापना के लिए आवश्यक है कि समाज के योग्य व्यक्तियों, विशेषज्ञों व विचारकों के मत का मूल्य जन-सामान्य के मत के मूल्य से अधिक हो। ऐसे व्यक्तियों को 'बहुल मत' (Plural vote) मिलना चाहिए। तभी संख्या व गुण का सन्तुलन स्थापित हो सकेगा।

उक्त उपायों के द्वारा मिल प्रतिनिधि लोकतंत्र को सुरक्षित व श्रेष्ठ बनाना चाहता है। प्रो० सेवाइन के शब्दों में मिल ने यह समझ लिया था कि एक उदारवादी शासन की स्थापना से पूर्व एक उदारवादी समाज की रचना कितनी आवश्यक है। ('What Mill recognised, and what the older liberalism had never seen, was that behind a liberal government there must be a liberal society'- Sabine)

2.7 मिल का मूल्यांकन

मिल का राजदर्शन अनेक अन्तर्द्वन्दों व विरोधाभासों से ग्रस्त है। प्रो० विलियम ब्लूम के शब्दों में वह बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्तों व वर्ड्सवर्थ आदि के नैतिक विचारों के बीच झूलता रहता है। बेंथम के उपयोगितावाद की उसकी पुर्नव्याख्या का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है। बेंथमवादी मात्रा सम्बन्धी सुखवाद के सिद्धान्त को पूर्णरूपेण स्वीकार करने के बाद वह सुख के गुणात्मक आधार की पैरवी करने लगता है। पर इस महत्वपूर्ण परिवर्तन का वह तर्कपूर्ण विश्लेषण नहीं कर पाता। इसीलिए उसके सुखवाद की अवधारणा, स्वतंत्रता सिद्धान्त, राज्य के कार्यक्षेत्र के सिद्धान्त आदि में अनेकानेक विसंगतियाँ प्रवेश कर जाती हैं। मिल यह अनुभव करता है कि 19वीं सदी के मध्य तक औद्योगिक पूंजीवाद के विकास के फलस्वरूप पूंजीपतियों की सम्पत्ति में असाधारण वृद्धि हुई है, परन्तु श्रमिक वर्ग व अन्य मध्यमवर्गीय लोगों की आर्थिक दशा में चिन्ताजनक गिरावट आई है। अमीर-गरीब के बीच बढ़ती हुई इस खाई ने उसे बहुत उद्वेलित किया और इसके प्रभाव में उसने समष्टिवादी एवं समाजवादी मान्यताओं का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया। निसन्देह यह परिवर्तन उसकी मानवीयता का प्रमाण है, परन्तु इससे उसके वैचारिक विभ्रम का भी पता चलता है। शायद मिल यह नहीं समझ पाया कि उदारवादी-उपयोगितावादी मान्यताओं का पक्षपोषण करते हुए समाजवादी व आदर्शवादी सिद्धान्तों

की पैरवी नहीं की जा सकती। वस्तुतः मिल का राजदर्शन विभिन्न और परस्पर विरोधी मान्यताओं एवं सिद्धान्तों का संगम है और यह उसके चिन्तन को रोचक किन्तु जटिल बना देता है। प्रो० हेराल्ड लास्की के शब्दों में उसके दर्शन का निर्माण अनेक धाराओं से होता है और इसमें बेंथम और जेम्स मिल ही नहीं, कॉलरिज, सेन्ट-साइमन, कॉम्ट, टॉकविले के विचार-प्रवाह शामिल हैं। (No one can appreciate Mill who does not realize how wide are the influences which went into the formation of his thought, Not merely Bentham and James Mill, but Coleridge, and Saint-Simon, Comte and Tocqueville were streams that emptied themselves into the central ocean".)

इन विसंगतियों व विरोधाभासों के बावजूद राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मिल का एक विशिष्ट स्थान है। उसके महत्व का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

1. बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त में मिल द्वारा किए गए परिवर्तन राजनीतिक चिन्तन की एक अमूल्य देन माने जाते हैं। इन परिवर्तनों व संशोधनों के फलस्वरूप उपयोगिता वाद एक विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन होने के आरोप से बच सका। उसने कान्ट की तरह मानवीय गरिमा व स्वतंत्रता को सर्वोच्च नैतिक मूल्य माना। मनुष्य पशुओं की भांति मात्र भौतिक शारीरिक सुख-दुख के संदर्भ में विचार करने वाला प्राणी नहीं है। उसमें नैतिक आत्मिक आनन्द की अनुभूति करने की विलक्षण क्षमता है और यही आनन्द उसके निर्णयों व कार्यों की कसौटी होनी चाहिए। इस प्रकार मिल ने 'उपयोगिता' को एक उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित किया।
2. मिल के उदारवादी दर्शन का इस दृष्टि से भी बहुत महत्व है कि उसने राजनीतिक एंव सामाजिक स्वतंत्रता को एक साध्य के रूप में प्रस्तुत किया। मिल स्वतंत्रता को सुख का साधन मात्र नहीं मानता, वरन् व्यक्ति के व्यक्तित्व का एक आधारभूत तत्व मानता है जिसके बिना एक नैतिक एवं उत्तरदायी प्राणी के रूप में उसका विकास नहीं हो सकता। एक श्रेष्ठ समाज की पहचान इस बात से होती है कि वहाँ मनुष्यों को अपनी विविध क्षमताओं के विकास हेतु कितनी स्वतंत्रता प्राप्त है। मिल ने टॉकविले के इन निष्कर्षों को स्वीकार किया कि औद्योगिक समाजों में भेंडचाल की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है और इससे विशिष्टता एवं सृजनात्मकता के स्रोत सूख सकते हैं। शासक की तानाशाही के स्थान पर जनमत की तानाशाही का दौर आ रहा है। ये प्रवत्तियाँ स्वतंत्र्य एवं वैशिट्य के लिए खतरनाक हैं। अतः उसने स्वतंत्रता की महत्ता को पुर्नप्रतिपादित किया। प्रसिद्ध विचारक इसायाह बर्लिन का मत है कि मिल की पुस्तक 'आन लिबर्टी' का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नैतिकता की ठेकेदारी का दावा करने वाले बहुमत और व्यक्ति के जीवन में ताक-झांक करने वाले जनमत से व्यक्ति की स्वायत्तता की रक्षा करना था।

सेबाइन का विचार है कि मिल स्वतंत्रता को एक व्यक्तिगत लक्ष्य (Individual Good) ही नहीं मानता, वरन् उसे सामाजिक दृष्टि से भी कल्याणकारी (Social Good) मानता है। विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में किसी समाज का विकास नहीं हो सकता। वैचारिक स्वतंत्रता के वातावरण में ही समाज में प्रचलित सिद्धान्तों व मान्यताओं के सत्य और औचित्य की विवेचना हो सकती है, और तभी वांछित सुधार किए जा सकते हैं।

3. मिल एक महान उदारवादी विचारक है। प्रसिद्ध विद्वान जॉन ग्रे के अनुसार मिल के दर्शन में उदारवाद के सभी तत्वों का स्पष्टतम् प्रतिपादन हुआ है। ('In Mills thought, we find in the clearest form all the elements that together make up the liberal outlook') व्यक्ति व उसकी स्वतंत्रता को साध्य मानना, सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार, राज्य का सीमित कार्यक्षेत्र आदि उदारवाद की सभी मूलभूत मान्यताओं का पक्षपोषण मिल को एक प्रखर उदारवादी बना देता है। लेकिन हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मिल एक ऐसा उदारवादी है जो 19वीं सदी के आर्थिक-सामजिक जीवन में तेजी से हो रहे बदलाव से अनजान न था और न ही उनके प्रति उदासीन। पूंजीवाद के कुछ नकारात्मक परिणामों ने मिल जैसे संवेदनशील व्यक्ति को काफी व्यथित कर दिया। इसलिए हम मिल के आर्थिक दर्शन में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखते हैं। स्वतंत्र प्रतियोगिता एवं अहस्तक्षेपवादी राज्य के सिद्धान्तों की वकालत करने वाला मिल धीरे-धीरे समाजवादी मान्यताओं को अंगीकार करता दिखाई देता है। अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स आफ पॉलिटिकल इकॉनामी' के तीसरे संस्करण में उसने भूमि के सार्वजनिक स्वामित्व के साथ उत्पादन के अन्य साधनों के सामाजिक नियंत्रण का समर्थन किया। इसके साथ ही उसने श्रमिकों के लिए काम के घंटे तय करने, बाल-श्रमिकों के लिए आवश्यक कानून बनाने, कारखानों के प्रबन्ध में मजदूरों की भागीदारी और उनमें होने वाले लाभ का प्रबन्धकों व श्रमिकों में वितरण आदि अन्य आर्थिक सुधारों का समर्थन किया। इस प्रकार मिल शास्त्रीय उदारवाद की मान्यताओं को पीछे छोड़ समाजवादी अथवा सकारात्मक उदारवादी मार्ग पर बढ़ जाता है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों, गाइड एवं रिस्ट के अनुसार मिल अपने राजनीतिक चिन्तन के प्रथम चरण में उग्र व्यक्तिवादी-उदारवादी विचारक के रूप में सामने आता है, परन्तु द्वितीय चरण में उसका झुकाव समाजवाद की ओर दिखाई देता है। प्रसिद्ध राजशास्त्री एल0टी0 हाबहाउस इसीलिए मिल को ऐसा उदारवादी मानते हैं जो नकारात्मक उदारवाद एवं सकारात्मक उदारवाद के मध्य सेतु का कार्य करता है। ('In his single person, Mill spans the interval between the old and New Liberalism'-L.T. Hobhouse)

4. समकालीन नारीवादी चिन्तन में मिल को इसलिए एक महत्वपूर्ण विचारक माना जाता है क्योंकि उसने उदारवादी सिद्धान्तों को महिलाओं पर भी लागू करने की वकालत की। मिल ने कहा कि स्त्रियों को शिक्षा, रोजगार और मताधिकार उसी प्रकार से प्राप्त होने चाहिए जैसे कि पुरूषों को। स्त्री-पुरूष समानता का प्रबल समर्थन करते हुए मिल ने परम्परागत रूढ़ियों व मान्यताओं को मिटाने का आवाहन किया क्योंकि मानवीय सभ्यता की प्रगति इसके बिना संभव नहीं है। मिल स्त्रियों के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों का महान समर्थक था। अपनी पुस्तक 'सब्जेक्शन आफ वूमेन' में उसने इस बात पर काफी रोष प्रकट किया कि आधी मानवता अर्थात् स्त्री वर्ग को पुरुषों की अधीनता में रहना पड़ता है। वह इस आधीनता को जीवित रखने में सहायक सभी कानूनों एवं प्रथाओं को समाप्त करने का पक्षधर था।

5. राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में मिल का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उसने राजनीतिक संस्थाओं एवं सिद्धान्तों की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सापेक्षता को रेखांकित किया। उसने

कहा कि उपयोगितावादी सिद्धान्तों को लागू करते समय किसी समाज के सांस्कृतिक स्वरूप का ध्यान रखा जाना चाहिए क्योंकि ऐतिहासिक व सांस्कृतिक कारक उपयोगितावादी दर्शन की सीमाएं तय करते हैं, और यह संभव है कि ये राजनीतिक सिद्धान्त किसी समाज में कार्यान्वित हो सके और किसी में नहीं। इस प्रकार जहाँ बेंथम उपयोगितावादी सिद्धान्तों को सार्वभौमिक मानता है जो हर देश व काल के लिए उपयुक्त हैं, वहाँ मिल के अनुसार इन सिद्धान्तों की सफलता ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। इसी कारण मिल यह तर्क देता है कि प्रतिनिधि लोकतंत्र हर समाज के लिए वांछनीय और व्यावहारिक नहीं है। बेंथम इतिहास व परम्परा के महत्व को दर किनार करता है, परन्तु मिल इनके महत्व व प्रभाव को स्वीकार करता है। मिल का यह ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सापेक्षवाद (Historical and cultural relativism) का सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि अपनी इसी मान्यता के कारण वह राज्य को उस प्रकार यांत्रिक दृष्टि से नहीं देखता जैसा कि हमें बेंथम के राज्य सिद्धान्त में प्राप्त होता है।

2.8 सारांश

मिल 19वीं सदी का श्रेष्ठतम् उपयोगितावादी माना जाता है। बेंथम की मानव-स्वभाव की स्वार्थपरक व्याख्या को अस्वीकार कर उसने मनुष्य के नैतिक स्वरूप को रेखांकित किया और इस प्रकार उपयोगितावादी उदारवाद को मानवीय एवं गरिमापूर्ण बनाया। राज्य एवं व्यक्ति के मध्य सम्बन्धों का पुनः निरीक्षण कर उसने समाज को इन दोनों के मध्य सम्बन्धों की अपरिहार्य कड़ी के रूप में स्थापित किया। मिल 19वीं सदी के उदारवाद का बौद्धिक जनक था और 20वीं सदी के समुदायवादी राजदर्शन (Communitarianism) का अग्रदूत है। मिल ने राजदर्शन के विविध आयामों का उल्लेख करते हुए आर0 एच0 मुरे ने लिखा है-"मुक्त व्यापार का समर्थक होते हुए भी वह नवोदित उद्योगों के संरक्षण का पक्षधर है। एक व्यक्तिवादी होकर भी वह समाजवाद की ओर मुड़ जाता है। एक उग्रपंथी होकर भी वह कार्लाइल जैसा साम्राज्यवादी है। एक अनुभववादी होते हुए वह आदर्शवाद की ओर भी आकर्षित हुआ। एक उपयोगितावादी होकर भी उसने इसका खंडन किया और इसे इतना रूपान्तरित कर दिया कि संभवतः बेंथम भी न पहचान सके।" ('A Free Trader, he allowed protection of infant industries thereby letting in protection. An individualist, he turned to socialism. A radical, he proved as imperialist as Carlyle. An empiricist he drifted towards idealism. An utilitarian, he refuted it and then transformed it so greatly that Bentham could not have recognized it.")

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Brinton, Crane : English Political Thought in the Nineteenth Century.
2. Hearnshaw, F.J.C. (ed.) : The Social and Political Ideas of Some Representative Thinkers of the Victorian Age.

3. Cowling, Maurie : Mill and Liberalism.
4. Berlin, Isaiah : Two Concepts of Liberty.
5. Stephen, Leslie : The English Utilitarians, 3 vols.

2.10 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मिल ने बेन्थमवादी उपयोगितावाद में, कौन-कौन से परिवर्तन किये? विवेचना कीजिए।
2. मिल को प्रथम व्यक्तिवादी एवं अन्तिम उपयोगितावादी विचारक क्यों कहा जाता है?
3. "मिल खोखली स्वतंत्रता और निरपेक्ष व्यक्ति के पुरोहित हैं,"। (बार्कर) समीक्षा कीजिए।
4. मिल के स्वतंत्रता की अवधारणा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
5. प्रजातंत्र एवं प्रतिनिधि सरकार के विषय में मिल के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित में टिप्पणी कीजिए:-

1. मिल को प्रजातन्त्र का अनिच्छुक (Relutant Democrat) समर्थक क्यों कहा जाता है?
2. मिल का 'नैतिक एवं राजनीतिक कृतज्ञता' का सिद्धान्त।
3. मिल स्वतंत्रता की अवधारणा के सम्बन्ध में किन-किन स्वतंत्रताओं को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं? और क्यों ?
4. मिल के राज्य के कार्यों का सिद्धान्त।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. Utilitarianism के लेखक हैं -
   - अ. बेन्थम
   - ब. जे0 एस0 मिल
   - स. जेम्स मिल
   - द. इसमें से कोई नहीं।
2. The Communist Manifesto के लेखक हैं-
   - अ. एंगिल्स
   - ब. मार्क्स
   - स. मार्क्स औ एंगिल्स
   - द. इनमें से कोई नहीं
3. यह किसने कहा है कि सुखों की मात्रा समान होने से ताश के खेल और कविता पाठ के आनंद में कोई अन्तर नहीं है?
   - अ. बेन्थम
   - ब. जान स्टुअर्ट मिल
   - स. जेम्स मिल

द. स्पेंसर

4. राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं'- यह किसने कहा था?

अ. जान स्टुअर्ट मिल

ब. बेन्थम

स. जेम्स मिल

द. टी0एच0ग्रीन

5. निम्नलिखित में से कौन समुदायवादी (communitarian) विचारक हैं।?

अ. चार्ल्स टेलर

ब. स्पेंसर

स. टी0 एच0 ग्रीन

द. जे0एस0गिल

2.11 प्रश्नोत्तर

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर

1. ब
2. स
3. अ
4. द
5. अ

इकाई 3 - हरबर्ट स्पेंसर (1820-1903)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 स्पेंसर के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार
3.3 स्पेंसर का राजनीतिक दर्शन
3.4 स्पेंसर के प्राकृतिक अधिकार की अवधारणा
3.5 राज्य का सिद्धान्त
3.6 स्पेन्सर की समालोचना
3.7 सारांश
3.8 संदर्भ ग्रन्थ
3.9 संबंधित प्रश्न
3.10 प्रश्नोत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई में हरबर्ट स्पेंसर के राजनीतिक विचारों के विभिन्न आयामों की विवेचना की गई है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करके आप :

- हरबर्ट स्पेंसर के राजनीतिक दर्शन के विभिन्न पक्षों की व्याख्या कर सकेंगे?
- स्पेंसर के राजनीतिक विचारों का मूल्यांकन और उसके योगदान का आकलन कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इसे राजनीतिक चिन्तन के इतिहास की एक बिडम्बना ही कहा जाएगा कि जो हरबर्ट स्पेंसर 19वीं सदी में अपने विचारों के कारण चर्चा और विवाद का केन्द्र रहा है, वह 20वीं सदी में लगभग उपेक्षित रहा है। समकालीन समाज शास्त्री एवं राजनीति शास्त्री उसकी रचनाओं से भलीभाँति परिचित नहीं हैं। मार्क्स, मैक्सवेबर, दुर्खीम जैसे विचारकों की तुलना में स्पेंसर के सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन की विद्वत् - जगत में विशेष चर्चा नहीं होती। समीक्षक इसके लिए कुछ सीमा तक स्वयं स्पेन्सर को और कुछ सीमा तक 20वीं सदी के वैचारिक वातावरण को उत्तरदायी मानते हैं। वह परम्परागत अर्थ में विद्वान न था। उसके पास न तो उच्च शैक्षिक उपाधियाँ थी और न ही उसने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कोई विशेष पद प्राप्त किया। बौद्धिक जगत में तेजी से बढ़ती विशेषज्ञता (Specialization) की प्रवृत्ति से भी वह दूर था यद्यपि उसके

अध्ययन एवं ज्ञान का दायरा काफी विस्तृत था। संभवतः इसीलिए बीसवीं सदी के बौद्धिक जगत में उसको गंभीरता से नहीं लिया गया और सावयविक सिद्धान्त, योग्यतम की विजय और विकासवाद जैसी मान्यताओं को उसके साथ जोड़कर समीक्षक अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं।

हरबर्ट स्पेंसर का नैतिक एवं राजनीतिक चिन्तन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण परन्तु विरोधाभासी हैं। उसका दर्शन बेंथमवादी सुखवाद और लैसे-फेयर सिद्धान्त तथा काम्टवादी समाजशास्त्रीय विकासवाद का ऐसा अनोखा सम्मिश्रण है जो एक ओर तो अराजकतावाद का संकेत देता है तो दूसरी ओर समाज की आंगिक एकता को स्थापित करता है। स्पेंसर जीव शास्त्री लैमार्क के इस दृष्टिकोण से प्रभावित थे कि मानव विकास में पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है। डार्विन की पुस्तक 'आरिजिन ऑफ स्पेशीज', जिसमें उन्होंने विकास के सिद्धान्त तथा 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (struggle for existence) और 'योग्यतम की विजय' (survival of the fittest) के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, स्पेंसर की पुस्तक 'सोशल स्टेटिक्स', के 1 वर्ष बाद प्रकाशित हुई थी, और स्पेंसर की इस पुस्तक में डार्विन के इन सिद्धान्तों का पूर्वाभास है।

हरबर्ट स्पेंसर का जन्म डरबी, इंग्लैण्ड में 1820 में हुआ था। उसकी शिक्षा घर पर उसके पिता के मार्गदर्शन में हुई। 1837 में वह लंदन एवं बर्मिंघम रेलवे में इंजीनियर के रूप में नियुक्त हो गया। उसने कई वर्षों तक 'नॉन कन्फोरमिस्ट' नामक पत्र में राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखने के पक्ष में लेख भी लिखे। 1848 में वह 'इकॉनामिस्ट' नामक पत्रिका का उप-सम्पादक हो गया। 1851 में अपनी पुस्तक ('social statics') के प्रकाशन के साथ वह काफी चर्चित हो गया। बाद के वर्षों में उसने जीव विज्ञान, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र आदि पर विविध ग्रंथ लिखे। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. The Principles of Sociology
2. The Man Versus the State
3. Justice
4. Principles of Ethics
5. First Principles
6. The Principles of Biology

3.2 स्पेंसर के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार

स्पेंसर वैज्ञानिक उदारवाद (Scientific Liberalism) का श्रेष्ठ प्रतिपादक माना जाता है। उसके राजनीतिक चिन्तन के दो केन्द्रीय सिद्धान्त हैं- स्वतंत्रता (Liberty) और विकास (Evolution) वस्तुतः वह विकासवादी तर्कों के आधार पर व्यक्ति की अधिकतम स्वतंत्रता और राज्य के न्यूनतम कार्यक्षेत्र की मान्यताओं का प्रतिपादन करता है। स्पेंसर के इन विचारों और सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उसकी इन धारणाओं का निर्माण करने में 19वीं सदी के इग्लैण्ड की उग्रपंथी राजनीति, बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त,लामार्क,

हवसले, डार्विन जैसे विकासवादी दार्शनिकों के विचार और शेलिंग न श्लेगल जैसे आदर्शवादियों के विचारों, ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन परस्पर विरोधी मान्यताओं में सामंजस्य स्थापित करना बहुत कठिन है, और संभवतः इसी कारण स्पेंसर के विचारों में काफी अन्तर्द्वन्द एवं अन्तर्विरोध दिखाई देता है।

स्पेंसर के सभी मुख्य नैतिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों का मूल स्रोत उपयोगितावाद है, और उनका जीव विज्ञान या विकासवाद के सिद्धान्तों से कोई सीधा तार्किक सम्बन्ध नहीं है। परन्तु कालान्तर में स्पेन्सर ने विकासवादी तर्कों के द्वारा अपनी राजनीतिक व नैतिक मान्यताओं को सबल बनाने का प्रयास किया, और इस प्रकार उदारवाद को नए बौद्धिक आधार प्रदान किए। प्रसिद्ध विद्वान डेविड विल्टशायर का विचार है कि स्पेंसर को 'सामाजिक डार्विनवादी' (Social Darwinist) कहना उचित नहीं है क्योंकि न केवल स्पेंसर डार्विन के पहले से विकासवादी हैं, वरन् उसके एवं डार्विन के विकासवादी सिद्धान्तों में कई मौलिक अन्तर भी विद्यमान हैं। इसी प्रकार ब्रेट्रिस बेव स्पेंसर को डार्विन का अग्रज उसी प्रकार मानती हैं जिस प्रकार जान दि बैप्टिस्ट ईसा के अग्रज थे। फिर स्पेंसर विकासवाद सम्बन्धी अपने विचारों में जर्मन आदर्शवादी दार्शनिकों शेलर व शेलिंग से भी बहुत प्रभावित था। इन दोनों दार्शनिकों ने विकास को एक सार्वभौमिक सिद्धान्त माना, अर्थात् न केवल प्रकृति वरन् मानव समज भी विकास की प्रक्रिया से संचालित है। स्पेंसर ने विकास के इन दोनों-भौतिक व सामाजिक पक्षों को संयुक्त मानते हुए विकास के सार्वभौमिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया और कहा कि विकास की यह प्रक्रिया हमें निरंतर प्रगति की ओर ले जा रही है, जिसकी परिणति अन्ततः सन्तुलन (Equilibrium) की आदर्श अवस्था में होगी।

स्पेंसर ने कहा कि 'विकास' का अर्थ है वस्तुओं का 'एक अनिश्चित अस्पष्ट एकरूपता से निश्चित सुस्पष्ट विभिन्नता की ओर गतिशील होना' (From an indefinite incohrent homogeneity to a definite coherent hetrogenity) ब्रह्मांड की सभी वस्तुओं व संस्थाओं को समझने की कुंजी यह विकासवाद का सिद्धान्त है। ब्रह्मांड में विकास की इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए उसने कहा कि प्रकृति एक सीधी रेखा में ऊर्जा (enrgy) से जीवन (life) जीवन से मस्तिष्क (mind) मस्तिष्क से समाज (society) समाज से सभ्यता (civilization) की दिशा में विकासमान है। इस प्रकार प्राणिजगत, नैतिक जीवन, सामाजिक, राजनीतिक जीवन आदि अस्तित्व के सभी पक्षों का ज्ञान विकासवाद के सिद्धान्त से संभव है। स्पेंन्सर के लिए विकासवाद वह जादुई शब्द हैं जो सभी रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है। प्रसिद्ध विद्वान हर्नशा के शब्दों में - "उसने विकासवाद के द्वारा न केवल अन्तरिक्ष, सौर मंडल, पृथ्वी, वनस्पतियों व जीव-जन्तुओं और मनुष्यों वरन् मानवीय मस्तिष्कों और समाज के स्वरूपों की वर्तमान संरचना व स्थिति की व्याख्या की। वस्तुतः उसके 'संश्लेषणवादी दर्शन' का मुख्य उद्देश्य नैतिक व राजनीतिक जीवन की समस्याओं का प्रकृतिवादी एवं विकासवादी पद्धतियों द्वारा समाधान करना था।" (Indeed, the primary aim of the 'synthetic philosophy' was precisely the solution on the naturalistic and evolutionary lines of the problems of ethics and politics'- Hearnshaw) स्पेंसर का यह संश्लेषणवादी दर्शन लगभग 35 वर्ष की कठिन साधना का परिणाम था, और आधुनिक ब्रिटिश दर्शन के

इतिहास में ऐसे व्यवस्थित बुद्धिवादी दर्शन का सृजन हाब्स के अतिरिक्त शायद ही कोई अन्य विचारक कर सका हो। इसलिए मेत्ज़ का विचार है कि स्पेंसर की गणना इतिहास के महानतम् दार्शनिकों में की जा सकती है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विकासवाद का जितना व्यापक सिद्धान्त स्पेंसर ने प्रतिपादित किया उतना डार्विन ने नहीं। प्रसिद्ध विद्वान पील ने इस तथ्य को रेखांकित करते हुए कहा कि डार्विन ने प्राकृतिक चयन के द्वारा प्रत्येक प्रजाति के रूपान्तरण की प्रक्रिया का विवेचन किया है जबकि स्पेन्सर ने सम्पूर्ण प्रकृति-भौतिक, आंगिक और सामाजिक और इसके रूपान्तरण की प्रक्रिया का विवेचन करने का प्रयास किया है। (Darwin's theory accounted for the secular transformation of each species by the mechanism of natural selection while spencer's attempted to explain the total configuration of nature, physical, organic and social, as well as its necessary process' J.D.Y. Peel) इस प्रकार जहाँ स्पेन्सर ने यह कहा कि प्रकृति एवं समाज एक समान विकासवादी नियमों एवं प्रक्रियाओं से शासित है, वहीं डार्विन ने प्रकृति एवं समाज को अलग-अलग रखा और विकास के सिद्धान्त को प्राकृतिक जगत के संदर्भ में ही अनुप्रयुक्त किया।

स्पेंसर 19वीं सदी के फ्रेंच दार्शनिक काम्ट के प्रत्यक्षवादी दर्शन का भी प्रशंसक था और उसने प्रत्यक्षवाद (Positivism) को एक महान उपलब्धि' बताया। वह काम्ट के विज्ञानवादी परिप्रेक्ष्य और उसकी कई प्रतिस्थापनाओं से सहमत था। लेकिन काम्ट एवं स्पेंसर के विज्ञानवादी परिप्रेक्ष्य में कई मौलिक अन्तर भी हैं। स्पेंसर ने काम्ट के 'तीन चरणों के नियम' (Law of three stages), भावना की अपेक्षा बुद्धि को विशेष महत्व देने के विचार और विज्ञान के विकास के त्रिभुजात्मक सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार वह काम्ट के इस राजनीतिक निष्कर्ष से सहमत न था कि सामाजिक विकास की चरम अवस्था में राज्य के कार्यक्षेत्र व उसकी भूमिका का विस्तार होगा।

सामान्यतः स्पेंसर को मूलतः एक ऐसा विकासवादी दार्शनिक माना जाता है। जिसका राजनीतिक चिन्तन उसके वैज्ञानिक सिद्धान्त का उत्पाद (Byproduct) मात्र था। परन्तु डेविड वेल्टशायर जैसे समीक्षक यह मानते हैं कि स्पेंसर मूलतः राजदार्शनिक है। वह पहले व्यक्तिवादी एवं उदारवादी है और बाद में विकासवादी। व्यक्तिवाद उसके चिन्तन का प्राणतत्व है। यह अवश्य है कि स्पेंसर कभी व्यक्तिवाद एवं विकासवाद में तादात्म्य स्थापित करने में सफल न हो सका। ('Spencer was an individualist liberal first and an evolutionist second, individualism is both genetically and structurally the core of his thinking. The central problem, then lies in the relation between individualism and evolution which Spencer never successfully reconciled'-David Wiltshire in 'The Social and Poliical Thought of Herbert Spencer)

3.3 स्पेंसर का राजनीतिक दर्शन

स्पेंसर के समाजशास्त्रीय चिंतन में विवरणात्मक पद्धति और आदर्शात्मक विश्लेषण का समन्वय है। उनका कहना है कि पश्चात्य समाज मध्यकाल के सामन्तवादी व्यवस्था से विकसित होकर 19वीं शताब्दी तक (अर्थात् स्पेंसर के युग तक) औद्योगिक एवं संविदावादी स्थिति तक

पहुँच गया है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया 'योग्य ही जीवित रहते हैं और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं के वैज्ञानिक जीवशास्त्रीय आधार पर निरन्तर चलती रहती है; और इसी प्रक्रिया के तहत भविष्य में एक ऐसा समय आ सकेगा जब संपूर्ण समाज में केवल 'योग्य' ही रह जायेंगे और राज्य सत्ता की आश्यकता जाती रहेगी। उनका कहना था कि मध्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था साधारणतया स्थिरता की अवस्था थी, और समाजिक परिवर्तन न्यूनतम था। उस व्यवस्था में परम्पराएँ ही कानून का कार्य करती थीं; उस समय राजनीतिक निरंकुशता थी, और सदैव युद्ध की स्थिति रहती थी। औद्योगिक युग में आने से सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र हो गयी और व्यक्ति धीरे-धीरे निरंकुश सामन्तवादी व्यवस्था और कट्टर धार्मिक और परम्परावादी नियमों से छुटकारा पाने लगा, और व्यक्ति-स्वातंत्र के युग का सूत्रपात हुआ। उद्योग-धन्धों के विकास से युद्ध की स्थिति भी समाप्तप्राय हो गयी। विकास की इस प्रक्रिया में मानव समाज ने 'सैनिक चरण' (military stage) अर्थात् युद्ध की स्थिति से निकलकर पारस्परिक सहयोग के 'औद्योगिक चरण' (industrial stage) में प्रवेश किया। इसी चरम का चरण बिन्दु भविष्य का राज्य-विहीन समाज होगा जब सामाजिक जीवन का प्रत्येक कार्य ऐच्छिक समुदायों के द्वारा सम्पन्न होगा और राज्य सत्ता की आवश्यकता ही नहीं होगी। सामाजिक संतुलन के इस राज्यविहीन चरण में प्रवेश 'योग्य एवं बुद्धिमान ही जीवित रहते हैं और कमजोर और बुद्धिहीन नष्ट हो जाते हैं' के कारण सम्भव हो सकेगा। इस व्याख्या के आधार पर स्पेंसर समाज के सावयविक स्वरूप को मान लेते हैं।

स्पेंसर सामाजिक सावयविक विकास के सिद्धान्त के साथ उपयोगितावाद के सुखवाद और उदारवाद के प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त को भी मानते हैं। किन्तु प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त समाज के सावयविक विकास के सिद्धान्त से मेल नहीं खाता है। इसीलिए जैसा कि अर्नेस्ट बारकर ने कहा है कि उनकी पुस्तकों के असंख्य पृष्ठों में प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त समाज के सावयविक विकास के सिद्धान्त से 'निरन्तर युद्ध करता प्रतीत होता है'।

इस बिन्दु पर यह उल्लेखनीय है कि लैसे-फेयर अवधारणा के प्रबल समर्थक होते हुये भी स्पेंसर के सुखवाद का सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है, और उनके प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त लाक से भिन्न है। बेन्थम की तरह स्पेन्सर ने यह तो माना कि व्यक्ति के प्रत्येक कार्यों का प्रेरक तत्व आत्म-सुख अथवा आत्म-संतोष है। किन्तु बेन्थम की इस प्रस्थापना को स्वीकार नहीं किया था कि सुख की अनुभूति व्यक्ति को संवेदनशील नाड़ियों के माध्यम से होती है। और इसीलिए तदनुसार उनकी इस प्रस्थापना को भी अस्वीकार कर दिया कि राज्य अथवा अन्य बाहरी संस्थाएँ अधिकतम सुख की प्राप्ति में सहायक हो सकती हैं। स्पेन्सर के अनुसार सुख ईश्वर-प्रदत्त है, और व्यक्ति को सुख की अनुभूति अपनी आन्तरिक क्षमताओं के क्रियान्वयन और विकास से होती हैं; और इसीलिए राज्य अथवा बाह्य संस्थाओं का इसमें किसी प्रकार का योगदान नहीं होता है। इस धारणा के आधार पर स्पेंसर का यह निष्कर्ष है कि व्यक्ति को सुख-प्राप्ति अथवा अपनी क्षमताओं के क्रियान्वयन के लिए स्वतंत्रता के अधिकार की अपेक्षा होती है; और चूंकि व्यक्ति एक-दूसरे व्यक्तियों के साथ रहते हैं; इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरों के समान-स्वतंत्रता के अधिकार में हस्तक्षेप न करें। 'स्वतंत्रता का अधिकार इस प्रकार 'समान स्वतंत्रता के अधिकार में परिवर्तित हो जाता है। 'समान स्वतन्त्रता का अधिकार' ही स्पेंसर के अनुसार, व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है।

स्पष्ट है कि स्पेंस के प्राकृतिक अधिकार की अवधारणा लाक के प्राकृतिक अधिकारों से भिन्न है। स्पेंसर ये मानते प्रतीत होते हैं कि प्राकृतिक अधिकार सामाजिक अवस्था के पूर्व के नहीं हैं; क्योंकि तभी प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के समान स्वतंत्रता के अधिकार का आदर कर सकता है। लाक के अनुसार प्राकृतिक अधिकार ऐसे निरपेक्ष अधिकार हैं जो प्राकृतिक विधि कि देन हैं और यह अधिकार प्राकृतिक अवस्था (समाजविहीन एवं राज्यविहीन अवस्था) में पाये जाते हैं। प्राकृतिक अधिकार लाक के अनुसार तीन हैं- जीवन, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति का अधिकार।

3.4 स्पेंसर के प्राकृतिक अधिकार की अवधारणा

स्पेंसर स्वतंत्रता के अधिकार को यदि व्यक्ति के लिए आवश्यक मानते हैं तो समान स्वतंत्रता के प्राकृतिक अधिकार को सामाजिक जीवन के लिए अपरिहार्य मानते हैं। उनके अनुसार प्राकृतिक अधिकार की संख्या केवल 'एक' है। अन्य अधिकार इसी एक प्राकृतिक अधिकार के विभिन्न खण्ड हैं। समान स्वतंत्रता के अधिकार पर बल देकर स्पेंसर इस तथ्य को भी उजागर करते हैं कि यह अधिकार व्यक्ति के 'आन्तरिक क्षमताओं के क्रियान्वयन के साथ-साथ सामाजिक जीवन में पास्परिक सहयोग के लिए भी आवश्यक हैं।

स्पेंसर 'सामाजिक न्याय' के लिए समान स्वतंत्रता का पूरक तत्व 'कार्य एवं उसके परिणाम' के नियम (Law of conduct and consequences) को मानते हैं। जीवन विज्ञान के नियम का हवाला देते हुए उन्होंने अपनी पुस्तक Justice में कहा है कि 'प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राकृतिक और तद्नुसार अपने कार्य के अच्छे अथवा बुरे परिणाम स्वयं सहन करने होंगे। उन्हें किसी प्रकार की बाह्य सहायता नहीं मिलनी चाहिए; क्योंकि ऐसा होने से 'योग्य ही जीवित रहते हैं' का नियम भंग होता है और समाज का विकास अवरूद्ध हो जाता है। किन्तु बच्चों के लिए यह नियम लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन्हें माता-पिता अथवा अविभावकों द्वारा संरक्षण की आवश्यकता होती है। स्पेंसर, इस प्रकार, पारिवारिक नैतिकता एवं राज्य नैतिकता में भिन्नता दर्शाते हैं चूँकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने काम के परिणाम के अनुसार लाभ अथवा हानि, दुख अथवा सुख मिलता है और प्रत्येक व्यक्ति की क्षमताएँ समान नहीं होती हैं, इसलिए सभी व्यक्तियों के कार्यों का परिणाम एक सा नहीं हो सकता है। इस तरह की असमानता, स्पेंसर के अनुसार, न्यायसंगत है। Social Statics में स्पेन्सर ने कहा है कि 'समानता' और 'असमानता' का यह अद्‌भुत समन्वय (समान प्राकृतिक अधिकार और असमान परिणाम का समन्वय) ही सामाजिक न्याय की स्थापना करता है।

अब प्रश्न उठता है कि वह कौन सी शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्ति के समान स्वतंत्रता को प्राकृतिक अधिकार के प्रयोग को बिना किसी संघर्ष के सम्भव बनाती है। स्पेंसर का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर ही एक ऐसी नैतिक संवेदना होती है जो उसके अधिकार को मर्यादित करती है और दूसरों के अधिकार में हस्तक्षेप करने से उसे रोकती है। नैतिक संवेदना अर्न्तचेतना की आवाज है। इसके तीन स्वरूप हैं - (i) नकारात्मक भलाई (negative beneficence)। (ii) सकारात्मक भलाई (positive beneficence)। और (iii) आत्म-ज्ञान (self-realization)। नकारात्मक भलाई के कारण व्यक्ति दूसरों की खुशी में दखल नहीं देता है। सकारात्मक भलाई द्वारा वह दूसरों के सुख में योगदान देता है। और, आत्म-ज्ञान के कारण ही दोनों प्रकार की भलाई सम्भव है। नैतिक संवेदना ही सामाजिक न्याय की स्थापना करती है। सामाजिक

विकास के युद्ध के चरण में व्यक्ति अधिकांशतः स्वार्थी होते थे और नैतिक संवेदना से रहित होते थे; किन्तु धीरे-धीरे विकास करते हुए वह औद्योगिक चरण में पहुँचते हैं जहाँ उनकी नैतिक संवेदना शनैः-शनैः परिपक्व होती है; और जब वह भविष्य में पूर्णरुपेण नैतिक संवेदना के स्वामी हो जाते हैं तो राज्य अथवा बाह्य सत्ता की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। नैतिक संवेदना का पूर्ण विकास ही भविष्य के आदर्श समाज (राज्य विहीन समाज) का प्रवेश द्वार है।

Social Statics और Justice में स्पेंसर विभिन्न प्राकृतिक अधिकारों का वर्णन करते हैं। यह अधिकार 'समान स्वतंत्रता' के प्राकृतिक अधिकार के ही विभिन्न खण्ड हैं। यह अधिकार हैं- जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार, विचारों की स्वतंत्रता और धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, आवागमन का अधिकार, प्राकृतिक उपकरणों (जैसे हवा, पानी, रोशनी, और जमीन) के प्रयोग का अधिकार, स्वतंत्र विनिमय करने और समझौता करने का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, आदि। सम्पत्ति के अधिकार के सम्बन्ध में स्पेंसर के विचार क्रान्तिकारी हैं। उनका आग्रह है कि क्योंकि भूमिगत सम्पत्ति अचल होती है, और कुछ लोगों के द्वारा भूमि का अधिग्रहण करने से दूसरे लोग उससे वंचित हो जाते हैं, तो केवल भूमिगत सम्पत्ति में सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है। पूंजीगत सम्पत्ति में इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है; इस प्रकार की सम्पत्ति तो 'परिश्रम और उसके परिणाम' के आधार पर अर्जित की जाती है। इसके अतिरिक्त, स्पेंसर के अनुसार, अच्छा चरित्र, नये विचार, आदि, भी एक प्रकार की पूंजी है जो परिश्रम से अर्जित की जाती है; अतः यह भी प्राकृतिक अधिकारों की श्रेणी में आते हैं।

प्राकृतिक अधिकारों में किसी प्रकार का नियंत्रण अपेक्षित नहीं है। केवल बाहरी युद्ध अथवा आक्रमण जैसे विषम परिस्थितियों में इन्हें प्रतिबंधित किया जा सकता है।

स्पेंसर महिलाओं के अधिकारों के समर्थक हैं। महिलाओं के अधिकार का समर्थन करना उस युग की आवाज थी। जे0एस0 मिल, श्रीमती टेलर, मेरी बुलस्टोन क्राफ्ट, बारबेरा ले स्मिथ, आदि ने महिलाओं के अधिकारों का जोरदार समर्थन किया था।

यहाँ स्पेंसर के चिन्तन के एक पक्ष को पुनः उजागर करना अपेक्षित होगा। स्पेंसर प्राकृतिक अधिकारों के संदर्भ में जब 'सामाजिक न्याय' और 'नैतिक संवेदना' की बात करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके द्वारा स्वीकृत प्राकृतिक अधिकार समाज पूर्व की स्थिति में सम्भव नहीं है; तथापि वह कहीं स्पष्ट रूप से नहीं कहते हैं कि प्राकृतिक अधिकार का अस्तित्व सामाजिक अवस्था में ही सम्भव है।

एक और विरोधाभास स्पेंसर के प्राकृतिक अधिकार के संदर्भ में दृष्टिगोचर होता है। प्राकृतिक अधिकार के संदर्भ में दृष्टिगोचर होता है। प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा संविदा के सिद्धान्त को मानने का आग्रह करती हैं। यूँ तो स्पेंसर संविदा के सिद्धान्त का पूर्ण-रूप से खण्डन करते हैं। Man versus the State और में कहते हैं कि समाज वह मशीन नहीं है जिसका व्यक्ति उद्योग-धन्धों की तरह निर्माण कर सकते हैं। यह एक सावयविक विकास की देन है। किन्तु संविदा की धारणा उनके चिंतन में प्रवेश कर ही जाती है। वह Social statics में इसका संकेत देते हैं, और कहते हैं कि 'व्यक्ति अपनी इच्छानुसार नागरिकता अर्जित करता है...। इस प्रकार की दुविधाओं के बावजूद भी स्पेंसर के राजनीतिक दर्शन का मूल स्वर सामाजिक एकबद्धता है।

3.5 राज्य का सिद्धान्त

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में स्पेंसर का दृष्टिकोण पूर्णरूप से निषेधात्मक है। वह बेंथमवादी/उदारवादी दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुये राज्य को एक 'आवश्यक बुराई' (necessary evil) मानते हैं। और भविष्य में राज्य के समाप्त हो जाने की आशा रखते हैं। मानव क्षमताओं का स्वतंत्र क्रियान्वयन और विकास ही उनका मूल मंत्र है।

स्पेंसर के अनुसार भूतकाल राजाओं की निरंकुश सम्प्रभुता का समय था, और वर्तमान समय बहुमत की निरंकुश सम्प्रभुता का युग है। दोनों ही व्यवस्थाएँ व्यक्ति की आन्तरिक क्षमताओं के स्वतंत्र विकास को बाधित करती हैं। यह सत्य है कि 'सैनिक चरण' में व्यक्ति को राज्य के सहारे की आवश्यकता होती थी, किन्तु 'औद्योगिक चरण' में यह आवश्यकता न्यूनतम हो जाती है। इसलिए स्पेंसर का मत है कि राज्य के कार्य का क्षेत्र केवल नागरिकों के 'समान स्वतंत्रता के अधिकार' को आन्तरिक विद्रोह और बाहरी आक्रमण के सुरक्षित करने तक सीमित हो जाता है। 1842 में लिखे अपने एक लेख "Proper Sphere of Government" में उन्होंने इसी तथ्य पर प्रकाश डाला है; यही उनके अनुसार 'विशिष्ट प्रशासन' (Specialised Administration) है। उनके लिए राज्य पारस्परिक सुरक्षा के लिए एक प्रकार का ऐच्छिक समुदाय तथा एक 'सुरक्षात्मक कम्पनी' मात्र है। इस दृष्टि से यदि राज्य अपने कार्यों के क्षेत्र को विस्तृत करता है, तो वह नागरिक स्वतंत्रता को सुरक्षित करने के बजाय उनके समान स्वतंत्रता के प्राकृतिक अधिकार का अतिक्रमण करता है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता को दमनकारी राज्य-सत्ता के प्रभाव से बचाने की धुन में स्पेंसर न केवल राज्य के कार्य को शून्यतम कर देते हैं, बल्कि व्यक्ति को 'राज्य की उपेक्षा' करने का क्रान्तिकारी अधिकार में दे देते हैं। उनका कहना है कि राज्य 'बुराई' को 'बुराई' द्वारा ही दूर कर सकता है। सरकार किसी भी प्रकार की नैतिक संस्था नहीं है; इसीलिए राज्य की उपेक्षा करना त्रुटिपूर्ण नहीं है। इसी संदर्भ में वह कहते हैं कि एक समय ऐसा था जबकि व्यक्ति के धर्म सम्बन्धी क्रियाएं भी राज्य द्वारा निर्देशित होती थी। लम्बे संघर्ष के पश्चात ही व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त हुआ। उनका आग्रह है कि यदि धार्मिक विषयों में व्यक्ति राज्य की उपेक्षा कर सकता है तो अन्य मामलों में भी उसे राज्य की उपेक्षा करने का अधिकार होना चाहिए।

वास्तव में राज्य की उपेक्षा करने का अधिकार एक ऐसा भयावह अधिकार है जिसका प्रयोग समाज में अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न कर देगा। सम्भवतः स्पेंसर ने भी इस आशंका को महसूस कर लिया था, इसलिए Social Statics में इसका समर्थन करके बाद की रचनाओं में वे इस विषय में मौन हो गये हैं। यहाँ तक कि Social Statics के अन्तिम पृष्ठों में वह कहते हैं कि यह अधिकार 'पूर्ण सामाजिक नैतिकता' की अवस्था में ही प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि पूर्ण नैतिकता की अवस्था तो भविष्य की राज्य-विहीन अवस्था होगी, और तब इस अधिकार का कोई औचित्य नहीं होगा। इसीलिए बारकर का कहना है कि 'स्पेंसर व्यक्ति को स्वतंत्रता-रूपी वह जवाहरात से ललचाते हैं, जिसे वह पूर्णता के दिनों में ही धारण कर सकते हैं। ("Spencer tantalizes the individual with glimpses of jewels of freedom which he can wear in the days of perfection".)

चूंकि स्पेंसर यह विश्वास करते हैं कि सरकार अथवा कोई बाह्य संस्था मानव की आंतरिक क्षमताओं के विकास में किसी भी प्रकार का योगदान नहीं दे सकते हैं, और अधिकार मानव क्षमताओं का स्वतंत्र विकास है, इसलिए राजनीतिक अधिकार का कोई अस्तित्व ही नहीं होता है। स्पेंसर बेन्थम कि इस धारणा का प्रबल विरोध करते हैं कि नागरिक अधिकार राज्य द्वारा निर्मित होते हैं। उनका कहना है कि जो भी बेन्थम की भांति अधिकार को राज्य प्रदत्त मानते हैं वे 'साधन' और 'साध्य' के सम्बन्ध को उल्टा कर देते हैं। यदि व्यक्ति समान स्वतंत्रता के अधिकार और उससे निकले अन्य स्वतंत्रता के अधिकारों को (अर्थात् प्राकृतिक अधिकारों को) प्राप्त कर लेता है तो उसके और कोई भी अधिकार शेष नहीं रह जाते हैं। तथाकथित राजनीतिक अधिकार (जैसे मतदान करने का अधिकार) वास्तविक अधिकार नहीं है। तथाकथित राजनीतिक अधिकार तो प्राकृतिक अधिकारों को सुरक्षित करने के साधन मात्र हैं; साध्य तो प्राकृतिक अधिकारों को प्राप्त करना है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि राज्य, स्पेंसर की दृष्टि में, अधिकारों को सुरक्षा प्रदान करने की एक कम्पनी मात्र है।

राज्य की इस निषेधात्मक अवधारणा के कारण स्पेंसर के राज्य के कार्यों का विवरण भी 'राज्य को क्या नहीं करना चाहिए' के अन्तर्गत किया है। उनका कहना है कि वाह्य आक्रमण और आन्तरिक विद्रोह से व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की सुरक्षा के अतिरिक्त राज्य का भार कोई कार्य नहीं है। राज्य के कार्यों के लेसे-फेयर सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए उन्होंने आर्थिक मामलों में स्वतंत्र व्यापार और समझौते की स्वतंत्रता तथा राज्य द्वारा अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया है। इस संदर्भ में उन्होंने कहा है कि राज्य को गरीबों और निर्बलों को सहायता नहीं देनी चाहिए, शिक्षा का प्रबंध नहीं करना चाहिए, डाक व्यवस्था और आवागमन के साधनों की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए, राजकीय कोष एवं बैकों की व्यवस्था नही करना चाहिए, आदि। यह सब कार्य समाज में ऐच्छिक समुदायों द्वारा सम्पन्न होनी चाहिए। राज्य द्वारा गरीब और निर्बलों की सहायता से 'योग्य ही जीवित रहते हैं का जीव-शास्त्रीय आधार भंग होता है और सामाजिक विकास में बाधा उत्पन्न होती है।

3.6 स्पेंसर की समालोचना

स्पेंसर के वैज्ञानिक उदारवाद के दो मूल सिद्धान्तों-उदारवाद एवं विकासवाद की कटु आलोचना की गयी। उसके आलोचकों का एक वर्ग ऐसे उदारवादी विद्वानों का है जो स्पेंसर की स्वतंत्रता और प्राकृतिक अधिकार की व्याख्या से सहमत नहीं है और दूसरा वर्ग ऐसे विकासवादी दार्शनिकों का है जो विकासवाद से स्पेंसर द्वारा निकाले गए नैतिक निष्कर्षों से सहमत नहीं हैं। आगे हम इन दोनों प्रकार की आलोचनाओं का उल्लेख करेंगे।

स्पेंसर ने स्वयं सच्चा उदारवादी होने का दावा किया और 19वीं सदी की लिबरल पार्टी और महत्वपूर्ण उदारवादियों पर आरोप लगाया कि वे उदारवादी सिद्धान्तों व मान्यताओं के साथ विश्वासघात कर रहे हैं। स्पेंसर ने कहा कि लिबरल पार्टी अपने व्यक्तिवादी दर्शन से विमुख हो गयी है और उसने समष्टिवाद (Collectivism) को अपना लिया है। स्पेंसर का विचार था कि चुनावों में सफलता प्राप्त करने के लिए लिबरल पार्टी ने अपने सिद्धान्तों को ताक पर रख दिया है। आर्थिक व शैक्षिक सुधारों के नाम पर लिबरल पार्टी व उसके नेता राज्य के

कार्यक्षेत्र के विस्तार और विधायिका की सक्रियता को जिस प्रकार बढ़ावा दे रहे थे, स्पेंसर उससे काफी आहत था। उसने कहा कि उदारवादी दल वस्तुतः अनुदारवादी दल (Tory) के मार्ग पर चल रहा है, और यह व्यक्ति व समाज के लिए कल्याणकारी न होगा। उसने लिबरल पार्टी से अपने सिद्धान्तों की ओर वापस लौटने की अपील की। इस प्रकार स्पेंसर अपने उग्रव्यक्तिवादी विचारों के कारण लिबरल पार्टी की विचारधारा में हो रहे परिवर्तनों से काफी खिन्न था, परन्तु तत्कालीन उदारवादी राजनेता एवं विचारक स्पेंसर पर सैद्धान्तिक जड़ता एवं भावनात्मक शुष्कता का आरोप लगाकर उसकी आचोलना करते थे। डेविड रिची एवं थामस हक्सले जैसे विद्वानों ने स्पेंसर के उग्र व्यक्तिवादी सिद्धान्तों को नकार दिया। उनकी प्रमुख आपत्तियों का उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

1. समीक्षकों का विचार है कि स्पेंसर का 'नकारात्मक स्वतंत्रता' का सिद्धान्त अपर्याप्त और सत्य से परे हैं। नव-उदारवादी विचारक स्पेंसर के स्वतंत्रता सिद्धान्त को अस्वीकार कर देते हैं क्योंकि स्वतंत्रता राज्य के दबाव या नियंत्रण का अभाव मात्र नहीं है, वरन् स्वतंत्रता अपनी क्षमताओं का संवर्धन करने की सकारात्मक सामर्थ्य का नाम है, और मनुष्य की विविध क्षमताओं का विकास करने के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। हक्सले ने तर्क दिया कि राज्य द्वारा नागरिकों की शिक्षा व स्वास्थ्य की जिम्मेदारी लेने से व्यक्ति की क्षमताओं के विकास का मार्ग प्रशस्त होता हैं क्योंकि व्यक्ति केवल अपने प्रयास से अपनी क्षमताओं को विकसित नहीं कर सकते। हक्सले ने यह भी तर्क दिया कि व्यक्ति के जीवन की आनन्दमय बनाने में भी राज्य की सहायता व मार्गदर्शन का स्वागत किया जाना चाहिए। राज्य मनुष्य की नकारात्मक एवं विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों पर लगाम लगाकर और उसकी सामाजिक व सकारात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देकर सुखी जीवन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। स्पेंसर के इस तर्क की राज्य का हस्तक्षेप मनुष्य के जीवन को आनन्दमय बनाने में असफल ही सिद्ध हुआ है, का उत्तर देते हुए हक्सले कहता है कि यदि ऐसा है तो इसके लिए राज्य पर दोषारोपण नहीं किया जाना चाहिए, वस्तुतः यह तो राजनीति के विज्ञान के समुचित रुप से विकसित न होने का प्रमाण है।

2. आलोचकों ने स्पेंसर की राज्य-सम्बन्धी अवधारणा को पुरातनपंथी कह कर अस्वीकार किया। डेविड रिची के अनुसार "जीव वैज्ञानिक दृष्टान्त की निरन्तर परेड कराने के बावजूद, स्पेंसर के राजनीतिक विचार राज्य की अंकगणितीय और यांत्रिक अवधारणा से आगे न बढ़ पाये थे।' (Inspite of the constant parade of biological illustration, it would appear that in his political thinking. Spencer has not advanced beyound the arithmatical and mechanical conceptions of society.') नव-उदारवादी विचारक स्पेंसर द्वारा, प्रतिपादित राज्य सिद्धान्त, जिसमें राज्य को व्यक्तियों के अधिकारों व हितों के सन्तुलनकर्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया, व्यक्ति बनाम राज्य की धारणा के द्वारा राज्य व व्यक्ति के हितों में एक अर्न्तनिहित टकराव को एक राजनीतिक सत्य माना गया, को कतई नकार देते हैं। एल० टी० हाबहाउस ने कहा कि राज्य से विलग होक व्यक्ति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा। रिची ने कहा कि सामाजिक सम्बन्धों से कटकर व्यक्ति मात्र शून्य रह जाता है। इस

प्रकार नव उदारवादी विचारकों ने राज्य और समाज के सावयविक सम्बन्ध का प्रतिपादन किया और कहा कि स्पेंसर की व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की धारणा राज्य के प्रति अवज्ञा और बिद्रोह के भावों को जन्म देती है, राज्य की शक्तियों वे कार्यों को व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिए एक सतत् चुनौती के रूप में प्रस्तुत करती हैं और इस प्रकार व्यक्ति-राज्य सम्बन्धों को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत नहीं कर पाती। प्रो0 अरनेस्ट बार्कर के शब्दों में 'वह राज्य-पूजा का स्थान व्यक्ति-पूजा को प्रदान करता है ('He opposes to the cult of state the cult of individual'-Barker)

स्पेंसर का अन्य प्रमुख सिद्धान्त-विकासवाद भी अनेक विसंगतियों एवं दोषों से युक्त है जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

1. विकासवाद के सिद्धान्त की परिणति अनिवार्य रूप से उस उग्र व्यक्तिवाद में नहीं होती जैसा कि स्पेंसर ने सिद्ध करने की चेष्टा की। विविध विचारकों ने विकासवाद के द्वारा अन्य राजनीतिक विचारधाराओं का पक्षपोषण किया है। उदाहरण के लिए अराजकतावादी विचारक पीटर क्रोपोटकिन ने प्रतिपादित किया कि जैसे जैसे समाज का विकास होता है, व्यक्तियों में पारस्परिक सहयोग (Mutual Aid) और एकात्मता (solidarity) की भावना बढ़ जाती है। जहाँ स्पेंसर विकास की प्रक्रिया को तीव्र प्रतियोगिता व संघर्ष से युक्त मानता है, क्रोपोटकिन उसे सहयोग और साहचर्य से मुक्त मानता है। इस सहयोग व एकजुटता के कारण ही मानव समाज विभिन्न प्रतिकूलताओं व चुनौतियों का सामना कर पाते हैं और अपने अस्तित्व को बनाए रखकर प्रगति कर पाते हैं। इसी प्रकार बेंजामिन किड ने सामाजिक विकासवाद के सिद्धान्त से अनुदारवादी और इटली के विचारक एनरिको फेरी ने समाजवादी निष्कर्ष निकाले।

2. स्पेंसर ने जिस प्रकार सामाजिक विकास को प्रतियोगिता (Competition) और प्राकृतिक चयन (Natural Selection) जैसी अन्धी शक्तियों के अधीन कर दिया है उसकी भी कटु आलोचना की गयी। मानव समाज जो कि प्राकृतिक जगत से गुणात्मक रूप से भिन्न और श्रेष्ठ है, का विकास करने में मनुष्य की बौद्धिक व आत्मिक शक्तियों, शिक्षा व धर्म की अति महत्वपूर्ण भूमिका होती है लेकिन स्पेंसर ने अपने तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिकोण के चलते इन महत्वपूर्ण कारकों की उपेक्षा कर दी। टी0एच0 हक्सले के शब्दों में 'मानव सभ्यता का इतिहास उन कदमों की जानकारी देता है जिनके द्वारा मनुष्य इस ब्रह्मांड में अपना संसार बनाने में सफल हुआ है। हक्सले कहता है कि प्रकृति एक जंगल है और समाज एक उद्यान। समाज रूपी उद्यान का विवेचन जंगल की प्रक्रियाओं व वहाँ के कानून के आधार पर करना उचित नहीं है।

3. स्पेंसर का तर्क है कि विकास की प्रक्रिया अन्ततः परिपूर्णता एवं सन्तुलन की स्थिति की ओर ले जाएगी। यह वह आदर्श स्थिति होगी जहाँ अन्तिम एवं पूर्ण समायोजन (Final and complete Adjustment) हो जायेगा और फिर विकास-क्रम रुक जाएगा। लेकिन वैज्ञानिक ऐसा नहीं मानते। उनके अनुसार विकास की प्रक्रिया अन्तहीन है, समायोजन के एक स्तर पर पहुँच कर नई समस्याएँ एवं चुनौतियाँ प्रकट हो जाती हैं। जिनका समाधान करने के लिये विकास-क्रम आगे बढ़ता है।

4. स्पेंसर के चिन्तन में एक बड़ा विरोधाभास यह भी है कि एक ओर वह व्यक्ति को साध्य मानता है और उसकी स्वतंत्रता एवं अधिकारों को बहुत महत्वपूर्ण स्थान प्रदान

करता है, लेकिन दूसरी ओर अपने विकासवादी सिद्धान्त के आधार पर समाज के सावयविक स्वरूप को रेखांकित करता है। यदि समाज सावयविक है तो व्यष्टि नहीं अपितु समष्टि को साध्य मानना पड़ेगा। इस गहरे विरोधाभास का वह सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाता, और इसीलिए बार्कर ने लिखा है कि स्पेंसर का राजदर्शन प्राकृतिक अधिकारों और शरीर-विज्ञान के रूपकों का घालमेल है। ('The fundamental confusion which he never surmounts is due to the fact that those priori conception of individual rights with which he starts donot and cannot accord with the organic and evolutionary conception of state which he attains through the use of natural science. His philosophy consequently begins and ends as an 'incorgruous mixture of natural rights and physiological metaphors'- Ernest Barker)

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जीवन के अन्तिम वर्षों में स्पेंसर ने अपनी उग्रव्यक्तिवादी मान्यताओं को कुछ सीमा तक छोड़ दिया। 1891 में अपनी पुस्तक ('Justice') में स्पेंसर अपनी पूर्व मान्यताओं को संशोधित करते हुए कहा कि मताधिकार व्यक्ति स्वातंत्र्य की गारंटी नहीं है। सार्वभौमिक मताधिकार पर आधारित राज्य भी निरंकुश हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह भूमि के राष्ट्रीयकरण की पुरजोर हिमायत करता है। इसके साथ ही स्पेंसर यह भी कहता है कि व्यक्ति के अधिकारों का पूर्ण उपयोग सामाजिक विकास की अन्तिम अवस्था में ही संभव है। इसका निहितार्थ यह हुआ कि विकास की वर्तमान स्थिति में मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों का सीमित महत्व ही है। समीक्षकों का विचार है कि स्पेंसर अनुदारवादी मान्यताओं का प्रवक्ता बन जाता है। हेनरी जार्ज के अनुसार 1851 का उग्र मूर्तिभंजक (Radical Inconoclast) 1891 में सरकारी दार्शनिक (Establishment Philosopher) बन जाता है। हेनरी जार्ज स्पेंसर को एक 'दुविधाग्रस्त दार्शनिक' (A Perplexed Philosopher) मानते हैं।

हक्सले ने स्पेंसर को 'प्रशासकीय निषेधावाद' (Administrative Nihilism) का समर्थक बताया है। स्पेंसर का यह निषेधावाद 'राज्य की उपेक्षा करने के अधिकार' में अपने चरम बिंदु पर पहुँच गया है। हालाँकि तत्पश्चात् उन्होंने इसके विषय में चुप्पी ही साध ली थी। समाज के सावयविक विकास के सिद्धान्त के समर्थन के बावजूद भी वह न तो समाज के महत्व को स्पष्टयता दर्शा सके, और न ही राज्य को व्यक्ति के 'समान अधिकार' के मार्ग में आने वाली 'बाधाओं के बाधा' के रूप में स्थापित कर सके। यह काम उनके समकालीन चिंतक और आक्सफोर्ड आदर्शवादी टी0 एच0 ग्रीन ने सम्पन्न किया। ग्रीन का कहना था कि राज्य व्यक्ति को नैतिक तो नहीं बना सकता, क्योंकि नैतिकता आंतरिक होती है; किन्तु राज्य नैतिकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकता है। अशिक्षा, गरीबी, मद्यपान, आदि, नैतिकता के मार्ग में आने वाली बाधाएँ हैं, और राज्य कानून इन सब बाधाओं को दूर कर सकता है।

इन कमियों के होते हुए भी स्पेंसर का राजनीतिक चिंतन महत्वपूर्ण है। यह शास्त्रीय उदारवाद (लाक-बेन्थम का उदारवाद) और आधुनिक/समकालीन उदारवाद (जान राल्स एवं समुदारवादियों का उदारवाद) के मध्य एक कड़ी स्थापित करता है। एक ओर यह समाज की महत्ता को स्वीकार करता है तो दूसरी ओर व्यक्ति के 'विवेकपूर्ण' आत्म-हित' को तथा 'मानव-प्रेरित कार्यों' का समर्थन करता है। इसी आधार पर स्पेंसर भविष्य के राज्यविहीन एवं नैतिक समाज के आगमन के आगमन का स्वप्न सजोंते हैं। उनकी मान्यता है कि किसी भी देश की

श्रेष्ठता उसकी सैनिक क्षमता और राजनेताओं पर निर्भर नहीं करती, बल्कि उस देश के उद्योग-धन्धों एवं नागरिकों को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना पर निर्भर करती है। कहना होगा कि यह आज की विश्व की परिस्थितियों में कितनी सारगर्भित प्रतीत होती हैं !

3.7 सारांश

उदारवादी/व्यक्तिवादी चिंतन में 'व्यक्ति' के साथ-साथ समाज के भी महत्व को स्वीकार करने का सिलसिला जॉन स्टुअर्ट मिल के आरम्भ किया था। मिल से पूर्व बेन्थम ने तो समाज के आणविक स्वरूप को ही मान्यता दी थी। (यद्यपि कुछ दुविधाओं के साथ) और कहा था कि व्यक्ति की स्थिति समाज में एक प्रकार से 'विभिन्न दिशाओं में तैरते हुए अणु' ("Free-Floating individual") की तरह है। स्पेंसर के चिंतन का मूल स्वर अनेक असंगतियों के बावजूद भी सामाजिक जीवन की एकबद्धता को दर्शाता है। टी. एच. ग्रीन के दर्शन में सामाजिक जीवन की यह एकबद्धता एवं उसका सावयविक स्वरूप पूर्णरूप से मुखरित हुआ। उन्होंने 'सामान्य हित की सामान्य चेतना' (common consciousness of the common good) की अवधारणा प्रस्तुत करके व्यक्ति को सामुदायिक जीवन का एक अभिन्न अंग बना दिया। समकालीन सामुदायिक चिंतकों-चार्ल्स टेलर माइकेल, सैण्डल, वालजर, आदि-ने इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए इस तथ्य को उजागर किया कि व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं 'स्व' का निर्माण समुदाय के अंतर्गत ही सम्भव है; तथा उसके 'स्व-निर्णय' का अधिकार भी सामुदायिक जीवन में पल्लवित होता है, क्योंकि 'व्यक्ति' समुदाय में समाहित होता है।

सारांशतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि लाक से बेन्थम तक, बेन्थम से स्पेंसर तक, और स्पेंसर से समकालीन सामुदायवादियों तक की इस लम्बी यात्रा में उदारवाद का स्वरूप निरंतर परिवर्तित होता रहा है। विकास के इस क्रम में निरपेक्ष व्यक्तिवादी - उदारवाद शनैः-शनैः समुदायवाद की सीमा तक पहुँच गया है और, आज यही वैश्वीकरण (Globalization) की परिधि को छू रहा है।

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Sabine, George H.: A History of Political Theory. (Hindi translation available).
2. Sibley, Mulford, Q. : Political Ideas and Ideologies.
3. Barker, E.: Political Thought in England (1848-1914).
4. Dunning, W.A. : A History of Political Theories, Vol. II & III (Hindi Translation available).
5. Laski, Harold : The Rise of European Liberalism.
6. प्रभुदत्तशर्मा : राजनैतिक विचारों का इतिहास।

3.9 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न -

1. स्पेन्सर के प्राकृतिक अधिकार की अवधारणा का विवेचनात्मक परीक्षण कीजिए।
2. 'स्पेन्सर व्यक्ति को स्वतंत्रता-रूपी उस जवाहरात से ललचाते हैं, जिसे वह पूर्णता के दिनों में ही धारण कर सकते हैं। बारकर के इस कथन के संदर्भ में स्पेन्सर के विचारों को समझाइए।
3. स्पेन्सर के राज्य की अवधारणा पर एक अलोचनात्मक लेख लिखिए।
4. लाक से आज तक उदारवाद के विकास के विभिन्न चरणों का वर्णन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न -

निम्नलिखित में टिप्पणी कीजिए :-

1. स्पेंसर द्वारा वर्णित समान स्वतंत्रता के प्राकृतिक अधिकार की अवधारणा।
2. स्पेंसर के 'नैतिक संवेदना' (moral sense) पर विचार।
3. स्पेंसर द्वारा वर्णित राज्य की उपेक्षा करने का अधिकार' क्या वह स्वप्रलोकी है?
4. बेन्थम और स्पेंसर के 'सुखवाद' के सिद्धान्तों की तुलना।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

1. 'योग्य ही जीवित रहते हैं'। ('survival of the fittest') धारणा को किसने अपने राजनीतिक चिन्तन में स्थान दिया?
   - अ. स्पेंसर
   - ब. मिल
   - स. बेन्थम
   - द. किसी ने भी नहीं।
2. Proper Shpere of Government किसने लिखी है?
   - अ. ग्रीन
   - ब. बेन्थम
   - स. जेम्स मिल
   - द. स्पेंसर
3. स्पेंसर को 'प्रशासकीय निषेधावाद' (Administrative Nihitism) का समर्थक किसने कहा?
   - अ. बालज़र
   - ब. मार्क्स
   - स. चार्ल्स टेलर
   - द. हक्सले।
4. The Man versus the State किसने लिखी ?
   - अ. बेन्थम
   - ब. लाक
   - स. स्पेंसर
   - द. मार्क्स

5. किसने कहा कि अधिकार राज्य-प्रदत्त होते हैं?
   अ. लाक
   ब. बेन्थम
   स. जान स्टुअर्ट
   द. स्पेंसर

6. किसने कहा है कि 'व्यक्ति की स्थिति समाज में विभिन्न दिशाओं में तैरते हुए अणु' ("free floating individual") की तरह है?
   अ. स्पेंसर
   ब. लाक
   स. बेन्थम
   द. इसमें से कोई नहीं।

3.10 प्रश्नोत्तर -

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर-

1. अ
2. द
3. द
4. स
5. ब
6. स

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS - 07

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास बेन्थम से माओ तक

खण्ड

02

प्रत्ययवादी दार्शनिक

इकाई-4 — 5

इमेनुअल काण्ट (1724-1804)

इकाई-5 — 33

जार्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हेगल 1770-1831

इंकाई-6 — 74

टामस हिलग्रीन (1836-1884)

खण्ड 2 का परिचय : प्रत्ययवादी : दार्शनिक

इस खण्ड में आप तीन प्रत्ययवादी राजनीतिक दार्शनिकों का अध्ययन करेंगे। वे हैं : इमेनुअल काण्ट, जार्ज विल्हेम फ्रेडरिक् हेगल और टामस हिल ग्रीन। पहले दो विचारक जर्मनी के हैं, और तीसरा विचारक इग्लैण्ड का है। इन विचारकों ने व्यक्तिवादी, भोगवादी उपयोगिता का खण्डन किया और उसके स्थान पर व्यक्ति और समाज के अनिवार्य नैतिक और राजनीतिक सम्बन्धों को रेखांकित किया। इन तीनों ने व्यक्ति को एक बैद्धिक नैतिक प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया और राज्य को व्यक्ति के नैतिक संकल्प पर अधिष्ठित किया। व्यक्ति मूलतः आत्मचेतन प्राणी है। राज्य उसी आत्म चेतना का युक्ति तर्क मूलक विस्तार है। यही राज्य का औचित्य है। प्रत्ययवाद के अनुसार राज्य का मूलाधार बाह्य परिस्थिति नहीं है। इसके अनुसार मूलाधार आत्म चेतना है।

प्रत्ययवाद का अंग्रेजी अनुवाद 'Idealism' है। इसे 'आदर्शवाद' भी कहा जाता है। 'आदर्शवाद' शब्द भ्रामक हो सकता है, क्योंकि जिसका भी कोई आदर्श है वह आदर्शवादी होगा। जैसे मार्क्स का आदर्श वर्ग विहीन समाज था। अतः वह भी आदर्शवादी हुआ। पर वह प्रत्ययवादी नहीं था। इसलिए जिन अर्थों में दार्शनिक चिन्तन की परम्परा में अंग्रेजी शब्द 'Idealism' का प्रयोग हुआ है उन अर्थों में प्रत्ययवाद शब्द का प्रयोग नितान्त समीचीन है। प्रत्यय अर्थात् विचार (Idea), संकल्पना (concept)। यह अमूर्त है। कुर्सी, मेज, दरवाजा-यह सब मूर्त हैं; दीख पड़ते हैं; इनका स्पर्श किया जा सकता है। पर प्रत्यय, विचार (Idea) संकल्पना (concept)- इसका बोध होता है; इसलिए यह भौतिक पदार्थों से भिन्न है। इन तीन दार्शनिकों ने राज्य को समझने के लिए राज्य के प्रत्यय और औचित्य को प्रधान माना है। प्रत्यय राज्य की उत्पत्ति का युक्ति तर्क मूलक आधार है।

प्राचीन यूनान में प्लेटो के दर्शन में इसका पूर्ण विकसित रूप परिलक्षित हुआ। प्लेटो प्रत्यय के अस्तित्व को ही सत्य और सनातन मानता था। बाह्य जगत उसकी विस्तृत अभिव्यक्ति है। पर काण्ट, हेगल और ग्रीन ने बाह्य जगत को प्रत्यय की छाया नहीं माना। इन्होंने प्रत्यय की प्रधानता और उसके अस्तित्व को तो स्वीकार किया ही, बाह्य जगत के भी अस्तित्व को स्वीकार किया।

किसी वस्तु के प्रत्यय का अर्थ उसके प्रकार्य (function) में निहित है। उसको निर्मित करने वाले उपादानों में नहीं। जैसे प्याले का प्रत्यय (Idea of cup) प्याले के प्रकार्य (Function) में निहित है। उसका प्रकार्य है कि उसमें कोई वस्तु ढालकर पी जा सके। प्याले का आकार परिवर्तित हो सकता है- छोटा प्याला, बड़ा प्याला, गोल प्याला, - यह किसी भी प्रकार का हो, सब प्याला ही कहा जायेगा। इसको निर्मित करने वाले उपादान भी परिवर्तित हो सकते हैं जैसे-चीनी मिट्टी, चाँदी, प्लास्टिक। अतः आकार और उपादान कुछ भी हो, प्याले का प्रकार्य होगा कि किसी भी पदार्थ को ढालकर पिया जा सके। इसलिए प्याले का प्रत्यय (Idea of cup) अपरिवर्तनशील है, भले ही इसका आकार और उपादान बदलता रहे। फलस्वरूप किसी भी वस्तु का प्रत्यय उसका प्रकार्य है। उस वस्तु को समझने का अर्थ है उसके प्रकार्य को समझना। इसीलिए प्रत्ययवादी विचारक राज्य के औचित्य को उसके प्रकार्यों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार राज्य का प्रकार्य है व्यक्ति के नैतिक जीवन को सुनिश्चित करना। काण्ट, हेगल और ग्रीन के लिए स्तंत्रता की अभिव्यक्ति ही नैतिक जीवन है। किन्तु स्वतंत्रता स्वच्छन्दता नहीं है। यह नैतिक संकल्प द्वारा अनुशासित है। राज्य का अनुशासन इसी निमित्त स्वीकार किया जाता है। व्यक्ति स्थापित समाज में ही स्वतंत्र हो सकता है। चूंकि स्वतंत्रता के निमित्त ही राज्य का अस्तित्व है या स्वतंत्रता की

अनुशासित अभिव्यक्ति के लिए राज्य का औचित्य प्रमाणित किया गया है, इसलिए राज्य व्यक्तियों के तात्कालिक स्वार्थों और हितों का साधन नहीं है। प्रत्ययवादियों ने व्यक्तिवादियों और उपयोगितावादियों की अपेक्षा समष्टि की गरिमा प्रमाणित की है।

आधुनिक प्रत्ययवाद के दो रूप हैं- एक उदारवादी प्रत्ययवाद और दूसरा उग्र प्रत्ययवाद। उदारवादी प्रत्ययवादी विचारक हैं कांट और ग्रीन। इनके अनुसार राज्य नैतिक जीवन के लिए अनिवार्य है। व्यक्ति की नैतिक स्वायत्तता के लिए इसका अनुशासन अपेक्षित है। पर किसी भी दशा में राज्य नैतिकता अथवा स्वतंत्रता की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। इससे भूलें हो सकती हैं। इसलिए राज्य नैतिक संस्थान है पर नैतिकता की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। इस प्रकार उदारवादी प्रत्ययवाद ने राज्य की शक्ति को सीमित किया।

आपके पाठ्यक्रम में केवल एक उग्र प्रत्ययवादी राजनीतिक दार्शनिक है-हेगल। हेगल के लिए राज्य नैतिकता की पूर्ण अभिव्यक्ति है। यह स्वतंत्रता का विग्रह है, इससे भूलें नहीं हो सकती। यह जो कुछ करता है, ठीक ही करता है। हेगल के बारे में सामान्य धारणा है कि हेगल ने राज्य की गरिमा ही प्रतिष्ठित नहीं की बल्कि उसे इतना महिमामण्डित किया कि उसकी दृष्टि में राज्य देवत्व के समकक्ष है। पर कॉफमैन, अविनेरी और चार्ल्स टेलर इस धारणा को स्वीकार नहीं करते।

इन तीनों प्रत्ययवादियों के चिन्तन में सामयिक इतिहास और दर्शन के क्षेत्र में उत्पन्न समस्याओं की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। इसलिए ये दार्शनिक राज्य के बारे में स्वप्न जाल नहीं बुनते बल्कि अपने समकालीन इतिहास और समाज के यथार्थ से जूझते हुए उसके अतिक्रमण का प्रयास करते हैं।

इकाई 4 - इमेनुअल काण्ट (1724-1804)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 काण्ट और चिन्तन के क्षेत्र की समस्याएँ

4.3 काण्ट का समकालीन ऐतिहासिक परिदृष्य

4.4 काण्ट का वैचारिक परिवेश

4.5 ज्ञान मीमांसा का सिद्धान्त

4.6 व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा

4.7 मानव स्वभाव की अवधारणा

4.8 प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक प्रसंविदा

4.9 राज्य का औचित्य और समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त

4.10 राज्य की विशिष्टताएं

4.11 सम्प्रभुता सिद्धान्त

4.12 गणतंत्र का सिद्धान्त

4.13 शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त

4.14 प्रतिरोध का अधिकार

4.15 विचारों की स्वतंत्रता अभिव्यक्ति एवं प्रचार-प्रसार

4.16 इतिहास दर्शन

4.17 सारांश

4.18 संदर्भ ग्रन्थ

4.19 संबंधित प्रश्न

4.20 प्रश्नोत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के प्रत्ययवादी दार्शनिक इमेनुअल कान्ट के विचारों के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपः

- प्रत्ययवाद का अर्थ समझ सकेंगे।
- इमेनुअल कान्ट के दर्शन की पृष्ठभूमि का विवेचन कर सकेंगे।
- कान्ट के विचारों के विभिन्न आयामों पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- एक दार्शनिक के रूप में कान्ट का मूल्यांकन कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

पूर्वी प्रशा के नगर कोनिग्सवर्ग में 1724 में जन्म और वहीं 1804 में देहावसान। एकाधबार नगर के बाहर आसपास काण्ट ने यात्राएं की। अन्यथा लगभग 80 वर्ष का उसका जीवन कोनिग्सवर्ग के ही दायरे में सिमट गया। वहीं उसकी प्रारम्भिक और विश्वविद्यालीय शिक्षा सम्पन्न हुई। 1755 में कोनिग्सवर्ग विश्वविद्यालय में प्राइवेट डोजेण्ट की नियुक्ति और 1770 में विश्वविद्यालय की दर्शन पीठ में आचार्य के पद पर नियुक्ति। अध्ययन, अध्यापन और लेखन उसके दैनन्दिन जीवन को परिभाषित करते हैं। एकान्त अध्येता तो वह था ही पर किसी भी अर्थ में असामाजिक नहीं था। उसके जीवन का एक दिन उसके सम्पूर्ण जीवन की गाथा है। सब कुछ बंधा-बंधाया। अपराह्न साढ़े तीन बजे टहलना। लोग उसे देखकर घड़ियाँ मिलाया करते थे। सायं-काल कोनिग्सवर्ग के कुछ मित्रों के साथ निर्दोष साहचर्य। स्वभाव से काण्ट अत्यन्त विनोद प्रिय था। इन सबके बावजूद चिन्तन ही उसके जीवन की गुरुत्वाकर्षण शक्ति थी।

उसने कोनिग्सवर्ग के बाहर का संसार देखा ही नहीं। पर दूरस्थ देशों के निवासियों, उनकी परम्पराओं, नैतिक मान्यताओं, उन देशों के भूगोल और जलवायु के सम्बन्ध में जानने और विद्यार्थियों को इस जानकारी से अवगत कराने में उसकी बड़ी रुचि थी। उसकी जिज्ञासाएं थीं कि सीमित होना जानती ही नहीं थीं। पृथ्वी से अन्तरिक्ष तक सब कुछ उसकी जिज्ञासा का विषय था। इसीलिए उसने विज्ञान, धर्म, खगोलशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीति शास्त्र, किन-किन विषयों को अध्ययन, अध्यापन और लेखन का विषय नहीं बनाया?

पर उसकी जानकारी का मुख्य विषय थाः बुद्धि और उसके विस्तार की व्याख्या। उसकी कृतियाँ उसकी प्रतिभा, अर्न्तदृष्टि और जिज्ञासा के जीवन्त प्रमाण हैं।

काण्ट की प्रसिद्ध कृतियाँ हैं : 'The Critique of Pure Reason' इसका हिन्दी अनुवाद 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' शीर्षक से प्रकाशित है। दूसरी पुस्तक है 'The Critique of Practical Reason' तथा तीसरी पुस्तक है 'The Critique of Judgment' ।

ये तीनों ग्रन्थ काण्ट के 'समीक्षात्मक दर्शन' (Critical Philosophy) के आधार ग्रन्थ हैं। ये तीनों ग्रन्थ राजनीतिक चिन्तन के दार्शनिक आधार को समझने के लिए बहुत ही सहायक हैं। इसके अतिरिक्त काण्ट के लेख और छात्रों को दिये गये व्याख्यान भी उसके राजनीतिक चिन्तन की विस्तृत जानकारी के लिए केन्द्रीय महत्व के हैं। इन सबका भी संग्रह प्रकाशित हो चुका है। कुछ कृतियों की सूची दी जा रही है-

(i) 'What is Enlightenment ?'

(ii) 'Lectures on Ethics.'

(iii) 'Metaphysical Elements of Justice'.

(iv) 'The Doctrine of Virtue'.

(v) 'Anthropology from a Pragmatic Point of View'.

(vi) 'Conjectural Beginnings of Human History.'

(vii) Idea for a Universal History with a Cosmopolitan Purpose'.

(viii) On the common saying, "This may be true in theory, but does not apply in Practice."

(ix) 'Perpetual Peace'.

'हैंस रीस' ने 1970 में काण्ट के राजनीतिक दर्शन को सुगम बनाने के लिए उसके कुछ नितान्त अनिवार्य लेखों और अन्य कृतियों से उद्धृत अंशों का एक संग्रह कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस ने

प्रकाशित किया। काण्ट के अध्येताओं के लिए यह संग्रह अत्यधिक सहायक है।

4.2 काण्ट और चिन्तन के क्षेत्र की समस्याएं

(अ) दार्शनिक समस्याएँ

काण्ट का दार्शनिक और राजनीतिक चिन्तन कतिपय सैद्धान्तिक समस्याओं के समाधान का प्रयास है। ये समस्याएँ उसे विरासत में मिलीं।

दर्शन की परम्परा में ज्ञानोपलब्धि के दो स्रोत आधुनिक युग में स्वीकार किये गये हैं। पहला स्रोत है-बुद्धि । बौद्धिक ज्ञान का आदर्श रूप था- गणित और उसका सैद्धान्तिक ढाँचा। यह सारा ढाँचा बुद्धिप्रसूत है। इसलिए इसके निष्कर्षों में युक्ति तर्क मूलक (logical) सम्बन्ध है। गणितीय ज्ञान निश्चयात्मक ज्ञान है। इस आधार पर दार्शनिकों ने बुद्धि को ज्ञान का स्रोत माना। इस परम्परा को बुद्धिवाद (Rationalism) कहा जाता है।

इसी के समानान्तर एक दूसरी चिन्तन धारा थी। वह अनुभव को ज्ञान का स्रोत मानती थी। इस दृष्टि के अनुसार सारा ज्ञान अनुभवजन्य है। इसे 'अनुभववाद' (Empiricism) कहा गया।

काण्ट ने महसूस किया कि न तो अनुभव को खारिज कर सकते हैं और न बुद्धि को पर ज्ञानोपलब्धि की प्रक्रिया में कितना और किस सीमा तक अनुभव की भूमिका है और किस रूप में बुद्धि की भूमिका है-यह अन्वेषण का विषय है। इसी सन्दर्भ में उसने यह भी जानना चाहा कि बुद्धि का ढाँचा क्या है? और बुद्धि कितना जान सकती है और कितना नहीं ? यह एक प्रकार से बुद्धि की समीक्षा है। ज्ञान क्या है और इसके स्रोत क्या हैं - इसकी जिज्ञासा तो चिन्तन के इतिहास में होती रही है। पर जिस बुद्धि की इतनी विशद् चर्चा दर्शन में है उस बुद्धि का ढाँचा क्या है? और वह कितना जान सकती है-यह सवाल पहली बार काण्ट ने उठाया। इसलिए काण्ट ने अपने दर्शन को 'समीक्षात्मक दर्शन'' (Critical Philosophy) कहा। काण्ट की समीक्षा के अनुसार ज्ञान अनुभव और बुद्धि दोनों का संयोग है। इसलिए काण्ट ने अनुभववाद और बुद्धिवाद का संश्लेषण किया।

ह्ययूम ने विज्ञान और नीतिशास्त्र के क्षेत्र में बुद्धि की क्षमता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। उसके अनुसार केवल गणित में ही निश्चयात्मक ज्ञान की उपलब्धि सम्भव है, क्योंकि यह गणितीय सूत्रों के विश्लेषण से प्राप्त हुआ है। इस ज्ञान में अनुभव का कोई अंश नहीं है। विज्ञान और नीतिशास्त्र अनुभव जगत से सम्बन्धित है। वहाँ जो कुछ भी हम जानते हैं, अनुभव पर आधारित है। यह हमारा भ्रम है कि वह बुद्धि प्रसूत ज्ञान है।

विज्ञान प्राकृतिक विधान मानता है। प्राकृतिक घटनाओं के अनुक्रम में पुनरावृत्ति के नाते मनुष्य का चित (Mind) उस पर अनिवार्यता का लेबल चिपका देता है। घटनाओं की पुनरावृत्ति से वे अनिवार्य हैं - इसका पता नहीं चलता है। इसलिए वैज्ञानिक ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है। इस प्रकार ह्यूम ने वैज्ञानिक प्राकृतिक विधान (Scientific Natural Law) पर प्रहार किया और बुद्धि की क्षमता के सन्दर्भ में संशय उत्पन्न किया।

ह्यूम ने इस धारणा पर भी प्रहार किया कि हमारी नैतिक मान्यताएं शाश्वत प्राकृतिक विधान पर आधारित हैं। यह शाश्वत प्राकृतिक विधान विवेक सम्मत है। इसलिए मनुष्य का विवेक नैतिक मान्यताओं का स्रोत है। पर ह्यूम ने कहा कि प्राकृतिक विधान हमारे अनुभव का विषय नहीं। इसलिए इसकी परिकल्पना ही भ्रान्तिपूर्ण है। जिसे हम नैतिक मान्यता कहते हैं वह दीर्घ काल के सामाजिक अनुभव पर अधिष्ठित है। अतः उन्हें नैतिक मानना परम्परा पर आधारित है। वह एक प्रकार की 'सामाजिक आदत' (Social habit) है।

इस प्रकार ह्यूम ने प्राकृतिक विधान की दो समानान्तर अवधारणाओं पर प्रहार किया-एक था वैज्ञानिक प्राकृतिक विधान और दूसरा था नैतिक प्राकृतिक विधान। ह्यूम की दृष्टि में यह दोनों विधान अनुभवेतर हैं। इसलिए जिसे हम वैज्ञानिक ज्ञान कहते हैं वह हमारी 'मानसिक आदत' (Mental

Habit) और जिसे हम नैतिक मान्यता के रूप में स्वीकार करते हैं वह हमारी 'सामाजिक आदत' (Social Habit) है। फलस्वरूप ह्यूम ने बुद्धि की क्षमता पर प्रश्न-चिन्ह लगा दिया। यह 'संशयवाद' (Scepticism) है।

काण्ट ने ह्यूम की चुनौतियों को स्वीकार किया और अपनी पहली पुस्तक 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा (The Critique of Pure Reason) में बुद्धि की सत्ता प्रमाणित की और निश्चयात्मक ज्ञान के लिए बुद्धि को सक्षम माना। भले ही उस ज्ञान में अनुभव की भूमिका हो। इसलिए वैज्ञानिक ज्ञान की सम्भावना को काण्ट ने प्रमाणित किया। उसकी दूसरी पुस्तक 'दी क्रिटिक् ऑफ प्रैक्टिकल रीजन' (The Critique of Practical Reason) इसी उद्देश्य से लिखी गयी। उसने प्रमाणित किया कि नैतिक मान्यताएँ बुद्धिप्रसूत हैं, अन्यथा वे सार्वभौम मान्यताएं हो ही नहीं सकतीं। बुद्धि (Reason) सार्वभौम होने के नाते अनुभव निरपेक्ष नैतिक मान्यताओं का स्रोत है।

काण्ट का समीक्षात्मक दर्शन बुद्धि की गरिमा और प्रभुत्व का साक्षी है।

(ब) राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र की समस्याएँ

आधुनिक जीवन दृष्टि ने मनुष्य की अवधारणा, जीवन के लक्ष्य और व्यक्ति की सत्ता के सम्बन्ध में परम्परागत मान्यताओं के समानान्तर नयी मान्यताएं स्थापित कीं। इसके अनुसार मनुष्य का स्वरूप न दैवी है, न नैतिक । वह नितान्त स्वार्थी प्राणी है- अपनी कामनाओं से प्रेरित। जो उसे सुखकर प्रतीत होगा वही नैतिक है। इसलिए हर व्यक्ति अपने में एक पूर्ण इकाई है। इस दृष्टि को 'व्यक्तिवाद' (Individualism) की संज्ञा दी गयी है।

व्यक्तिवाद के कई रूप हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, उसकी कामनाएं बुद्धि की अपेक्षा प्रबल हैं। कामनाएं बुद्धि का नियंत्रण करती हैं, बुद्धि कामनाओं का नहीं।

फलस्वरूप व्यक्ति के लिए वही नीति सम्मत है, जो उसके सुख में वृद्धि करे। नैतिकता के उसी मापदण्ड को समाज स्वीकार करेगा जो उपयोगी होगा; अर्थात् सुखकर होगा। इस नैतिक दृष्टि को 'सुखवाद' (Hedonism) अथवा 'उपयोगितावाद' (Utilitarianism) कहा गया है। इसका प्रभाव राजनीतिक चिन्तन पर पड़ा। राज्य स्वाभाविक नहीं है बल्कि मानवकृत है। व्यक्ति ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए राज्य की संरचना की है। प्रसंविदा सिद्धान्त का यही मूल रूप था- व्यक्ति की सहमति से राज्य का आविर्भाव हुआ है। इसलिए जब व्यक्ति चाहे तब राज्य से अलग हो सकता है अथवा राज्य के प्रति विद्रोह कर सकता है। यह प्रसंविदा सिद्धान्त का निहितार्थ था- राज्य एक कृत्रिम संस्था है और व्यक्तियों के स्वार्थों का एक साधन मात्र। व्यक्तिवाद की अभिव्यक्ति थीः प्राकृतिक अधिकार का सिद्धान्त। चूँकि राज्य व्यक्ति के स्वार्थों की पूर्ति के लिए बनाया गया है, इसलिए राज्य का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की वह रक्षा करे। प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के हितों की रक्षा करते हैं, राज्य उन्हें छीन नहीं सकता। इन अधिकारों की रचना राज्य ने नहीं की है, इनका अस्तित्व राज्य की संरचना के पहले से है। ये शाश्वत और मौलिक अधिकार हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास हैं। ये अधिकार राज्य की सत्ता को सीमित करते हैं। राज्य ऐसा कुछ भी नहीं कर सकता जिससे अधिकार खण्डित हों।

काण्ट ने व्यक्तिवाद के प्रचलित स्वरूपों पर प्रहार किया। उसने मनुष्य के नैतिक और बैद्धिक स्वरूप को प्रस्तुत किया। उसने 'सुखवाद' और 'उपयोगितावाद' की कड़ी आलोचना की। प्रसंविदा सिद्धान्त की ऐतिहासिकता और उसके स्वीकृत स्वरूप के औचित्य पर प्रश्न चिन्ह लगाया। उसने प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन किया। काण्ट ने व्यक्ति की स्वायत्तता को महत्व दिया है। पर व्यक्ति की स्वायत्तता नीति सम्पन्न, विवेक सम्पन्न व्यक्ति की स्वायत्तता है- सुखवादी, भोगवादी व्यक्ति की नहीं।

आधुनिक काल में यूरोप में निरंकुश शासन तंत्रों का उदय हुआ। इन शासन तंत्रों ने स्वेच्छाचारी रीति से सत्ता का दुरूपयोग किया। इस नाते वे उत्पीड़न के बड़े स्रोत हो गये। नागरिकों को ऐसा राजनीतिक परिवेश मिला कि यदि वे शासन तंत्र की आलोचना करते तो राज्य के अत्याचार

के शिकार होते। ऐसा नहीं कि सभी यूरोपीय शासन तंत्र निरंकुश थे अथवा जो निरंकुश शासन तंत्र जिस देश में थे, उस देश में वे सदैव निरंकुश थे। वंशानुक्रम में सम्राट के परिवर्तन से स्थितियाँ सुधरती थीं और बिगड़ती थी। पर व्यक्ति के नैतिक और सांस्कृतिक विकास के लिए जिस परिवेश की आवश्यकता थी, राजतंत्रों ने उस परिवेश का निर्माण नहीं किया।

फ्रांस के निरंकुश शासन तंत्र के विरुद्ध 1789 में क्रान्ति हुई और राजतंत्र तथा उसके साथ-साथ सारे सामन्ती अधिकार समाप्त हो गये।

काण्ट ने फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति 1789 का स्वागत किया। उसकी दृष्टि में क्रान्ति ने मनुष्य के संकल्प की सत्ता प्रमाणित की। इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी क्रान्ति 1789 ने जर्जर समाज व्यवस्था का विशृंखलन कर दिया- इसका भी काण्ट ने स्वागत किया। काण्ट निरंकुश शासन तंत्र को स्वीकार नहीं करता था। इसी नाते उसका राजनीतिक चिन्तन स्वायत्तता को सुनिश्चित करने के निमित्त प्रस्तुत किया गया है।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति 1789 ने जनशक्ति की प्रभुसत्ता स्थापित की। राज्य का औचित्य जनता की सहमति पर आधारित है। पर फ्रांसीसी क्रान्ति 1789 व्यवस्थित ढंग से जनशक्ति को अनुशासित नहीं कर सकी। इसीलिए प्रारम्भ होने के दूसरे-तीसरे वर्ष से विभिन्न गुटों के पूर्वाग्रह और सत्तालिप्सा के नाते बिखर गयी। यह दीख पड़ा उसके उच्छृखल और अन्यायपूर्ण निर्णयों में। जनशक्ति का स्थान सड़कछाप अशिष्ट भीड़ ने ले लिया। लोकतंत्र (democracy) भीड़तंत्र (mobocracy) में रूपान्तरित हो गया। तत्पश्चात् क्रान्ति के इतिहास का सर्वाधिक निन्दनीय अध्याय खुलाः 'आतंक का राज्य' (Reign of Terror) । क्रान्तिकारी नेताओं ने एक दूसरे को फांसी पर चढ़ाना शुरू किया। आतंक के समर्थन में राज्यक्रान्ति के नेता राबर्स पियरे ने कहा यह 'स्वतंत्रता की निरंकुशता' (Despotism of liberty) है और यह अनिवार्य है। राबर्स पियरे की फाँसी के उपरान्त आतंक का राज्य समाप्त हो गया। पर इसने बहुत से सवाल छोड़ दिये।

यह सही है कि जनशक्ति की सहमति से ही शासन हो। पर क्या वह सहमति जनता की कामना और ऐषणा पर आधारित होगी? जनशक्ति सम्प्रभु हो- यह उचित है, यही लोकतंत्र का लक्षण है। पर क्या जनशक्ति प्रशासन का संचालन भी करे? अर्थात् यदि राज्य का स्वरूप लोकतांत्रिक है तो क्या शासन का स्वरूप भी लोकतांत्रिक हो?

काण्ट ने राज्य के स्वरूप को लोकतांत्रिक माना किन्तु शासन का स्वरूप उसकी दृष्टि में कभी लोकतांत्रिक हो ही नहीं सकता और न कभी होना चाहिए। सारी जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से कानून तो बना सकती है पर वह स्वतः शासन नहीं कर सकती। फ्रांसीसी क्रान्ति 1789 का स्खलन प्रमाणित करता है कि लोकतांत्रिक राज्य सम्भव है और उचित; पर लोकतांत्रिक शासन न सम्भव है, न उचित।

4.3 काण्ट का समकालीन ऐतिहासिक परिदृश्य

कोनिग्सवर्ग के एकान्तिक अध्ययन और अध्यापन के जीवन में भी काण्ट यूरोपीय और यूरोपेतर देशों की घटनाओं से सुपरिचित था। अमरीकी क्रान्ति (1776), अमरीकी संविधान की संरचना, फ्रांसीसी क्रान्ति 1789, मानव के अधिकार का घोषणा पत्र, राष्ट्रीय सभा की गतिविधियाँ, राजवंश को मृत्युदण्ड और आतंक के राज्य का उदय और अन्त - इन सबसे वह भलीभांति परिचित था। अमरीकी क्रान्ति की उपलब्धियों और अमरीकी संवैधानिक व्यवस्था का उसने स्वागत किया। पर फ्रांसीसी क्रान्ति 1789 और उसके राजनीतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक प्रभावों के प्रति उसकी दृष्टि मिश्रित थी। किन्ही सन्दर्भों में वह फ्रांसीसी क्रान्ति 1789 का समर्थक था और किन्ही अन्य सन्दर्भो में उसका कटु आलोचक भी। होवार्ड विलियम्स (Howard Williams) ने निम्नलिखित शब्दों में फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रति काण्ट की दृष्टि का उल्लेख किया :

'Kant's difficulty is, of course, that he approves of the republican aims of

the revolutionaries but strongly disapproves of their methods. So, in one way or an other he has to detach the progressive aims of the revolutionaries from their violent and dangerous ways of achieving these ends.'

हेनरिख हेन ने काण्ट के सिद्धान्त को 'फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का सिद्धान्त (The theory of French Revolution) कहा। कार्लमार्क्स ने 'जर्मन प्रत्ययवाद' (German Idealism) -जिसका संस्थापक काण्ट था- को फ्रांस की राज्य क्रान्ति का सिद्धान्त (The theory of French Revolution) माना है। इस प्रकार फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने काण्ट और परवर्ती काल के जर्मन विचारकों को प्रभावित किया।

अमरीकी क्रान्ति 1776 ने व्यक्ति के अधिकारों एवं उसकी नैसर्गिक समानता को स्वीकार किया था। वे धर्म निरपेक्ष राजनीतिक व्यवस्था के समर्थक थे और इस निमित्त वे संवैधानिक प्रतिनिधि शासन के भी समर्थक थे।

काण्ट अमरीकी क्रान्ति से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकार किया। पर इस बिन्दु पर अमरीकी क्रान्तिकारियों और काण्ट में थोड़ा अन्तर है-अमरीकी क्रान्तिकारी व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों (Natural Rights) को स्वीकार करते थे : काण्ट के लिए अधिकार वे ही हैं जो राज्य द्वारा प्रदत्त हों। पर कुछ अधिकारों के सम्बन्ध में काण्ट मानता था कि राज्य को निश्चित रूप से प्रदान करना चाहिए। काण्ट और अमरीकी क्रान्तिकारियों में अन्तर समानता के प्रश्न पर भी है। अमरीकी क्रान्तिकारियों के लिए समानता नैसर्गिक और अन्तर्निहित है। उनके लिए मनुष्य के रूप में सभी समान हैं । काण्ट के लिए नागरिक के रूप में सभी समान हैं - व्यक्ति के रूप में नहीं। पर यह सत्य है कि अमरीकी क्रान्ति ने व्यक्ति को बहुत से बन्धनों से मुक्त किया और यह काण्ट के लिए अत्यन्त आकर्षण का विषय था।

4.4 काण्ट का वैचारिक परिवेश

18वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध फ्रांसीसी वैचारिक इतिहास में अत्यन्त विलक्षण अध्याय है। इसी काल में फ्रांसीसी प्रज्ञोदय (French Enlightenment) का उदय हुआ। यह दार्शनिक नहीं था और न तो इससे सम्बद्ध विचारक एकमत होकर किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। इनकी विशिष्टता थी, एक नई दृष्टि- बौद्धिक (Rational), धर्मनिरपेक्ष (Secular), वैज्ञानिक (Scientific), विश्लेषणात्मक (Analytical), प्रगतिशील (Progressive), व्यक्तिवादी (Individualistic) और ऐतिहासिक (Historical)। इन विचारकों ने बुद्धि की असीम शक्ति में आस्था उत्पन्न की और समकालीन शासन तंत्रों की कड़ी आलोचना की। इसलिए वे यथास्थितिवादी नहीं थे।

काण्ट फ्रांसीसी प्रज्ञोदय का प्रशंसक भी था और आलोचक भी बुद्धि की क्षमता, अन्धविश्वासों से मुक्ति, आलोचना का साहस, स्वतंत्र चिन्तन, इतिहास की प्रगतिशीलता-इन प्रश्नों पर काण्ट फ्रांसीसी प्रज्ञोदय की दृष्टि से सहमत था। काण्ट और फ्रांसीसी बुद्धिवादियों में व्यक्ति के स्वरूप, उसकी नैतिकता के स्रोत और व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध इत्यादि प्रश्नों पर बड़ा अन्तर भी था। काण्ट सार्वभौम नैतिकता का समर्थक था। फ्रांसीसी बुद्धिवादियों के लिए नैतिक धारणाएं परिस्थितिजन्य संयोगात्मक और सापेक्ष हैं।

काण्ट यह मानता था कि प्रज्ञोदय एक प्रक्रिया है। यह कोई स्थिर अवस्था नहीं। बल्कि बन्धनमुक्ति की अनवरत प्रक्रिया है। मनुष्य निरावलम्ब, अपने बल पर सोच और समझ सके-यह प्रज्ञोदय है। जहाँ प्रज्ञोदय है वहाँ काण्ट के लिए पूर्वाग्रह और अन्धविश्वास से मुक्ति है।

इसी प्रज्ञोदय का समकालीन विचारक था रूसो-एक जटिल व्यक्तित्व, अन्तर्विरोधों से भरा हुआ। पर काण्ट रूसों से अत्यधिक प्रभावित था। इतना प्रभावित कि उसकी 'एमिल' (Emil) नामक पुस्तक को पढ़ने में वह इतना तल्लीन हुआ कि उस दिन उसने अपराह्न का टहलना स्थगित कर दिया। काण्ट ने रूसों को नये ढंग से समझा और पढ़ा। उसने रूसों को 'नीतिशास्त्र का न्यूटन'

(Newton of the moral Sciences) कहा। रूसों ने काण्ट के बुद्धिजीवी अभिजात्य को झकझोर दिया और उसमें सामान्य जन के प्रति आदर और सम्मान का भाव उत्पन्न किया। रूसो के प्रति आदर का भाव होते हुए भी कई बिन्दुओं पर काण्ट ने रूसो की धारणाओं को स्वीकार नहीं किया। जैसे रुसो द्वारा चित्रित प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता को काण्ट ने अस्वीकृत किया। रूसो सामाजिक प्रसंविदा को राज्य की उत्पत्ति का आधार मानता है। काण्ट ने राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक आधार को निरर्थक और खतरनाक जिज्ञासा माना। रूसो प्राकृतिक मनुष्य को सुखी, मन से पवित्र और निश्छल समझता था। काण्ट की दृष्टि में रूसो के प्राकृतिक मनुष्य का जीवन स्थिर और अपरिवर्तनशील है। काण्ट ने इसे अस्वीकृत किया। रूसो सभ्यता और संस्कृति को पतन की गाथा मानता था। काण्ट ने रूसो की धारणा को भ्रामक माना। रुसो लोकतंत्र को राज्य और शासन दोनों की प्रणाली मानता था। काण्ट ने इसे राज्य की प्रणाली माना शासन की प्रणाली नहीं माना। इसलिए काण्ट ने रूसो की बहुत सी धारणाओं को स्वीकार नहीं किया। पर रूसों के चिन्तन में सामान्य जन के प्रति जो आदर और सम्मान था और उनमें निहित जो नैतिक बौद्धिक संकल्प था, उसके प्रति काण्ट के मन में आदर और सम्मान था। इसीलिए काण्ट ने 'सार्वजनिक संकल्प' (Public will) की अवधारणा को स्वीकार किया और लोकतंत्र को राज्य का एक प्रकार माना। पर काण्ट ने अपने चिन्तन में लोक सम्प्रभुता को क्रान्तिकारी रूप नहीं दिया जो रूसो ने दिया था।

उपर्युक्त प्रस्तरों में हमने उन प्रश्नों और समस्याओं की चर्चा की जिसे काण्ट ने उठाया और उत्तरित किया। उस वैचारिक परिप्रेक्ष्य की भी चर्चा हुई जिसने काण्ट के विचारों को प्रभावित किया।

अब इस बात की चर्चा अपेक्षित है कि काण्ट की ज्ञान मीमांसा की मूल धारणाएं क्या हैं? ये धारणायें उसके राजनीतिक सिद्धान्त का अविच्छिन्न अंग है-इसलिए इन्हें संक्षेप में ही सही-जानना अपेक्षित है।

4.5 ज्ञान मीमांसा का सिद्धान्त

काण्ट के अनुसार ज्ञानमीमांसा के तीन चरण है। ज्ञानोपलब्धि का पहला चरण ऐन्द्रिक है। इस चरण में बाह्य जगत से मनुष्य ऐन्द्रिक माध्यम से बहुत कुछ ग्रहण करता है। दूसरा चरण है, जब मनुष्य का चित्त (Mind) इन अनुभवों को कुछ प्रत्ययों द्वारा ढांचे में संरचित करता है। ये प्रत्यय बारह प्रकार के हैं-ये प्रत्यय इन अनुभवों को एक संरचित ढांचा प्रदान करते हैं। यह चित्त की सक्रियता है। इस प्रकार चित्त उन प्रत्ययों के माध्यम से बाहरी जगत को रूपायित करता है और बाहरी जगत की सत्ता की सृष्टि करता है। तीसरा चरण है, कि यह सारी क्रिया प्रागानुभविक है। चित्त की इस क्रिया का अनुभव से कुछ लेना-देना नहीं। यह अनुभव को अपने ढंग से संगठित करती है-बारह प्रत्ययों के माध्यम से। ये प्रत्यय तर्क की दृष्टि से अनुभव के पूर्ववर्ती हैं, अनुभव से मुक्त है। अर्थात् इनकी सत्ता अनुभव पर आधारित नहीं है। ये सार्वभौम हैं और इनके बिना अनुभवों को व्यवस्थित ढांचा प्रदान नहीं किया जा सकता।

दूसरे और तीसरे चरण में जो कुछ सम्पन्न होता है वह शुद्ध बुद्धि की क्रिया है। शुद्ध बुद्धि का यह ढांचा बिखरे हुए अनुभव को समेटता है। अतः शुद्ध बुद्धि की सक्रियता का अध्ययन काण्ट के समीक्षात्मक दर्शन का उद्देश्य हुआ।

पर काण्ट ने शुद्ध बुद्धि की निर्णायक भूमिका को ही संकेतित नहीं किया। उसने यह भी कहा कि शुद्ध बुद्धि ही प्राकृतिक नियमों की सृष्टि करती है। इन नियमों का औचित्य अनुभव - सापेक्ष नहीं है। यह शुद्ध बुद्धि द्वारा प्रस्तुत मानसिक ढाँचे में अनुस्यूत है। इसी को 'Mind as legislator' कहा जाता है। अर्थात् चित्त ही प्राकृतिक विधान की सृष्टि करता है, जिसके अनुसार प्रकृति आचरण करती है। यह प्राकृतिक विधान प्रकृति के 'प्रतिभासिक रूप'' (Phenomenal form) का विधान है। बाह्य जगत का जो स्वरूप सत् (Noumenal form) है वह अनुभवेत्तर है। इसलिए शुद्ध बुद्धि की जिज्ञासा का विषय नहीं। फलस्वरूप शुद्ध बुद्धि के सामर्थ्य की सीमा है। शुद्ध बुद्धि उतना ही जान सकती है जितना अनुभव का विषय है। अतः स्वरूप-सत् (Noumenal : thing -in-

itself) अज्ञेय है।

काण्ट की ज्ञान मीमांसा में प्रतिभासिक जगत (Phenomenal world) और स्वरूप सत् जगत (Noumenal world) में अन्तर है। यह अन्तर काण्ट के राजनीतिक चिन्तन में स्पष्ट है। राजनीति यथार्थ का विषय है और आदर्श का भी। जितना कुछ यर्थाथ का विषय है वह प्रतिभासिक है, इसलिए बुद्धिगत मीमांसा का विषय भी। जितना कुछ राजनीति में आदर्श का विषय है वह अनुभवेतर है, इसलिए प्रागानुभविक सिद्धान्तों (Apriori Principle) के सहारे निरूपित किया जाता है, वह शुद्ध बुद्धि का विषय नहीं व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) का विषय है। इसलिए राजनीति का आदर्श स्वरूप कभी अनुभव से प्रमाणित नहीं होता। इसका बोध-जितना भी सम्भव है- प्रागानुभविक है।

काण्ट के अनुसार दर्शन शास्त्र के चार मूल प्रश्न हैं-

4. "What can we know ?" (हम क्या जान सकते हैं?)
2. "What ought I to do?" (क्या करना मेरे लिए उचित है?)
3. "What is man ?" (मनुष्य है क्या?)
4. "What may I hope for ?" (मैं किस बात की आशा करूँ?)

पहले प्रश्न का उत्तर 'शुद्ध बुद्धि की सीमांसा' (The Critique of Pure Reason) है। दूसरे प्रश्न का उत्तर "The Critique of Practical Reason (व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा),और नीतिशास्त्र पर लिखी गयी कृतियाँ हैं।

4.6 व्यावहारिक बुद्धि की मीमांसा

प्रतिभासिक जगत का प्राणी होने के नाते मनुष्य प्राकृतिक विधान से नियंत्रित और अनुशासित होता है। इसलिए उसका आचरण भी इन्हीं नियमों से बंधा हुआ है। इस रूप में वह बन्धन युक्त है बन्धन मुक्त नहीं। पर काण्ट ने 'शुद्ध बुद्धि की मीमांसा' (The Critique of Pure Reason) के दूसरे संस्करण की भूमिका में इस ओर संकेत किया है कि बुद्धि अनुभव की सीमाओं को लांघना चाहती है। अनुभवेत्तर जगत की ओर बुद्धि मनुष्य को प्रेरित करती है, उसे इसका एहसास भर है किन्तु संज्ञान नहीं। पर इतने मात्र से प्राकृतिक जगत से अलग मनुष्य को अपनी विशिष्टता का बोध होता है। वह स्वायत्तता का एहसास करता है। स्वायत्तता का एहसास उसे संकल्प प्रधान बनाता है। उसे महसूस होता है कि यदि बाह्य परिस्थितियाँ अथवा प्राकृतिक जगत के लौह नियम उसके संकल्प को परिचालित करते हैं तो वह परतंत्र हैं। यह बहुपरतंत्रता (Heteronomy) है। Hetero का अर्थ है अनेक और Nomy का अर्थ है तंत्र। मनुष्य स्वायत्तता (Autonomy) की ओर प्रेरित है। Auto का अर्थ है स्व, अतः Autonomy का अर्थ है स्वतंत्रता या स्वायत्तता। परतंत्रता कार्यकारण श्रृंखला से अनुशासित है, स्वतंत्रता कार्यकारण श्रृंखला से मुक्त। मनुष्य का यह रूप प्रतिभाषिक रूप नहीं यह उसका स्वरूप सत् (Nouminal form) है। काण्ट ने इसके बोध के लिए तीन अभिधारणाएं (Postulates) स्वीकार की है। शुद्ध बुद्धि की मीमांसा (The Critique of Pure Reason) में इन्हें - ईश्वर (God) स्वतंत्रता अथवा स्वायत्तता (Freedom) एवं अमरतत्व (Immortality) की संज्ञा प्रदान की है।

स्वायत्तता संकल्प की अभिव्यक्ति है। पर हर अभिव्यक्ति स्वायत्तता नहीं है क्योंकि हमारी इच्छाएं बाह्य जगत से प्रेरित होकर जब अभिव्यक्त होती है तब वह परतंत्र हैं। इसलिए बाह्य प्रभाव से मुक्त होकर जब विवेक द्वारा अनुशासित संकल्प की अभिव्यक्ति होती है तब वह स्वतंत्रता है। हमारा वह आचरण नीतिगत होता है क्योंकि वह विवेक सम्मत है। इसलिए विवेकशीलता स्वायत्तता की कसौटी है। चूंकि सभी मनुष्य विवेकशील है, इसलिए सभी स्वायत्तता की अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित हैं। फलस्वरूप हर व्यक्ति अपने लिए एक साध्य (End) है। वे नैतिक आचरण इसलिए करते हैं

क्योंकि वे मूलतः नैतिक है और नैतिकता के प्रति सम्मान का भाव है। चूँकि सभी मनुष्य साध्य है, इसलिए मनुष्यों का समूह साध्यों का राज्य (Kingdom of ends) है। इन्ही धारणाओं को काण्ट ने अपनी पुस्तक 'द क्रिटिक ऑफ प्रैक्टिकल रीजन' (The critique of Practical Reason), 'द मेटाफिजिक्स ऑफ मॉरल्स (The Metaphysics of Morals), 'लेक्चर्स आन इथिक्स' (Lectures on Ethics) और अन्य नीतिशास्त्र विषयक कृतियों में व्याख्यायित किया है।

काण्ट की धारणा है कि व्यावहारिक बुद्धि प्रागानुभविक सिद्धान्तों के आधार पर नैतिक नियमों की संरचना करती है। नैतिक नियम सार्वभौम हैं; निरपेक्ष आदेश (Catagorical Imparatives) है। इन नियमों के अनुसार व्यक्ति मात्र साधन (Means) ही नहीं; साध्य (Ends) भी हैं। इन आदेशों का अनुपालन ही स्वायत्तता है। ये हमारे कर्त्तव्य का निर्धारण करते हैं। शर्त यह है कि हम किसी भी सांसारिक इच्छा से प्रेरित न होकर बल्कि नैतिक कर्त्तव्य बोध से आचरण करें। सभी मनुष्य ऐसे आचरण करें तो सभी स्वायत्त हैं।

स्वायत्तता मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। यह उसके स्वरूप सत् जगत (Noumenal World) से सम्बन्धित है। पर मनुष्य प्राकृतिक प्राणी के रूप में आनुभविक जगत में रहता है। इस रूप में आनुभाविक जगत में स्थित मानव स्वभाव स्वरूप सत् जगत के आदर्श मानव स्वरूप से भिन्न है। राज्य की चर्चा के निमित्त आनुभविक मानव स्वभाव की चर्चा अपेक्षित है।

4.7 मानव स्वभाव की अवधारणा

मनुष्य अपने स्वरूप सत् के नाते बौद्धिक और नैतिक प्राणी है। शरीरधारी होने के नाते प्रकृति का अंश भी। उतना अंश प्रतिभासिक और आनुभविक है। इसलिए वह प्राकृतिक प्राणी भी है। इस रूप में वह बाहरी दबावों और परतंत्रतता (Heteronomy) का शिकार है। पर उसमें संकल्प शक्ति है। जब उसका संकल्प नैतिक नियमों से अनुशासित है तो संकल्प का सदुपयोग संभव होता है। जब वह प्राकृतिक अनिवार्यताओं में आबद्ध है तो वह अपने अंहकार और स्वार्थ से प्रेरित है। इस स्थिति में उसकी संकल्पशक्ति का दुरूपयोग होता है। पर जो प्रकृति उसके संकल्प के दुरूपयोग के लिए प्रेरित करती है वही प्रकृति उसके अहंकार, स्वार्थ और संघर्ष के माध्यम से मनुष्य के विकास का मार्ग भी प्रशस्त करती है। इस प्रकार प्रकृति काण्ट के लिए किसी ईश्वरीय योजना से अभिप्रेरित भी है। वह शुभ का नियामक है। काण्ट के चिन्तन में यह प्रकृति का दूसरा रूप है। इस प्रकार प्रकृति बाधक भी है और साधक भी। स्वार्थ के नाते जब मनुष्यों में टक्कर होती है तब प्रकृति बाधक है और उसी टकराहट से जब मनुष्य चुनौतियों के नाते अपनी अन्तर्निहित क्षमता को क्रियाशील बनाता है तो वही प्रकृति साधक है। साधक के रूप में प्रकृति किसी भविष्यत् उद्देश्य को साकार करने के लिए प्रेरित होती है। इस प्रकार प्रकृति अनिवार्यता (Necessity) का प्रतीक है और साथ ही साथ सोद्देश्यता (Teleology) का भी।

मानव स्वभाव की यह मिश्रित परिकल्पना राज्य के औचित्य के साथ संगत और युक्तिपूर्ण है। कैसे?

इसका उत्तर है मनुष्य की 'असामाजिक सामाजिकता'। इसी में काण्ट ने सभ्यता और संस्कृति के विकास का स्रोत देखा है। उपर से दिखेगा कि यह विरोधाभास (Paradox) की स्थिति है। पर इसी विरोधाभास की स्थिति से प्रकृति सोद्देश्य मनुष्य को परिचालित करती है। यह ध्यान में रहे कि काण्ट ने राज्य की उत्पत्ति के मनोवैज्ञानिक कारणों की भूमिका तो स्वीकार की है किन्तु इन मनोवैज्ञानिक कारणों को राज्य के औचित्य का स्रोत नहीं माना है। इसे ध्यान में रखकर असामाजिक सामाजिकता की भूमिका समझनी चाहिए।

काण्ट ने स्वीकार किया है कि मनुष्य का प्राकृतिक रूप असामाजिक है। पर इसी असामाजिकता से आनुभविक और प्रातिभासिक जगत में सामाजिकता उत्पन्न होती है। मनुष्य तो मानो दोषपूर्ण लकड़ी (defective timber) से गढ़ा गया है। पर मानवता की यही दोषपूर्ण लकड़ी (defective timber

of humanity) मनुष्य की असामाजिक सामाजिकता (Unsocial Sociability) को गढ़ती है। मनुष्य की प्रबल आकांक्षा है कि वह निर्बन्ध होकर अपने स्वार्थ को पूरा करे। इसलिए वह चाहता है कि हर चीज़ उसकी इच्छाओं के अनुसार संचालित हो। वह तब तक ऐसा नहीं कर सकेगा जब तक दूसरों पर प्रभुत्व न स्थापित कर ले। इसलिए वह अपने वर्चस्व के लिए प्रयासरत रहता है। उसकी आकांक्षा है कि लोग उसकी सत्ता स्वीकार करें और उसको यश और सम्मान प्रदान करें। पर वह अपने को अन्य मनुष्यों से विशिष्ट मानकर अलग-थलग रखना चाहता है। इसलिए उसमें अन्य मनुष्यों को सहन करने की क्षमता नहीं है। किन्तु वह अन्य मनुष्यों के बिना रह भी नहीं सकता। इसलिए कि वर्चस्व, यश और सम्मान तो उनके बीच रहने में ही उसे प्राप्त होगा। इस प्रकार वह असामाजिक होते हुए भी असामाजिक अभिप्रेरणाओं को पूरा करने के लिए अन्य मनुष्यों के साहचर्य के लिए बाध्य होता है। अपनी असामाजिकता के नाते ही वह सामाजिक होता है। यही असामाजिक सामाजिकता है।

यह विडम्बना है कि मनुष्य की असामाजिकता उसके विकास का निमित्त बनती है। होता यह है कि जिस प्रकार एक मनुष्य अपने अहंकार, स्वार्थ और वर्चस्व की आकांक्षाओं की तृप्ति चाहता है, उसी प्रकार वह जानता है कि अन्य मनुष्य भी यही चाहते हैं। स्वेच्छा से कोई मनुष्य दूसरों के वर्चस्व को स्वीकार नहीं करता। इसलिए अनिवार्यतः मनुष्यों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है। इस संघर्ष के नाते मनुष्य अपनी बुद्धि, प्रतिभा और क्षमता का प्रयोग करता है- चुनौतियों से जूझने के लिए। उसकी सुप्त शक्तियाँ जगती हैं। इन्हीं क्षमताओं के माध्यम से सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। इसलिए मनुष्यों की आपसी प्रतिद्वन्दिता में संस्कृति के उदय और उसके विकास का रहस्य निहित है।

बात दरअसल यह है कि जब मनुष्य एक दूसरे के साथ संघर्ष करते हैं तो उस समय भी मनुष्य में नैतिक विवेक की आदिम प्राकृतिक क्षमता विद्यमान रहती है। पर यह क्षमता तभी परिलक्षित होती है जब मनुष्य अहंकार से प्रेरित होकर दूसरों के साहचर्य की तलाश करते हैं। यदि हम दूसरों के साहचर्य में न होते तो मनुष्य की असामाजिकता उसके लिए अभिशाप होती। इन अर्थों में अभिशाप होती कि उसका जीवन नितान्त आदिम होता, वह आत्मनिर्भर होता पर उसकी बौद्धिक और नैतिक क्षमता का विकास नहीं होता। उसका जीवन अकेले रहने में सुखी तो होता पर वह मात्र एक भेड़ का जीवन जीता।

पर प्रकृति ऐसा चाहती नहीं। इसलिए उसने स्वार्थ और अहंकार के माध्यम से दूसरे मनुष्य को प्रतिद्वन्दिता के लिए प्रेरित किया और इसी से वह कष्ट झेलकर विषम परिस्थितियों से जूझता हुआ अपनी परिस्थितियों पर विजय पाने के लिए प्रेरित हुआ। इस प्रकार मनुष्य को अपनी इच्छा के विरुद्ध सभ्य और सुसंस्कृत होना पड़ा और उसे मजबूरन सामाजिक मान्यताओं की सृष्टि करनी पड़ी। काण्ट ने जंगल में वृक्ष की उपमा से इस स्थिति को स्पष्ट किया:

"In the same way, trees in the forest, by seeking to deprive each other of air and sunlight, compel each other to find there by upward growth, whereas those which put out branches at will, in freedom and isolation from others, grow stunted, bent and twisted.'

4.8 प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक प्रसंविदा

प्रश्न उठता है कि इन सामाजिक मान्यताओं की सृष्टि कैसे हुई और क्यों लोग इसे स्वीकार करते हैं? काण्ट के पूर्ववर्ती राजनीतिक दार्शनिकों (हाब्स, लाक और रुसो) ने प्राकृतिक अवस्था के चित्रण से राज्य की उत्पत्ति की कथा प्रारम्भ की। काण्ट ने प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी इन विचारकों की धारणाओं से असहमति व्यक्त की। इन विचारकों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति प्राकृतिक अवस्था में होने वाले अनुभवों पर आधारित हैं। उनके विवरणों में मतभेद है। पर उन विवरणों के नाते राज्य की उत्पत्ति, काण्ट के लिए, रोग जनित अभिप्रेरणाओं (Pathological motives) पर आधारित

हैं। ये अभिप्रेरणाएं भावनाएं (emotions) हैः जैसे- भय, लोभ, सहानुभूति, दया इत्यादि। ऐसे विवरण मात्र ऐतिहासिक हैं। हो सकता हैं कि तथ्य के स्तर पर राज्यों की उत्पत्ति ऐसे सम्भव हुई हो। पर काण्ट के लिए आनुभविक कारण राज्य के औचित्य का प्रमाण नहीं है। राज्य कैसे उत्पन्न हुआ, इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि राज्य की सत्ता क्यों नैतिक और उचित है। अनुभव के तथ्य तदर्थ और संयोगात्मक हैं। औचित्य का प्रमाण प्रागानुभविक होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त काण्ट ने कुछ और तर्क प्रस्तुत किये हैं जिससे सिद्ध होता है कि प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता राज्य के विवेचन के लिए निरर्थक है। मान लीजिए कि प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्य अच्छे हैं, तो भी उचित और अनुचित के सम्बन्ध में उनमें मतभेद उत्पन्न हो सकता है। कोई मनुष्य किसी को बाध्य नहीं कर सकता कि उसकी औचित्य की धारणा को दूसरा मनुष्य स्वीकार करे।

एक दूसरी स्थिति की कल्पना कीजिए कि सभी मनुष्य एक ही तरह से आचरण करते हैं और उनमें मतभेद नहीं है, और इसलिए वे आचरण के एक विधान को अपने आप स्वीकार करते हैं।

पहली स्थिति में मतभेद के निराकरण के लिए विधान की अपेक्षा होगी ताकि औचित्य का एक मापदण्ड सभी लोग स्वीकार करें। दूसरी स्थति में जहाँ सभी एक ही प्रकार का आचरण करते हैं वहाँ एक विधान पर वे सहमत हैं। पर दोनों स्थितियों में यह प्रश्न अनुत्तरित है कि जो विधान होना चाहिए उसका औचित्य निर्धारण कैसे किया जाय? अथवा जिस विधान पर सभी सहमत हैं उसका औचित्य क्या है? अर्थात् औचित्य का निर्धारण किसी ऐतिहासिक तथ्य से नहीं हो सकता। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य अच्छे हों या बुरे हों-यह तथ्य निरर्थक है। यह इस जिज्ञासा को उत्तरित नहीं करता कि सार्वभौम सार्वजनिक न्याय कैसे स्थापित किया जाय। इसके लिए हमें 'बुद्धि के प्रागानुभविक सिद्धान्त' (aprioi principles of reason) का सहारा लेना पड़ेगा।

इसलिए प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता का प्रश्न उठाना ही निरर्थक है।

मनुष्य कैसा आचरण करेगें इसके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस अनिश्चय के नाते राज्य के औचित्य को स्वीकार करना पड़ता है। काण्ट ने लिखा हैः

"Right and justice must be in the world. If men are by nature good, then their condition of public justice and right is a natural state, but if they are evil, i.e., it is their fault there is no security of rights, then it is a condition of public justice and right based on force."

इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था की ऐतिहासिकता राज्य के औचित्य की समझदारी के लिए निरर्थक है। पर इस प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा की उपयोगिता काण्ट ने स्वीकार की है। उसकी ऐतिहासिक उपयोगिता नहीं बल्कि उसकी नैतिक उपयोगिता है।

काण्ट के अनुसार राजनीतिक दार्शनिकों से अपेक्षित है कि वे इस प्रश्न का उत्तर दें कि मनुष्य ने प्राकृतिक अवस्था छोड़ा क्यों? यह प्रश्न तथ्यगत नहीं वरन् नैतिक है।

काण्ट ने प्राकृतिक अवस्था की अवधारणा को एक विचार प्रयोग (thought experiment) के रूप में प्रयुक्त किया है। उसके अनुसार राज्य पर विचार करते समय हमें यह मानसिक परिकल्पना करनी चाहिए कि एक समय था जब राज्य नहीं था। उस समय कोई कानून भी नहीं था। यह एक काल्पनिक परिस्थिति है। इसमें कोई किसी को किसी काम के लिए बाध्य नहीं कर रहा। इसे एक दार्शनिक गाथा ही मानें, पर इस गाथा से राज्य के औचित्य से सम्बन्धित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस विचार प्रयोग द्वारा हमारी प्रागानुभविक बुद्धि कुछ निष्कर्ष निकाल सकती है। प्राकृतिक अवस्था अनिश्चयात्मकता की अवस्था है। व्यक्ति एक दूसरे के लिए असहनशील है। कोई व्यक्ति अच्छी नियत से आचरण करता भी हो तो दूसरों के बारे में आश्वस्त नहीं हो सकता और चूंकि कोई विधान नहीं है इसलिए हर व्यक्ति अपनी मान्यताओं के अनुसार आचरण करता है। अतः यह निश्चित नहीं हो पाता कि उस अवस्था में मेरे पास अपना है क्या। जीवन धारण के लिए सम्पत्ति आवश्यक

है। पर किसी चीज को सम्पत्ति कहने के लिए कानूनों का होना भी आवश्यक है। यदि हम ऐसी स्थिति की परिकल्पना करें तो हमें लगेगा कि यह विवेक सम्मत है कि हम समवेत रूप से संगठित सार्वजनिक संकल्प को संचरित करें। जो हर एक व्यक्ति की सम्पत्तिकी सुरक्षा कर सके। इस प्रकार प्राकृतिक अवस्था की परिकल्पना राज्य विहीन स्थिति की परिकल्पना है। यह परिकल्पना सहायक है राज्य के औचित्य को समझने के लिए।

सामाजिक संविदा के सम्बन्ध में भी काण्ट ने प्रचलित अवधारणाओं को स्वीकार नहीं किया। वह यह मानता है कि राज्य के अस्तित्व में व्यक्तियों के संकल्प की भूमिका है पर यह केवल युक्ति तर्क मूलक है, ऐतिहासिक नहीं। काण्ट नहीं मानता कि किसी सुदूर अतीत में सामाजिक प्रसंविदा सम्पन्न हुआ। पर उसके अनुसार सामाजिक प्रसंविदा की अवधारणा को एक प्राक्-कल्पना मान सकते हैं। अर्थात् हम राज्य में नागरिक के रूप में ऐसे आचरण करें जैसे यह सामाजिक प्रसंविदा पर अधिष्ठित है और हमारी सहमति के फलस्वरूप यह हम पर शासन कर रहा है। इसे एक नैतिक प्रत्यय मानें जिसके सहारे हम अपने आचरण को नागरिक के रूप में अनुशासित करें। इस प्रकार सामाजिक प्रसंविदा शुद्ध व्यावहारिक बुद्धि का प्रागानुभविक विचार है। यह हमारे सामाजिक जीवन के औचित्य का प्रमाण है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राज्य की सत्ता को मान्यता देने की सबकी सहमति है और यह सहमति विवेक प्रसूत है।

काण्ट का मत था कि व्यक्ति की नैतिक सत्ता उसकी स्वतंत्रता में संचित है। यह बात हर एक व्यक्ति के लिए समीचीन है। किसी की भी स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति के लिए बाधक न हो, इसके लिए एक बाह्य नियामक की आवश्यकता है। पर इस नियामक को नैतिकता के नियमों के अनुसार नियंत्रित होना है। सभी व्यक्ति इस स्थिति की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनकी सहमति है। इसी स्थिति को काण्ट ने लाक्षणिक भाषा में प्रसंविदा कहा। अतः प्रसंविदा से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें हर व्यक्ति स्वतंत्र तो है किन्तु सामाजिक समरसता के लिए स्वतंत्रता पर राज्य के अनुशासन को स्वीकार करता है और उतना ही अनुशासन स्वीकार करता है जितना हर व्यक्ति की स्वतंत्रता की समन्वयात्मक अभिव्यक्ति के लिए अपेक्षित है। अतः राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता को नियंत्रित करना हर व्यक्ति की स्वतंत्रता के हित में ही है। हर व्यक्ति के लिए इससे सहमत होना विवेक सम्मत है। अतः व्यक्ति की सहमति पर राज्य आधारित है। इसलिए यह सहमति मूलतः विवेक की अवधारणा है, इसलिए काण्ट कहता था कि प्रसंविदा विवेक की अवधारणा है।

इस प्रकार सामाजिक प्रसंविदा प्राक्-कल्पना है। 20वीं शताब्दी के दार्शनिक 'जान राल्स' ने सामाजिक प्रसंविदा को प्राक्-कल्पित 'मौलिक स्थिति' (Original condition) के रूप में अपनी पुस्तक 'ए थियरी आफ जस्टिस' (A Theory of Justice) में प्रस्तुत किया है। काण्ट इसे एक प्रारूप मानता है जिससे वह समाज की न्याय व्यवस्था का मापन कर सके। अतः राज्य का औचित्य प्रागानुभविक सिद्धान्त पर आधारित है। प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक प्रसंविदा ऐतिहासिक नहीं है। दोनों प्रकल्पनाएं हैं। इनसे राज्य के औचित्य का बोध हो सकता है।

4.9 राज्य का औचित्य और समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त

नैतिकता के नियम आनुभविक नहीं है बल्कि प्रागानुभविक बुद्धि के निष्कर्ष हैं। मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ नैतिक विकास उसकी विवेक सम्मत स्वायत्तता है। बाह्य जगत में हर व्यक्ति की स्वायत्तता ऐसे सुनिश्चित की जाय कि एक व्यक्ति की स्वायत्तता दूसरे व्यक्ति के लिए बाधक न बने। इसलिए उनके आचरण का एक सार्वजनिक मापदण्ड सुनिश्चित हो। यह सार्वजनिक मापदण्ड सार्वभौम बुद्धि (Universal reason) की सार्वजनिक अभिव्यक्ति है। यह सार्वजनिक न्याय का मापदण्ड है। न्याय व्यवस्था की ऐतिहासिक अभिव्यक्ति को काण्ट ने सार्वभौम बुद्धि की अभिव्यक्ति नहीं माना है। इसीलिए यह न्याय व्यवस्था न मानव सापेक्ष है न इतिहास सापेक्ष। यही कारण था कि काण्ट ने विधि के ऐतिहासिक सम्प्रदाय को खारिज कर दिया। काण्ट के लिए न्याय व्यवस्था युक्ति तर्क की दृष्टि से विवेक सम्मत नैतिक नियमों पर आधारित है। काण्ट का कथन है :

"Every action which by itself or by its maxim enables the freedom of each invididual's will to co-exist with the freedom of every-one else in accordance with an universal law is right."

इसे समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त (Law of equal freedom) कहा जाता है।

सबकी स्वायतत्ता को सुनिश्चित करने के लिए किसी भी मनुष्य को दूसरे मनुष्य की स्वायत्तता में बाधक नहीं होना चाहिए। ऐसा सुनिश्चित हो सके इसके लिए विवेकशील नैतिक संकल्प को बाह्य जगत में औचित्य के वस्तुनिष्ठ मापदण्ड में अनूदित करना पड़ेगा। सबके लिए एक 'Standard of Right' (औचित्य का मापदण्ड) स्थापित करना पड़ेगा। काण्ट ने 'Recht' शब्द का प्रयोग किया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद 'Right' है। जर्मन भाषा में इस शब्द के तीन अर्थ हैं-नैतिक मापदण्ड, अधिकार और सार्वजनिक औचित्य (Public Right) का मापदण्ड। अतः हर एक स्वायत्त है पर सबकी स्वायत्तता समान रूप से सुनिश्चित हो, इसलिए नैतिकता को या औचित्य को सार्वजनिक औचित्य का स्वरूप देना पड़ेगा। यह सार्वजनिक औचित्य राज्य है। इस प्रकार राज्य नैतिक आधार पर टिका हुआ है। हैंस रीस के अनुसार :

"for Kant, a theory of politics (which, for him, amounts in the main to a metaphysics of law) in inavariably a part of a metaphysics of morality."

राज्य और नैतिकता का सम्बन्ध अविच्छिन्न है। चूँकि हम राजनीतिक जगत में आचरण द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, इसलिए अपेक्षित है कि हम इन सन्दर्भों में वैसे ही आचरण करें जैसा आचरण उचित हो। अतः आवश्यकता है एक मापदण्ड की। यह मापदण्ड सार्वभौम होना चाहिए। ताकि समान रूप से सब पर लागू हो। यह सम्भव है विधान (Law) से। नैतिकता विधान की अपेक्षा करती है पर अपने मूल स्वरूप में इसका स्रोत मनुष्य की स्वायत्तता है। इसलिए नैतिकता अन्तर और बाह्य दोनों हैं, पर विधान नितान्त बाह्य है। विधान थोपा जा सकता है, नैतिकता नहीं। पर नैतिकता से सम्बन्धित होने के नाते विधान प्रागानुभविक सिद्धान्तों पर आधारित है। इसलिए काण्ट की राजनीति 'प्रागानुभाविक सिद्धान्तों की राजनीति' (Politics of apriori principles) है।

4.10 राज्य की विशिष्टताएं

राज्य का पहला लक्षण है कि इसका आधार मनुष्य का सद्‌विवेक है, किन्तु राज्य स्वतः सद्‌विवेक का विग्रह नहीं है। इस प्रकार राज्य नैतिक संस्थान है, किन्तु नैतिकता की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं। काण्ट के अध्येता को इस बात का निरन्तर स्मरण रहना चाहिए। इस धारणा के नाते काण्ट के राजनीतिक चिन्तन को उदारवादी कहना समीचीन है। पर उदारवादी तो काण्ट के पूर्व और काण्ट के पश्चात् भी थे। इसलिए काण्ट का वैशिष्ट्य मात्र उदारवादी होना नहीं है। उसका वैशिष्ट्य है कि उसने सर्वप्रथम जर्मन चिन्तन में राज्य में प्रत्ययवादी अवधारणा की संगत और व्यवस्थित प्रस्तुति की। इसलिए काण्ट प्रत्ययवादी भी है और उदारवादी भी।

दूसरा लक्षण है कि राज्य प्रभुसत्ता सम्पन्न है। काण्ट ने सामन्तवादी संस्थाओं, निगमों, श्रेणियों, सामन्तों के परम्परागत अधिकारों और चर्च की विशिष्ट सुविधाओं इत्यादि को समाप्त करने की संतुष्टि की। उसके अनुसार ये सारे समूह और उनके विशेषाधिकार राज्य की प्रभुसत्ता में बाधक है। काण्ट ने यह श्रेयस्कर माना है कि सामन्ती परम्परा में जो सम्पत्ति इन समूहों के पास हैं उसका अधिग्रहण राज्य को करना चाहिए। एक समय था जब ये सामन्त अपनी व्यक्तिगत सेना भेजकर जर्मन सम्राट की सहायता करते थे। अब राष्ट्रीय सेना का युग है। अतः सामन्तो को इन योजनाओं को समाप्त कर देना चाहिए। काण्ट की यह भी संस्तुति थी कि परम्परागत ज्येष्ठाधिकार (Primogeniture) और स्थरीकृत सम्पत्ति (entail) भी समाप्त होनी चाहिए।

राज्य का तीसरा लक्षण है कि राज्य एकात्मक है। मध्य-युग में सत्ता सोपान-क्रम में विभाजित थी। वही विभाजन जर्मनी में ढ़ेर सारे छोटे-छोटे राज्यों में दीख पड़ता था। काण्ट ने इन सभी राज्यों

को समाप्त कर एक संगठित राज्य की परिकल्पना की थी। इस राज्य की सत्ता सर्वोपरि है। इसके समानान्तर न कोई सत्ता है और न कोई परम्परागत अधिकार अथवा रीतिरिवाज।

राज्य का चौथा लक्षण है कि व्यक्ति के सन्दर्भ में नैतिक दृष्टि से राज्य की शक्तियों की सीमा है। व्यक्ति ने सार्वजनिक न्याय की व्यवस्था को इसलिए अनिवार्य माना कि दूसरे व्यक्ति उसकी स्वायत्तता में हस्तक्षेप न करे और इस प्रकार सार्वजनिक न्याय से अनुशासित होकर वह अपनी स्वायत्तता के नैतिक लक्ष्य को प्राप्त कर सके। इसलिए राज्य का उद्देश्य है कि स्वायत्तता की प्राप्ति में जितनी बाधाएं हैं उन बाधाओं को दूर करे। इस निमित्त राज्य को शक्ति (Coercion) का प्रयोग करना पड़ता है। अतः राज्य की शक्ति स्वतंत्रता के मार्ग की बाधाओं के लिए बाधा है।

फलस्वरूप-और यह राज्य का पाँचवाँ लक्षण है- बहुत कुछ ऐसा है कि जिसे राज्य को नहीं करना चाहिए और न वह कर ही सकता है। इस सम्बन्ध में काण्ट ने यह आग्रह किया कि राज्य को अनिवार्यतः इन परिस्थितियों को सुनिश्चित करना चाहिए। राज्य को यह ध्यान देना चाहिए कि यह तीन परिस्थितियाँ कभी समाप्त न हों। ये परिस्थितियाँ न्याय पर आधारित राज्य के निगमनात्मक (a priori) सिद्धान्त हैं। काण्ट के शब्दों में :

1- The freedom of every member of society as a human being.

2- The equality of each with all the others as a subject.

3- The independance of each member of a commonwealth as a citizen.

अतः स्वतंत्रता, समानता और स्वावलम्बन सुनिश्चित करना राज्य का कर्तव्य है।

(1) स्वतंत्रता (Freedom)

काण्ट का मत है कि नागरिकों के जीवन में राज्य की वह भूमिका नहीं है जो नाबालिग सन्तानों के जीवन में पिता की है। काण्ट राज्य के पित्रात्मक स्वरूप का विरोधी था। उसका मत था कि पित्र-स्वरूप राज्य में राज्य नागरिकों के सुख-दुख का सम्पूर्ण उत्तर दायित्व ग्रहण करेगा। काण्ट ने यहाँ तक कहा है कि यदि दया और परोपकार की भावना से भी राज्य अभिप्रेरित हो तो भी उसे नागरिकों को नाबालिग सन्तान मानकर उनके लिए कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए।। इससे नागरिक पराश्रित और निष्क्रिय होंगे। वे अपने सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं लेंगे। यह स्वायत्तता के लोप की स्थिति है। उचित तो यह है कि नागरिक अपने विवेक से निर्णय लेकर आचरण करें। इसी में व्यक्ति की गरिमा की प्रतिष्ठा है।

पित्रात्मक राज्य बड़ी भयावह स्थिति उत्पन्न करता है। काण्ट के अनुसार :

"Such a government is the greatest conceivable despotism, i.e. a constitution which suspends the entire freedom of its subject, who thenceforth have no rights whatsoever."

इसलिए काण्ट पित्र-स्वरूप राज्य के स्थान पर राष्ट्रवादी राज्य को स्वीकार करता है। उसकी स्वतंत्रता राष्ट्रवादी स्वतंत्रता (patriotic freedom) है। राष्ट्र के नागरिक निर्णय क्षमता सम्पन्न हो। जिस राष्ट्र के नागरिक स्वतःनिर्णय लेते हैं - अपने जीवन आदर्शों का विकल्प चुनने के लिए - वही राष्ट्र आत्म निर्णय की क्षमता से सम्पन्न हैं। काण्ट की दृष्टि में आत्मनिर्णय की क्षमता व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की गरिमा को सुरक्षित रखता है।

(2) समानता (Equality) :-

राज्य के नागरिक समान हैं। इसका अर्थ यह है कि कानून के समक्ष सभी समान है। कोई भी अधिनियम अपवाद की सृष्टि नहीं करता और न तो अधिनियमों को कार्यान्वित करने में अपवादों की सृष्टि कर सकता है। इस प्रकार वे सभी कानून जो सामन्ती विशेषाधिकार से सम्बन्धित थे, अधिनियम नहीं है। राष्ट्र-राज्य में भेद-भाव करने वाले अधिनियम स्वीकृत करने योग्य नहीं है। दास

प्रथा और नागरिकों के बीच कुछ को निम्न व शेष को उच्च नागरिक मानना अनुचित है। समानता को सुनिश्चित करना नागरिक की गरिमा को सुनिश्चित करना है।

(3) स्वावलम्बन (Independence) :-

स्वावलम्बन का अर्थ है कि नागरिक स्वतः निर्णय लेकर राजनीतिक जीवन में भाग लें। राष्ट्र राज्य में सहभागिता प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष ही हो सकती है। नागरिक मतदान द्वारा अपना निर्णय व्यक्त कर सकें। यह नागरिकों की समानता है। पर विधिक रूप से समान होते हुए भी व्यावहारिक रूप से दो वर्गों में विभाजित हैः निष्क्रिय नागरिक और सक्रिय नागरिक। निष्क्रिय नागरिक वे हैं जो आर्थिक रूप से पराश्रित हैं, दूसरो के नौकर या सेवक हैं। वे दबाव में हैं। वे स्वावलम्बी नहीं। उनका निर्णय आर्थिक दबाव से मुक्त नहीं। सक्रिय नागरिक वे हैं जो स्वावलम्बी हैं और प्रबुद्ध हैं। अपने लेख 'ह्वाट इज एनलाइटेनमेण्ट ('What is Enlightenment) में काण्ट ने प्रबुद्ध नागरिक का चित्र प्रस्तुत किया है। वह अन्धविश्वास से मुक्त है। वह अपने सहारे निर्णय लेता है। इस प्रबुद्ध नागरिक की भूमिका समीक्षक और शिक्षक की है। वह न तो क्रान्तिकारिता का समर्थक है न यथास्थितिवाद का । वह अनधिकृत सुविधा लाभ अथवा विशेषाधिकार की अपेक्षा नहीं करता। अपनी प्रतिभा के बल पर नागरिक जो उपलब्ध करते हैं वह उनके स्वावलम्बन का प्रमाण है। राजनीतिक प्रश्नों पर ऐसे सक्रिय प्रतिभावान नागरिकों का मत स्वागत करने योग्य है। आज की राजनीतिक भाषा में कहें तो काण्ट के राज्य को एक प्रकार का प्रतिभातंत्र कहा जा सकता है। इस प्रकार काण्ट प्रतिभा से उत्पन्न उपलब्धियों को स्वीकार करता है। परम्परा पर आधारित विशेषाधिकार और उत्तराधिकार को नहीं। इस सम्बन्ध में काण्ट का कथन अत्यंत मुखर हैः

"Since birth is not an act on the part of the one who is being born, it can not create any inequality in his legel position and can not make him submit to any coercive laws except in so far as he is subject, along with all others, of the one supreme legislative power."

राज्य का छठाँ लक्षण है कि यह विधिक संस्थान है। यह अधिनियमों की सृष्टि करता है। इन अधिनियमों का उद्देश्य है ऐसी परिस्थितियों को सुनिश्चित करना जिनमें व्यक्तियों की समान स्वतंत्रता संरक्षित हो। इस प्रकार कानून सम्प्रभु का आदेश है। काण्ट मानता है कि सम्प्रभु भी मनुष्य है या मनुष्यों का समूह। मनुष्य की कमजोरियां सम्प्रभु में हो सकती हैं। इसलिए उसका भी अनुशासन अपेक्षित है। इसके लिए भी विवेक का अनुशासन होना चाहिए। पर आनुभविक जगत में सम्प्रभु कितना विवेकानुशासित होगा कहना कठिन है। अतः यह सम्भावना निरन्तर विद्यमान है कि सम्प्रभु द्वारा सृजित कानून क्षणिक उत्तेजना, स्वार्थी वृत्तियों, पूर्वाग्रहों और स्वेच्छाचार की उपज हों। इसलिए निरपेक्ष नैतिक आदेशों (Categorical moral imperatives) पर अधिष्ठित सार्वजनिक न्याय की परिकल्पना और कानूनों में अन्तराल हो सकता है। राज्य के कानून उत्पीड़न का स्रोत बन सकते हैं भले ही राज्य इन्हें ताकत के बल पर पुलिस और न्यायालय द्वारा लागू करवा ले। किन्तु किसी भी दशा में इन्हें उचित नहीं कहा जा सकता। ऐसे कानूनों का सृजन राजतंत्र में भी सम्भव है और गणतंत्र में भी। काण्ट की धारणा थी कि नैतिकता पर अधिष्ठित कानून परम्परा और इतिहास पर भी आधारित नहीं है। इसलिए उसने विधि शास्त्र के ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School of Jurisprudence) को अमान्य कर दिया।

राज्य का सातवां लक्षण है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसकी शक्तियाँ सीमित हैं। दो राज्यों के बीच युद्ध राज्य के प्रभुसत्ता सम्पन्न होने का लक्षण माना जाता था। यह सम्प्रभु शक्ति की अभिव्यक्ति थी। पर काण्ट मानता था युद्ध एक बहुत बड़ा दोष है जिसके नाते राज्य के नागरिक नैतिक स्वायत्तता की अभिव्यक्ति के प्रयास में बाधित होते हैं। युद्ध के नाते बाधित तो होते ही हैं वे युद्ध प्रारम्भ होने के पहले इसके निमित्त की गयी तैयारियों से भी बाधित होते हैं। काण्ट का कथन हैः

"It must be admitted that the greaest evils which afflict civilised nations are brought about by war, and not so much by actual wars in

the past or the present as by never ending and indeed continually increasing preparations for war."

इस प्रकार काण्ट के लिए युद्ध और उसके लिए की गयी तैयारियाँ नैतिक जीवन के प्रतिकूल हैं। काण्ट अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष और युद्ध की समाप्ति का स्वप्न देखता था। वह आशावादी था। उसके आशावाद का आधार थाः जैसे मनुष्यों के आपसी संघर्ष से राज्य का अस्तित्व सम्भव हुआ उसी प्रकार राज्यों के आपसी संघर्ष से कालान्तर में राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संघ का अस्तित्व संभव होगा। सूदूर भविष्य में नैतिक अभिप्रेरणाओं से परिचालित परवर्ती काल की मानव पीढ़िया इतनी समुन्नत हो सकती हैं कि कम से कम यूरोपीय राज्यों का शान्तिपूर्ण संघ स्थापित हो। दर असल उचित और अनुचित के विवेक की धारणा मनुष्य में निहित है। इसका प्रमाण यह है कि जब ताकतवर व्यक्ति अन्याय करता है तो वह अपनी समझ से किसी औचित्य की धारणा का अनुपालन करता है। मनुष्य में निहित औचित्य की इन धारणाओं से ही राज्य संभव हुआ। प्रकृति इसमें सहायक थी। उसी प्रकार औचित्य की इन धारणाओं के नाते कालान्तर में राज्यों के संघर्ष और युद्ध समाप्त होकर शान्ति की स्थापना होगी। इस दिशा में भी प्रकृति सहायक होगी।

शान्ति सम्बन्धी अपनी धारणाओं का विवरण काण्ट ने अपने लेख 'परपेच्युअलपीस' (Perpectual Peace) में प्रस्तुत किया है।

राज्य का आठवाँ लक्षण है कि वह नागरिकों के अधिकारों का स्रष्टा है। सम्पत्ति का अधिकार भी एक अधिकार है। इस अधिकार का भी स्रष्टा राज्य है। व्यक्ति के पास ऐसा कोई प्राकृतिक अधिकार नहीं है जो राज्य के आविर्भाव के पहले उसके पास था और आविर्भाव होने पर भी उसके पास बना हुआ है। जो भी सम्पत्ति और अधिकार व्यक्ति के पास है वह राज्य द्वारा प्रदत्त किया गया है। काण्ट ने प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया।

सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों पर काण्ट के विचारों की चर्चा आगे की जायेगी।

राज्य का नवाँ लक्षण है कि दण्ड देने की शक्ति इसके पास सुरक्षित है। राज्य विधि संस्थान है। जो विधि तोड़ता है वह दण्ड का पात्र है। इस प्रकार दण्ड देना राज्य की सम्प्रभुता में निहित है। काण्ट का कथन हैः

"The mere idea of an organised State carries with it the conception of a right to punish as inherent in the Sovereign power"

प्रश्न है कि दण्ड देने का आधार क्या है? एक सर्वमान्य आधार है प्रसंविदा सिद्धान्त। यदि प्रसंविदा दण्ड का आधार है तो यह निष्कर्ष निःसृत होता है कि प्रसंविदा करते समय प्रसंविदा करने वाले व्यक्तियों ने राज्य को दण्ड देने का अधिकार दिया। तो क्या फिर मृत्युदण्ड का भी अधिकार दिया? रूसो मानता है कि दण्ड का पूरा अधिकार राज्य को दे दिया गया। पर 'बेकारिया' (Beccaria) नामक दार्शनिक ने रूसों' की आलोचना करते हुए यह माना कि छोटे-मोटे दण्ड का अधिकार दिया पर मृत्युदण्ड का नहीं। काण्ट ने 'बेकारिया' के इस मत पर सवाल उठाया कि फिर छोटे-मोटे दण्ड का क्यों? प्रसंविदा करने वाले व्यक्ति किसी भी प्रकार के दण्ड का अधिकार क्यों दें? पर दण्डाधिकार के बिना संप्रभु अधिनियमों का अनुपालन नहीं करा सकता। राज्य के लिए दण्डाधिकार अनिवार्य है। यदि अनिवार्य है और प्रसंविदा के ऐतिहासिक स्वरूप से यह अधिकार राज्य को दिया ही नहीं जा सकता तो फलस्वरूप राज्य का आविर्भाव ऐतिहासिक प्रसंविदा पर हुआ ही नहीं। ऐतिहासिक प्रसंविदा के विरुद्ध यह भी काण्ट का एक तर्क था।

काण्ट ने अपने ढंग से दण्ड के आधार का निर्धारण किया है। दण्ड का पहला आधार है कि इससे अपराधी के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा स्थापित होती है। अपराधी भी एक व्यक्ति है। इस रूप में एक साध्य। उसने अधिनियम तोड़कर समानान्तर अधिनियम स्थापित किया है। इस प्रकार उसने अपनी स्वायत्तता प्रमाणित की है। अपराधी द्वारा स्थापित अधिनियम को मानकर राज्य अपराधी की स्वायतत्ता को स्वीकार करता है। यदि अपराधी ने हत्या कर दी है तो राज्य अपराधी को मृत्युदण्ड

देकर उसके द्वारा स्थापित अधिनियम को स्वीकार करता है। यह अपराधी के साध्य स्वरूप का संरक्षण है। अपराधी द्वारा स्थापित अधिनियम को मानकर राज्य अपराधी के व्यक्तित्व की गरिमा सुरक्षित करता है।

दण्ड का दूसरा आधार है अपराध द्वारा उत्पन्न न्याय की रिक्तता को पूरित करना। अपराध न्याय का स्खलन करता है। स्खलन के नाते जिस मात्रा में अपराध घटित होता है उसी मात्रा में न्याय का स्थान रिक्त होता है। उस रिक्तता को भरने का प्रयास दण्ड है। इस प्रकार दण्ड न्याय का प्रभुत्व स्थापित करता है। जिस दिन न्याय का प्रभुत्व समाप्त होगा उस दिन समाज का क्षरण हो जायेगा। अतः दण्ड अनिवार्य है।

इतना अनिवार्य कि यदि अपराधी को मृत्युदण्ड से वंचित करने पर उसके जीवित शरीर का चिकित्सीय प्रयोग समाज के लिए कल्याणकारी हो तो भी दण्ड देना अनिवार्य है।

दण्ड का तीसरा आधार है पारस्परिकता का नियम (Rule of Reciprocity) । जैसा और जितना अपराध वैसा ही उतना दण्ड।

दण्ड का चौथा आधार है कि यह समान स्वतंत्रता के सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इसलिए जब कोई व्यक्ति अधिनियम तोड़कर किसी को नुकसान पहुँचाता है तो वह स्वतः अपने को ही नुकसान पहुँचाता है। अपराधी भी समाज में रहता है इसलिए अपराध द्वारा जैसे दूसरों को नुकसान होता है वैसे उसको भी। काण्ट का कथन है: "If you kill him, you kill yourself", अर्थात् कोई दूसरे की हत्या करता है तो वह अपनी ही हत्या करता है।

दण्ड का पाँचवां आधार है कि दण्ड झेलना अपराधी के लिए एक प्रकार की ऋणमुक्ति है। मात्र समाज से ही ऋणमुक्ति नहीं बल्कि व्यक्ति के भीतर निहित जो नागरिक है उसके प्रति भी नागरिक का कर्त्तव्य है। उस कर्त्तव्य का अनुपालन होगा दण्ड झेलकर। दण्ड झेलना त्याग सदृश है। समाज में रहकर सभी त्याग करता हैं। अधिनियम मानकर। चूँकि अपराधी अधिनियम तोड़ता है इसलिए वह दण्ड झेलकर त्याग करते हैं- काण्ट की यह धारणा थी कि यदि समाज, कल्पना कीजिए कि, अपने को भंग कर रहा हो तो भंग करने के पहले जेल में निरुद्ध अन्तिम हत्यारे को मृत्युदण्ड दे दे।

दण्ड का छठाँ आधार है कि दण्ड अन्याय के शिकार व्यक्ति की क्षतिपूर्ति के लिए नहीं दिया जाता बल्कि यह न्याय की क्षतिपूर्ति के लिए राज्य की ओर से दिया जाता है। दण्ड प्रतिशोध नहीं, प्रतिकार है।

उपर्युक्त प्रस्तरों से स्पष्ट है कि काण्ट के सिद्धान्त में दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार करना नहीं। इसका उद्देश्य भविष्य में अपराधी को अपराध से निवारित करना भी नहीं और न तो समाज को अपराध से निरोधित करना है। काण्ट ने दण्ड के तीनों सिद्धान्तों को खारिज कर दिया। ये तीनों सिद्धान्त है-'दण्ड का सुधारात्मक सिद्धान्त' (Reformative theory of Punishment), दण्ड का निवारणात्मक सिद्धान्त (Deterant Theory of Punishment) और दण्ड का निरोधात्मक सिद्धान्त (Preventive Theory of Punishment) काण्ट का दण्ड सिद्धान्त मूलतः दण्ड का प्रतिकारात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory of Punishment) है।

1.11 सम्प्रभुता सिद्धान्त

सम्प्रभुता की चर्चा के सदर्न्भ में काण्ट ने दो प्रश्न उठाये हैं। सम्प्रभुता राज्य में किस प्रकार व्यक्त होती है और कैसे प्रयुक्त होती है? व्यक्त होने का निर्धारण होता है सम्प्रभुता कितने व्यक्तियों के पास है। यदि एक व्यक्ति सम्प्रभु है तो एकतंत्र (Autocracy) है। काण्ट ने इसे सम्राट की शक्ति (Power of Prince) कहा है। यदि अभिजन में है तो अभिजनतंत्र (Aristocracy) है। यदि सम्पूर्ण जनता में है तो 'जनतंत्र' (Democracy) है।

पर दूसरा सवाल है कि किस प्रणाली से सम्प्रभुता का प्रयोग होता है? प्रयोग की प्रणालियाँ

शासन का वर्गीकरण है जैसे सम्प्रभुता के केन्द्रित होने से राज्य के वर्गीकरण का संज्ञान होता है। जिस प्रकार राज्य के तीन प्रकार हैं उसी प्रकार शासन के तीन प्रकार है- गणतंत्र (Republic), निरंकुशतंत्र (Despotism) और गणतंत्र (Democracy)। सम्प्रभुता का जो भी प्रकार हो सम्प्रभुता असीम शक्ति सम्पन्न है।

काण्ट की धारणा थी कि सम्प्रभुता की असीमता विधिक असीमता है, नैतिक नहीं। यह सम्प्रभुता का पहला लक्षण है।

सम्प्रभुता का दूसरा लक्षण है कि यह अविभाज्य है। काण्ट एकात्मक राज्य का समर्थक था। एकात्मक राज्य में सम्प्रभु शक्ति का एक ही केन्द्र होता है। सम्प्रभु विधि का स्रष्टा है। यदि कई केन्द्र होंगे तो समानान्तर सम्प्रभु होगें और समानान्तर विधियाँ होंगी। फलस्वरूप राज्य ही विभाजित हो जायेगा यह एकात्मक नहीं रह जायेगा। इसलिए संप्रभुता स्वभावतः अविभाज्य है।

सम्प्रभुता का तीसरा लक्षण है कि सम्प्रभुता देय है- अदेय नहीं। बोदां, हाब्स और रूसो सम्प्रभुता को अदेय मानते थे। पर काण्ट काण्ट देय मानता था।

क्यों देय है? कारण स्पष्ट है। जो सम्प्रभु है वह कानून का सृजन करे और दूसरे लोग उसे लागू करें। यह राजतंत्र में अपेक्षित है। सम्प्रभु कभी भी कानून को लागू नहीं कर पायेगा। न्याय की रक्षा के लिए कानून बनाने और लागू करने की शक्तियाँ अलग-अलग होना चाहिए। इसलिए दोनों शक्तियों का पार्थक्य आवश्यक है।

जनतंत्र में यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रभुता क्यों देय होनी चाहिए। मान लीजिये की जनता ही कानून बनाती है और वही अपने ऊपर कानून लागू भी करती है अर्थात् राज्य का प्रकार भी जनतांत्रिक है और शासन का भी। यह कई दृष्टियों से अनुचित है- और अव्यावहारिक भी। अव्यावहारिक इसलिए कि सारी जनता कानून तो बना लेगी पर सारी जनता शासन नहीं कर सकेगी। लोकतंत्र राज्य का स्वरूप हो सकता है। शासन का स्वरूप नहीं। सभी जनता सार्वजनिक विषयों पर एक साथ बैठकर न विचार कर सकती है न दिनानुदिन शासन का भार वहन कर सकती है। यह बात प्रत्यक्ष लोकतंत्र पर लागू होती है, अप्रत्यक्ष लोकतंत्र पर नहीं।

यह अनुचित इसलिए है कि जो कानून बनायेंगे और जिन पर कानून लागू होगा वे दोनों एक ही हैं। ऐसी हालत में कानून लागू करने में अन्याय और पक्षपात भी हो सकता है। इतनी ही नहीं जनता पूर्वाग्रह से मुक्त होकर भी काम कर सकती है। बहुमत, अल्पमत को दबा सकता है। बहुमत का आतंक भी हो सकता है। इसलिए सिद्धान्ततः उचित है कि जनता सम्प्रभु के रूप में अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करे और वे कानून बनाये और प्रशासन के अधिकारियों द्वारा लागू करे। ऐसी स्थिति में जनता को सम्प्रभुता प्रतिनिधियों को देनी पड़ेगी। इसलिए संप्रभुता देय है। राज्य के प्रत्येक प्रकार में यह देय है । बल्कि काण्ट मानता है कि अनिवार्यतः देय है।

4.12 गणतंत्र का सिद्धान्त

काण्ट के अनुसार शासन का शुद्ध रूप गणतंत्र है। सिद्धान्ततः जनतंत्रात्मक राज्य में शासन का स्वरूप राजतंत्रात्मक हो सकता है। पर यह संवैधानिक राजतंत्र होगा। काण्ट के लिए यही गणतंत्र का रूप है। हैंस रीस के अनुसार काण्ट के लिए गणतंत्र (Republic) शब्द का वही अर्थ था जो आजकल संसदीय जनतंत्र का अर्थ है। हालांकि काण्ट ने अनिर्वायतः ऐसा कहीं कहा नहीं है। यह केवल अर्थनिर्वचन से स्पष्ट होता है। कहीं-कहीं काण्ट ने यहां तक कहा है कि एक निरंकुश शासक भी गणतंत्र की आत्मा को सुरक्षित कर सकता है यदि वह शासक यह माने कि वह जनता के प्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहा है। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि काण्ट ने निरंकुश तंत्र का समर्थन किया था।

काण्ट के लिए गणतंत्र का शुद्ध रूप है- निर्वाचित विधान सभा और संवैधानिक राजतंत्र का योग। निर्वाचित विधानसभा जनतांत्रिक सम्प्रभुता की प्रतिनिधि है और संवैधानिक शासन कानून की

मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए विधान सभा द्वारा पारित अधिनियमों को लागू करता है। काण्ट ने यह सम्भावना स्वीकार की है कि विधानसभा द्वारा पारित अधिनियम सार्वजकि न्याय के मापदण्डों के अनुकूल न हों। पर यह अन्तराल आनुभविक जगत में बना ही रहेगा। इसे कम करने का व्यावहारिक जगत में प्रयास हो सकता है। गणतंत्रात्मक शासन और संवैधानिक राजतंत्र इस दिशा में एक प्रयास है। इसी व्यवस्था में समान स्वतंत्रता सर्वाधिक रूप से सुनिश्चित हो सकती है।

गणतंत्र राज्य से सम्बन्धित कई प्रश्न हैं। ये प्रश्न हैः किस आधार पर राज्य हमारे ऊपर शासन करता है? हम राज्य की आज्ञाओं का पालन क्यों करें? राज्य की सत्ता का औचित्य क्या है? वह कैसे हमें आज्ञाओं के पालन के लिये बाध्य कर सकता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर है- जनता की नैतिकता पर प्रतिष्ठित सार्वजनिक संकल्प से राज्य का आविर्भाव हुआ है। इसीलिए राज्य हम पर शासन करता है हम उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं। वह हमें आज्ञाओं के अनुपालन के लिए बाध्य कर सकता है। इसीलिए इन सबका औचित्य सार्वजनिक संकल्प पर अधिष्ठित है। अतः जनतांत्रिक सम्प्रभुता और गणतंत्रात्मक शासन युक्ति तर्कमूलक शुद्ध व्यवस्था है।

4.13 शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त

सामान्यतया शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त शासन की तीन शाखाओं का पृथक्करण है। ये शाखाएं तीन हैं : व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। यह मान्तेस्क्यू का प्रारूप था। अस्तित्ववादी विचारक 'यास्पर्स' (Jaspars) ने काण्ट के विभाजन को मूलतः काण्ट द्वारा प्रस्तुत बुद्धि की तीन शक्तियों का विभाजन माना है। बुद्धि की इन तीन शक्तियों का स्वरूप काण्ट की तीन कृतियों में प्रस्तुत हैं। पहली शक्ति है चिन्तन और मनन। इसे काण्ट ने 'शुद्ध बुद्धि' की मीमांसा' (The Critique of Pure Reason) में प्रस्तुत किया है। शासन में इसका रूप परिलक्षित होता है व्यवस्थापिका में। बुद्धि की दूसरी शक्ति है आचरण करने की संकल्प शक्ति। इसे काण्ट ने 'प्रैक्टिकल रीजन'' (Practical Reason) कहा है। इसको काण्ट ने प्रस्तुत किया है 'द क्रिटिक आफ प्रैक्टिकल रीजन' (The Critique of Practical Reason) में। शासन में यह परिलक्षित होती है, कार्यकारिणी में। बुद्धि की तीसरी शक्ति है निर्णय लेने की क्षमता। इसे काण्ट ने प्रस्तुत किया है 'द क्रिटिक आफ जजमेण्ट (The Critique of Judgment) मे। शासन में यह परिलक्षित होती है न्यायपालिका में।

मात्र दार्शनिक स्तर पर ही नहीं बल्कि व्यावहारिक स्तर पर भी काण्ट ने शक्ति का पृथक्करण किया है। पृथक्करण ही निरंकुश शक्ति का विकल्प है। काण्ट मानता है कि जब एक ही जगह सारी शक्तियाँ केन्द्रित होती हैं तो निरंकुशता जन्म लेती है। अब चाहे वह शक्ति राजा के पास केन्द्रित हो चाहे जनता के पास। दोनों के निरंकुश होने की संभावना समान है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति 1789 के पहले फ्रांसीसी सम्राट निरंकुश था। क्रान्ति ने सम्राट की निरंकुशता समाप्त की तो उसके स्थान पर जनता की निरंकुशता स्थापित हो गयी। यह परिलक्षित हुई, 'आतंक के राज्य' (Reign of Terror) में। इसलिए तीनों शक्तियों का पृथक्करण अपेक्षित है। काण्ट ने चिरपरिचित तर्कों को शक्ति पृथक्करण के समर्थन में प्रस्तुत किया है।

काण्ट ने विस्तार के साथ कार्यकारिणी और व्यवस्थापिता के सम्बन्ध, व्यवस्थापिका के गठन, उसके निर्णय और व्यवस्थापिका के सदस्यों के निर्वाचन इत्यादि का विस्तृत विवरण नहीं दिया है। विस्तार ही का अभाव नहीं है बल्कि स्पष्ट चिन्तन का भी अभाव है। जैसे प्रारम्भिक कृतियों में काण्ट ने शासक (कार्यकारिणी) और व्यवस्थापिका का अन्तर नहीं किया। उसने शासक को ही व्यवस्थापिका मान लिया। यह उलझन कुछ काण्ट के परवर्ती काल की कृतियों में भी दीख पड़ती है। अतः कभी शासक को व्यवस्थापिका से वह अलग करता है और कभी शासक को ही व्यवस्थापिका मान लेता है। पर जब वह निरंकुश तंत्र की विकृतियों की चर्चा करता है तो स्पष्ट रूप से 'मान्टेस्क्यू' की तरह स्वीकार करता है कि कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका का समन्वय निरंकुशता को आमंत्रण

देता है। इसलिए निरंकुशता से बचने के लिए मर्यादाएं आवश्यक हैं। शक्ति - पृथक्करण लक्ष्मण रेखा है। व्यवस्थापिका के सदस्य किस प्रकार निर्णय दें- इस सम्बन्ध में भी काण्ट के विचार उलझे हुए हैं। पर कुल मिलाकर वह बहुमत के निर्णय को प्रभावी निर्णय मानता है।

अतः सामान्य जन को व्यवस्थापिका का निर्णय अपना ही निर्णय मानना चाहिए। कालान्तर में व्यवस्थापिका की निरंकुशता के भी प्रमाण-प्राप्त होने लगे। काण्ट को इसका आभास था। पर 'हर्बर्ट स्पेन्सर' ने इसे बड़े ही सटीक शब्दों में व्यक्त किया है। उसका कथन है:

'राजाओं के दैवी अधिकार का युग समाप्त हो गया। संसद के दैवी अधिकार का युग आ गया है।

इतना होते हुए भी कानून बनाने का अधिकार जनता द्वारा स्थापित व्यवस्थापिका को ही देना पड़ेगा। उस पर यदि रोक लग सकती है तो न्यायपालिका द्वारा और वह भी उन देशों में जिनमें लिखित संविधान है। लिखित संविधान के अतिरिक्त न्यायपालिका द्वारा न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) को भी मान्यता मिलनी चाहिए। पर यह सब संवैधानिक विकास काण्ट को विदित नहीं था। अमरीका में 1803 में 'मार्वरी बनाम मेडिसन' में न्यायाधीश 'मार्शल' ने 'न्यायिक पुनरीक्षण' का सर्वप्रथम प्रयोग किया। उस समय काण्ट अत्यधिक वृद्ध था और 1804 में उसका देहावसान हो गया। इसलिए काण्ट ने व्यवस्थापिका की निरंकुशता को रोकने के लिए कोई संवैधानिक उपचार प्रस्तुत नहीं किया।

4.14 प्रतिरोध का अधिकार

इस सम्बन्ध में काण्ट का निम्नलिखित वक्तव्य ध्यातव्य है :-

'The sovereign in the state has many rights with respect to the subject, but no (coercive) duties. Further more, if the organ of the sovereign, the ruler, proceeds contrary to the laws - for example, in imposing taxes, recruiting soldiers and so on, so as to violate the law of equality in the distribution of political burdens-the subject may lodge a complaint about this injustice, but he may not put up any resistance to it.

व्यक्ति के पास प्रतिरोध का अधिकार है ही नहीं। प्रतिरोध का अधिकार या तो संविधान के किसी प्रावधान पर आधारित हो या अधिनियमों के प्रावधान पर। न तो संविधान में, न तो अधिनियम में यह प्रवाधान दिया जा सकता है कि जब जनता चाहे संविधान या अधिनियम माने या जब चाहे न माने। समान स्वतंत्रता को सुनिश्चित करने के लिए राज्य स्थापित हुआ है। इसलिए प्रतिरोध युक्ति तर्क मूलक नहीं है।

प्रतिरोध से युक्ति तर्क मूलक गत्यावरोध (logical deadlock) उत्पन्न होता है। मान लें कि किसी संविधान में प्रावधान है कि एक सम्प्रभु को हटाकर दूसरे सम्प्रभु को स्थापित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न अनिवार्य है कि दोनों सम्प्रभुओं में उचित कौन है? इसके निर्णय के लिए तीसरे सम्प्रभु की आवश्यकता पड़ेगी। पर इस स्थिति में भी यह प्रश्न बना रहेगा कि पहले, दूसरे और तीसरे सम्प्रभु में उचित कौन हैं? इसके लिए चौथे सम्प्रभु की आवश्यकता पड़ेगी। यह स्थिति अनन्त अग्रसारण (Fallacy of Infinite Progress) है। अतः स्थापित सम्प्रभु का प्रतिरोध वर्जित है।

प्रतिरोध अनिश्चित सामाजिक स्थिति उत्पन्न करता है जिसकी कल्पना प्रतिरोध प्रारम्भ करते समय नहीं की जा सकती। जिस रोग का उपचार किया गया उस उपचार के फलस्वरूप पहले रोग की अपेक्षा अधिक भयावह रोग उत्पन्न हो जाता है। प्रतिरोध से सारी व्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं और अराजकता की स्थिति उत्पन्न होती है। काण्ट के समक्ष फ्रांस की क्रान्ति 1789 की निष्पत्ति

थी।

काण्ट ने यह भी कहा है कि राज्य की उत्पत्ति की ऐतिहासिक जिज्ञासा भी प्रतिरोध की मानसिकता को जन्म देती है। ऐसी जिज्ञासाएं यह सवाल उठातीं हैं कि जिन ऐतिहासिक कारणों से राज्य की उत्पत्ति हुई अथवा प्रसंविदा द्वारा जिस लक्ष्य के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई वे ऐतिहासिक कारण उचित नहीं है। अथवा उन लक्ष्यों को राज्य पूरा नहीं कर रहा है। दोनों स्थितियों में राज्य का आमूल-चूल परिवर्तन अपेक्षित है। यही प्रतिरोध की मानसिकता है। अतः काण्ट के लिए राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी ऐतिहासिक जिज्ञासाएं खतरनाक जिज्ञासाएं हैं।

'पीटर निकल्सन' ने अपने एक लेख में यह स्थापना की है कि सम्प्रभु की आज्ञाओं का अनुपालन निरपेक्ष नैतिक आदेश हैं। जैसे मिथ्या भाषण का निषेध निरपेक्ष नैतिक आदेश है वैसे प्रतिरोध का निषेध भी निरपेक्ष नैतिक आदेश है।

'होवार्ड विलियम्स' ने अपनी पुस्तक 'काण्टस पोलिटिकल फिलासफी (Kant's Political Philosophy) में यह तो माना है कि मिथ्या भाषण का निषेध निरपेक्ष नैतिक आदेश हैं। पर प्रतिरोध का निषेध निरपेक्ष नैतिक आदेश नहीं है। उसके अनुसार कुछ परिस्थितियों में नागरिक संप्रभु के आदेशों की आचोलना कर सकते हैं । यदि वह प्रतिरोध करता है तो उसे दण्डित भी होना पड़ेगा। पर उचित है कि वह आलोचना करे। सम्भव है कि सम्प्रभु उसकी आचोलनाओं को स्वीकार करके अपने निर्णयों को परिवर्तित कर दे। इसलिए प्रतिरोध का अधिकार निरपेक्ष नैतिक आदेश नहीं हैं क्योंकि काण्ट ने अपवाद स्वरूप कुछ स्थितियों में प्रतिरोध स्वीकार किया है।

वस्तुतः काण्ट ने समवेत सक्रिय प्रतिरोध का निषेध किया है। एकल निष्क्रिय प्रतिरोध का नहीं। कुछ परिस्थितियाँ हैं जिसमें एकल निष्क्रिय प्रतिरोध किया जा सकता है। वे परिस्थितियाँ हैं : आभ्यान्तरिक नैतिकता (Inner morality) के आधार पर व्यक्ति अकेले अपने निर्णय से शासन की अवज्ञा कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति दो राज्यों के बीच युद्ध के विरुद्ध है और शांतिवादी है, वह नैतिक आधार पर सेना में अनिवार्य भर्ती का विरोध कर सकता है और भर्ती होने से इनकार कर सकता है। पर अन्य नागरिकों को अनिवार्य भर्ती के विरुद्ध भड़का नहीं सकता। यह समस्या निष्ठाओं के संघर्ष (conflict of loyalties) से उत्पन्न होती है। नागरिक की निष्ठा राज्य के प्रति है और उसकी निष्ठा आभ्यान्तरिक नैतिकता के प्रति भी है। ऐसी स्थिति में काण्ट ने विचारों की अभिव्यक्ति और व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा की वकालत की है। यह एक प्रकार से प्रतिरोध का नकारात्मक सिद्धान्त है। यह आज की शब्दावली में निष्क्रिय प्रतिरोध (Passive resistance) है।

स्पष्ट है कि प्रतिरोध सम्बन्धी काण्ट के विचारों पर फ्रांसीसी क्रान्ति 1789 का प्रभाव था। वह निरंकुशता का समर्थक नहीं था। पर वह सामान्य जनता के सक्रिय प्रतिरोध की हिंसात्मकता और अराजकता से चिंतित था। वैसे काण्ट मानता था कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति अर्थात् जनता द्वारा सम्राट का विरोधविधि सम्मत था। इसलिए विधिसम्मत था कि फ्रांसीसी सम्राट ने आर्थिक संकट से मुक्ति के लिए फ्रांसीसी 'स्टेट्स जेनरल' का अधिवेशन आहूत कर सहायता मांगी थी। सम्राट का यह निर्णय फ्रांसीसी पार्लियामेन्ट की प्रभुसत्ता की स्थापना थी और सम्राट की सम्प्रभुता की समाप्ति। फ्रांसीसी क्रान्ति सम्बन्धी काण्ट का यह विचार विवाद ग्रस्त है। क्या फ्रांसीसी पार्लियामेन्ट का अधिवेशन आहूत कर आर्थिक संकट से मुक्ति के लिए सहायता मांगने मात्र से सम्राट की सम्प्रभुता समाप्त हो जाती है?

बात जो भी हो, फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति 1789 ऐतिहासिक संयोग से अनिवार्य थी। काण्ट की यह धारणा थी कि कभी-कभी विषम परिस्थितियों में समवेत सक्रिय प्रतिरोध अपने आप उभर आता है। उसकी न वकालत करनी पड़ती है और न उसे रोका जा सकता है। काण्ट ने इसे आवश्यकता का अधिकार (Right of Necessity) कहा है। सामान्यतया जब शासक कमजोर होता है और कानून व्यवस्था को बनाये रखने में अक्षम हो जाता है तो ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। इन स्थितियों में क्रान्ति ने जिस पुरानी व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया है उसका प्रत्यावर्तन असंभव है।

नागरिकों का कर्तव्य है कि क्रान्ति द्वारा स्थापित नयी व्यवस्था और नये सम्प्रभु को स्वीकार करे। नयी व्यवस्था का समवेत सक्रिय प्रतिरोध अपेक्षित नहीं।

काण्ट ने समवेत सक्रिय प्रतिरोध का समर्थन नहीं किया है। ऐसी स्थिति में सम्प्रभु की गलत नीतियों का परिष्करण और परिवर्धन कैसे हो काण्ट का समाधान हैः विचारों की स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति एवं प्रचार प्रसार।

4.15 विचारों की स्वतंत्रता-अभिव्यक्ति एवं प्रचार-प्रसार

सक्रिय प्रतिरोध तब घटित होता है जब परिस्थितियाँ नितान्त विषम हो जायं अथवा जब सम्प्रभु सामान्य जन की शिकायतों और उनकी आलोचनाओं का दमन करे। जिस व्यवस्था में विचारों की स्वतंत्रता, उनकी अभिव्यक्ति और उनके प्रचार-प्रसार की सम्भावना समाप्त हो जाती है वहाँ सम्प्रभु और नागरिक के बीच संवाद समाप्त हो जाता है। यह किसी भी राज्य के लिए अच्छी स्थिति नहीं है। इससे असंतोष पुष्पित और पल्लवित होता है। सिर्फ कानूनों के अनुपालन पर जोर देने से काम नहीं चलता। यह स्थिति, काण्ट के अनुसार, गंभीर प्रतिक्रियाओं को जन्म देता है। इसलिए कानूनों के अनुपालन के साथ-साथ स्वतंत्रता की भावना को भी पुष्पित पल्लवित करना चाहिए। काण्ट का कथन हैः

'Obedience without the spirit of freedom is the effective cause of all secret societies.'

भूमिगत संगठनों का आविर्भाव स्वतंत्रता के अभाव का लक्षण है। काण्ट की संस्तुति थी कि शासक को विचारों की स्वतंत्रता, उनकी अभिव्यक्ति और उनके प्रचार-प्रसार का अवसर प्रदान करना चाहिए। इसको कुंठित करना असंतोष को संचित करना है। नागरिक विचारों की अभिव्यक्ति और प्रचार-प्रसार द्वारा संचित असंतोष को व्यक्त करते हैं। उनको लगता है कि शासक उनकी शिकायतों के प्रति संवेदनशील है। नागरिक को यह महसूस होता है कि उसकी स्वतंत्रता सार्थक है। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र चिन्तन की अभिव्यक्ति और प्रचार-प्रसार से शासक लाभान्वित हो। उसके संज्ञान में बहुत सी ऐसी बातें आ सकतीं हैं जिन्हें जानकर सम्प्रभु अपनी गलतियों को सुधार सकता है। सम्प्रभु सर्वज्ञ नहीं है। न वह दैवीय है। उससे गलतियाँ हो सकती हैं। विचारों की अभिव्यक्ति से उसके ज्ञान में वृद्धि होगी और वह शासन का सुधार कर सकता है। इसलिए काण्ट ने स्वतंत्र चिन्तन की अभिव्यक्ति को सार्वजनिक न्याय के मापदण्ड के अनुकूल माना। समीक्षाओं और आलोचनाओं का अत्यधिक महत्व है। इसको दबाने से, जैसा काण्ट ने कहा है, भूमिगत संगठनों का जन्म होता है। ये भूमिगत संगठन हिंसात्मक प्रतिरोध को जन्म देते हैं। आतंकवादी हिंसा का यही स्रोत है। काण्ट की यह बात इतिहास की कसौटी पर आज भी खरी हैं। जिन शासकों ने विचारों और उसकी अभिव्यक्ति को प्रतिबन्धित किया वे कालप्रवाह में नष्ट हो गये।

क्या विचारों की अभिव्यक्ति की कोई सीमा है? काण्ट का उत्तर है-हाँ । सापेक्ष संविधान के प्रति सम्मान और निष्ठा के दायरे में ही विचारों की अभिव्यक्ति स्वीकार्य है। यह लक्ष्मण-रेखा है। इसका अतिक्रमण न तो नागरिक को करना चाहिए और न सम्प्रभु को। सम्प्रभु भी अपनी नीतियों और उनके अनुपालन में असंवैधानिक काम कर सकता है। इसलिए सम्प्रभु को इसे ध्यान में रखना चाहिए। काण्ट संवैधानिक शासन (Constitutional Government) का समर्थक था। यह सम्प्रभु की स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाता है। कैसे पता चले कि सम्प्रभु स्वेच्छाचारी हैं। काण्ट का निम्नलिखित वाक्य इसे स्पष्ट करता हैः-

'Whatever a people can not impose upon itself can not be imposed upon it by the legislator either.'

इसका पता कैसे चलेगा कि ऐसा कौन अधिनियम है जिसे जनता अपने ऊपर लागू नहीं कर सकती और तदनुसार सम्प्रभु को भी ऐसा नियम न बनाना चाहिए और न लागू करना चाहिए।

काण्ट ने इसे जानने की एक कसौटी दी है वह है, कोई भी समाज आने वाली पीढ़ियों के स्वतंत्र चिन्तन और विचारों को प्रतिबन्धित नहीं कर सकता और उन्हें बाध्य नहीं कर सकता कि वे आज के विचारों को ही माने। एक उदाहरण काण्ट ने दिया है। मान लीजिए कि सम्प्रभु पूर्ववर्ती काल में स्थापित धार्मिक व्यवस्था को अधिनियम द्वारा आज के युग में लागू कर रहा है और नागरिकों को बाध्य कर रहा है कि वे इसे स्वीकार करें। ऐसी स्थिति में वह अगली पीढ़ियों को धर्म बोध के नये रूप और नये विस्तार से वंचित कर रहा है। इतनी ही नहीं। ऐसे अधिनियमों को मानने का अर्थ होगा कि न तो वर्तमान पीढ़ी और न भविष्यत् पीढ़ी पिछली भूलों का सुधार कर पायेगी। फलस्वरूप ऐसे अधिनियमों की समीक्षा अपेक्षित है। क्योंकि जो अधिनियम सामान्य नागरिक विवेक सम्मत ढंग से अपने ऊपर लागू नहीं कर सकते वह अधिनियम सम्प्रभु की इच्छा हो ही नहीं सकता और सम्प्रभु को उसे कभी पारित नहीं करना चाहिए। यह कसौटी है जिसके आधार पर लोक जीवन में राज्य की समीक्षाएँ एवं आलोचनाएं की जा सकती है।

उपर्युक्त कसौटियों को ध्यान में रखना अपेक्षित है। इसी सन्दर्भ में नागरिक को संविधान के प्रति सम्मान और निष्ठा का भाव रखते हुए स्वतंत्र चिन्तन, उसकी अभिव्यक्ति और उसके प्रचार-प्रसार का प्रयास करना चाहिए।

4.16 इतिहास दर्शन

इतिहास के दर्शन की प्रस्तुति काण्ट के पूर्व भी हुई है। यूनानी और रोमन चिन्तन और मध्यकालीन ईसाई दर्शन में इतिहास की भिन्न-भिन्न धारणाएँ दीख पड़ती हैं। आधुनिक युग में बोदाँ और मान्तेस्क्यू ने इतिहास की विकास योजना को रेखांकित किया। फ्रांसीसी प्रज्ञोदय में इतिहास सम्बन्धी लेखन का प्रचुर कोष उपलब्ध है। इस परिपेक्ष्य में काण्ट की इतिहास सम्बन्धी अवधारणा पिछली अवधारणाओं से न केवल भिन्न है बल्कि अत्यधिक गहरी भी।

उसने इतिहास की विकास योजना को सिद्धान्तों में बांधकर प्रस्तुत किया। उसके इतिहास सम्बन्धी चिन्तन का तात्कालिक परिप्रेक्ष्य रूसो था। वह किन्हीं सन्दर्भों में रूसो से सहमत भी था। और किन्हीं में असहमत। उसके इतिहास दर्शन की चर्चा निम्नलिखित प्रस्तरों में प्रस्तुत है।

पहला लक्षण है कि काण्ट वर्तमान के धरातल से पिछले अतीत का आंकलन करता है। इसके विपरीत रूसो प्राकृतिक अवस्था के परिकल्पित अतीत के धरातल से इतिहास का आकलन करता है। काण्ट ने स्वतः इस अन्तर को संकेतिक किया है:

'Rousseau proceeds synthetically and starts from man in the state of nature; I proceed analytically and I start with civilized man.'

इस प्रकार काण्ट समकालीन सांस्कृतिक मनुष्य की ओर से सम्पूर्ण इतिहास का विश्लेषण करता है। सांस्कृतिक मानव मनुष्य की सर्जनात्मकता की अभिव्यक्ति है। इसलिए इतिहास को समझने के लिए मनुष्य की विलक्षण शक्ति और प्रतिभा को नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए। साथ ही साथ सांस्कृतिक मानव को एक तथ्य (Fact) के रूप में स्वीकार करना है। जैसे हर तथ्य के लिए परीक्षण अपेक्षित है उसी प्रकार सांस्कृतिक मानव के भी तथ्य का परीक्षण होना चाहिए।

दूसरा लक्षण है कि सांस्कृतिक मानव के विवेचन के उपरान्त कुछ तथ्य उभरते हैं। ये है संयोगात्मक (accidental) और गौण (secondary) । ये तथ्य सभ्यता के ऊपरी कलेवर हैं। जैसे ऐन्द्रिक सुख सामग्री के साधनों की प्रचुरता, उपभोग के लिए उपलब्ध अधुनातन प्रणालियों की प्रचुरता और कामनाओं की तृप्ति के लिए विपुल साधनों की उपलब्धता। ये संयोगात्मक और गौण हैं। इससे अलग एक दूसरे प्रकार के तथ्य हैं जो मनुष्य के मूल स्वभाव को रूपायित करते हैं। वे है : उसकी आभ्यान्तरिक स्वायत्तता (innar autonomy) का विस्तार और समष्टि जीवन के साथ उसकी संगति।

तीसरा लक्षण हैं कि मनुष्य के अहंकार और स्वार्थी वृत्तियों के नाते उन में जो संघर्ष होता

है उससे उनकी अन्तर्निहित क्षमताएँ जागृत होती हैं। वे अपनी विषय परिस्थितियों से उन्हीं क्षमताओं के बल पर जूझते हैं। फलस्वरूप सभ्यता और संस्कृति का विकास होता है। यह विकास प्रकृति द्वारा प्रायोजित है। मनुष्य शान्ति चाहता है। पर यदि शान्ति हो तो मनुष्य की क्षमताएँ सुप्त हो जाती हैं और उसके जीवन की गति रूक जायेगी। इसीलिए प्रकृति ने संघर्ष का विधान रचा है ताकि मनुष्य कर्मशील हो, प्रयासरत हो और उसकी प्रतिभा अपनी पूरी शक्ति के साथ अभिव्यक्त हो, सभ्यता और संस्कृति की उपलब्धियाँ किसी खास पीढ़ी की उपलब्धि नहीं है। यह पीढी दर पीढ़ी संचारित होती हैं।

चौथा लक्षण है कि सभ्यता की बहुत सी उपलब्धियाँ शुभत्व का आभास देती हैं । मूलतः शुभ नहीं होतीं। इन उपलब्धियों में उपभोग और आमोद-प्रमोद की वस्तुएँ हैं। ये जीवन यापन के लिए सुविधा जनक और सुगम हैं। किन्तु तत्वतः अर्थहीन और निःसार। इनसे जीवन में गति उत्पन्न होती है। पर उससे मनुष्य की नैतिक उत्कृष्टता का लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। काण्ट ने मनुष्य से यह अपेक्षा की है कि वह अपनी उपलब्धियों का निरन्तर विश्लेषण करता रहे और सभ्यता के बाहरी कलेवर एवं मनुष्य के आभ्यान्तरिक नैतिक स्वरूप का अन्तर समझता रहे।

पाँचवा लक्षण है कि सभ्यता स्वतंत्रता का विस्तार है, सुखानुभूति का नहीं। स्वतंत्रता के विस्तार का बोध मनुष्य का नैतिक विकास है। नैतिक विकास का अर्थ है अपरिवर्तनशील शाश्वत नैतिक नियमों के बोध का विकास। इन दृष्टियों से इतिहास मनुष्य के तात्विक स्वरूप का विकास है। यह एक पीढ़ी की उपलब्धि नहीं है और न तो एक व्यक्ति की उपलब्धि है। यह उपलब्धि मानव प्रजाति की है। इतिहास काण्ट के लिए शुभत्व का विकास है। पर यह विकास इतिहास के ऊपरी धरातल पर परिलक्षित नहीं होता।

छठाँ लक्षण है कि इतिहास की उलपब्धियाँ मनुष्य को आशान्वित करती हैं। यह सही है कि इतिहास में युद्ध होते हैं और उनके भयंकर दुष्परिणाम परिलक्षित होते हैं। उन्हीं भग्नावशेषों से मनुष्य भविष्य के लिए कृत संकल्प होता है। उसकी नैतिक चेतना गतिशील होती है। कालान्तर में इस गतिशीलता का नैतिक रूपायन होगा। काण्ट की धारणा थी कि आशावादिता का अधिष्ठान अनुभव नहीं है। अनुभव से तो निराशा ही हाथ लगती है। आशावादिता का स्रोत प्रागानुभविक है।

काण्ट के समय में इतिहास की तीन दृष्टियाँ प्रचलित थीं : आतंक वाद (Terrorism), उन्मेषित आशावाद (Chiliaism) और 'अब्डेराइटिज्म (Abderatism): यथास्थितिवाद। पहली दृष्टि के अनुसार इतिहास विनाश की ओर अग्रसर है। कालान्तर में सभी कुछ नष्ट हो जाता है। दूसरी दृष्टि के अनुसार सुदूर भविष्य में आदर्श व्यवस्था रूपायित होगी। तीसरी दृष्टि के अनुसार अन्ततोगत्वा इतिहास में सारे परिवर्तन के बावजूद कुछ भी परिवर्तित नहीं होता। यथास्थिति बनी रहती है। आज की भाषा में कहें तो ('The more things change, the more they remain the same') कहा जायेगा। अर्थात् जितना ही परिवर्तन होता है उतनी ही यथा स्थिति बनी रहती है। यह गतिरोध की स्थिति है।

काण्ट का इतिहास दर्शन इन तीनों दृष्टियों से भिन्न हैं। यह न निराशावादी है, न उन्मेशित आशावादी और न यथास्थितिवादी। इतिहास मनुष्य के निरन्तर संघर्ष और उसके नैतिक बोध के विकास की गाथा है। पूर्ण आदर्श कभी रूपायित होगा कि नहीं इसकी मात्र आशा की जा सकती है और उसके निमित्त मनुष्य समाज में समवेत प्रयास कर सकते हैं।

4.17 सारांश

सामान्यतया काण्ट की चर्चा राजनीतिक चिन्तन के इतिहास से सम्बन्धित पाठ्य पुस्तकों में नहीं की जाती हैं। अगर की भी जाती हैं तो हेगल' के प्रसंग से और वह भी अत्यंत संक्षिप्त रूप से। यह काण्ट के प्रति एक प्रकार का पूर्वाग्रह है। दर्शन के इतिहास में काण्ट के महत्व को नकारने का साहस तो किसी में नहीं है। पर राजनीतिक विचारक के रूप में काण्ट को हाशिये का विचारक

(Marginal thinker) समझकर छोड़ दिया जाता है। इसका कारण है कि काण्ट ने योजनाबद्ध ढंग से राज्य के विविध पक्षों और उससे सम्बन्धित जिज्ञासाओं का किसी भी पुस्तक में सांगोपाङ्ग विवेचन नहीं किया है। उसने लेख लिखे हैं और उसकी ढेर सारी कृतियाँ तो उसके जीवन काल में प्रकाशित ही नहीं हुईं। वे कालान्तर में प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त अपने महत्वपूर्ण दार्शनिक कृतियों में उसने प्रसंगात् राजनीतिक जीवन के तात्विक प्रश्न उठाये हैं। इस प्रकार काण्ट के राजनीतिक चिन्तन की देहयाष्टि का गठन हुआ है। इसे कतिपय समीक्षकों ने बड़ी अच्छी तरह पहचांना है। उन्होंने समकालीन इतिहास और दार्शनिक गांभीर्य के योग को उसके राजनीतिक चिन्तन में रेखांकित भी किया है।

'हेनरिख हेन' ने काण्ट के राजनीतिक चिन्तन को 1789 की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का सिद्धान्त (Theory of the French revolution) कहा था। हर्बर्ट मार्क्यूस ने अपनी पुस्तक 'रीजन एण्ड रिवाल्युशन' (Reason and Revolution) में जर्मन प्रत्ययवाद के सम्बन्ध में यही धारणा प्रस्तुत की है। मार्क्यूस के पहले उन्नीसवीं शताब्दी में 'कार्लमार्क्स' ने काण्ट से लेकर हेगल तक के चिन्तन को फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति का चिन्तन कहा था। वाह्न (Vaughan) ने काण्ट के सन्दर्भ में जो टिप्पणी की है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं :

'Kant's doctrine was undoubtedly to recognise in human thought a dignity and creative power..... And here too, in construction no less than in demolition, Kant may be said to reflect, though in a far nobler form, the tendencies of the French Revolution.'

'हैंस रीस' (Hans Reiss) के अनुसार :

'To read Kant's political writings is to scale the heights of philosophical reflection on politics. His political throught should be of interest to all those who value the use of reason in public life.'

काण्ट का राजनीतिक चिन्तन उदारवाद और प्रत्ययवाद का समन्वय है। उदारवादी लक्षण हैं: मनुष्य मूलतः स्वायत्त है; स्वायत्तता का स्रोत उसका आत्मविवेक है; राज्य किसी भी व्यक्ति को स्वायत्त होने के लिए बाध्य नहीं कर सकता; राज्य व्यक्ति के बाह्य आचरण को प्रभावित कर सकता है, उसके नैतिक संकल्प को नहीं; राज्य के कानूनों की नैतिक सीमाएं हैं जिसका उल्लंघन राज्य नहीं कर सकता। राज्य नैतिक संस्थान है लेकिन नैतिकता का पूर्ण रूप नहीं। राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए परिस्थितियाँ सुनिश्चित करनी है। वे परिस्थितियाँ हैं : स्वतंत्र चिन्तन, उसकी अभिव्यक्ति, उसके प्रचार-प्रसार की व्यवस्था और न्यायोचित दण्ड विधान। राज्य का कार्य नैतिक विकास की बाधाओं को दूर करना है। राज्य बाधाओं की बाधा है। अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के नैतिक विकास को प्रभावित करता है, प्रत्यक्षतः नहीं। काण्ट की धारणा थी कि राज्य का कानून नैतिकता पर अधिष्ठित सार्वजनिक न्याय के मापदण्ड के अनुकूल नहीं भी हो सकता है। इसलिए सम्भव है कि राज्य से भूल हो सकतीं हैं। राज्य पूर्ण (Perfect) संस्था नहीं है। उपर्युक्त धारणाओं के नाते काण्ट को उदारवादी कहा जाता है।

काण्ट के चिन्तन के प्रत्ययवादी लक्षण हैः राज्य का अधिष्ठान नैतिक संकल्प है; इसका उद्देश्य व्यक्तियों की स्वार्थ पूर्ति नहीं बल्कि नैतिक स्वायत्तता के अनुरूप परिस्थितियों का निर्माण है; राज्य की आवश्यकता किसी बाह्य परिस्थिति, जैसे प्रसंविदा अथवा शक्ति के नाते नहीं है; इसलिए राज्य आकस्मिक नहीं अनिवार्य है; राज्य अधिकारों का स्रष्टा है; इन अधिकारों के समानान्तर व्यक्ति किसी प्राकृतिक अधिकार का आग्रह नहीं कर सकता; समान स्वतंत्रा के लिए व्यक्ति से अपेक्षित है कि राज्य की आज्ञाओं का अनुपालन करे; व्यक्ति राज्य के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध नहीं कर सकता। उपर्युक्त लक्षणों से स्पष्ट है कि काण्ट ने राज्य के लक्षणों को रेखांकित किया है। यह प्रत्ययवादी दृष्टि है।

इस प्रकार काण्ट में उदारवाद और प्रत्ययवाद का संयोग है। स्पष्ट है कि काण्ट व्यक्तिवादी नहीं है। उसने व्यक्तिवादी स्तम्भों को ध्वस्त किया है। वह प्रसंविदा सिद्धान्त की ऐतिहासिकता को स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार राज्य व्यक्ति की स्वार्थपूर्ति का साधन नहीं है। साधन है किन्तु नैतिक स्वायतत्ता की परिस्थितियों को सृजित करने का। काण्ट के लिए सुख की वृद्धि जीवन का लक्ष्य नहीं है। इसलिए जिन अर्थों में व्यक्तिवादी व्यक्ति को साध्य मानते थे उन अर्थों में काण्ट ने नहीं माना। काण्ट के लिए व्यक्ति के साध्य होने का अर्थ है कि नैतिक स्वायत्तता उसके जीवन का परम लक्ष्य है और जिसे वह अपने संकल्प से ही प्राप्त करता है। इस दृष्टि से वह स्वायत्त है।

काण्ट के राजनीतिक चिन्तन में आदर्श और यर्थाथ का महत्व रेखांकित किया गया है। शनैः-शनैः आदर्श द्वारा यर्थाथ के संशोधन, परिवर्धन और संस्कार के महत्व को रेखांकित किया गया है। काण्ट यथार्थ को स्वीकार करता है उससे आतंकित नहीं होता। इसीलिए वह नैतिक मान्यताओं को शिथिल नहीं करता। इस दृष्टि से काण्ट और 'मेक्यावली' में बड़ा अन्तर है।

काण्ट के चिन्तन ने परवर्ती काल की पीढ़ी को बड़ी गहराई से प्रभावित किया है। 'ह्यूम' के 'संशयवाद' को उसने समाप्त किया। बुद्धि की क्षमता की उसने प्रतिष्ठा की। विज्ञान की सत्ता को बौद्धिक आधार प्रदान किया। पर उसने एक समस्या भी सौप दीः मूल्य तथ्य पार्थक्य (Value fact dichotomy)। काण्ट में इसका स्रोत है 'शुद्ध बुद्धि' (Pure reason) और व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason) का विभाजन। नैतिक मूल्यों का स्रोत मनुष्य में निहित नैतिक स्वायत्तता की क्षमता है। इसका विश्लेषण व्यावहारिक बुद्धि का विश्लेषण है। यह तथ्यों पर आधारित नहीं है। जो तथ्यों पर आधारित है वह शुद्ध बुद्धि (Pure reason) का विषय है, जैसे-विज्ञान। परवर्तीकाल का वस्तुनिष्ठतावादी राजनीतिक सिद्धान्त (Positivist Political Theory) मूल्य तथ्य पार्थक्य पर आधारित हैं। हालाँकि वस्तुनिष्ठतावादी विचारकों की जो दृष्टि मूल्य के प्रति थी वह काण्ट की नहीं थी। वस्तुनिष्ठतावादी विचारक मानते थे कि मूल्य इच्छाओं और आकांक्षाओं की उत्पत्ति है। वे शाश्वत नहीं है। काण्ट मानता था कि वे नैतिक संकल्प की उपज हैं।

काण्ट ने सामान्यजन की क्रान्तिकारिता पर सवाल उठाया है। उसके अनुसार इस प्रकार की क्रान्तिकारिता नष्ट तो करती है किन्तु सृजन नहीं कर पातीं। परवर्ती काल की क्रान्तियों का इतिहास काण्ट के विचारों की सत्यता का साक्षी है। इन क्रान्तियों ने एक प्रकार के अन्याय का विरोध किया तो उसके स्थान पर दूसरे प्रकार के अन्याय की व्यवस्था कर दी। 20वीं शताब्दी के 'सर्वाधिकारवादी तंत्र' (Totalitarian system) इस बात के साक्षी हैं। जब क्रान्तिकारी ने निरंकुशतन्त्रों को जन्म दिया।

काण्ट ने संस्कृति और शिक्षा को प्रधान साधन माना है मूल्य परक राजनीति के लिए। इसीलिए वह स्वीकार करता है कि जब तक समाज की नैतिक चेतना का संस्कार नहीं होता, तब तक कोई सुधार स्थायी नहीं होता। सुधारों के लिये बनाये गये कानून धरे रह जाते हैं और लोग इनकी अवहेलना करते हैं। इसलिए सामाजिक चेतना का परिवर्तन अपेक्षित है। शिक्षा और संस्कृति इसका प्रधान साधन है। अतः काण्ट क्रान्तिकारी नहीं अपितु क्रमिक सुधारों का पक्षधर है।

काण्ट का राजनीतिक चिन्तन आधुनिक युग में प्रथम स्पष्ट प्रत्ययवादी हस्ताक्षर है। प्रत्ययवादी चिन्तन की आधुनिक श्रृंखला की पहली कड़ी। इसकी दूसरी कड़ी है 'हेगल'।

4.18 संदर्भ ग्रन्थ

सामान्यतया राज्यदर्शन पर हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों में काण्ट की चर्चा होती ही नहीं। इसलिए छात्रों को काण्ट से सम्बन्धित अध्ययन सामग्री अंग्रेजी पुस्तकों में ही प्राप्त होगी। कुछ पुस्तकों की सूची नीचे प्रस्तुत की जा रही है :

(i) : H.S. Reiss : Kant's Political Writings.

(ii): William Montgomery Mc. Govern : From Luther to Hitler : The History of Facist; Nazi Philosophy.

(iii): Howard Williams : Kant's Political Philosophy.

(iv): G.A. Kelly : Idealism, Politics and History.

(v): J.G. Murphy : Kant : The Philosophy of Right.

(vi): S. M. Shell : The Right of Reason : A study of Kant's philosophy and politics.

(vii): R.C.S. Walker : Kant.

4.19 संबन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न-

(1) स्पष्ट कीजिए की काण्ट को क्यों उदारवादी प्रत्ययवादी विचारक माना जाता है?

(2) काण्ट के अनुसार राज्य के औचित्य का आधार और राज्य के लक्षण क्या हैं?

(3) काण्ट के अनुसार सम्प्रभुता के क्या लक्षण हैं? इसकी नैतिक सीमाएँ क्या हैं?

(4) क्रान्ति और प्रतिरोध पर काण्ट के विचारों का स्पष्टीकरण कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) काण्ट के लिए समान स्वतंत्रता का क्या अर्थ है ?

(2) कोई एक कारण बताइये जिसके नाते काण्ट ने विचारों की अभिव्यक्ति और उसके प्रचार-प्रसार का समर्थन किया ?

(3) काण्ट की दृष्टि में क्यों लोकतंत्र शासन की प्रणाली नहीं होनी चाहिए?

(4) मनुष्य की सामाजिक असामाजिकता सभ्यता के विकास में किस प्रकार सहायक है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न-

(1) काण्ट के राज्य दर्शन को किस श्रेणी में रखा जाय?

(अ) प्रत्ययवाद (ब) उदारवाद (स) समष्टिवाद (द) उदारवादी प्रत्ययवाद

(2) काण्ट के लिए प्रज्ञोदय का अर्थ है :

(अ) परम्पराओं का बौद्धिक समर्थन (ब) लोकमत का अनुपालन

(स) अन्धविश्वास एवं पूर्वाग्रह से मुक्त (द) असीमित स्वतंत्रता का प्रयोग

(3) लोक तांत्रिक राज्य में निम्नलिखित में से कौन सम्प्रभुता का लक्षण नहीं है?

(अ) अविभाज्यता (ब) अदेयता (स) सर्वोच्चता (द) विधिक सर्वशक्तिमत्ता

(4) काण्ट के अनुसार 'व्यक्ति साध्य है' का अर्थ है?

(अ) व्यक्ति की कामनाओं की असीमित पूर्ति के निमित्त राज्य को कानून बनाना चाहिए।

(ब) व्यक्ति ने स्वार्थों की रक्षा के लिए राज्य की संरचना की है।

(स) व्यक्ति अपने सुख के लिए राज्य की सत्ता का प्रतिरोध कर सकता है।

(द) व्यक्ति की स्वायत्तता विवेक सम्मत प्रागानुभविक नियमों के प्रति सम्मान के नाते आचरण करने में है, न कि किसी बाहरी दबाव के नाते।

4.20 प्रश्नोत्तर

1- द,

2- स

3 - ब

4- द

इकाई 5 - जार्ज विल्हेल्म फ्रेडरिक हेगल 1770-1831

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 हेगल का युग और उसकी चुनौतियाँ
5.3 चिन्तनात्मक समस्याएं
5.4 ऐतिहासिक परिदृश्य एवं उनसे अदभूत समस्याएँ
5.5 दार्शनिक दृष्टि
5.6 द्वन्द्वात्मक तर्कशास्त्र
5.7 फेनामेनालॉजी आफ माइण्ड और स्वामी-दास निदर्श
5.8 स्टोइकवाद और स्केप्टिकवाद का उदय
5.9 इतिहास दर्शन
5.10 राज्य का सिद्धान्त
5.11 वस्तुनिष्ठ चित एवं उसकी अभिव्यक्तियाँ
5.12 मूर्त सार्वत्रिकता का पूर्ण विग्रह : राज्य
5.13 सारांश
5.14 संदर्भ ग्रन्थ
5.15 संबंधित प्रश्न
5.16 प्रश्नोत्तर

5.0 उद्देश्य

प्रत्ययवादी विचारकों में हेगल का प्रमुख स्थान है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आपः

- हेगल के राजनैतिक दर्शन के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- हेगल के चिन्तन की उन विशेषताओं का विवेचन कर सकेंगे जो उसे दूसरे विचारकों से अलग करते हैं।
- हेगल के योगदान का आकलन कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

हेगल का जन्म दक्षिणी जर्मनी के स्टट्गर्ट नगर में 1770 में हुआ। हेगल के पिता अत्यन्त छोटी सरकारी नौकरी में थे। परिवार प्रोटेस्टेण्ट था। प्रारम्भिक शिक्षा स्टट्गर्ट में हुई। 1788 में स्टट्गर्ट जिम्नेजियम में ग्रेजुएट क्लास की शिक्षा सम्पन्न हुई। इसके पश्चात् हेगल ने ट्यूविंजेन विश्वविद्यालय में धर्मशास्त्र की शिक्षा प्रारम्भ की। इसी काल में होल्डरलिन से हेगल का परिचय हुआ। वे भी उसी विश्वविद्यालय में विद्यार्थी थे। दोनों एक साथ डारमेट्री में रहते थे। विश्वविद्यालय की शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त हेगल ने छोटी-मोटी नैकरियाँ प्रारम्भ कीं। 1801 में वह जेना विश्वविद्यालय में प्राइवेट डोजेण्ट के रूप में नियुक्त हुआ। 1801 से 1806 तक वह जेना विश्वविद्यालय

में कार्यरत था। यहीं 1805 में वह प्रोफेसर एक्स्ट्रा आर्डिनेरियस (सहायक आचार्य) नियुक्त हुआ। तत्पश्चात् जेना पर नेपोलियन के आक्रमण के नाते उसे वह नगर छोड़ना पड़ा। 1807 में उसे एक समाचार पत्र में सम्पादन का कार्य प्राप्त हुआ और 1808 में उसे नर्नवर्ग के जिम्नेजियम (उच्च माध्यमिक विद्यालय) में प्राचार्य की नौकरी मिली। यहाँ वह 1816 तक रहा। 1816 में हाइडेलवर्ग विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का आचार्य नियुक्त हुआ। 1818 में वह वर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का आचार्य नियुक्त हुआ और आजीवन उसी विश्वविद्यालय में सेवा करता रहा।

कुछ समीक्षकों की धारणा है कि हेगल की प्रारम्भिक कृतियाँ उसके परिपक्व विचारों के अध्ययन के लिए सहायक नहीं है। इस धारणा के प्रमुख प्रतिनिधि हैं जे0 एन0 फिण्डले (J. N. Findle) । पर अधिकांश समीक्षक स्वीकार करते हैं कि हेगल के परिविक्व विचारों का पूर्वाभास उसकी प्रारम्भिक कृतियों में परिलक्षित होता है। वे प्रमुख समीक्षक हैं- हर्बर्ट मार्क्यूस, जार्ज ल्यूकाच, श्लोमों अविनेरी, रेमण्ड प्लाण्ट और एच0 एस0 हैरिस। इसलिए हेगल की महत्वपूर्ण कृतियों की एक संक्षिप्त सूची अपेक्षित है। यह सूची निम्नलिखित है:

(i) The Positivity of the Christian Religion.

(ii) The German Constitution (1802).

(iii) The Real-Philosophy I (1803-04)

(iv) The Real-Philosophy II (1805-06)

(v) The Phenomenology of Mind (1806)

(vi) The Science of Logic (1812-16)

(vii) The Encyclopaedia of the Philosophical Sciences (1817)

(vii) Philosophy of Right (1821)

(ix) Lectures on History of Philosophy

(x) Lectures on Philosophy of History.

5.2 हेगल का युग और उसकी चुनौतियाँ

हेगल के अनुसार हर लेखक अपने युग का शिशु है। इस दृष्टि से हेगल के विचारों पर समकालीन चिन्तन और समकालीन इतिहास की छाया स्पष्ट है। पर हेगल ने मात्र युग बोध का परिचय ही नहीं दिया। उसने समकालीन धरातल से मनुष्य के वैचारिक और ऐतिहासिक अतीत का सर्वेक्षण भी किया है। उसने विचारों के इतिहास को ऐतिहासिक परिदृश्य और उसके परिवर्तनों को अपने अभिनव तर्कशास्त्र में समाहित कर प्रस्तुत किया। इस प्रकार हेगल के चिन्तन में उसका द्वान्द्वात्मक तर्कशास्त्र और इतिहास दो महत्वपूर्ण आयाम हैं। इन्हीं के सहारे वह समकालीन चुनौतियों का समाधान प्रस्तुत करता है।

चुनौतियाँ दो प्रकार की थीं चिन्तनात्मक और ऐतिहासिक। चिन्तात्मक चुनौतियों का सम्बन्ध दर्शन और राजनीतिक चिन्तन से था। ऐतिहासिक चुनौतियों का सम्बन्ध समकालीन क्रान्तिकारी परिवर्तनों और सामाजिक व्यवस्था की गतिशीलता से था।

5.3 चिन्तनात्मक समस्याएं

इन समस्याओं के अन्तर्गत दार्शनिक और राजनीतिक चिन्तन की समस्याएँ अनुस्यूत हैं-

(i) दार्शनिक समस्याएँ-

ये समस्याएँ ज्ञानमीमांसा जगत और विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों से सम्बन्धित थीं। कैसे विश्वसनीय, प्रामाणिक, संशयमुक्त ज्ञान प्राप्त किया जाय? जगत के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान और जगत में क्या कोई अन्तराल है अथवा नहीं? विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों में क्या और कितना सही

है? मनुष्य के विचार और परिवर्तनशील इतिहास में क्या कोई सम्बन्ध है? धर्म और विवेक की संगति कैसे स्थापित की जाय?

उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर का प्रयास हेगल का संश्लेषणात्मक दर्शन (Synthetic Philosophy) है।

(ii) राजनीतिक चिन्तन की समस्याएँ-

आधुनिक संस्कृति की अभिप्रेरक शक्ति थी-व्यक्ति की श्रेष्ठता। इसकी पुष्टि के आधार थे-सहसम्बन्धात्मक मनोविज्ञान (Associational psychology), अनुभववाद (Impiricism) सुखवाद (Hedonism), और उपयोगितावाद (Utilitarianism) । इसकी निष्पत्ति थीः व्यक्ति साध्य है; प्रकृति, समाज, राज्य और मनुष्यों के आपसी सम्बन्ध साधन। इसकी अभिव्यक्ति हुई बुद्धि और राज्य की साधनात्मक अवधारणा में (instrumental concept of reason and state) अर्थात् बुद्धि भी साधन है और राज्य भी-व्यक्ति की स्वार्थपूर्ति का। अतः न महत्वपूर्ण बुद्धि है, न राज्य। महत्व है तो व्यक्ति की इच्छाओं का। ह्यूम का वाक्यः बुद्धि प्रभुत्वशाली कामनाओं का दास है और होना चाहिए' (Reason should be the slave of passion) । इसी बुद्धि ने एक ओर प्रकृति पर विजय पायी है, तो दूसरी ओर मनुष्य को समझौता के आधार पर राज्य में रहने को प्रेरित किया है। प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति की सम्प्रभुता का रेखांकन है।

हेगल ने उपर्युक्त धारणाओं को नितान्त एकांगी, अपर्याप्त और मूलतः अराजक माना है। उसने समझौता सिद्धान्त और प्राकृतिक अधिकार को तो खारिज कर दिया पर व्यक्तिवाद की समीक्षा की - उसको अतिक्रमित कर।

दूसरी समस्या वस्तुनिष्ठता की समस्या (Problem of positivity) थी। यह तब उत्पन्न होती है जब संस्थाएँ व्यक्ति को नियंत्रित करती हैं। और इस नियंत्रण में व्यक्ति और संस्था के सजातीय सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। तब संस्थाएँ एक वस्तुनिष्ठ, नितान्त परायी और निरंकुश सत्ता के रूप में दीख पड़ती है। व्यक्ति को बिना ननुनच के उनकी आज्ञाओं का पालन करना है।

हेगल के लिए ऐसी बहुत सी संस्थाएँ आधुनिक युग में सत्तारुढ़ थीं। इनकी सत्ता को समाप्त किये बिना किसी समरस समाज अथवा राज्य की स्थापना संभव नहीं। वस्तुतः यह, असम्पृक्त व्यक्तिनिष्ठता (Alienated subjectivity) और निर्जीव वस्तुनिष्ठता (lifeless objectivity) की समस्या थी। इस व्यवस्था में स्वतंत्रता का पूर्णतया लोप था।

तीसरी समस्या थी वस्तुनिष्ठता के शासन (rule of positivity) की समाप्ति कैसे हो? अर्थात् खोखली जर्जर संस्थाओं को समाप्त कैसे करें? हेगल के समय में फ्रांस की राज्य क्रान्ति 1789 ने इन्हें समाप्त करने की कोशिश की। हेगल यह तो मानता है कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति 1789 ने मनुष्य की चेतना की सत्ता को प्रतिष्ठित किया। विचारों की गरिमा और उनका प्रभाव फ्रांस की राज्य क्रान्ति में परिलक्षित हुआ, व्यक्ति के अधिकार प्रतिष्ठित हुए। इसलिए फ्रांस की राज्य क्रान्ति व्यक्ति की स्वतंत्रता का आग्रह था। किन्तु यह स्वतंत्रता अमूर्त स्वतंत्रता थी और अमूर्त स्वतंत्रता अनुशासन विहीन और असंयमित होती है। यह संस्थाओं का विनाश कर सकती है जैसा कि फ्रांस की राज्य क्रान्ति 1789 ने किया, किन्तु यह सृजन नहीं कर सकती। चूंकि अमूर्त है इसलिए यह स्वतंत्रता किसी भी संस्था का अनुशासन नहीं मान सकती। फ्रांस की राज्य क्रान्ति अन्ततोगत्वा आतंक के राज्य में परिणत हुई। हेगल ने क्रान्ति के इस पक्ष को स्वीकार नहीं किया। इससे उसने दो निष्कर्ष निकाले-पहला स्वतंत्रता अमूर्त नहीं होनी चाहिए। यह वस्तुनिष्ठ हो तो शुभकर है। वस्तुनिष्ठ होती है संस्थाओं में। दूसरा निष्कर्ष था कि सामान्यजन का शासन न संभव है न मंगलमय। इसलिए लोकतंत्र (democracy) का जो रूप क्रान्ति में उभरा था वह स्वीकार्य नहीं था। उसमें सार्वजनिक संकल्प के नाम पर भीड़ की अराजक इच्छाएँ व्यक्त होती हैं। इन्हीं समस्याओं का परिहार उसका राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त है।

चौथी समस्या थी अभिव्यञ्जनावाद (expressivism) और बुद्धिवाद (rationalism) का

समन्वय। यह दोनों प्रवृत्तियाँ आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन से प्रभावित फ्रांसीसी प्रज्ञोदय की मूलभूत मान्यताओं की प्रतिक्रियाएं थी। फ्रांसीसी प्रज्ञोदय ने व्यक्ति को संवेदना, इच्छाओं, संवेगों और विचारों में विभाजित कर दिया था। विश्लेषणात्मक पद्धति से इन्हें एक दूसरे से अलग-थलग किया जा सकता था। व्यक्ति की आभ्यान्तरिक एकता रेशे-रेशे अलग की जा सकती थी। फलस्वरूप व्यक्ति इच्छाओं का दास था। वह स्वायत्त (autonomous) नहीं था। बौद्धिकता का अर्थ था विश्लेषण करके उपादानों को अलग-अलग करना, जैसे मशीन के कल-पुर्जे अलग-अलग किये जा सकते हैं।

जर्मनी में तूफान और तनाव की पीढ़ी में इसकी प्रक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया का पहला रूप था अभिव्यञ्जनावाद। इसके अनुसार व्यक्ति का व्यक्तित्व उसकी मूलभूत एकता में निहित है। यह मूलभूत एकता उसकी भावनाओं में सीमित है। इसी की अभिव्यंजना कला, साहित्य, संगीत में परिलक्षित है। व्यक्ति की तरह किसी जाति अथवा देश की भी मूलभूत एकता उसकी आस्थाओं और उसके विश्वासों में केन्द्रित है। उसके सामूहिक सांस्कृतिक जीवन में वह व्यक्त होती है। फ्रांसीसी प्रज्ञोदय की दूसरी प्रतिक्रिया थी बुद्धिवाद। इसके अनुसार मनुष्य मूलतः स्वायत्त प्राणी है। स्वायत्तता उसकी आत्मचेतना का विशिष्ट गुण है। यह उसके बौद्धिक संकल्प में व्यक्त होती है, इसी की अभिव्यक्ति में वह संतुष्ट होता है। यह दोनों प्रतिक्रियाएँ एक दूसरे के समानान्तर हैं। पहली प्रतिक्रिया में भावना का महत्व है और दूसरी में विवेक का। दोनों का संयोग हेगल की बौद्धिक संकल्प (rational will) की अवधारणा है।

5.4 ऐतिहासिक परिदृश्य एवं उनसे उद्भूत समस्याएँ

राजतंत्रों की निरंकुशता, सामन्तों का प्रभाव, ईसाई पादरियों का वर्चस्व और उनका धार्मिक नियंत्रण इन सब की प्रतिक्रिया में उद्भूत फ्रांस की राज्यक्रान्ति 1789 और उससे उद्भूत जनता की निरंकुशता, अराजकता, नये संस्थानों के सृजन का अभाव, स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता, स्वतंत्रता और समानता का अन्तर्विरोध, राष्ट्रीयता का उदय, व्यक्ति के स्वार्थों पर आधारित बाजार की आर्थिक व्यवस्था का प्रसार-यह सब हेगल के समकालीन यूरोप का परिदृश्य था। उसके समकालीन जर्मनी की स्थिति थी-अनेक राज्यों में जर्मनी का विभाजन, व्यक्तियों की स्वार्थपरता और राज्यों की निरंकुशता, नागरिक और राज्य के बीच मशीन और पुर्जे का सम्बन्ध। हेगल की दृष्टि में व्यक्ति और राज्य अपने स्वार्थ के दायरे में सिमट गये थे। फलस्वरूप जर्मन राज्य का कोई स्वरूप ही नहीं था।

इस परिप्रेक्ष्य में हेगल ने अपने दर्शन और राजनीतिक चिन्तन को प्रस्तुत किया है।

उसका दर्शन संश्लेषणात्मक है। विचार,जगत, इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, नैतिकता अधिनियम, परिवार,आर्थिक संस्थान और राज्य- इन्हें एक सूत्र में पिरोने की कोशिश उसने की है। इसके लिए विचारों का इतिहास और मानव जाति का इतिहास एक ही सिक्के के दो पहलू है। वह कहता था : **all being is thought realized, all becoming a development of thought** अर्थात् विचार चित की पूर्णता है। बाह्य जगत में उसका रूपायन अर्थात् अनुकृति (becoming) विचारों का विकास है।

राजनीतिक चिन्तन में यूनानी नगर राज्यों की संस्कृति में रूपायित व्यक्ति और नगर राज्य की संवेदनात्मक एकता (emotional integrity) और आधुनिक यूरोप में उभरते हुए मुक्त बाजार की व्यवस्था पर आधारित आर्थिक प्रणाली और उसमें निहित व्यक्ति की आत्मचेतना की आंशिक अभिव्यक्ति के फलस्वरूप स्वार्थ पर आधारित आपसी प्रतिद्वन्दिता-इन दोनों का समन्वय हेगल का राजनीतिक चिन्तन है।

उपर्युक्त दोनों प्रस्तरों के विचारों को हेगल ने निम्न सूत्र में संक्षिप्त किया हैः "The ratio-

nal is real; the real is rational."

5.5 दार्शनिक दृष्टि

हेगल का दार्शनिक चिन्तन परम्परागत दार्शनिकों के चिन्तन से भिन्न है। इसकी भिन्नता का आधार है उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Method)। इसके नाते दर्शन के स्वभाव और चरित्र में हेगल ने परिवर्तन कर दिया है। व्याख्या की प्रक्रिया में नीचे के प्रस्तरों में यह बात स्पष्ट होगी। उसकी मूल दार्शनिक स्थापनाएं निम्नलिखित हैं-

(1) : विश्व चेतना अथवा विश्व बुद्धि (World spirit on world reason) ही सृष्टि के विधान में अभिव्यक्त हुई है। हेगल का वाक्य है :

'Reason is the sovereign of the world. The history of the world therefore presents us with a rational process...... This Idea or Reason is the True, the Eternal, the absolutely powerful Essence. It reveals itself in the world and in the world nothing else is revealed but this and its honor and glory.'

(2): यह विश्वबुद्धि या विश्वचेतना व्यक्तियों की तर्क क्षमता से भिन्न है। तर्क क्षमता विश्लेषणात्मक होती है। काण्ट का अनुसरण करते हुए हेगल ने इसको 'understanding' कहा है। यह वस्तुतः विश्लेषणात्मक तर्क शक्ति हैं। 'understanding' वस्तुओं को अलग-थलग काट-छाँट कर प्रस्तुत करती है। इससे भिन्न विश्वबुद्धि या विश्वचेतना सम्पूर्ण को संश्लेषित करती है और एक व्यापक उद्देश्य के विधान में सम्पूर्ण सृष्टि को बाँधकर प्रस्तुत करती है।

(3) : understanding को जर्मन भाषा में 'Verstand' और 'reason' को Vernunft कहते थे। 'verstand' अथवा understanding के लिए हिन्दी अर्थ 'अवबोध' तथा 'vernunft' अथवा reason के लिए हिन्दी अर्थ बुद्धि है। इससे भिन्न बुद्धि तत्व मीमांसा प्रस्तुत करती हैं :

'Reason is direct spiritual perception, the ability to penetrate behind the shadows of formal logic and see the fundamental realities which lie beneath.

इस प्रकार बुद्धि अन्तः शक्ति सम्पन्न अन्तर्दृष्टि है। संवेद्य और दृश्यमान के मूल में जाकर उसके सत् (reality) को उद्घटित करना अर्न्तदृष्टि के बिना सम्भव नहीं। इसी नाते बुद्धि की क्षमता संश्लेषणात्मक है।

(4) : विश्वचेतना प्राणि जगत में चेतना के रूप में व्यक्त होती है। पशु और मनुष्य दोनों चेतन हैं। चेतन होने के नाते दोनों बाह्य जगत के सम्पर्क में आते हैं। पशु भी दीवार देखता है और मनुष्य भी। पर पशु और मनुष्य दोनों के देखने में अन्तर है। इस अन्तर का आधार है : पशुमात्र चेतन है और मनुष्य आत्मचेतन। अर्थात् आत्मचेतना हेगल के अनुसार मनुष्य का लक्षण है। पशु का नहीं। इस नाते पशु और मनुष्य के दीवार देखने में अन्तर होगा। पशुमात्र उसे देख लेगा और तात्कालिक अनुभव के आधार पर अगर दीवार की ओर बढ़ रहा होगा तो रूककर लौट जायेगा, किन्तु मनुष्य जब दीवार देखेगा तो उसके मन में तरह-तरह के सवाल उठ सकते हैं। यह दीवार किसकी है, किसने बनाई, किस उद्देश्य से बनायी, किस चीज से बनाई? इत्यादि।

(5) : इस अन्तर के नाते आत्मचेतना जगत के सम्पर्क में आने पर मात्र निष्क्रिय द्रष्टा नहीं है, पशु निष्क्रिय द्रष्टा है। आत्मचेतना मनुष्य को सक्रिय द्रष्टा बनाती है। सक्रिय इसलिए कि मनुष्य

बाहरी जगत को देखता ही नहीं है। वह अपनी समझदारी के लिए उस जगत का एक ढाँचा निर्मित करता है। इन अर्थों में उसकी आत्मचेतना बाह्य जगत की सृष्टि करती है। अतः हेगल मानता है कि आत्मचेतना ही जगत में सक्रिय है। बाहरी सृष्टि इसकी रचना है। इस रचना संसार में इतिहास, धर्म, संस्कृतियाँ, निगम, संस्थाएँ, राज्य सभी कुछ समाहित है अर्थात् ये सब आत्मचेतना की सृष्टि हैं।

(6) : आत्मचेतना पूर्णाभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील है। यह पूर्णाभिव्यक्ति कालक्रम में परिलक्षित होती है। इसलिए विचारों का इतिहास और बाह्यजगत में मनुष्य का इतिहास, धर्म, सभ्यता, संस्कृतियाँ, सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक संस्थाएँ आत्म-चेतना के विस्तार की अभिव्यक्तियाँ हैं।

(7) : आत्मचेतना का मूल स्वभाव स्वतंत्रता है। इसलिए आत्मचेतना का विस्तार स्वतंत्रता का विस्तार है। इसी विस्तार और उसके रूपायन का विवरण और विवेचन हेगल की कृतियों में उपलब्ध है।

(8) : स्वतंत्रता का विस्तार एक निश्चित प्रक्रिया के अनुरूप है। वह प्रक्रिया हेगल का तर्कशास्त्र है। अरस्तू से प्रभावित परम्परागत औपचारिक तर्कशास्त्र (formal logic) से नितान्त विशिष्ट हेगल ने इसे द्वन्दात्मक तर्कशास्त्र (Dialectical logic) की संज्ञा से अभिहित किया है।

5.6 द्वन्द्वात्मक तर्कशास्त्र (Dialectical Method) -

डाइलेक्टिक (dialectic) शब्द यूनानी भाषा के 'dilago' से गढ़ा गया है। इसका एक निदर्श (Model) संवाद (dialogue) है। प्राचीन एथेन्स में सुकरात और सोफिस्टो के बीच विचार विमर्श का निदर्श संवाद था। प्लेटों की कृतियों का स्वरूप भी संवादात्मक है। संवाद में पहले कोई पक्ष अपनी स्थापना करता है। दूसरा पक्ष उस स्थापना का परीक्षण और विवेचन करता है। परीक्षण की प्रक्रिया में स्थापना से ही एक दूसरी स्थापना निःसृत होती है जिसका मूल स्थापना से अन्तर्विरोध होता है। फिर विमर्श के दौरान इन दोनों स्थापनाओं से एक तीसरी स्थापना विवेचन के उपरान्त जन्म लेती है जो पहली और दूसरी दोनों स्थापनाओं से भिन्न है पर जिसमें दोनों स्थापनाओं के कुछ तत्व सन्निहित है। तीसरी स्थापना पहली दो स्थापनाओं का पूर्ण नहीं बल्कि आंशिक निषेध है। तीसरी स्थापना विमर्श के उपरान्त पुनः अपने अन्तर्विरोध को जन्म देती है। यह अन्तर्विरोध चौथी स्थापना है। तीसरी और चौथी के विमर्श के उपरान्त पांचवीं स्थापना जन्म लेती है जिसमें तीसरी और चौथी के आंशिक निषेध भी है तथा उनके तत्व भी सन्निहित हैं।

यही सुकरात की संवाद पद्धति (Dialogic method) है। इसी शैली में प्लेटो ने अपनी कृतियाँ लिखीं। इस शैली के नाते प्लेटों की कृतियों को प्लेटो के डाइलाग्स (Dialogues of Plato) कहते हैं। संवाद की शैली द्वन्द्वात्मक होने के नाते इस पद्धति को डाइलेक्टिक्स कहते हैं। हेगल के द्वन्द्वात्मक तर्कशास्त्र का यह आदि स्रोत है।

द्वन्द्वात्मक तर्कशास्त्र के निम्नलिखित सिद्धान्त है :-

(1): प्रत्येक दार्शनिक स्थापना, विचार, ऐतिहासिक घटनाएं, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं के अन्तर्विरोध उसी के भीतर अन्तर्निहित है। विचार है तो मूल स्थापना में और बाहरी जगत की घटनाएँ और संस्थाएँ हैं तो उन घटनाओं और संस्थाओं में उसके अन्तर्विरोध अथवा उसके दूसरे पक्ष निहित हैं। जब तक अन्तर्विरोध निहित है और प्रकट नहीं होता उस स्थिति को 'वाद (thesis) या (affirmation) कहते हैं।

(2): विचार है तो विवेचन के उपरान्त अथवा कालक्रम में और बाहरी जगत की संस्थाएं और घटनाएं हैं तो परिवर्तनशील इतिहास के कालक्रम में उनके अन्तर्विरोध या उसका दूसरा पक्ष प्रकट होता है। इस स्थित को हेगल ने 'प्रतिवाद' (antithesis या negation) कहा है।

(3): इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत विचारों के क्षेत्र में एक नया विचार उत्पन्न होता है अथवा बाह्य जगत में ऐतिहासिक घटनाओं और संस्थाओं से एक तीसरी स्थिति उत्पन्न होती है। इस तीसरी स्थिति में 'वाद' और 'प्रतिवाद' के तत्व हैं-विचारों के क्षेत्र और बाह्य जगत की संस्थाओं के क्षेत्र में । पर तीसरी स्थिति पहली दो स्थितियों का आंशिक निषेध मात्र है। इसे 'संवाद' (synthesis या negation of the negation) कहते हैं। यह स्थिति पहली दोनों स्थितियों की अपेक्षा उच्चतर है।

उपर्युक्त द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया द्वारा दर्शन और मनुष्य की बाह्य संस्थाओं के क्षेत्र में न केवल परिवर्तन सम्पन्न होता है बल्कि हर परिवर्तन मूलतः विकासोन्मुखी होता है। अतः द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया परिवर्तन की पद्धति और विकास की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया-पथ न ऋजु है, न तिर्यक्। यह चक्करदार सीढ़ी की तरह है। इसे स्पाइरल ग्रोथ (spiral growth) कहा जाता है।

हेगल के चिन्तन के केन्द्र में उसकी आत्मचेतना की अवधारणा है। इस आत्मचेतना के विस्तार और विकास का ऐतिहासिक चित्र उसने अपनी पुस्तक 'फेनामेनालाजी आफ माइण्ड (Phenomenalogy of Mind) में प्रस्तुत किया है। हेगल के लिए ऐतिहासिक सन्दर्भ अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। इसलिए उसके लिए दर्शन, दर्शन का इतिहास है। आत्मचेतना का स्वरूप आत्म-चेतना का इतिहास है। फ़ेनामेनालॉजी में हेगल ने आधुनिक युग को जानने के लिए मनुष्य के सुदूर अतीत की यात्रा की है।

5.7 फेनामेनॉलाजी आफ माइण्ड और स्वामी-दास निदर्श (Phenomenalogy of mind and master - slave model)

हेगल का यह ग्रन्थ उसके चिन्तन के विभिन्न अंगों को एक सूत्र में पिरोता है। इस ग्रंथ के पश्चात् लिखी हुई कृतियों के विचारों को समझने के लिए उक्त ग्रन्थ के विचारों का बोध अपेक्षित है।

इस ग्रन्थ में हेगल ने मानवीय आत्म चेतना की जीवन कथा विवेचित की है। इस जीवन कथा को सुदूर अतीत से उठाया है और उसी अतीत के ऐतिहासिक सन्दर्भों के समानान्तर कथा प्रवाह को निरूपित किया है। इसलिए आत्मचेतना का कथा प्रवाह ऐतिहासिक सन्दर्भों के समानान्तर निरूरित किया गया है। इसलिए आत्मचेतना की कथा प्रवाह ऐतिहासिक सन्दर्भों कों निरन्तर दृष्टि में रखती है। स्वतः हेगल ने अपने युग के ऐतिहासिक सन्दर्भ में इस जीवन कथा की समीचीनता स्वीकार की है। पुस्तक की प्रस्तावना में उसने लिखा है:

'It is not difficult to see that our epoch is a birth time, and a period of transition. The spirit of man has broken with the old order of things hitherto prevailing, and with the old ways of thinking ...'

उपर्युक्त उद्धरण में हेगल ने परिवर्तन, बुद्धि, विकास और परिपक्व प्रक्रिया में निहित विस्फोटक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। पहले मात्रात्मक परिवर्तन (Quantitative change) होता है और वही गुणात्मक परिवर्तन (Qualitative change) में अन्ततोगत्वा रूपान्तरित होता है। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की इसी त्रिपदीय पद्धति से आत्मचेतना की कथा को ऐतिहासिक सन्दर्भों से जोड़कर हेगल ने प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक के मुख्य विचार निम्नलिखित हैं:-

1: दर्शन का स्वरूप-

दर्शन का अर्थ है दर्शन का इतिहास। इसमें प्रयुक्त दार्शनिक प्रत्ययों का अर्थ स्थिर नहीं गतिशील है। इस गतिशीलता का आधार है प्रत्ययों में निहित अर्थ की परिवर्तनशीलता। इससे स्पष्ट होता है कि एक ही प्रत्यय के परस्पर विरोधी अर्थ सम्भव हैं। इसी नाते दर्शन के इतिहास में परस्पर विरोधी दार्शनिकों के विचार दीख पड़ते हैं। वे एक दूसरे को गलत काटने का प्रयास करते हैं। हेगल

की दृष्टि उन परस्पर विरोधी विचारों को खारिज करने की नहीं है। वह उन्हें आत्मचेतना के विकास के इतिहास में अपूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है। उसकी शैली थी कि किसी विचार की समीक्षा करते समय उसे गलत न बताकर उसे अपूर्ण बताया जाय और फिर उसका अतिक्रमण किया जाय। इसी नाते दर्शन, दर्शन का इतिहास है।

2: जैविकतावाद :-

जैविक निदर्श (organismic model) एक कुंजी है हेगेल के विचारो का रहस्य खोलने के लिए। इस निदर्श का अर्थ है - (i) अंगी (organism of body, के बिना अंग (part of body) का अस्तित्व है ही नहीं (ii) अंगी के विभिन्न अंग अन्योन्याश्रित सम्बन्धों में बंधे हैं। (iii) ये अंग एक दूसरे से श्रेणीबद्ध रूप में सम्बन्धित है। (iv) इस श्रेणीबद्धता का कारण है अंगों के प्रकार्य का विभाजन (Division of function) । उक्त ग्रंथ में यह निरूपित होता है विभिन्न धर्मो, संस्कृतियों, परम्पराओं और संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्धों और आत्मचेतना के विभिन्न श्रेणीबद्ध अभिव्यक्तियों में।

3: ऐतिहासिकतावाद :-

इस ग्रन्थ में हेगल के इतिहास दर्शन का प्रधान स्फुरण परिलक्षित है। इसका पूर्ण रूप उसकी पुस्तक 'लेक्चर्स ऑन दी फिलॉसफी आफ हिस्ट्री' में निरूपित है। ऐतिहासिकतावादी दृष्टि के अनुसार इतिहास मात्र घटनाओं का लेखा-जोखा नहीं, वह पटवारी की खाता-खतौनी नहीं। उन घटनाओं का मर्म, उसका अर्थ, कालप्रवाह में उसकी एक सूत्रता और इस प्रवाह में अनुस्यूत निरन्तर अधिकाधिक मुक्त अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्नशील स्वतंत्रता का विधान-इन सबका निरूपण इतिहास है। दूसरे अर्थों में हेगल की जिज्ञासा इतिहास की अर्थमीमांसा है। इस ग्रंथ में यह आत्मचेतना के इतिहास की अर्थ मीमांसा है।

4: ज्ञाता और ज्ञेय का मिश्रण :-

ज्ञाता ज्ञेय का तटस्थ द्रष्टा नहीं है अर्थात् निष्क्रिय ज्ञाता नहीं है। वह सक्रिय ज्ञाता है। इसका अर्थ है कि ज्ञाता ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञेय को अपने ढंग से निर्मित करता है और उसी प्रक्रिया में अपनी आत्मचेतना, अपनी क्षमता, और स्वतः अपने को भी रुपान्तरित करता है। यह आत्मचेतना के परिष्करण की प्रक्रिया है । उक्त ग्रन्थ में इसी का चित्रण है।

उपर्युक्त विचारों के परिप्रेक्ष्य में 'फेनामेनालॉजी' के शेष विचारों का बोध सम्भव है:-

1: स्वामित्व और भौतिक जगत :-

आत्मचेतना की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य को भौतिक जगत का ऐन्द्रिक बोध होता है। यह जगत पदार्थों से निर्मित है। मनुष्य में इच्छाएँ होती हैं और बलवती इच्छा है शरीर संरक्षण की। इसके निमित्त मनुष्य प्राकृतिक वस्तुओं का अधिग्रहण करता है जैसे पेड़ पर पके फल तोड़कर शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति करता है। लेकिन वह इतने से ही संतुष्ट नहीं होता। वह इन वस्तुओं पर आधिपत्य स्थापित करता है। इसलिए स्वामित्व के द्वारा वह संतुष्ट होता है। स्वामित्व का अर्थ है किसी वस्तु की सत्ता का निषेध करना। हेगल के लिए यह नकारात्मकता की शक्ति (power of the negativity) अथवा मरण का सिद्धान्त (principle of death) है।

समस्या प्रारम्भ होती है जब मनुष्य वस्तुओं के अतिरिक्त मनुष्यों पर आधिपत्य स्थापित करना चाहता है, क्योंकि जिस पर आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास किया जाता है वह भी इसी काम में लगा है - आधिपत्य स्थापित करने में। फलस्वरूप उनमें संघर्ष होता है और वे एक दूसरे को समाप्त करना चाहते हैं। पर मनुष्य दूसरे मनुष्य के विरोध को जीतना ही नहीं चाहता बल्कि वह चाहता है दूसरे मनुष्य उसके वर्चस्व, उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार करें। यह इच्छा प्राकृतिक पदार्थों पर स्वामित्व की इच्छा की अपेक्षा बलवती है। दूसरा व्यक्ति श्रेष्ठता स्वीकार करे इसके लिए आवश्यक है कि दूसरे व्यक्ति का अस्तित्व बना रहे तभी मुझे अपने व्यक्तित्व के महत्व का बोध होगा। इस प्रकार हेगल के लिए एक व्यक्ति को उसके अस्तित्व के महत्व के बोध के लिए दूसरे व्यक्ति का अस्तित्व

आवश्यक है। अतः हेगल के लिए बिना दूसरे के अस्तित्व के एक व्यक्ति अपने को ठीक तरह से जान ही नहीं सकता। हर व्यक्ति एक दूसरे के अस्तित्व के लिए दर्पण है।

इसका यह निष्कर्ष है कि अगर एक व्यक्ति दूसरे की हत्या में सफल हो जाय तो दो प्रकार से उस व्यक्ति की हानि होती है। पहली हानि है कौन है जो उस व्यक्ति की श्रेष्ठता स्वीकार करेगा। जिसको स्वीकार करना था वह तो मर गया। इसलिए दूसरों की स्वीकृति से जो संतोष एक व्यक्ति को प्राप्त होता है उससे वह वंचित हो जायेगा। दूसरी हानि है कि दूसरे व्यक्ति के नाते ही एक व्यक्ति को अपने अस्तित्व के महत्व का बोध है। उसकी मृत्यु के उपरान्त वह अपने अस्तित्व के महत्त्व का बोध कैसे करेगा।यह दो हानियाँ हैं-श्रेष्ठता की स्वीकृति से उत्पन्न संतोष का अभाव और अपनी अस्मिता के बोध का अभाव।

2: स्वामी-दास सम्बन्ध (Master and Slave Relationship) :-

फेनामेनालाजी के स्वामित्व और दासत्व (Mastery and slavery अथवा lordship and bondage) नामक अध्याय में हेगल ने जिस निदर्श को प्रस्तुत किया है वह हेगल के आधुनिक समाज की व्याख्या के सन्दर्भ में अत्यन्त समीचीन है। कार्ल मार्क्स ने इस अध्याय को हेगल के दर्शन का उपयुक्त स्रोत और सुराग (the true birth place and secret of Hegelian philosophy) माना है। प्लेमेनाट्ज़ के अनुसारः

'With Hegel's doctrine of the master and the slave, we come to the part of his Phenomenalogy which is of peculiar interest to the social and practical theorist; and that part is in fact the major part.'

यश, सम्मान और श्रेष्ठता की स्वीकृति अन्ततोगत्वा कमजोर मनुष्य पर बलवान के नियंत्रण में व्यक्त होती है। जो बलवान है वह स्वामी (Lord अथवा master) है। जो कमजोर है वह दास (slave अथवा bondsman) है। दास होने के नाते दास के भीतर के मनुष्य का अस्तित्व अथवा उसकी अस्मिता अथवा उसका व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। वह जीवित मनुष्य है। व्यक्ति नहीं, सम्पत्ति है, एक प्रकार की जीवन्त सम्पत्ति इसलिए मात्र एक साधन है। स्वामी-दास सम्बन्ध संवाद है जीवन अभिलाषा तथा यश-प्राप्ति और मृत्यु सिद्धान्त के क्रमशः वाद और प्रतिवाद का।

स्वामी-दास सम्बन्ध के निम्नलिखित लक्षण हैं :-

1: दास स्वामी की श्रेष्ठता को स्वीकार करता है और स्वामी दास की उपयुक्तता को। दास श्रम करता है। यह उसकी उपयोगिता है। स्वामी दास द्वारा उपार्जित वस्तु का उपभोग करता है। दास स्वामी की श्रेष्ठता से भयाक्रान्त है। इसलिए वह अपनी स्थिति से समझौता करता है।

2: दास प्रकृति और उसके पदार्थों से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित है। अपने श्रम द्वारा वह प्रकृति से उपार्जन करता है। यह उत्पादन है। अपने श्रम से ही वह प्राकृतिक उपादानों को गढ़ता है। जैसे लकड़ी से हल बनाना। इसलिए प्राकृतिक उपादान से तरह-तरह के समान बनाकर दास निर्माण करता है। दास की मनःस्थिति में ही उसे निर्माता होने का बोध होता है।

3: उपर्युक्त बोध के नाते वह अपनी क्षमता को पहचानता है। इस क्षमता का बोध उसको अपनी निहित क्षमता का बोध कराता है। इस बोध से दास अपने को भी परिवर्तित करता है।

4: अपनी सर्जनात्मक शक्ति का अंदाजा लगने पर उसकी आत्मचेतना परिष्कृत होती है। उसे महसूस होता है कि वह प्रकृति और उसके उपादानों का नियंत्रण और संचालन करता है और इस प्रकार वह अपने को भी सृजित करता है। हेगल के अनुसार श्रम की सर्जनात्मकता उसका विशिष्ट लक्षण है।

5: दास के विपरीत स्वामी का जीवन निष्क्रिय है, भोग प्रधान है। उसे इस बात का बोध है कि वह दास पर आधारित है।

6: दास पर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आधारित होने के नाते स्वामी को यह चिन्ता बनी रहती है कि कहीं दास उसके आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह न कर दे। इस आशंका के नाते स्वामी असंतुष्ट रहता है।

7: स्वामी उपर्युक्त आशंका के नाते असंतुष्ट तो रहता ही है । उसके असंतोष का यह भी कारण है कि स्वामी के व्यक्तित्व और उसकी अस्मिता उसके यश और उसकी श्रेष्ठता को स्वीकृति समान स्तरीय व्यक्ति से नहीं मिलतीं; उसको स्वीकृति मिलती है निम्नस्तरीय व्यक्ति अर्थात् दास से।

8: स्वामी को इस बात का बोध है कि दास अपने श्रम के नाते प्रकृति का संचालन और नियंत्रण करता है। पर वह स्वतः निष्क्रिय है और कुछ कर नहीं पाता। दास से तुलना कर उसको यह एहसास होता है।

उपर्युक्त बिन्दुओं को दृष्टि में रखकर हेगल ने दास और उसकी श्रम शक्ति को इतिहास की एक सर्जक शक्ति माना है।

फेनामेनालॉजी में अब तक आत्म चेतना के प्रारम्भिक स्वरूप का ही का ही वर्णन किया गया है। इससे कुछ निष्कर्ष अनिवार्यतया निःसृत होते हैं : (1) संघर्ष मात्र जैविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए ही नहीं है। यह यश और सम्मान स्वीकृति के लिए भी है। यश और सम्मान प्राप्त करने की आकांक्षा प्राकृतिक आवश्यकता न होकर मनोवैज्ञानिक आकांक्षा है। यह शरीरेतर है। यह प्रमाण है कि आत्मचेतना मूलतः आत्मपरक (spiritual) है। (2) आत्मचेतना में 'मैं' का बोध होता है। जैसे मैं यह चाहता हूँ या मैं सम्मानित हूँ, इत्यादि। जहाँ मात्र चेतना होती है वहाँ मैं का बोध नहीं होता। जैसे पशुओं में उनकी इच्छाएँ हैं पर किसी पशु को यह बोध नहीं है कि यह मेरी इच्छा है। (3) बिना आत्म चेतना के ज्ञान संभव नहीं है। ज्ञान है तो बाहरी संसार में तथ्यों के भेद और समानता की पहचान भी है। उन तथ्यों के आधार पर निर्णय लेने की क्षमता भी है। निर्णय लेने की क्षमता है तो ज्ञान और निर्णय को प्रत्ययों में प्रस्तुत किया जाता है। प्रत्यय भाषागत हैं। इसलिए आत्म चेतना की अभिव्यक्ति के लिए भाषा एक साधन है। भाषा है तो वह सम्प्रेषित की जा सकती है। सम्प्रेषित की जाती है तो दूसरे उसको समझते हैं। चूंकि समझने वाले भी आत्मचेतन प्राणी है इसलिए वे भी निर्णय लेते हैं। इस प्रकार भाषा इस बात का प्रमाण है कि आत्म चेतना बाहरी संसार को अपने ढंग से संरचित करती है। भाषा सम्पन्न आत्म चेतन प्राणी का जीवन अनिवार्यतः सामूहिक होगा- एकान्तिक नहीं। इसलिए आत्मचेतना के लिये सार्वजनिक जगत अपेक्षित है। उसी जगत में उसे यश और सम्मान पाने की अभिलाषा है। वरना 'जंगल में मोर नाचा, किसने देखा?'

5.8 स्टोइकवाद और स्केप्टिकवाद का उदय

यूनानी नगर राज्यों में स्वामी-दास सम्बन्ध सार्वजनिक व्यवस्था का अंग बना रहा। यूनानी नागरिक श्रम से मुक्त नागरिक जीवन में दिलचस्पी लेते रहे। वे नगर राज्य एवं उसकी परम्पराओं से समरस थे। ऐसी स्थिति में स्वामी-दास सम्बन्ध में निहित अन्तर्विरोध अभिव्यक्त नहीं हो पाया। पर जैसे ही नगर राज्य की व्यवस्थाएँ टूटने लगीं साम्राज्य बनने लगे और अन्ततोगत्वा रोमन साम्राज्य का आविर्भाव हुआ, स्वामी-दास सम्बन्ध के अन्तर्विरोध व्यक्त हुए। स्वामी और दास दोनों अपनी बाह्य स्थिति में असंतुष्ट थे। पहला स्वामी होकर भी दास पर आश्रित होने के नाते तो दूसरा स्रष्टा और निर्माता होकर भी स्वामी द्वारा नियंत्रित होने के नाते। इसलिए दोनों ने अपने संतोष का स्रोत बाह्य परिस्थितियों से हटाकर अपने मन की गहराईयों में देखना प्रारम्भ किया। दोनों बाहरी जगत के प्रति उदासीन हो गये। उनके लिए वास्तविक सुख का स्रोत विचारों में था। शरीर भी उनके लिए दासता का एक स्रोत बन गया। वास्तविक सुख और शान्ति इस जगत में नहीं बल्कि इस जगत से तटस्थ होकर चिन्तन और मनन में है। इसलिए स्वामी और दास दोनों स्टोइक साधु बन गये। इपिक्टेटस

(Epictetus) (50-130 ई0 सन्) और रोमन सम्राट मार्क्स अयूरिलियस (Marcus Ayurelius) (121-180 ई0) दोनों ही स्टोइक दार्शनिक थे। दोनों के लिए संसार और प्रकृति के नियमों को जानकर हर परिस्थिति को स्वीकार करते हुए बिना किसी ननुनव के एक व्यक्ति मुक्ति का बोध कर सकता है। विवेक ही सारे जगत का शासन करता है। यह आभ्यान्तरिक स्वतंत्रता (interior freedom) है। इस प्रकार का चिन्तन उन्हीं ऐतिहासिक परिस्थितियों में जन्म लेता है जिसमें यह भय व्याप्त हो कि कहीं गुलाम न बना लिए जायं और नियंत्रित कर लिए जाय। इसके अतिरिक्त शरीर सम्बन्धी नियमों की गुलामी तो बरकरार रहती है। इस नाते स्टोइक दार्शनिक पलायन वादी हो गये। फलस्वरूप वे अपने को विश्व नागरिक (World citizen) मानने लगे।

स्केप्टिकवाद संशयवाद है। यह स्टोइसिज्म में निहित अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति है। स्टोइक स्वामी-दास चेतना से अब भी बंधा हुआ है। शरीरधारी होने के नाते शरीर संरक्षण सम्बन्धी नियमों के अनुपालन के लिए बाध्य है। इस प्रकार संशय उत्पन्न होता है। यह संशय जगत के अतिरिक्त हर सत्ता के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। इसके अनुसार कुछ भी सत्य नहीं है। संशय की प्रक्रिया में मनुष्य के मन का एक पक्ष संशय करता है वह शक्तिशाली पक्ष है। मन का दूसरा पक्ष उस संशय के समक्ष घुटने टेक देता है। दोनों पक्षों में निरन्तर अन्तर्क्रिया होती है। स्केप्टिकवाद भी जगत की उदासीनता का दर्पण है।

दुःखी चेतना का उदय-

स्केप्टिकवाद ने मनुष्य के आभ्यान्तरिक संसार को दो भागों में विभाजित किया। अन्तरात्मा का एक भाग संदेह करता था और दूसरा भाग उस संदेह के सामने घुटने टेकता था। फलस्वरूप विभाजित अन्तरात्मा अनिश्चय के झूले में झूल रही थी। इससे इतिहास में व्यापक तौर पर दुःखी चेतना (unhappy consciousness) का आविर्भाव हुआ। यह एक सांस्कृतिक लक्षण था जो सामाजिक विघटन में परिलक्षित हुआ। यही दुःखी चेतना ईसाई धर्म की धार्मिक चेतना में रूपान्तरित हुई। धार्मिक चेतना की मान्यता है कि मनुष्य के भीतर ईश्वरीय तत्व भी है और भौतिक सांसारिक तत्व भी। ईश्वरीय तत्व सांसारिक अभ्युदय और व्यक्तिगत समृद्धि को नश्वर मानता है। सांसारिक तत्व इसी में लिप्त रहना चाहता है। इसी आन्तरिक अन्तर्विरोध के नाते ईसाई धर्म ने जगत से पृथक ईश्वर की सत्ता को प्रतिपादित किया। उसने पूर्ण सत्ता का प्रतिपादन तो किया और मिथको द्वारा - फादर गॉड, सन ऑफ गॉड, होली ट्रिनिटी और होली घोस्ट का भी प्रतिपादन किया पर यह धर्म चेतना आन्तरिक विभाजन से दुःखी थी। मनुष्य का मन शुभ और अशुभ संकल्पों का कुरुक्षेत्र है। इस संग्राम में मनुष्य की कोई समरसता बाहरी जगत से और उसकी संस्थाओं से नहीं रह गयी। उसे यह संघर्ष अकेले लड़ना था। संसार से उदासीनता की वृद्धि ने व्यक्ति में अकेले पन का एहसास पैदा किया। अकेलेपन का एहसास अलग-थलग पड़ जाने की अनुभूति ही निर्वासन (alienation) है।

बौद्धिक चेतना -

दुःखी चेतना की ईसाई अभिव्यक्ति में स्वतंत्रता की न तो पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव थी और न उसकी अनुभूति ही। कारण स्पष्ट है। ईसाइ चेतना के अनुसार ईश्वर स्वामी है और सभी मनुष्य उसके दास। इसलिए ईसाई धर्म चेतना से स्वामी-दास सम्बन्ध को ईश्वर-मनुष्य सम्बन्ध में रूपान्तरित कर दिया। दासता की मूल चेतना बनी रही। इसलिए आत्मचेतना के मूल स्वरूप स्वतंत्रता की अनुभूति संभव नहीं थी। वह स्थिति फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति तक बनी रही।

हेगल की धारणा थी कि आत्मचेतना की निहित क्षमताएँ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ही उभरती हैं। बुद्धि आत्म चेतना की यात्रा में क्रमशः इतिहास में व्यक्त होती हैं। बौद्धिकता और स्वतंत्रता का समीकरण है। यह समीकरण रूपायित होता है आधुनिक राज्यों के उदय में और यह आत्म चेतना की बौद्धिक अभिव्यक्ति है। पूर्ण सत्य इसी प्रक्रिया से इतिहास में रूपायित होता है- अनुकूल परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता और बौद्धिकता के समीकरण में। इस रूपायन की भी ऐतिहासिक यात्रा है। वही हेगल का इतिहास दर्शन है।

5.9 इतिहास दर्शन

हेगल का इतिहास दर्शन और उसका राजनीतिक दर्शन, चार्ल्स टेलर के अनुसार एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित है। इतिहास दर्शन और राज्य व्यक्तिनिष्ठचित (subjective spirit) या व्यक्तिनिष्ठ बुद्धि (subjective reason) और पूर्णचित या पूर्णबुद्धि (absolute spirit or absolute reason) के बीच में स्थित वस्तुनिष्ठ चित (objective spirit) या वस्तुनिष्ठ बुद्धि (objective reason या mind) के अन्तर्गत विवेचित की गयी है। यह विवेचन तीन सम्बन्धित प्रविप्रेक्ष्यों में समीचीन है-(1) व्यक्ति की नैतिक स्वायत्तता और समष्टि के सार्वजनिक जीवन में अभिव्यंजित विश्वास, आस्थाओं एवं मान्यताओं का समन्वय है। चार्ल्स टेलर (Charles Taylor) के अनुसार आज की पीढ़ी के लिए भी यह नितान्त समीचीन है। (2) हेगल के तत्वशास्त्रीय प्रस्थान में यह समन्वय स्थापित हुआ है - बुद्धि की वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति में। उसका इतिहास दर्शन और राज्य दर्शन इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत भी किया गया है। (3) फ्रांसीसी क्रान्ति और उसके उपरान्त की घटनाओं ने हेगल के समक्ष स्वतंत्रता और व्यवस्था के समन्वय की समस्या उपस्थित की। यह सन्दर्भ हेगल के इतिहास दर्शन और राज्य दर्शन में स्पष्ट उभर कर आया है।

उपर्युक्त तीनों परिप्रेक्ष्य इतिहास और राज्य पर हेगल के विचारों में अत्यन्त स्पष्ट दीख पड़ते हैं। हेगल का इतिहास दर्शन सामान्य अर्थों में इतिहास लेखन नहीं है। उसका उद्देश्य इतिहास की निहित योजना, उसकी बुद्धिपरकता, बौद्धिक और नैतिक अनिवार्यता, एवम् शुभोन्मुखी उद्देश्यपरकता का निरूपण था। इसलिए इतिहास - प्रस्तुति की उसकी शैली, प्रचलित शैलियों से भिन्न है। यह आंखों देखा इतिहास नहीं जैसा की थ्रुसीडाइसिस का था। यह चिन्तनात्मक इतिहास नहीं है जैसा कि पेशेवर इतिहासकार विश्व इतिहास को प्रस्तुत करते हैं। यह किसी देश का इतिहास नहीं है । यह किसी विषय -विशेष का इतिहास नहीं है, जैसे धर्म, कला, संस्कृति और साहित्य का । यह वर्तमान को शिक्षा देने के उद्देश्य और अतीत से सबक लेने का इतिहास नहीं है।

हेगल के लिए इतिहास में निहित विधान को समझना, उसकी अन्तर्ग्रंथित एकता को पहचानना और जिस लक्ष्य की ओर यह अभिप्रेरित है उसका निर्वचन करना - यह इतिहास दर्शन है।

क्या इतिहास में कोई निहित विधान है? और यदि है तो इसे जाना कैसे जाय? इतिहास का परिदृश्य तो उत्थान-पतन, युद्ध शान्ति, सहयोग, हिंसा, रक्तपात का संयोग है। जो बाह्य रूप में दीख पड़ता है वह इतिहास की त्रासदी है। हेगल के लिए यह 'इतिहास का आतंक (Terror of History) है। बहुधा अन्याय, उत्पीड़न, अत्याचार और अत्याचारी की विजय इतिहास में दीख पड़ती है। कितनी बार न्यायप्रिय, संवेदनशील, निर्मल और नैतिक विचारकों, दार्शनिकों, उपदेशकों और राजनेताओं का इतिहास की वेदी पर बलिदान हुआ है। जो अशुभ (evil) है जीत उसकी हुई है और शुभ पराजित हुआ है। ऐसी स्थिति में कैसे समझा जाय कि इतिहास में मंगलप्रद योजना अनुस्यूत है; कि इसकी प्रक्रियाएँ बुद्धि सम्मत है; कि जो कुछ घटित होता है वह उच्चतर नैतिक विकास की ओर अभिप्रेरित है।

यह समझा जा सकता है कि हेगल के अनुसार जो बुद्धि सम्मत है वही यथार्थ है, जो यथार्थ है वही बुद्धि सम्मत है (The Rational is Real and the Real is Rational) । हेगल के अनुसार इतिहास की सभी घटनाएँ, महत्वपूर्ण नहीं है। बहुत कुछ ऐसा है जो धरातल पर घटित होता है वह प्रतिभासिक (appearance) है। जो प्रातिभासिक है वह यथार्थ नहीं। ऐतिहासिक यथार्थ का महत्व स्थायी है। यह ऊपरी धरातल पर दीख नहीं पड़ता। यह तत्वशास्त्रीय योजना में बंधकर ही स्पष्ट होता है। तब ज्ञात होता है कि अशुभ भी प्रकारान्तर से मंगल और शुभ के रूपायन का एक साधन है। अतः शुभ पर अशुभ का विजय हिंसा, उत्पीड़न, रक्तपात, अन्याय- ये सभी इतिहास की अन्तर्निहित योजना के अन्तर्गत न केवल अनिवार्य है बल्कि स्वीकार्य भी हैं। जो कुछ घटित होता है उसे घटित होना था और घटित होना चाहिए था। यह एक प्रकार से ऐतिहासिक यथार्थ पर औचित्य की मुहर लगानी है। इसके नाते हेगल की बड़ी आलोचना हुई। पर यह दृष्टि

हेगल के द्वन्द्वात्मक तर्कशास्त्र की त्रिपदीय प्रक्रिया से संगत है। इतिहास में शुभ और अशुभ दोनों का महत्व है- इसे कार्लमार्क्स ने बहुत अच्छी तरह पहचाना था।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में हेगल के इतिहास दर्शन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

(1) इतिहास ईश्वरीय विधान का समर्थन (theodicy) है। हेगल का ईश्वर स्वर्ग में बैठा कोई व्यक्तिगत ईश्वर नहीं है। वह वस्तुतः पूर्ण चित (absolute spirit) है जो निरन्तर अपने को इतिहास में व्यक्त कर रहा है। हेगल के अनुसार :

' The goal of world history is that spirit come to a knowledge of what it truly is, that it give this knowledge objective expression, realize it in a world which lies before it, in short, produce itself as an object for itself.'

(2) इतिहास बुद्धि (reason) की अभिव्यक्ति और उसका विस्तार है। इसलिए इतिहास की सारी प्रक्रियाएँ निरर्थक नहीं है। बुद्धि इनकी व्याख्या कर सकती है और जिस लक्ष्य की ओर गतिशील है उनको रेखांकित कर सकती है। यह बुद्धि की अनिवार्यता है कि वह अपने को वस्तुनिष्ठ संस्थानों और संस्थाओं में रूपायित करे। स्वभावतः वह अपने में सिमट कर नहीं रह सकती है। हेगल के अनुसार :

'Further, world history is not the verdict of mere might, i.e. the abstract and non-rational inevitability of a blind destiny. On the contrary, since mind is implicity and actually reason, and reason is explicit to itself in mind as knowledge, world history is the necessary development, out of the concept of mind's freedom alone, of the moments of reason and so the self-consciousness and freedom of mind.'

(3): इतिहास स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति एवं विस्तार है। आत्मचेतना का मूल रूप स्वतंत्रता है। इस सम्बन्ध में हेगल कहता है:

'As the essence of matter is gravity, so on the other hand, we may affirm that the substane, the essene of spirit is freedom.'

हेगल के अनुसार गुरुत्वाकर्षण शक्ति पदार्थ को परिचालित करती है। उसी प्रकार आत्मचेतना स्वतंत्रता बोध से अभिप्रेरित है। चूंकि आत्मचेतना मूलतः बुद्धि का ही स्फुरण है इसलिए स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति बुद्धि संगत है और बुद्धि की अभिव्यक्ति स्वतंत्रता-संगत । इतिहास में जो कुछ अभिव्यक्त हो रहा है वह बुद्धि और स्वतंत्रता दोनों की संयुक्त अभिव्यक्ति है। अतः जो बुद्धि संगत नहीं वह स्वतंत्रतावाची नहीं। जो स्वतंत्रतावाची नहीं वह बुद्धि संगत नहीं। सरल शब्दों में यह अर्थ होगा कि स्वच्छन्दता स्वतंत्रता नहीं और निरंकुशता भी स्वतंत्रता नहीं। दोनों स्थितियों में बुद्धि का अभाव है। वे ही स्वतंत्र हैं जो विवेक सम्मत आचरण करते हैं और वही आचरण विवेक सममत है जो किसी राज्य अथवा राष्ट्र अथवा देश की परिनिष्ठित परम्परा की संस्थाओं में वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति के अनुरूप हों। इस प्रकार नैतिक मान्यताएँ, आचरण के मापदण्ड, इच्छा विशेष - चाहे व्यक्ति की इच्छा हो चाहे शासक की- के सापेक्ष नहीं हैं। ये मान्यताएं किसी व्यक्ति की उच्चतर नैतिक चेतना या अन्तरात्मा के सापेक्ष भी नहीं है। ये मान्यताएँ ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में परम्परा द्वारा परिनिष्ठित हैं और संस्थाओं में व्यक्त होती हैं। बुद्धि और स्वतंत्रता के सम्बन्ध पर हेगल के दो उद्धरण प्रस्तुत हैं :

(i) 'It is only an inference from the history of the world, that its development

has been a rational process.'

(ii) 'The history of the world is none other than the progress of the consciousness of freedom.'

(4): इतिहास उन संस्थानों का विकास है जिसमें बुद्धि और स्वतंत्रता का रूपायन सम्पन्न होता है। इसी रुपायन के माध्यम से आत्मचेतना का विस्तार और उसी विस्तार में मनुष्य की निहित क्षमताओं की अभिव्यक्ति संचित है। फलस्वरूप इस प्रक्रिया में मनुष्य अपने नये रूपों का सृजन करता है। इसलिए ऐतिहासिक प्रक्रियाएं सर्जनात्मक प्रक्रियाएँ हैं।

(5): बुद्धि और स्वतंत्रता को रूपायित करने वाले संस्थानों के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रियाएं द्वन्दात्मक तर्कशास्त्र की त्रिपदात्मक प्रक्रियाएं हैं। इस दृष्टि से हेगल ने निम्नलिखित त्रिपदात्मक प्रक्रिया निर्धारित की हैः

(i): 'एशियाई समाजों में सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। स्वतंत्रता की न्यूनतम अभिव्यक्ति उन समाजों में थी। यह न्यूनतम अभिव्यक्ति थी - मात्र एक व्यक्ति की स्वतंत्रता (freedom of the one) । एक व्यक्ति की स्वतंत्रतामूर्त हुई निरंकुश शासन में। इन समाजों में निरंकुश सम्राट ही स्वतंत्र था। यह 'वाद' (thesis) है। इसी 'वाद' में उसका अंतर्विरोध भी निहित था। निरंकुश सम्राट स्वतंत्र होते हुये भी स्वतंत्र नहीं था। वह निरंतर शासितों से भयाक्रान्त और आशंकित था । भय और आशंका के नाते स्वतंत्र होने का कोई अर्थ नहीं था। फलस्वरूप इसके 'प्रतिवाद' का जन्म हुआ।'

(ii): 'प्रतिवाद (antithesis) था कुछ व्यक्तियों की स्वतंत्रता (freedom of the few) । एशिया के बाद ऐतिहासिक प्रक्रिया के अनुक्रम में सभ्यता और संस्कृति का दूसरा रंगमंच उभरता है-यूनानी सभ्यता का। यूनानी सभ्यता के केन्द्र में नगर राज्यों (city state) की व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में यूनानी नगर राज्यों के सभी निवासी नागरिक नहीं थे। निवासियों का एक छोटा वर्ग नागरिक था। यही नगर राज्य की राजनीति में भाग लेता था। इस स्थिति के नाते केवल नागरिक ही स्वतंत्र थे। इसी को हेगल ने कुछ व्यक्तियों की स्वतंत्रता (freeom of the few) कहा है। 'वाद और 'प्रतिवाद' के संघर्ष से संवाद (synthesis) उत्पन्न होता है। यह तीसरी स्थिति है।

(iii): यह तीसरी स्थिति-संवाद की स्थिति-का पूर्ण प्रतिफलन वैधानिक राजतंत्र (constitutional monarchy) के रूप में हेगल के समकालीन यूरोप में बौद्धिक विचार (rational idea) की परिकल्पना में है। नगर राज्यों के पतन और हेगल के समकालीन यूरोप के बीच में सारी ऐतिहासिक प्रक्रियाएँ अन्तरिम प्रक्रियाएं हैं और वैधानिक राजतंत्र के आविर्भाव की भूमिकाएं हैं। इसी वैधानिक राजतंत्र में सभी नागरिक हैं और सभी स्वतंत्र। यह सबकी स्वतंत्रता (freedom of all) है। इस अवस्था में राज्य बुद्धि संगत (rational) है और वस्तुनिष्ठ स्वतंत्रता (concrete freedom) का प्रतिरूप है। इस राज्य में व्यक्तिनिष्ठता (subjectivity) और सार्वजनिकता (universality) दोनों का संयोग है। यह राज्य-नैतिक चेतना को साकार करता है। अतः यह वस्तुनिष्ठ सार्वजनिकता (concrete ununiversality) है। सामाजिक नैतिकता (Social ethics) से शासक और नागरिक सभी अनुवेष्ठित हैं। न शासक स्वेच्छाचारी है, न नागरिक स्वच्छन्द। सभी सामाजिक नैतिकता और परम्परा के संचित विवेक से अनुशासित हैं।

ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में स्वतंत्रता और बुद्धि के विकसित रूप अथवा उन घटनाओं को जो

स्वतंत्रता के विस्तार को संभव बनाती है-उन्हें पहचानना यथार्थ को पहचानना है। इससे इतर इतिहास घटनाओं का घटाटोप, तदर्थ और मात्र संयोगात्मक है। इन्हीं अर्थों में हेगल कहता है कि 'The rational is real and the real is rational.'। यथार्थ (reality) ऐतिहासिक प्रक्रिया में निबद्ध है। इसका पूर्ण प्रतिफलन होगा जब स्वतंत्रता और बुद्धि की पूर्णाभिव्यक्ति इतिहास में वस्तुनिष्ठ रूप में किसी संस्था में व्यक्त होगी। वह दिन इतिहास का अन्त (end of history) का दिन होगा। तभी बौद्धिकता और यथार्थ का पूर्ण तादात्म्य होगा। पर यह भविष्य की बात है। हेगल ने कभी नहीं माना कि उसके समकालीन यूरोप में अथवा प्रशा के राज्य में बौद्धिकता और यथार्थ का पूर्ण तादात्म्य घटित हुआ है।

5.10 राज्य का सिद्धान्त -(Theory of State)

हेगल ने राज्य की चर्चा वस्तुनिष्ठ बुद्धि अथवा वस्तुनिष्ठ चित्त (objective reason or objective mind) के क्षेत्र में समाहित किया है। 'इनसाइक्लोपिडिया आफ फिलॉसफिक साइन्सेस' में हेगल ने चित के दर्शन (philosophy of spirit) सम्बन्धित खण्ड को तीन भागों में विभाजित किया है। ये तीन भाग हैं - आध्यान्तरिक चित (subjective spirit) वस्तुनिष्ठ चित (objective spirit) और पूर्णचित (absolute spirit)। फिलॉसफी ऑफ राइट' में भी राज्य वस्तुनिष्ठ चित (objective spirit) के क्षेत्र में समाहित किया गया है। वस्तुतः पूरी पुस्तक 'फिलॉसफी ऑफ राइट' वस्तुनिष्ठ चित (objective spirit) में समाहित विषयों से सम्बन्धित है। चित का तीसरा क्षेत्र है पूर्णचित (absolute spirit) । हेगल का राज्यदर्शन वस्तुनिष्ठ चित (objective spirit) के अन्तर्गत ही विवेचित किया गया है और वही हमारी व्याख्या का विषय है।

वस्तुनिष्ठ चित वह क्षेत्र है जिसमें मनुष्य की आत्मचेतना मूर्तरूप धारण करती है। मनुष्य स्वभावतः चिन्तनशील प्राणी है। चिन्तन का अर्थ है किसी वस्तु का विश्लेषण करना, उसका मूल्यांकन करना और तदनुरूप निर्णय लेना। चिन्तन की प्रक्रिया में मनुष्य का संकल्प प्रधान है। सोचने की क्रिया प्रत्यावर्तीक्रिया (Reflex action) नहीं है। यह अपने आप घटित नहीं होती। मनुष्य चिंतन की क्रिया को सम्पन्न करता है। इसलिए संकल्प जनित है। चिंतनात्मक क्रिया मनुष्य की स्वतंत्रता का प्रतीक है। वह निर्णय लेता है कि वह इस विषय पर सोच-विचार करेगा। इसलिये वह मनुष्य के मूलतः स्वतंत्र होने का लक्षण है। यह स्वतंत्रता संकल्प की स्वतंत्रता (freedom of the will) है। इस स्वतंत्रता को ठोस रूप प्राप्त होता हैं संस्थाओं में जब भी व्यक्ति अपने सम्बन्ध में सोचता है तो उसे यह बोध होता है कि वह अन्य व्यक्तियों से आबद्ध है। बाह्य जगत से उसकी अर्न्तक्रियाएं उसे स्वतंत्र होने का बोध कराती है। सामाजिक सम्बन्ध, दायित्व और कर्त्तव्य के सम्बन्ध-विधान में व्यक्ति का अस्तित्व है- उससे अलग नहीं। इसलिए इसी सम्बन्ध विधान में मनुष्य के अभिनव रूप उभरते हैं। उसकी सुप्त क्षमताएँ जगतीं हैं। इस प्रकार लोगों के साथ रहना, समष्टिगत जीवन व्यतीत करना मनुष्य की शिक्षा प्रक्रिया है। इसी सन्दर्भ में मनुष्य में संकल्प और व्यक्तित्व का परिष्कार होता है। राज्य व्यक्तित्व के बाह्य विकास का सर्वश्रेष्ठ संस्थान है किन्तु व्यक्ति और राज्य के अन्तराल को भरने के लिए संस्थानों की अपेक्षा है। इस सन्दर्भ में दो प्रमुख संस्थान हैं - परिवार (family) और 'नागरिक समाज' (civil society)।

परिवार 'वाद' है, नागरिक समाज 'प्रतिवाद' है, और राज्य 'संवाद' है। इन्ही संस्थानों के भीतर मनुष्य अपनी व्यक्तिगत अस्मिता को व्यक्त करता है। इनके बिना उसकी आत्मचेतना अमूर्त है। इन संस्थानों में वह मूर्त होती है। अतः ये संस्थान उसकी आत्मचेतना के ही स्वरूप हैं। इन्हीं में

सामाजिक नैतिकता का क्रमिक विकास होता है। इसी नाते हेगल मानता है कि संस्थाएँ वस्तुनिष्ठ चित्त या वस्तुनिष्ठ बुद्धि है। वे मनुष्य के बौद्धिक संकल्प के मूर्त रूप हैं। इस बौद्धिक संकल्प का चरम विकसित रूप सामाजिक नैतिकता है और सामाजिक नैतिकता की अभिव्यक्ति का चरम रूप राज्य है। परिवार, नागरिक समाज और राज्य मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध की तीन विधाएँ हैं। ये विधाएं संकल्पजनित हैं। अन्य व्यक्तियों से व्यक्ति इसमें से किसी एक सम्बन्ध में आबद्ध होता है। पहला सम्बन्ध है 'परिवार' में। इसका आधार है 'सीमित परार्थवाद' (particular altuism) । दूसरा सम्बन्ध है नागरिक समाज में। इसका आधार है, सार्वजनिक स्वार्थवाद (universal egoism).। तीसरा सम्बन्ध है राज्य में। इसका आधार है सार्वजनिक परार्थवाद' (universal altuism)।

(अ) परिवार (Family)-

सामाजिक नैतिकता का प्रथम रूपायन परिवार में होता है। मनुष्य की आत्मचेतना परिवार में अपनी निजता के दायरे को लांघकर परार्थ के सन्दर्भ में व्यक्त होती है। अर्थात् परिवारिक सम्बन्ध स्वार्थ के सूत्र में नहीं बल्कि सद्भावना, सहयोग और सहानुभूति के सूत्र में बंधे होते हैं। परार्थ का यह दायरा बहुत व्यापक नहीं है। बस परिवार तक ही सीमित है। इस लिए एक परिवार के साथ दूसरे परिवार का सम्बन्ध दो अलग-अलग व्यक्तियों के सम्बन्ध सरीखा है। अपने सीमित दायरे में परिवार सीमित परार्थ पर आधारित है। परिवार के दायरे के बाहर परार्थ समाप्त होता है।

हेगल के लिए व्यक्ति की आत्मचेतना व्यापक सार्वजनिक अभिव्यक्ति की दिशा में विभिन्न अवस्थाओं (stages) से गुजरती है। परिवार उसमें एक अवस्था है। पर सीमित होने के नाते आत्मचेतना की यह अपर्याप्त अभिव्यक्ति है।

परिवार समाजीकरण का एक साधन है। चूँकि सभी संस्थाएँ व्यक्ति को सार्वजनिक जीवन में संस्कृत और दीक्षित करती हैं, इसलिए परिवार की भी यही भूमिका है।

एक परिवार कई परिवारों में विभाजित होता है। परिवारों के बढ़ने से उनकी आवश्यकताएँ बढ़ती हैं। वे दूसरे से जटिल सम्बन्धों में बंध जाते हैं। सभी परिवार स्वतंत्र रूप से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में संलग्न हैं। पर इसी नाते वे उस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध में बंधते हैं जिसके नाते एक-दूसरे की आवश्यकताओं में भी वृद्धि होती है। वृद्धि ही नहीं, उसमें नफासत भी आती है। इसलिए एक दूसरे की जरूरतों को पूरा करने के लिए सम्बन्धों का जाल फैल जाता है। इन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति होती है नागरिक समाज (civil society) में।

(ब) नागरिक समाज (Civil Society)

परिवार 'वाद' है- सीमित परार्थ (Limited altruism) पर आधारित। नागरकि समाज प्रतिवाद है-सार्वत्रिक स्वार्थवाद (universal egoism) पर आधारित। आधुनिक युग के पहले भी आर्थिक व्यवस्था के ये स्वार्थ सम्बन्ध थे। यह सम्बन्ध इसलिए अनिवार्य है कि मनुष्य की आवश्यकताएं प्राकृतिक वस्तुओं के सेवन से पूरी होती हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए या उत्पादन के लिए श्रम करना पड़ता है। श्रम मनुष्य और प्रकृति को जोड़ता है। उत्पादित वस्तुओं के उपभोग से वस्तुएँ नष्ट होती हैं। इसलिए वस्तुओं के माध्यम से श्रम और प्रकृति का सम्बन्ध अस्थायी है। यह स्थायी होता है जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को अपनी सम्पत्ति बना ले। सम्पत्ति बनने पर उसका संरक्षण होता है। सम्पत्ति तभी बनती है जब दूसरे स्वीकार करते हैं। अतः सम्पत्ति की स्वीकृति से मनुष्य में निहित दूसरों से स्वीकृत होने की लालसा तृप्त होती है। इस प्रकार वस्तु, उसका रूपान्तरण सम्पत्ति में होता है और श्रम मनुष्य को प्रकृति के साथ जोड़ता है।

श्रम द्वारा हम एक दूसरे की आवश्यकता को पूरी करते हैं। इसलिए मनुष्य श्रम के माध्यम

स एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं और एक दूसरे पर आधारित होते हैं। नागरिक समाज पारस्परिक अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में अपनी स्वार्थपरता में लिप्त व्यक्ति व्यापक सम्बन्धों के साथ जुड़ता है। इस प्रकार उसका व्यक्तिवादी व्यक्तित्व अन्योन्याश्रय के नाते सार्वत्रिक (universal) अथवा सामाजिक (social) होता है। व्यक्ति की आत्मचेतना विकास की प्रक्रिया में नागरिक समाज के चरण से गुजरती है। व्यापक सम्बन्धों में बंधने से व्यक्ति स्वार्थी होते हुए भी सामाजिक हो जाता है। इसलिए हेगल ने नागरिक समाज को सामाजिक नैतिकता का एक चरण माना है।

उत्पादन की प्रक्रिया में मनुष्य प्राकृतिक वस्तुओं को गढ़ता है और उपयोग योग्य बनाता है। ऐसा वे अपने विचारों से प्रेरित होकर करते हैं। यह आत्मचेतना की सत्ता का प्रमाण है। इस तरह से मानवकृत वस्तुओं की आवश्यकताओं की वृद्धि सभ्यता के विकास में निरन्तर परिलक्षित होती है।

नागरिक समाज की चर्चा फिलॉसफी आफ राइट में हुई है। आधुनिक युग में जो नागरिक समाज उभरा वह अधिक जटिल, विभेदीकृत और व्यापक है। इसकी चर्चा 'फिलॉसफी आफ राइट' में है। पर आधुनिक समाज की चर्चा हेगल ने 1802 में 'सिस्टम आफ एथिक्स' और 1803 -04 और 1805-06 में विद्यार्थियों को जेना विश्वविद्यालय में दिये व्याख्यानों में की। सिस्टम आफ एथिक्स की पाण्डुलिपि 1913 में प्रकाशित हुई और जेना विश्वविद्यालय के व्याख्यानों की पाण्डुलिपि 1933 में। हेगल के जीवनकाल में इनका प्रकाशन नहीं हुआ। कार्ल मार्क्स को भी इन पाण्डुलिपियों का पता नहीं था। जिस आधुनिक समाज की चर्चा 1802 से 1806 तक की कृतियों में हुई है उसी की गहरी सैद्धान्तिक छान-बीन फिलासफी आफ राइट में नागरिक समाज के अन्तर्गत की गई है। हेगल के अनुसार नागरिक समाज का पूर्णरूप आधुनिक युग में उभरा है। हेगल का कथन है।

"The creation of civil society is the achievement of the modern world which has for the first time given all determination of the Idea their due."

पारस्परिक अन्योन्याश्रय और सार्वत्रिक स्वार्थवाद पर आधारित नागरिक समाज एक अनिवार्यता है- आत्मचेतना और सामाजिक नैतिकता की विकास प्रक्रिया में। व्यक्ति निजी तौर पर इस सम्बन्ध में बंधते हैं। हेगल के अनुसार इस नागरिक समाज का शास्त्र राजनीतिक अर्थशास्त्र (Political Economy) है। विशेषीकरण और विभेदीकरण (differenciation) अनिवार्य प्रक्रियाएं हैं। इन सब की चर्चा हेगल ने की है ।

नागरिक समाज के सम्बन्ध में हेगल के विचार क्लासिकल अर्थशास्त्रियों से मिलते जुलते हैं। फिर भी इस पूंजीवाद समाज की जो गहरी छान-बीन हेगल ने की थी वह क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने नहीं की। हेगल ने स्टुअर्ट और एडम स्मिथ को समीक्षात्मक दृष्टि से पढ़ा था। उसने एडम स्मिथ के उद्धरण भी जेना विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों के समक्ष प्रस्तुत किये। इन सबसे यह प्रमाणित होता है कि हेगल आधुनिक समाज की अर्थव्यवस्था और उसकी गतिशीलता से परिचित था। पर जहाँ क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने सतही तौर पर आवश्यकता और उसकी पूर्ति को अर्थव्यवस्था के केन्द्र में रखा था हेगल ने इन्हीं तत्वों की व्याख्या को दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया है।

हेगल के विमर्श का प्रारम्भ है व्यक्ति की चेतना और प्रकृति का पार्थक्य। चेतना महसूस करती है कि प्रकृति उसके समक्ष चुनौती के रूप में खड़ी है। यह पार्थक्य समाप्त होता है जब मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए किसी प्राकृतिक पदार्थ का सेवन करता है। जैसे प्यास लगने पर पानी पी लिया और भूख लगने पर फल खा लिया इत्यादि।पदार्थ का सेवन कर मनुष्य प्रकृति के साथ सम्पृक्त होता है। वह पदार्थ उपभोग के नाते उसका होता है। उसकी व्यक्तिनिष्ठता से प्रकृति पदार्थ के रूप में संयक्त होती है। इस प्रक्रिया के तीन चरण हैं : (1) आवश्यकता (2)

आवश्यकता की पूर्ति और पूर्ति के माध्यम से आवश्यकता का नियंत्रण और (3) संतुष्टि। पर यह अस्थायी है क्योंकि उपभोग के उपरान्त पदार्थ समाप्त हो गया और फिर वही व्यक्ति की चेतना और प्रकृति का भेद बरकरार रहा। जब तक इस-उस पदार्थ का उपभोग बना रहेगा तब-तक उपभोग के उपरान्त पदार्थ की समाप्ति पर फिर प्रकृति से भेद बना रहेगा।

यह भेद मिटता है सम्पत्ति के आविर्भाव में। जब व्यक्ति किसी पदार्थ को अपनी सम्पत्ति बनाता है तो वह पदार्थ संरक्षित होता है। क्षणिक उपभोग के स्थान पर स्थायी प्रयोग की वस्तु वह पदार्थ बन जाता है। इसलिए वह पदार्थ नष्ट नहीं होता और व्यक्ति की चेतना सम्पत्ति के माध्यम से प्रकृति से एकीकृत होती है। लेकिन सम्पत्ति इसलिए मेरी नहीं है कि उस पर मेरा आधिपत्य है और अन्य लोग उसके उपभोग से वंचित है। वह मेरी इसलिए है कि समाज के अन्य सभी लोग उस पर मेरे स्वत्व को स्वीकार करते हैं और उससे वंचित होने की स्थिति को कबूल करते हैं। अतः हेगल के लिए सम्पत्ति का आविर्भाव व्यक्ति का आधिपत्य नहीं, उसका नैसर्गिक अधिकार नहीं, बल्कि सामाजिक सहमति है। सम्पत्ति एक मनुष्य के व्यक्तित्व से सम्बन्धित होती है। इससे मेरी और तेरी का भेद उत्पन्न होता है। यह मनुष्य की नहीं बल्कि व्यक्तित्व (personality) का सूचक है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के लिए सम्पत्ति व्यक्ति के अधिकार पर आधारित है। यह हेगल और क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का अन्तर है।

स्वामी-दास के सम्बन्ध की चर्चा में स्वीकृति (recognition) की अभिलाषा को मनुष्य की अदम्य लालसा है माना गया है। सम्पत्ति उसी अदम्य लालसा की पूर्ति है। सम्पत्ति के अलावा मनुष्य का श्रम भी दूसरों द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने का एक साधन है। बल्कि श्रम वह मौलिक क्रिया है जिससे न केवल आवश्यकताओं की पूर्ति होती है बल्कि उत्पादन और सम्पत्ति का भी सृजन होता है। यह एक स्थायी सम्बन्ध का माध्यम है मनुष्य और प्राकृति का। इसी में व्यक्तिनिष्ठता (subjectivity) और प्रकृति की वस्तुनिष्ठता (objectivity) समन्वित होती है। श्रम मानवमात्र को एक दूसरे से जोड़ता है। इससे सार्वजनिक अन्तर्क्रिया और मनुष्य का शिक्षण सम्पन्न होता है। श्रम से मनुष्य बहुत कुछ सीखता है प्रकृति के बारे में और अपने बारे में। इसका उद्देश्य मात्र वस्तुओं का उपभोग नहीं बल्कि उनका नवीन सृजन भी है। आत्मचेतना आवश्यकता की पूर्ति के लिए श्रम शक्ति को प्रेरित करती है। पर श्रम शक्ति द्वारा वही आवश्यकताएँ वस्तुनिष्ठ शक्तियों में परिवर्तित होती हैं। श्रम शक्ति सदैव सोद्देश्यात्मक है और इसी नाते मनुष्य और उसके संसार के नूतन सृजन का माध्यम भी।

श्रम की यह सृजनात्मक भूमिका है। इस भूमिका में विनिमय श्रम शक्ति के केन्द्र में है। उत्पादन सिर्फ अपनी आवश्कताओं की पूर्ति के लिए नहीं होता। सभी लोग मिल-जुलकर एक दूसरे की आवश्यकताओं के लिए उत्पादन करते हैं और उत्पादित वस्तु का एक दूसरे से विनिमय करते हैं। यह अन्योन्याश्रय है। नागरिक समाज इसी अन्योन्याश्रय पर आधारित है।

आवश्यकता, श्रम, उत्पादन, विनिमय और पारस्परिक अन्योन्याश्रय यह अर्थव्यवस्था अथवा नागरिक समाज का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में सभी व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति में लिप्त हैं। इस प्रक्रिया में सभी लोग एक दूसरे की जरूरत पूरी करते हैं। जेना के व्याख्यानों में (1803 से 04 और 1805 से 06) हेगल ने आधुनिक समाज में श्रमशक्ति और उसके क्षयकारी स्वरूप की चर्चा की है। 'फिलॉसफी आफ राइट' में जिस समाज में श्रम और उसका क्षयकारी रूप दिखाई पड़ा है उसका नामकरण किया है नागरिक समाज (civil society)। इस अन्योन्याश्रित सम्बन्ध में श्रम, उसकी आवश्यकता, उत्पादन और विनिमय का स्वरूप बदल जाता है।

सर्वप्रथम श्रम वस्तु के प्राकृतिक स्वरूप को मानवकृत रूप प्रदान करता है। मनुष्य अपने

उद्देश्यों के अनुसार तरह-तरह की प्रक्रियाओं द्वारा प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं को परिवर्तित करते रहते हैं। इसलिए नागरिक समाज में हम जिस वस्तु का प्रयोग करते हैं वह मानवकृत भी हो सकती है। इतना ही नहीं हम मात्र भौतिक शारीरिक आवश्यकताओं को ही पूरी नहीं करते बल्कि हम ऐसी बहुत सी आवश्यकताओं को भी पूरी करते हैं जो शारीरिक और भौतिक नहीं है। ये आवश्यकतायें मनुष्य की आत्मचेतना द्वारा परिवर्तित की जाती है। इन आवश्यकताओं को पशुशुलभ आवश्यकताओं से भिन्न मानना चाहिए। ये आवश्यकतायें मनुष्य के विचार के अनुसार बदलतीं हैं। यह आत्मचेतना अथवा मनुष्य के विचार की सत्ता का प्रमाण है। आत्मचेतना की अभिप्रेरणा से उत्पन्न आवश्यकतायें मानसिक आवश्यकतायें हैं। उनको परिकल्पित करने से मनुष्य को स्वतंत्रता का बोध होता है। उसकी आत्मचेतना को एहसास होता है कि मनुष्य पशु से भिन्न होता है- प्राकृतिकता के दायरे से मुक्त। मानसिक विचार स्वभावतः सार्वजनिक हैं। ये आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं और उसी प्रकार उनकी पूर्ति से साधनों में भी वृद्धि होती है। आवश्यकताओं में वृद्धि ही नहीं होती बल्कि एक आवश्यकता विभिन्न भागों में विभाजित हो जाती है और वह स्वतः एक महत्वपूर्ण आवश्यकता हो जातीं है। हेगल के अनुसार सभ्यता का यह लक्षण है कि शारीरिक आवश्यकताओं से इतर मानसिक आवश्यकताओं में वृद्धि होती है। इनको पूरी करने के साधनों में भी वृद्धि होती है। आवश्यकतायें विभिन्न भागों में विभाजित होकर अलग-अलग आवश्यकताओं में परिवर्तित हो जाती है। हेगल के लिए यह आत्मचेतना का बाह्य रूपायन है और मूलतः चित (mind) और प्रकृति (nature) के अन्तर को स्पष्ट करता है।

आवश्यकताओं की वृद्धि वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि में प्रतिफलित होती है। इसलिए नागरिक समाज वस्तु उत्पादन समाज (commodity producing society) है। वस्तुतः नागरिक समाज नई-नई आवश्यकताओं को जन्म देता है। मनुष्य केवल उन्हीं मानसिक आवश्यकातओं को ही पूरी नहीं करता जिनको वह महसूस करता है। उत्पादक उसके मन में नई आवश्यकताओं के प्रति लालसा भी उत्पन्न करते हैं। अधिकाधिक सुविधा की धारणा उकसा कर उत्पादक नई आवश्यकता और उसके उत्पादन की अनिवार्यता को रेखांकित करते है। समानता का आग्रह उत्पादन का विस्तार कराता है। जितना ही विस्तार होगा उपभोग की मात्रा उतनी ही बढ़ेगी, जितनी मात्रा बढ़ेगी उतनी ही समानता का बोध होगा। फलस्वरूप श्रमशक्ति का अधिकाधिक विभाजन सम्पन्न होता है। इस विभाजन से व्यक्ति एक-दूसरे पर अधिकाधिक आधारित होते हैं। मशीनों के प्रयोग से मनुष्य की उत्पादन शक्ति यांत्रिक होने लगती है। धीरे-धीरे यंत्र श्रमिक का स्थान लेने लगते हैं और श्रमिक उत्पादन प्रक्रिया के बाहर हो जाता है। यह मशीनीकरण और औद्योगीकरण का प्रभाव है। इस व्यवस्था में मुक्त बाजार की शक्तियाँ सक्रिय होती हैं। इस बाजार को बृद्धि की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया अनुशासित करती है। सबकी स्वार्थपरता अन्योन्याश्रय में रुपान्तरित है। आवश्यकताओं में वृद्धि, यांत्रिकीकरण और औद्योगीकरण। इन सबके नाते सर्जनात्मक शक्ति के क्षयकारी रूप नागरिक समाज में उभरते हैं। सर्वप्रथम उत्पादन किसी एक व्यक्ति या समूह की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नहीं होता बल्कि पूरे समाज की सकल आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया जाता है। इसलिए उत्पादकों की आवश्यकता के लिए नहीं बल्कि उत्पादन के लिए उत्पादन किया जाता है। श्रम विभाजन इसी के निमित्त समर्पित है। इसलिए वस्तुओं (commodities) का उत्पादन होता है। मनुष्य की जो आवश्यकता है उसको पूरी करने के लिए वह उत्पादन नहीं करता और न तो जिस वस्तु को वह उत्पादित करता है उसकी उसको आवश्यकता ही है। अतः अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए अपनी उत्पादित वस्तु का विनिमय दूसरों द्वारा उत्पादित वस्तु से वह करता है। इस प्रकार मनुष्य अपने लिए नहीं अनाम उपभोक्ताओं के लिए श्रम करता है। अतः उसका श्रम उसके लिए अमूर्त है। उसका व्यक्तित्व भी उसके लिए अमूर्त हो जाता है। इसलिए वह अपने श्रम से संतृप्त नहीं होता और महसूस करता है कि

वह एक व्यवस्था के भीतर अनुशासित हो रहा है। श्रम का जितना ही विभाजन और विशेषीकरण होता है उतना ही अधिक वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होती है। श्रम जितना ही अधिक तात्कालिक आवश्यकताओं से दूर होता है उतना ही उसकी उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है। इस प्रकार मनुष्य की सुख-सुविधाओं में तो वृद्धि होती ही है पर उसी के साथ-साथ उत्पादन की प्रक्रिया में वह अपने महत्व को अधिकाधिक अमूर्त और अपनी स्थिति को अधिकाधिक निर्वासित मानने को बाध्य होता है। वह दूसरों के लिए जीता है। जो शक्तियाँ उसको परिचालित करती हैं उस पर उसका नियंत्रण नहीं। श्रम और बेतहाशा बढ़ती हुई आवश्यकताओं के सटीक सम्बन्ध को वह देख नहीं पाता। फलस्वरूप उसका श्रम ऐसी बहुत सी घटनाओं से प्रभावित होता है जो आर्थिक क्षेत्र में उसके निकट नहीं घटतीं। फैशन में परिवर्तन, घर की साज-सज्जा की नई अभिरूचि, नये-नये वस्त्रों के पहनावे की नयी-नयी चलन - ये सब अस्थायी हैं। किन्तु इनके बदलने से बहुत से पुराने उद्योग बेकार हो जाते हैं। नये आविष्कारों से भी पुरानी मशीनें बेकार हो जाती हैं और फलस्वरूप मजदूरों की छटनी होती हैं, वे बेकार होते हैं, निर्धनता बढ़ती है। धनिक और निर्धन के बीच का अन्तराल बढ़ जाता है। हेगल ने पूँजीवादी समाज में धन और सम्पत्ति को शक्ति का श्रोत माना है। इसका संचय सामान्यतया उत्पादन और वितरण की व्यवस्था से उत्पन्न होता है। धन सभी कुछ अपनी ओर आकर्षित करता है। इस प्रकार संग्रह वृत्ति में वृद्धि होती है और छोटे व्यापारी घाटे में आ जाते हैं। अमूर्त श्रम विशेषीकृत श्रम को भी प्रभावित करता है।

5.11 वस्तुनिष्ठ चित एवं उसकी अभिव्यक्तियां

यह विडम्बना है कि हेगल ने लिखा कुछ और समझा गया कुछ और। इसके तीन कारण हैं। पहला कारण है कि हेगल की 'फिलॉसफी ऑफ राइट' (Philosophy of Right) के अन्त में इस पुस्तक के अंकित प्रस्तरों में कुछ टिप्पणियाँ जोड़ी गयीं। ये टिप्पणियाँ हेगल द्वारा प्रकाशित पुस्तक में नहीं थी। हेगल की मृत्यु के उपरान्त एडुअर्ड गैन्स (Eduard Gans) ने उसकी पुस्तक 'फिलॉसफी आफ राइट' का सम्पादन किया और उन्हें जोड़ दिया। इन टिप्पणियों को उन विद्यार्थियों के नोट्स (notes) से लिया गया है जो हेगल के व्याख्यान में उपस्थित थे। उस टिप्पणी में विद्यार्थियों के लेक्चर नोट्स के आधार पर जो टिप्पणी जर्मन में दी गयी है उसका अंग्रेजी अनुवाद यह हुआ कि 'संसार में राज्य ईश्वर का अभियान है' (the state is the march of God through the world)। यह अंग्रेजी अनुवाद श्लोमी अविनेरी और कॉफमैन के अनुसार अशुद्ध है। इन लोगों के अनुसार शुद्ध अनुवाद है 'संसार के साथ ईश्वर का यह सरोकार है कि राज्य होना चाहिए' (It is the way of God with the world that there should be the state)। काफमैन के अनुसार टिप्पणी में राज्य के सम्बन्ध में जो वाक्य जर्मन भाषा में आया है, वह हेगल ने अपने जीवन काल में 'फिलॉसफी आफ राइट' की जो पाण्डुलिपि प्रकाशित की उसमें है ही नहीं। इस प्रकार जर्मन भाषाविद् हेगल के व्याख्याकार श्लेमों अविनेरी और काफमैन नहीं मानते थे कि हेगल ने राज्य को इस पृथ्वी पर 'ईश्वर का अभियान' (march of God) माना है। हेगल के सम्बन्ध में इस भ्रान्ति के अतिरिक्त और भी भ्रान्तियाँ व्याख्याकारों की असावधानी के नाते उत्पन्न हुई। वे भ्रान्तियाँ हैं : अन्धराष्ट्रवाद या उग्र राष्ट्रवाद, प्रजातिवाद, निरंकुशतावाद (depotism), जर्मन राज्य का आदर्शीकरण (ideatization of the German State), प्रशा के राजतंत्र की अन्धनिष्ठा - इन सबके उग्र समर्थक के रूप में हेगल को चित्रित किया गया है। बहुत से व्याख्याकारों ने तो हेगल के राज्य सिद्धान्त में नात्सीराज्य (Nazi state) और नात्सीवाद (Nazism) की छवि देखी है। उसे सर्वाधिकारवाद

(Totalitariarism) का समर्थक माना है। इस सम्बन्ध में 'द आपेन सोसाइटी एण्ड इट्स एनमीज (The Open Society and its Enemies Vol-II) के लेखक कार्लपापर की उक्त पुस्तक में समीक्षा ध्यातव्य है।

सामान्यतया पाठ्य-पुस्तकों में हेगल के सम्बन्ध में ये भ्रान्तियाँ भरीं पड़ी हैं। अंग्रेजी और हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों में हेगल का ऐसा ही रूप देखने को मिलता है। पापर की पुस्तक "The Open Society and its Enemies Vol.II और मैकगर्वन की पुस्तक 'From Luther to Hitlar' कतिपय उदाहरण हैं। हेगल के सम्बन्ध में इन भ्रान्तियों को दूर करना उसके साथ न्याय करना है। इसी नाते टकसाली जानकारी के समानान्तर उन व्याख्याकारों की चर्चा पहले कर दी गयी।

श्लेमों अविनेरी और काफमैन के अतिरिक्त हेगल की भ्रान्ति को दूर करने के लिए सबसे बड़ा प्रमाण-पत्र तो कार्ल मार्क्स का है। उसने एक पत्र में लिखा है कि हेगल को प्रशा के राजतंत्र का अन्धनिष्ठ समर्थक नहीं माना जा सकता। इसी श्रृंखला में सी0 जे0 फ्रेडरिक, जान प्लेमेनार्ट्ज, जेड0 ए0 पल्सजिन्स्की, हर्बट मार्क्यूस और अर्नेस्ट काजीरेर का स्मरण किया जा सकता है। इन सभी लोगों ने हेगल की भ्रान्तिपूर्ण जानकारी को तर्क और तथ्य के आधार पर निर्मूल प्रमाणित करने का प्रयास किया।

हेगल के अध्येता को यह भी ठीक से समझना चाहिए कि उसने राज्य के तीन रूपों को स्वीकार किया है - एक है 'The external State', दूसरा 'The Political State तथा तीसरा The state as the actuality of the ethical idea' अथवा As the actuality of the concrete freedom', सरल शब्दों में राज्य के इन तीनों रूपों का अर्थ है : 'The Exterual Sate' (बाह्य राज्य) से हेगल का मन्तव्य था वे सार्वजनिक शक्तियाँ (public authorities) और स्वायत्त संस्थाएँ जो व्यक्तियों के व्यक्तिगत हितों अथवा उनके संगठित समूहों के हितों को कानूनी संरक्षण प्रदान करती है। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति, व्यावसायिक संविदा और इन सबके नाते पारस्परिक दायित्व का निर्वहन समाहित है। वस्तुतः कानून के दायरे में नागरिक समाज में आवश्यकताओं की व्यवस्था और व्यक्तियों के अपने स्वार्थ पूर्ण लक्ष्यों को अनुशासित करना 'External State' का कार्यक्षेत्र है। न्यायालय, पुलिस, पुलिस प्रशासन और कानून का दण्ड विधान अधीनस्थ सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। कानून बनाना नागरिक समाज के अन्तर्गत नहीं, पर न्यायपालिका और पुलिस प्रशासन है। हेगल के अध्येताओं को नागरिक समाज के अन्तर्गत न्यायालय, दण्ड विधान और पुलिस को सीमित करना और इसे राज्य के शेष दो रूपों से अलग करना कुछ अटपटा सा लगता है। सामान्यतया हम प्रशासन के सभी रूपों के कार्यक्षेत्र को राज्य का ही कार्यक्षेत्र मानते आये हैं। पर हेगल ने बहुत कुछ परम्परागत धारणाओं से विदा ले ली। इसलिए व्यावहारिक रूप में भले ही यह दिखे कि न्यायालय भी राज्य के प्रशासन का एक अंग है, युक्तितर्क की दृष्टि से इसे Political state (राजनीतिक राज्य) और State as the actuality of the ethical idea (नैतिक चेतना के विग्रह के रूप में राज्य) से अलग किया जा सकता है। 'The political State' (राजनीतिक राज्य) का अर्थ है कानून बनाना और नागरिक समाज की गतिविधियों को नियंत्रित करना। न्यायालय, दण्ड विधान और पुलिस जिस कानून को लागू करती है उसे कोई बनाने वाला होना चाहिए। न्यायालय और पुलिस तो कानून बना नहीं सकती। ये संस्थाएं अपना काम कर सकें इसलिए व्यवस्थापिका की अपेक्षा है। Political State (राजनीतिक राज्य) के अंग हैं वंशानुगत राजतंत्र, सम्राट द्वारा नियुक्त और उसके प्रति उत्तरदायी सामूहिक कार्यकारिणी और प्रतिनिधि सभा। प्रतिनिधि सभा सम्राट की विधायिनी, वित्तीय और निरीक्षणात्मक शक्तियों में हाथ बटाती हैं। इसके अतिरिक्त राजनीतिक राज्य का एक और आवश्यक

अंग है : लोकमत (Public opinion) । हेगल के अनुसार लोकमत वह मत है जिसे राज्य के नागरिक राज्य के सम्बन्ध में अपनी धारणा, उसके संगठन उसकी कार्यशैली और नीतियों के सम्बन्ध में व्यक्त करते हैं। पर लोकमत हेगल के अनुसार नागरिकों की अपनी व्यक्तिगत राय है। इसे विचारों की स्वतंत्रत अभिव्यक्ति, प्रेस और प्रकाशन की स्वतंत्रता और राजनीतिक विमर्श के निमित्त आयोजित जनसभाओं द्वारा सुनिश्चित किया जा सकता है। यह ध्यान में रहे कि इन सबको सुनिश्चित करने की अनिवार्यता पर जोर देना किसी भी दृष्टि से हेगल को निरंकुशता का समर्थक नहीं बनाता। पर हेगल को इस बात की आशंका थी कि लोकमत वस्तुतः व्यक्तियों की कामनाओं और इच्छाओं का दूसरा नाम न बन जाय । तब उसमें अपने - अपने हित का संयोग दृष्टिगत होता है। लोभ, स्वार्थ और ईर्ष्या लोकमत को प्रभावित करती हैं। इनके नियमन और अनुशासन की अपेक्षा है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति 1789 में हेगल को लोकमत का निकृष्टतम रूप दिखाई पड़ा था। इसलिए उसको आशंका थी कि सामान्यतया लोकमत अराजक होता है। इसीलिए उसने इसके नियमन और अनुशासन पर जोर दिया।

'The Political State' (राजनीतिक राज्य) का काम है संस्थानों, व्यवस्था और विधियों को स्थापित करना। नागरिक समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के प्रयोग के सन्दर्भ में स्वतंत्र है। वह चाहे उसे लुटा दे अथवा उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से उसका प्रयोग करे। पर राजनीतिक राज्य के नागरिक से अपेक्षा है कि वह लोक कल्याण और उत्तरदायित्व बोध से अपने कर्तव्यों का निर्वहन करे। इसीलिए मानसिक रूप से स्वस्थ और बालिग हर व्यक्ति नागरिक समाज में आर्थिक कार्यों का सम्पादन कर सकता है। पर राजनीतिक राज्य में वही भाग ले सकता है जो उसके लिए योग्य है। योग्यता का निर्धारण सोपान क्रम और संचयनाश्रयी है।

नागरिक समाज में व्यक्ति अपने स्वार्थ से प्रेरित होते हैं। इसीलिए उन स्वार्थों के नाते उत्पन्न अराजकता और अन्धाधुन्ध लिप्सा को संयमित और अनुशासित करने के लिए राजनीतिक राज्य द्वारा कानून और संस्थाओं की स्थापना की जाती है। हेगल की दार्शनिक शब्दावली में 'Particularity' (निजता) को Universality (सार्वजनिकता अथवा लोकबोध) से परिक्षालित किया जाता है। दूसरे शब्दों में उत्पादन, वितरण, विनिमय, और व्यक्तिगत स्वार्थों से उत्पन्न प्रतिद्वन्दिता को व्यवस्था और विधि संस्था में बांधा जाता है। पहले इंगित किया जा चुका है कि सामाजिक नैतिकता की युक्तितर्क मूलक अभिव्यक्ति पहले कुटुम्ब में होती है तत्पश्चात् नागरिक समाज में। अतः Universality (लोकबोध) से निजता (Particularity) के परिच्छालन से उत्पन्न अनुशासन सामाजिक नैतिकता की युक्तितर्क मूलक अभिव्यक्ति है। नियम को मानना, अनुशासन में बंधना, कानून के दायरे में रहकर आचरण करना - यह नैतिक जीवन का स्वाद है। नैतिक जीवन का यह स्फुरण देशभक्ति पूर्ण अथवा राजनीतिक संवेदना है। यह या तो पारस्परिक विश्वास से उत्पन्न होती है अथवा प्रशिक्षित दृष्टि से। इसी नाते व्यक्ति लोक कल्याण में अपना व्यक्तिगत कल्याण देखता है। राजनीतिक राज्य से इसी भावना के कारण एकीकरण सम्भव है। देशभक्ति व्यक्तिनिष्ठ संवेदना है। यह विधि और 'Political State' के अन्य संस्थानों से भिन्न है किन्तु यह राजनीतिक राज्य के अन्तर्गत एक दूसरे के पूरक हैं।

राजनीतिक राज्य में तीन वर्ग हैं: कृषक वर्ग, व्यावसायिक वर्ग और प्रशासकीय अधिकारियों का वर्ग। कृषक वर्ग की पहचान है कि यह प्रत्यक्षतः प्रकृति से सम्बन्धित है अर्थात् भूमि से। व्यावसायिक वर्ग के अन्तर्गत दो उपवर्ग है- कारीगर और वणिकवर्ग। कारीगर कृत्रिम वस्तुओं का निर्माण करता है और वणिक वर्ग विनिमय प्रणाली से सम्बन्धित है। कारीगर और वणिक का अस्तित्व कानून और व्यवस्था पर आधारित है। हेगल ने कारीगर और वणिक वर्ग की जीवन शैली को मध्यम

वर्ग की जीवन शैली माना है। सम्पत्ति का स्वामित्व, अधिकाधिक स्वत्व की प्राप्ति और सामाजिक गत्यात्मकता (social movelity) इस वर्ग के लक्षण हैं। हेगल ने इस वर्ग को आत्म प्रतिष्ठा से परिचालित माना है। तीसरा वर्ग प्रशासकीय अधिकारियों का वर्ग है जिसे हेगल ने Universal class कहा है। Universal का अर्थ हेगल के अनुसार है लोकोन्मुखी अथवा सार्वजनिक। इस वर्ग का अपना कोई विशेष हित अथवा निजी स्वार्थ नहीं है। कृषक और व्यावसायिक वर्ग के तो अपने स्वार्थ है। किसी वर्ग अथवा व्यक्ति के निजी स्वार्थ के लिए जो शब्द द्योतक है वह शब्द हेगल के अनुसार Particular (विशेष) है। जैसे स्वार्थ विशेष अथवा हित विशेष (Particular interest)। संकीर्ण स्वार्थपरता अथवा संकीर्ण हित (Particularity) है। Universality का अर्थ है लोकोन्मुखता, सार्वजनिकता या व्यापकता। प्रशासनिक सेवा का वर्ग इन्हीं अर्थों में व्यापक वर्ग (Universal class) है। हेगल का कथन है कि यह 'Public Estate' है। 'Estate' शब्द भी यहाँ वर्ग का द्योतक है। Estate शब्द का अर्थ सम्पत्ति भी होता है। इस शब्द के लाक्षणिक प्रयोग का अर्थ है हित या स्वार्थ। चूंकि प्रशासनिक अधिकारियों के वर्ग का अपना निजी स्वार्थ नहीं होता इसलिए इन्हें हेगल ने कभी-कभी 'Public Estate' भी कहा है। इसलिए प्रशासनिक सेवा वर्ग को चाहे 'Public Estate' कहिये या universal class कहिये दोनों का एक अर्थ है। इस वर्ग के बारे में हेगल का कथन है:

'The public estate works for the state.'

अथवा

'Its disposition of mind is the fulfilment of its duty.'

यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब कृषक वर्ग और वणिक वर्ग अपने स्वार्थों से अभिप्रेरित होते हैं तो वह particularity है। किन्तु जब वे विधि और व्यवस्था द्वारा स्थापित सीमाओं और अनुशासन में बंधकर अपने स्वार्थ की सिद्धि करते हैं तो जिस सीमा तक वे बन्धन को स्वीकार करते हैं उस सीमा तव Universality (सार्वजनिकता) के तत्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु हेगल ने इस Universality को अमूर्त माना है। कभी भी स्वार्थों की प्रेरणा उसे छिन्न-भिन्न कर सकती है। जैसे टैक्स की चोरी, व्यापार में हेराफेरी इत्यादि यह सब universality का निषेध है। पर प्रशासनिक अधिकारियों के वर्ग से अपेक्षा की जाती है कि वह नियमों को तटस्थ और निष्पक्ष रूप से लागू करे। उसका कोई वर्ग स्वार्थ नहीं है। अधिकारी भ्रष्ट हो सकते हैं पर यह उनका व्यक्तिगत स्वार्थ है। इसलिए वर्ग के रूप में प्रशासनिक वर्ग का लक्षण universality है। श्लोमो अविनेरी के अनुसार :

'Universality becomes concrete only in the class of public servants who represent 'the intervention of the universal into all particularity.'

प्रशासनिक सेवा वर्ग की तुलना हेगल ने धमनी (artery) और स्नायु (nerves) से है। यह सारे शरीर में फैली हुई हैं किन्तु यह शरीर नहीं है। इसी प्रकार प्रशासनिक सेवा वर्ग राज्य में पूरी तरह फैला हुआ है पर वह राज्य नहीं है। इस सम्बन्ध में हेगल ने प्रशासनिक सेवा वर्ग का एक और लक्षण बताया है। वह लक्षण है ज्ञानार्जन (acquisition of knowledge)। कृषक, कारीगर और वणिक प्राकृतिक अभिप्रेरणाओं को पूरा करते हैं। वे सभी ऐन्द्रिकता की सीमा में बंधे हैं। वे किसी न किसी शारीरिक ज़रूरत को पूरा करते हैं। उपभोग अथवा उपयोग की पूर्ति करते हैं पर प्रशासनिक वर्ग बुद्धि और विवेक द्वारा अनुशासन लागू करता है। यह शिक्षित और प्रशिक्षित वर्ग है। इसे knowledge-class (ज्ञान वर्ग) भी कहा जा सकता है। हेगल के इस धारणा में तत्कालीन जर्मन प्रशासनिक अधिकारियों का परिप्रेक्ष्य स्पष्ट है। कहीं हेगल ने इस वर्ग के अन्तर्गत बुद्धिजीवी वर्ग जैसे शिक्षक, चिकित्सक और अधिवक्ता को भी समाहित किया है।

यह वर्ग जन्मना चयनित नहीं है और न तो मध्ययुगीन श्रेणी संघों (medieval guilds) की तरह इसकी संरचना प्रकार्यात्मक (functional) और बुद्धिपरक (rational) है। इसका आधार सामाजिक गत्यात्मकता है। व्यक्ति और राज्य के बीच में यह वर्ग मध्यस्थ हैं। सम्बन्ध सूत्र के निमित्त हैं। आधुनिक समाज की जटिलता के नाते यह अनिवार्य है।

'Political State' (राजनीतिक राज्य) के ये तीन वर्ग हैं। राज्य के प्रशासन का उत्तरदायित्व प्रशासनिक सेवा वर्ग पर है। इसका अर्थ नहीं कि राज्य को कुछ करना नहीं है। हेगल ने राज्य के एक ऐसे कार्यक्षेत्र का वर्णन किया है जिसके आधार पर आज की भाषा में उसे निरूपित किया जाय तो वह लोक कल्याणकारी राज्य है। हेगल के समय में लोककल्याणकारी राज्य (Welfare state) की कोई अवधारणा नहीं थी। पर इस धारणा के अभाव में भी हेगल ने कुछ कार्यों की परिगणना की है। हेगल को ऐसा करना पड़ा। एक ओर तो पूँजीवादी समाज का श्रम विभाजन, बाजार का प्रभुत्व और लेन-देन, नफानुकसान के चक्रव्यूह में ग्रस्त मनुष्य की मानसिक और आध्यात्मिक दरिद्रता। दूसरी ओर पूंजीवादी समाज के कोख से उद्भूत दरिद्रता जिसका चरम रूप था भिखमंगापन।

एडम स्मिथ ने पूँजीवादी समाज में बाजार को राज्य के नियंत्रण से मुक्त रखा था। उसके अनुसार बाजार का अनुशासन अदृश्य हाथ (hidden hand) द्वारा होता है। फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ मेराबियो के अनुसार बाजार का अपने आप सुचारू रूप से चलना एक जादुई प्रक्रिया है। पर हेगल के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में बाजार को उसके ऊपर छोड़ा नहीं जा सकता। राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य है। धन का अधिकाधिक कुछ लोगों के बीच में सिमटना (concentration of wealth), निर्धनों की संख्या में अनिवार्य वृद्धि, भिखारियों का उद्भव, कीमतों में वृद्धि, धनलिप्सा और प्रतिद्वन्दिता के नाते व्यक्ति की मानसिक और आभ्यान्तरिक दरिद्रता, अकेलेपन का एहसास और निर्वासन (alienation), अनियंत्रित पूँजीवादी व्यवस्था की निष्पत्तियाँ हैं। किस सीमा तक हेगल और कार्ल मार्क्स की पूंजीवादी व्याख्या में सादृश्य है। अन्तर यह है कि पूँजीवादी समाज के संकट से मुक्ति पाने के लिए हेगल ने क्रान्तिकारिता के विकल्प को खारिज कर दिया। जिन तर्कों पर उसने इसे खारिज किया है वे फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति 1789 के गहरे अध्ययन पर आधारित हैं। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास का यह आश्चर्य है कि 19वीं शताब्दी के पहले दो दशकों में हेगल ने लोक क्रान्ति (peoples revolution) जनाक्रोश, जनमानस की अनस्थिरता, पारदमानसिकता (mercurial sensibility), अनियंत्रित आवेग, उससे उद्भूत उसके अन्तर्विरोध और अन्ततोगत्वा क्रान्तियों के विखरने का जो कारण बताया था, वे 20वीं शताब्दी की बिखरी हुई क्रान्तियों के भी कारण हैं। यह हेगल की अन्तर्दृष्टि थी। श्लोमों अविनेरी के अनुसार हेगल पहला विचारक है जिसने पूँजीवादी समाज के संकट और उससे मुक्ति पाने की क्रान्तिकारिता के अन्तर्विरोध को सटीक दृष्टि से पहचाना है। चार्ल्स टेलर ने 'Hegal' और 'Hegal and Modern Society' में इसकी अद्यावधि समीचीनता को रेखांकित किया है।

पूँजीवादी समाज के संकट से मुक्त होने का रास्ता क्रान्तिकारिता नहीं है तो है क्या ? हेगल का उत्तर है - राज्य का हस्तक्षेप। राज्य को चाहिए कि वह मुक्त व्यापार को हस्तक्षेप से नियंत्रित करें। कीमतें बढ़ रही हों तो कीमतों की वृद्धि पर रोक लगायी जाय। सम्पत्ति की असमानता को रोकने के लिए कर लगाने की ऐसी नीति का पालन किया जाय जिसके अनुसार धनिक वर्ग पर अधिक कर लगे ताकि सम्पत्ति की असमानता कम की जा सके। सबको जीवन - यापन का एक सामान्य अवसर उपलब्ध हो- इस बात का प्रयास राज्य को करना चाहिए। बाजार को नियमित करने के सम्बन्ध में राज्य को आवश्यक हो तो, अपेक्षित हस्तक्षेप करना चाहिए। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों में पूंजीवादी समाज के सन्दर्भ में राज्य की यह भूमिका लोक कल्याणकारी राज्य

(welfare state) का प्रारम्भिक स्वरूप है। हेगल ने इसे 'welfare state' का नाम नहीं दिया। एक तो इस तरह से सोचने और बात रखने की भंगिमा भी नयी थी और दूसरे राज्य की यह भूमिका राज्य के स्वभाव से उत्पन्न होती है। इसलिए यह सहज सवरूप है। यह 'State as the actualization of the ethical ideas की स्वभाविक निष्पत्ति है। 'Particularity' विशेष स्वार्थ या संकीर्ण स्वार्थ की उच्छृंखलता रोकने के लिए राज्य की यह भूमिका अपेक्षित है। इसी भूमिका से 'Universality' (लोकहित) संरक्षित हो सकेगा। शास्त्रीय भाषा में 'Particularity' का अतिक्रमण और उसके अनुशासन में ही राज्य की universality का रहस्य निहित है।

हेगल ने राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार किया है किन्तु कड़ा राज्य नियंत्रण (tight state control) नहीं माना है।

राज्य का हस्तक्षेप इसलिए भी आवश्यक है कि व्यक्तियों के आभ्यानतरिक और मानसिक खोखलेपन को दूर कर उन्हें लोक जीवन की रसानुभूति करायी जा सके।

5.12 मूर्त सार्वत्रिकता का पूर्ण विग्रहः राज्य -(State : the concrete universal)

जिस राज्य के लक्षणों की चर्चा निम्नलिखित प्रस्तरों में की जा रही है वह नागरिक समाज अथवा 'The external state' (बाह्य राज्य) और 'The Political State' (राजनीतिक राज्य) से भिन्न है। उस राज्य को हेगल ने 'State as the actuality of the ethical ideas' कहा है। हेगल की प्रशंसा अथवा आलोचना इसी राज्य को केन्द्र में रखकर की गयी है। श्लोमों अविनेरी के अनुसार हेगल के आलोचकों ने कुछ बातें नज़र अन्दाज कर दीं है - उसकी आलोचना करने में। जैसे-उन्होंने हेगल के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और हेगल के जीवन और कर्म से सम्बन्धित उपलब्ध तथ्यों को ध्यान में रखा ही नहीं। इसके अतिरिक्त इन आलोचकों ने हेगल की चेतावनी के बावजूद 'state as ethical idea' (नैतिक चेतना के परिष्कृत रूप में राज्य) और इतिहास में अथवा वर्तमान में स्थित राज्यों में अन्तर नहीं किया है। उन्होंने न जाने क्यों हेगल की निम्नलिखित चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया :

'In considering the idea of the state, we must not have our eyes on particular state or on particular institution... on some principle or other, any state may be shown to be bad, this or that defect may be found in it...The state is no ideal work of art; it stands on earth and so in the sphere of caprice, chance and error, and bad behaviour may disfigure it in many respects. But the ugliest of men, or a criminal, or an invalid, or a cripple, is still a living man. The affirmative, life, subsists, despite his defects, and it is this affirmative which is our theme here.'

इस प्रकार हेगल ने बुद्धिपरक या विवेकपरक और लोकोन्मुखी (rational and universal) तत्व का निरूपण किया है। किसी राज्य विशेष से उसका कोई लेना-देना नहीं है। हेगल के सम्बन्ध में और भी भ्रान्तियाँ हैं, इनकी चर्चा और इसका निराकरण आगे किया जायेगा। सम्प्रति इस राज्य के लक्षणों की चर्चा अपेक्षित है।

1 : राज्य नैतिक चेतना की साकारता (actuality of the ethical idea) है-

हेगल की दृष्टि में राज्य स्वंयभू नैतिक तत्व (self-actualizing ethical substance) है। हेगल ने अपनी विशिष्ट दार्शनिक शैली में राज्य के इस लक्षण का उल्लेख किया है, किन्तु उसका मन्तव्य बहुत ही स्पष्ट है। उसके अनुसार राज्य वस्तुनिष्ठ क्षेत्र में आत्मचेतना की चरम अभिव्यक्ति है।

यही एक संस्थान है जो परिवार और नागरिक समाज का अतिक्रमण करता है। यह पहले स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य आत्मचेतन प्राणी होने के नाते प्रयासरत है कि उसकी आत्मचेतना में निहित क्षमताएं व्यक्त हों। परिवार और नागरिक समाज उसी की अभिव्यक्तियाँ हैं। परिवार सीमित नैतिकता पर आधारित है और नागरिक समाज व्यापक होते हुए भी स्वार्थ पर। दोनों आवश्यक हैं किन्तु दोनों अपूर्ण है। Political state (राजनीतिक राज्य) केवल नियमन और अनुशासन करता है। इन सारी संस्थाओं को एक सूत्र में जोड़ने के लिए व्यापक नैतिक चेतना की आवश्यकता है। राज्य उसी व्यापक नैतिक चेतना का विग्रह है।

राज्य में अभिव्यक्त नैतिक चेतना को कैसे पहचाना जाय? हेगल के लिए अमूर्त नैतिकता व्यक्तिनिष्ठ (subjective) है। राज्य में अभिव्यक्त नैतिक चेतना मूर्त है। यदि यह मूर्त है तो कहाँ है? हेगल ने इसे नैतिक धारणाओं, नियमो और सिद्धान्तों का एक संश्लिष्ट समुच्चय माना है। उसके अनुसार जैसे समाज में भाषा एक दूसरे को जोड़ती है उसके नियमों का लोग अनायास अनुपालन करते हैं और वह उनके मन में रच-बस जाती है। उसी प्रकार भाषा की तरह नैतिक धारणाएं परम्परागत आस्थाएं और विश्वास, अनायास लोगों को एक सूत्र में जोड़ते हैं। समाज में भाषा, न तो किसी व्यक्ति की सम्पत्ति है और न तो किसी व्यक्ति द्वारा सृजित है। भाषा समष्टि की होती है। भाषा की तरह नैतिक जीवन विकसित होता है और अनायास ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी संचरित होता रहता है। यह अमूर्त नहीं वस्तुनिष्ठ है। परम्पराओं और प्रथाओं में दृष्टिगत है।

5. राज्य सिटिल स्काइट (social ethics) अथवा समाजिक नैतिकता) का मूर्त रूप है-

पहले लक्षण के अनुसार नैतिक आत्मचेतना किसी देश की परम्परा उसकी आख्याओं और विश्वासों में संचित है। हेगल ने इसे 'Volk Geist' (लोकमानस) में संचित माना है। यही संस्थानों में अभिव्यंजित होती है। संस्कृतियां दीर्घ परम्परा से संचित विवेक को पीढ़ी दर पीढ़ी प्रदान करती हैं। इसीलिए यह न व्यक्तिगत बुद्धि की स्वच्छन्दता है और न तो किसी शासन तंत्र की स्वेच्छाचारिता। वस्तुतः सामाजिक नैतिकता स्वच्छन्दता और स्वेच्छाचारिता का निषेध है। यह जितना व्यक्ति का अनुशासन है उतना ही शासन तंत्रों का भी। यह व्यवस्था का अचेतन मानसिक बोध है। राज्य में यही पूंजीभूत रूप में व्यक्त होता है। इसी आधार पर हेगल ने राज्य और शासन तंत्र का अन्तर किया है। राज्य शासन नहीं शासन से श्रेष्ठतर है। सामान्य नागरिक को इसका बोध होता है। हेगल का निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है :

'When we walk the streets at night in safety, it does not strike us that this might be otherwise. This habit of feeling safe has become second nature, and we do not reflect on just how this is due solely to the working of special institutions. Commonplace thinking often has the impression that force holds the state together, but in fact its only bond is the fundamental sense of order which everybody possesses.

सामान्य धारणा यह है कि हेगल में अपने समकालीन जर्मनी और जर्मन राज्य के प्रतीक प्रशा को सामाजिक नैतिकता की पूर्ण अभिव्यक्ति माना है। हेगल ने इस बात का निषेध दिया है और सम्बन्धित उद्धरण किया जा चुका है कि पृथ्वी पर स्थित कोई भी राज्य नैतिक चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त हेगल ने इस सम्भावना से इनकार नहीं किया है कि राज्य से बड़ा राज्यों का संगठित समूह हो सकता है यदि वे एक ही संस्कृति के वारिस हैं। पल्सजिन्स्की के अनुसार :

'Hegal's conception of the nation-state as the highest community does not exclude the possibility of a federation of states belonging to the same civilization and sharing similar interests.'

पल्साजिन्स्की के कथन का आधार है एडवुअर्ड गैन्स (Eduard Gans) द्वारा सम्पादित हेगल के विद्यार्थी द्वारा 'फिलॉसफी आफ राइट' में जोड़े गये परिशिष्ट की टिप्पणी संख्या - 194। इस टिप्पणी का पहला वाक्य है:

'The European peoples form a family in accordance with the universal principle underlying their legal codes, their customs, and their civilization.'

इस सम्बन्ध में मार्क्स के सहयोगी एन्जिल्स ने अपने मित्र को लिखे एक पत्र दिनाँक 21 दिसम्बर, 1839 में बड़ी सटीक बात कही है। उसके अनुसार हेगल के शिष्यों ने ही हेगल को सबसे अधिक नुकसान पहुँचाया है। उन्होंने ही हेगल का राज्य की निरंकुशता के अन्ध-समर्थक के रूप में प्रस्तुत किया है।

सामाजिक नैतिकता को केवल तीन तरह का खतरा है। एक तो है कि राज्य के भीतर विभिन्न समूहों के व्यक्तिगत स्वार्थ का आग्रह। इस सन्दर्भ में खतरा यह है कि राज्य के भीतर अलग और स्वतंत्र समूह अपनी स्वायत्तता स्थापित करने की मांग करे। ऐसा जर्मन राष्ट्र के 'होली रोमन एम्पायर' के साथ हुआ। उस समय जर्मनी का अपना अस्तित्व समाप्त हो गया। ढेर सारे राज्यों में जर्मनी विभक्त हो गया। एक जर्मन राष्ट्र, एक जर्मन समाज और एक जर्मन राजसत्ता की धारणा जर्मन निवासियों में लुप्त हो गयी। वे अपने को छोटे-छोटे राज्यों का नागरिक मानने लगे। मूलतः जर्मनी में सामाजिक नैतिकता की चेतना निष्क्रिय हो गयी। इतिहास की इस प्रक्रिया को प्रत्यावर्तित नहीं किया जा सकता। पर यह सम्भव है कि जर्मनी का एक संघ राज्य हो जिसकी एक राजनीतिक सत्ता हो, और विभिन्न राज्य, सीमित स्वायत्तता सम्पन्न इसके प्रान्त हो जायं। अतः हेगल की यह धारणा थी कि संघीय ढाँचे में भी सामाजिक नैतिकता की चेतना बरकरार रखी जा सकती है। एक स्तर पर यह 'particularity और Universality का संयोग है।

उपर्युक्त बातें हेगल की प्रारम्भिक कृतियों में है जिसमें जर्मन संविधान की उसने व्याख्या की है। अपनी बाद की कृति 'फिलासफी ऑफ राइट' में उसने स्वीकार किया है कि व्यक्ति और राज्य के बीच सम्वासों और निगमों का एक जाल बिछा हुआ है।

सामाजिक नैतिकता को दूसरा खतरा है राज्य की राजनीतिक स्वतंत्रता का लोप। यह तब होगा जब कोई दूसरा राज्य किसी राज्य को गुलाम बना ले। ऐसी स्थिति में निजी जीवन में व्यक्तियों का कोई नुकसान नहीं होगा यदि विजेता राज्य उनके नागरिक अधिकारों को सम्मान और संरक्षण प्राप्त न करें। किन्तु विजित राज्य की सामाजिक नैतिकता उसकी परम्परा और उसके साथ उस राज्य के नागरिकों का संवेदनात्मक साहचर्य समाप्त हो जायेगा। विजेता राज्य की सामाजिक नैतिकता उसकी परम्परायें एवं विश्वास विजित राज्य के नागरिकों पर थोप दी जायेंगी। किन्तु यदि विजेता राज्य और विजित राज्य दोनों एक ही संस्कृति के वारिस हैं तो ऐसा कुछ भी घटित नहीं होगा।

सामाजिक नैतिकता को तीसरा खतरा है कि इसकी परम्पराएं, जीवन्त आस्थाएं और मान्यताएं रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में ढलकर मृतपाय हो जायं और इतिहास के साथ उनका तालमेल न बैठे। पर यह स्थिति रोकी जा सकती है, यदि सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता नये उभरते हुए दृष्टिकोणों को परम्परा के साथ समायोजित करती चले। लगता है हेगल का आशय था परम्परा का नवीकरण,

परिष्करण और प्रक्षालन। 1789 में फ्रांस के शासक इस सन्दर्भ में उदासीन थे। इसीलिए उनका स्थान लिया ज़ज़्बाती, उत्तेजनापूर्ण, अधकचरे राजनीतिक नेताओं ने। इसीलिए सामाजिक नैतिकता का संरक्षण और राजनीतिक सत्ता की अन्तर्क्रिया इतिहास के हर मोड़ पर महत्वपूर्ण है।

3. राज्य वस्तुनिष्ठ चित (objective mind) का विग्रह है-

चित ही बुद्धि है, इसलिए राज्य बुद्धि की बाह्य अभिव्यक्ति है। हेगल के अनुसार राज्य 'Heiroglyph of reason है। Heiroglyph का अर्थ है चित्रलिपि। इस प्रकार राज्य की संरचना को यदि लिपि की उपमा दी जाय तो कहा जायेगा कि इसकी संरचना में लिखा हुआ है कि यह बुद्धि का स्वरूप है। राज्य मात्र उपयोगिता, बाह्य आवश्यकता, ताकत अथवा किसी स्वार्थ पर आधारित नहीं। ऐसे किसी तदर्थ, संवेगात्मक, क्षणिक, अस्थायी संवेगों पर राज्य आधारित नहीं है। यह नैतिक है और इसमें व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता और वस्तुनिष्ठ स्वतंत्रता दोनों का संयोग है। राज्य का बुद्धिपरक स्वरूप राज्य के तदर्थ और आकास्मिक प्रतिभास को हटाकर ही देखा जा सकता है। तभी यह लगेगा कि यह व्यक्ति के नैतिक संकल्प में अधिष्ठित है। नैतिक संकल्प में ही सभी व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छाओं का अतिक्रमण होता है। अन्यथा ऐसा कोई आधार नहीं है जिसके नाते यह कहा जाय कि यह उसकी आत्म चेतना का विस्तार है। उसके चित का बाह्य रूप है। राज्य में ही उसके व्यक्तिगत संकल्प और सार्वजनिक संकल्प का द्वैध समाप्त होता है। यह 'Identity of the universal and particular' है अर्थात व्यक्ति के मानस में इस बात का गहरा बोध है कि उसका अपना कल्याण और राज्य का कल्याण दोनों एक है। इस सन्दर्भ में अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे के पूरक हैं। हेगल का कथन है :

'Hence in this identity of the universal will with the particular will, right and duty coalesce, and by being in the ethical order a man has rights in so for as he has duties, and duties in so for as he has rights.'

दरअसल राज्य को बुद्धि की अभिव्यक्ति मानकर हेगल ने दो प्रकार की सामयिक प्रवृत्तियों की समीक्षा की। एक प्रवृत्ति थी रोमांसवादी विचारकों की। वे या तो वर्तमान से विमुख होकर अतीत को देख रहे थे अथवा राजनीतिक जीवन के प्रति उदासीन होकर अपनी संवेदनाओं और धारणाओं में सिमट गये थे। यह रोमांसिक व्यक्तिवाद (romantic individualism) था जिसकी मूल प्रवृत्ति पलायनवादी थी। इसी के समानान्तर हेगल के समय में ही दूसरी प्रवृत्ति थी उन विचारकों की जो आदर्श राज्य के निर्माण में प्रयत्नशील थे। इस प्रवृत्ति में दो रंग थे। एक था फ्रांसीसी जेकोबियनवाद (French Jacobianism)। 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति की कतिपय अभिप्रेरणाओं में एक अभिप्रेरणा यह भी थी। इस अभिप्रेरणा की मान्यता थी कि समाज की स्थापित संस्थाओं को नष्ट कर दिया जाय और तत्पश्चात् बुद्धि के सहारे नयी व्यवस्था और नये राज्य का गठन किया जाय। यह सब कुछ बुद्धि द्वारा संरचित होगा किन्तु यह बुद्धि सार्वजनिक बुद्धि (Universal reason) नहीं थीः यह बुद्धि मात्र व्यक्तिगत बुद्धि थी, क्रान्तिकारियों की मात्र अपनी सोच। इस सोच का हश्र थाः आतंक का राज्य और क्रान्ति का विघटन। राज्य व्यक्तिगत स्रोत पर नहीं बनता। राज्य निर्मिति (manufacture) नहीं हैः यह विकास का प्रतिफल है।

दूसरा रंग था उन सुधारकों का जो सुधार करना चाहते थे। लेकिन सुधार करने का आधार उपयोगिता दर्शन था। उपयोगितावाद सुखवादी (Hedonism) दर्शन था। इसकी दृष्टि संकीर्ण थी। यह राज्य को साधन और व्यक्ति को साध्य मानता था।

इन सबके विरोध में हेगल ने वर्तमान में स्थित राज्य की बुद्धिपरकता (rationality) को

रेखांकित किया। न पलायन, न दिवास्वप्न। बल्कि वर्तमान में स्थित राज्य के भीतर ही उसकी बुद्धिपरकता को पहचानना। इसीलिए धरातल के उपर जो बहुत कुछ है उसे हटाकर धरातल के नीचे जाकर देखना होगा। जैसे सिवार को हटाकर नीचे शुद्ध जल देखना है। 'फिलॉसफी आफ राइट' की प्रस्तावना में हेगल कहता है:

"To recognize reason as the rose in the cross of the present and thereby to enjoy the present, this is the rational insight which reconicles us to the actual".

हेगल ने उसी प्रस्तावना में यह भी लिखा है कि उसका उद्देश्य इस पुस्तक में यह प्रमाणित करना है कि राज्य मूलतः बुद्धिपरक है और इसके नैतिक संसार को कैसे समझा जाय। उसका उद्देशय किसी आदर्श राज्य का मानचित्र प्रस्तुत करना नहीं है।

'To comprehend what is,.....because what is, is reason'.

यह ध्यान देने योग्य है कि हेगल के राज्य सिद्धान्त में व्यक्तिगत स्वार्थ को निकृष्ट नहीं माना गया है। व्यक्ति की अपनी इच्छा, अपने स्वार्थ स्वतः अपने में अपूर्ण हैं। अपने दम पर व्यक्ति इन्हें पूरा नहीं कर सकता। उसे समूह में रहकर ही पूरा करना है। समूह में रहकर उसे नैतिक अनुशासन को स्वीकार करना है और इस प्रकार उसके व्यक्तिगत स्वार्थ राज्य द्वारा स्थापित अनुशासन में बंधे रहेंगे। इस अनुशासन की अनिवार्यता को व्यक्ति नैतिक रूप से स्वीकार करता है। इसलिए आधुनिक राज्य में व्यक्ति का विलीनीकरण नहीं होता जैसा यूनान में हुआ। उसे आधुनिक राज्य में वे परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं जिसमें वह स्वतंत्रता के साथ निर्धारित दायरे में अन्य व्यक्तियों के साथ अपने ढंग का निर्धारित जीवन जी सकता है। अतः वह एक ही साथ नागरिक समाज का स्वार्थी व्यक्ति भी है और राज्य का नागरिक भी। उसकी व्यक्तिनिष्ठता (subjectivity) और सार्वजनिकता (universality) दोनों समन्वित हैं।

4. राज्य में स्वतंत्रता मूर्त होती है-

हेगल ने स्वतंत्रता के सम्बन्ध में प्रचलित बहुत सी धारणाओं का खण्डन उनका अतिक्रमण करके किया है। स्वतंत्रता के सम्बन्ध में पहली दृष्टि थी कि व्यक्ति की इच्छाएं राज्य में विलीन हो जायें और राज्य के साथ उसका ऐसा तादाम्य हो कि उसके मन में यह बात ही न आये कि राज्य के समानान्तर उसको अपनी इच्छा का आग्रह रखना है स्वतंत्रता के सम्बन्ध में दूसरी दृष्टि थी कि मनुष्य अपने भीतर इच्छाओं से मुक्त, होकर, नैतिक और धार्मिक जीवन बिताकर स्वतंत्र और सुखी हो सकता है। यह धारणा स्टोइक और ईसाइयों की थी। आधुनिक युग में यह काण्ट के चिन्तन में रेखांकित हुआ है। स्वतंत्रता के सम्बन्ध में तीसरी दृष्टि थी कि स्वतंत्र होने का अर्थ है सुरक्षित रहना और जीवन के संसाधनों का प्रयोग करना । इस दृष्टि के अनुसार व्यक्ति का विलीनीकरण राज्य में नहीं होता बल्कि राज्य व्यक्ति के लिए एक साधन है। हालाँकि व्यक्ति को राज्य के कानूनों का अक्षरशः पालन करना है। यह दृष्टि हाब्स की थी। स्वतंत्रता के सम्बन्ध में चौथी दृष्टि थी कि व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता बन्धनों का अभाव है। यह उदारवादी, उपयोगितावादी व्यक्तिवाद था। इस दृष्टि के अनुसार कानून स्वतंत्रता का संकोच (Law is the restriction of liberty) है। चौथी दृष्टि उन सभी व्यक्तिवादियों की थी जो व्यक्ति जीवन में और उसके अधिकारों में कम से कम राज्य का हस्तक्षेप चाहते थे। लॉक ने प्राकृतिक अधिकारों की चर्चा की और स्वतंत्रता को प्राकृतिक अधिकार माना। 18वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में इग्लैण्ड में वेंथम ने और 19वीं शताब्दी के पहले पूर्वार्द्ध में उसके अनुयायियों ने उपयोगितावादी विचार-धारा पर आधारित व्यक्ति और राज्य की प्रतिकूलता को

स्वीकार किया है। उनके लिए राज्य अनिवार्य दोष (Necessery evil) है।

हेगल की स्वंत्रता की अवधारणा उपर्युक्त सभी धारणाओं को समेटती है और उनका अतिक्रमण करती है। इतिहास आत्मचेतना का विकास है। आत्मचेतना का मूल स्वभाव स्वतंत्रता है। इतिहास के विभिन्न चरणों में स्वतंत्रता की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ दीख पड़ती हैं। उपर्युक्त सभी धारणाएं ऐतिहासिक यात्रा में मील के पत्थर की तरह हैं। स्वतंत्रता की चर्चा में उपर्युक्त धारणाओं को नकारा नहीं जा सकता है क्योंकि खास ऐतिहासिक परिस्थिति में वे अनिवार्य अभिव्यक्तियाँ थीं। पर उन्हें पूर्ण भी नहीं माना जा सकता। वे आंशिक तौर पर सही हैं। स्वतंत्रता की पूर्ण अवधारणा में वे समाहित हैं। स्वतंत्रता की पूर्ण अभिव्यक्ति आधुनिक राज्य में सम्भव हुई है। हेगल का यही आग्रह है कि उसका दर्शन पूर्ण स्वतंत्रता का आख्यान है। इस आख्यान के अनुसार राज्य मूर्त स्वतंत्रता (concrete freedom) का प्रतीक है। जैसे आधुनिक राज्य में अधिकार और कर्त्तव्य की चेतना में है। अर्थात् राज्य का आदेश और मेरा संकल्प एक है। उसी प्रकार आधुनिक राज्य में मेरी अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राज्य के प्रति उत्तरदायित्व के नैतिक बोध में कोई भेद नहीं है। इसका अर्थ है व्यक्तिनिष्ठ स्वतंत्रता और सार्वजनिक स्वतंत्रता दोनों एक हैं क्योंकि व्यक्ति, राज्य की नैतिक व्यवस्था का अंग होने के नाते, स्वीकार करता है कि उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता सार्वजनिक दायित्व के अनुकूल हो। यह स्वीकृति किसी बाध्यता के नाते नहीं हैं। यह सहज है। आधुनिक राज्य में व्यक्तिगत नैतिक संकल्प की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। यही सार्वजनिक इच्छा का आधार है। आधुनिक राज्य व्यक्ति के अस्तित्व को समाप्त नहीं करता। राज्य में उसकी भूमिका को स्वीकार करता है। उसके व्यक्तिगत हित, उसकी सुरक्षा सभी राज्य की नैतिक व्यवस्था में समाहित है। इस सन्दर्भ में हेगल का कथन है:

'The essence of the modern state is that the universal be bound up with the complete freedom of its particular members and with private well-being... The universal must be furthered, but subjectivity on the other hand must attain its full and living development. It is only when both these moments subsist in their strength that the state can be regarded as articulated and genuinely organized'.

इसलिए आधुनिक राज्य में ही स्वतंत्रता के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय सम्भव हुआ है। आधुनिक राज्य इस अर्थ में हेगल के अनुसार 'The actuality of concrete freedom' है। इसलिए आधुनिक राज्य ही में व्यक्ति अपने हितों को पूरा करता है और पूरा करने की प्रक्रिया में वह केवल अपने स्वार्थों में सीमित मनुष्य ही नहीं है वह नागरिक के रूप में राज्य की नैतिक व्यवस्था का अंग भी है। उनके निजी स्वार्थ में भी सार्वजनिक हित निहित है।

अत्यन्त सरल शब्दों में हेगल का मन्तव्य था कि स्वतंत्रता की किसी भी अवधारणा में व्यक्ति के स्वार्थों को निम्न कोटि का मानकर त्याज्य नहीं समझना चाहिए। बल्कि उन्हें राज्य की नैतिक व्यवस्था में समाहित कर अनुशासित और सीमित करना चाहिए। अन्ततोगत्वा व्यक्ति का विकास उसके स्वार्थों की पूर्ति में नहीं बल्कि उसके नैतिक जीवन की अभिव्यक्ति में है। यह नैतिक जीवन उसे नागरिक के रूप में ही राज्य में प्राप्त है। इस प्रकार स्वतंत्रता नैतिक चयन (moral choice) की क्रियां में व्यक्त होती है। राज्य में उसके आदेशों का पालन वस्तुतः व्यक्ति का नैतिक चयन है। इस प्रकार का अनुपालन नैतिकता का अनुपालन है।

5. राज्य एक शरीर है-

हेगल में राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध, राज्य के भीतर अन्य संस्थानों की अवस्थिति-इन

सबके अर्न्तसम्बन्ध पारस्परिक रूप से अन्योन्याश्रित है। यह सहज विकास है। जो पूर्ण है उसी में उसके अंश समाहित हैं। किन्तु पूर्ण कभी अंशों का योग नहीं है। वह इस योग से और कुछ है, तभी तो अंश पूर्ण का अंग है और पूर्ण अंश में समाया हुआ है। इसे 'logic of totality कहा जाता है। इसके अनुसार 'The part is a part of the whole and the whole is a part of the part.' इसका अर्थ है कि अंग का अस्तित्व शरीर से अविछिन्न है और अंग के सहारे शरीर की पहचान होती है। इसी प्रकार व्यक्ति का पूर्ण विकास राज्य में ही संभव है। उसके स्वभाव की निजता और सार्वजनिकता राज्य में ही संतुलित रूप से विकसित होती है। इस अन्योन्याश्रय के नाते हेगल ने राज्य को शरीर के रूप में प्रस्तुत किया है। शरीर विभिन्नता में एकता का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसे शास्त्रीय भाषा में हेगल ने identity in difference कहा है।

Identity in difference (एकता में अनेकता) परिलक्षित होती है राज्य के भीतर विभिन्न निगमों (corporations) और संवासों में। अपने क्षेत्र में ये संवास स्वायत्त हैं। पर स्वायत्तता सीमित है। यह राज्य द्वारा नियमित और अनुशासित की जाती है।

ये निगम स्वैच्छिक हैं और व्यक्तियों के पेशे व्यवसाय और रूचियों पर संरचित हैं। परम्परागत लोकतांत्रिक और उदारवादी सिद्धान्तों ने व्यक्ति और राज्य के बीच इन निगमों के अस्तित्व को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया। इन सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति का सीधा सम्बन्ध राज्य से है और इन दोनों के बीच न निगम है, न संवास न संस्थान। हेगल इसे स्वीकार नहीं करता। उसकी धारणा थी कि इसके बिना व्यक्ति पूर्णतया अलग-थलग रहेगा और जो लोक भावना नागरिक के रूप में होनी चाहिए उसका विकास अपने में सीमित व्यक्ति में नहीं हो पायेगा। निगमों में रहकर उसमें सहकार-भावना (Co-operative spirit) का विकास होता है। जैसे जब व्यापारी व्यापार मण्डल बनाते हैं तो उसके सदस्य के रूप में वे अपने निजी व्यावसायिक हितों से उठकर व्यापारी वर्ग के हितों के बारे में सोचते हैं। यह उनका प्रशिक्षण (training) है जिससे वे अपने हित के अतिरिक्त अन्यों के बारे में भी सोचते हैं। पूरे राज्य के बारे में सोचने का प्रशिक्षण इन्हीं निगमों से ही प्राप्त होगा जब लोग अपने स्वार्थ से ऊपर उठ कर किसी समूह के बारे में सोचेंगे। नागरिक समाज में तो व्यक्ति स्वार्थी है ही और एक दूसरे का प्रतिद्वन्दी है। पर विभिन्न निगमों के सामूहिक जीवन में भाग लेकर वह सामूहिक सन्दर्भों में भी सोचने लगता है। स्वार्थगत प्रतिद्वन्दिता होते हुए भी उससे ऊपर उठकर सोचता है। जो स्वार्थी है उनमें भ्रातृत्व (fraternity) के भाव का उदय होता है।

आधुनिक समाज हेगल के लिए बहुत ही जटिल है। इसकी आर्थिक व्यवस्था स्वार्थ पूर्ति पर टिकी है। जो इस व्यवस्था के साथ जुड़े हैं वे ही राज्य के नागरिक भी हैं। नागरिकता नैतिकता और त्याग की मांग करती है। आधुनिक आर्थिक व्यवस्था स्वार्थपूर्ति का आग्रह उपस्थित करती है। इस टकराव को कम करने के लिए और व्यक्तियों के हितों और स्वार्थों को नियमित और नियंत्रित करने के लिए निगमों, संवासों और संस्थानों की अपेक्षा है। इनके बिना व्यक्ति को स्वार्थों को पूरा करने के लिए अपने उपर आधारित रहना पड़ेगा और वह अधिक असुरक्षित महसूस करेगा। उसका न कोई 'rank' अर्थात् पद होगा और न उसकी कोई प्रतिष्ठा। सभी व्यक्ति स्वार्थों से अभिप्रेरित होंगे। आधुनिक राजनीतिक परिस्थितियों में राज्य के कार्यों में हाथ बंटाने के अवसर नागरिक के पास बहुत ही कम हैं। निगमों, संवासों और संस्थानों में उसे सार्वजनिक जीवन बिताने के अधिक अवसर प्राप्त होंगे। विचार विनिमय, निर्णय लेना और निर्णय को कार्यान्वित करने की प्रक्रिया में उसे अपने महत्व और कार्य विस्तार का ज्ञान होगा। उसे आत्म गौरव का बोध होगा। इसलिए निगमों और संस्थानों का होना आवश्यक है। हेगल का कथन है :

'Unless he is a member of an authorized corporation ... an individual is without rank or dignity, his isolation reduces his business to mere selfseeking and his livelihood and satisfaction become insecure'.

अथवा

फिलासफी आफ़ राइट के परिशिष्ट संख्या 151 के अनुसार :

'This work of a public character, which the modern state does not always provide, is found in the corporation.'

इसके अतिरिक्त निगम और संस्थान आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को रोकते हैं। हेगल के अनुसार :

'Particular interests which are common to everyone fall within civil society and lie outside the absolutely universal interest of the state proper. The Adminitration of these are in the hands of the corporations, commercial and professional as well as municipal, and their officials, directors, managers, and the like.'

निगमों की यह भी भूमिका है कि वे अपने सदस्यों के सामूहिक हितों की रक्षा करें और उनकी शिक्षा का भी प्रबन्ध करें। हेगल के अनुसार निगम अपने सदस्यों के लिए दूसरा परिवार (second family for their members) है। नागरिक समाज की आकस्मिक गतिविधियों के नाते जो निर्धनता उत्पन्न होती है उसे भी निगमों को अपने सम्पन्न सदस्यों द्वारा विपन्न सदस्यों की सहायता से दूर करना चाहिए। यह करिश्मा सदस्यों के आपसी सद्भाव के नाते उत्पन्न होता है।

इसके अतिरिक्त इन नियमों के सन्दर्भ में हेगल ने एक ऐसी स्थापना की है जो 19वीं और 20वीं शताब्दी के जनान्दोलनों का आधार है। हेगल का कथन है कि निगमों को समाज के निर्धन वर्गों के भी हितों को ध्यान में रखकर कार्य करना चाहिए ताकि निर्धन भी राजनीतिक सत्ता में अपने संगठन द्वारा भाग ले सकें। निर्धन वर्ग सामान्य जन का है। जहाँ तक श्रमिकों का प्रश्न है वे व्यावसायिक वर्ग के साथ जुड़े हैं। उनका संगठन तो है ही पर सामान्य जन का भी संगठन होना चाहिए। वे अब तक असंगठित हैं। जैसे कूड़े के ढेर पर विभिन्न प्रकार के सामान पड़े रहते हैं ठीक उसी तरह। जब उनका निगम होगा तब उनके पास संगठित वैध शक्ति होगी। हेगल के अनुसार :

'The lower classes, the mass of the population, have been left more or less unorganized. And yet it is of the utmost importance that the massess should be organized, because only so do they become mighty and powerful. Otherwise they are nothing but a heap, an aggregate of atomic units. Only when the particular associations are organized members of the state are they possessed of legitimate power.'

इसी के साथ हेगल ने इस बात पर भी जोर दिया है कि नागरिक समाज और राज्य के बीच में स्थित निगमों पर राज्य का निरीक्षण भी होना चाहिए। अन्यथा वे जातियों के समूह हो जायेंगे। मूलतः निगम की पहचान किसी खास समूह से नहीं बल्कि उद्देश्य से होती है और वे इस दृष्टि से बन्द समूह नहीं खुले समूह हैं। उनका खुलापन बरकरार रहे इसके लिए राज्य को निगमों का निरीक्षण करना चाहिए।

6. राज्य का स्वरूप बहुलवादी है-

हेगल की धारणा थी कि राज्य और व्यक्ति के बीच में राज्य के अधिकारियों की सत्ता को

संतुलित और प्रतिसंतुलित करने के लिए स्वैच्छिक संस्थान आवश्यक है। निगम किसी न किसी प्रकार आर्थिक लक्ष्यों के साथ जुड़े हैं। इसके अतिरिक्त गैर आर्थिक निगमों और स्वशासी संस्थानों (self governing institutes) की आवश्यकता है। सार्वजनिक जीवन का व्यापक क्षेत्र व्यक्ति के निर्णय और उसके विवेक के अधीन होना चाहिए। इस क्षेत्र को संस्थान में रूपान्तरित करना चाहिए। उन संस्थानों में व्यक्ति स्वतः निर्णय लेंगे और उस निर्णय को कार्यान्वित करेंगे। इस तरह व्यक्तिगत स्वतंत्रता अथवा क्षेत्र विशेष की स्वायत्तता सार्वजनिक स्वायत्तता का स्तम्भ है। हेगल के अनुसार :

'They are the pillars of public freedom since in them particular freedom is realized.'

इन संस्थानों से सामाजिक शक्तियों का भी वितरण होता है। इसके फलस्वरूप राज्य की सत्ता में विश्वास उत्पन्न होता है। राज्य के अधिकारियों को उत्तरदायी होना पड़ता है। सत्ता के दुरुपयोग पर रोक लगायी जा सकती है। अपेक्षित है कि राज्य में एक मध्यम वर्ग हो। यह मध्यमवर्ग प्रशासनिक सेवा वर्ग को अपने अधिकारों के दुरूपयोग से प्रतिबन्धित करेगा। यह सही है कि प्रशासनिक सेवा वर्ग सार्वजनिक वर्ग (universal class) है। पर यर्थाथ जगत में स्थित होने के नाते इसकी अपनी कमजोरियाँ भी हैं। उसे रोकने के लिए मध्यम वर्ग के निगम और स्वायत्त संस्थाएं हो जैसे नगर निगम इत्यादि। इनमें शक्तियाँ बंट जायेंगी तो प्रशासनिक सेवा वर्ग का कार्य बंट जायेगा। हेगल के अनुसार राज्य के लिए दो विशिष्ट खतरे हैं- अतिशय केन्द्रीकरण और अतिशय विकेन्द्रीकरण। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति ने सभी स्वैच्छिक संस्थाओं को समाप्त करके अतिशय केन्द्रीकरण किया, जिसे नेपोलियन ने भी स्वीकार किया। इसके विपरीत मध्ययुग में अतिशय विकेन्द्रीकरण था। निगम और स्वायत्त संस्थाएं राज्य के भीतर राज्य की तरह आचरण करती थीं। होना चाहिए कि विभेदीकरण के साथ केन्द्रीकरण हो। यह विभेदीकरण सामाजिक ढांचे में हो और वह एक दायरे में व्यक्ति की स्वायत्तता को सुरक्षित करे।

इसी सम्बन्ध में हेगल ने धार्मिक संस्थानों की भी चर्चा की है। धार्मिक संस्थाएं या चर्च राज्य से श्रेष्ठ नहीं है बल्कि राज्य के अधीन है। दरअसल धर्म की सत्ता के विशृंखलित होने के उपरान्त ही आधुनिक राज्य का स्वरूप उभरा। नागरिकों को अपनी इच्छा से उपासना पद्धतियों को चुनने का अवसर मिलना चाहिए। राज्य को किसी भी उपासना पद्धति को अनिवार्य नहीं बनाना चाहिए। जितना ही सशक्त राज्य होगा, विभिन्न उपासना पद्धतियों के प्रति उतना ही वह उदार होगा। धार्मिक सहिष्णुता का आधार व्यक्ति की स्वायत्तता है जिसे राज्य को स्वीकार करना चाहिए। धर्म इस प्रकार स्वैच्छिक संस्थानों का विषय है। राज्य इन स्वैच्छिक संस्थाओं का अतिक्रमण करता है। वह सार्वजनिक है, स्वैच्छिक नहीं।

7. राज्य कानून का स्रोत है -

बुद्धि की अभिव्यक्ति होने के नाते राज्य द्वारा निर्मित अधिनियम विवेक सम्मत है। इसलिए नैतिक भी। हेगल ने विधि और स्वतंत्रता में अनुकूलता को स्वीकार किया है। कानून स्वतंत्रता को संकुचित नहीं करता। उसको साकार करता है। क्योंकि मूलतः कानून सार्वजनिक संकल्प (Universal will) पर आधारित है। नागरिक यह स्वीकार करेंगे कि यह उनकी विवेकपूर्ण इच्छा थी जो राज्य के सार्वजनिक संकल्प में व्यक्त हुई और वह कानून है। हेगल की यह धारणा बुद्धिपरकता (rationality), विधि (Law) और स्वतंत्रता (freedom) का समीकरण है।

8. राज्य नैतिकता के बन्धन से मुक्त है -

इस लक्षण के आधार पर कुछ समीक्षकों ने हेगल पर यह आरोप लगाया है कि हेगल का राज्य एक प्रकार का अग्रनात्सी (protonazi) राज्य है। इसके विरुद्ध व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा के आधार पर राज्य का विरोध नहीं कर सकता। पल्सजिन्स्की ने इस बात का खण्डन किया है।

उसके अनुसार हेगल ने यह स्वीकार किया है कि सुकरात और ईसा मसीह जैसे नीति मनीषी (ethical geneus) स्थापित सामाजिक नैतिकता का अतिक्रमण कर सवाल उठा सकते हैं। हेगल ने यह भी स्वीकार किया है कि विधि और नैतिकता की व्यवस्था विकृत भी हो सकती है। यदि राज्य स्वार्थी हो, भ्रष्टाचारी हो और सामान्य आचरण में अनैतिक हो तो इसकी नैतिक वैधता समाप्त हो जाती है। वैसे राज्य की सत्ता नागरिकों के विश्वास पर टिकी है। सामान्यतया वे मानते हैं कि राज्य विवेक सम्मत है। इसीलिए राष्ट्र प्रेम की तरह विधि अनुपालन भी नागरिकों के विश्वास से उत्पन्न होगा। पर हेगल के अनुसार इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य निरन्तर जनता के अनुकूल ही आचरण करें। इसके अपवाद हैं।

9. युद्ध राज्य की सत्ता का जीवन्त बोध है-

कुछ समीक्षकों का मत है कि हेगल उग्र राष्ट्रवादी, सर्वाधिकारवादी विचारक है। वह युद्धोन्माद का समर्थक है और युद्ध को राज्य का यशस्वी कार्य मानता है। ये विचारक हैं कार्ल पापर और हैन्स कोहेन (Hans Kohen)। दूसरी श्रेणी के विचारक यह मानते हैं कि युद्ध सम्बन्धी हेगल के विचार तत्कालीन परिस्थितियों के दर्पण हैं और उसने मात्र युद्ध से सम्बन्धित जो वास्तविक स्थिति थी उसी का वर्णन किया है। ये विचारक हैं सेवाईन, फिण्डले और एफ0 एस0 नार्थाप (F.S. Northop)। तीसरी श्रेणी के विचारक मानते हैं कि हेगल युद्धोन्माद का समर्थक नहीं है बल्कि उसका दर्शन शान्ति व्यवस्था के अनुकूल है। ये दार्शनिक है श्लोमों अविनेरी (Shlomo Avineri) और कॉफमैन।

हेगल के निम्नलिखित उद्धरण ने यह उलझन पैदा की है :

'War is not to be regarded as an absolute evil and as a purely external accident, which itself therefore has some accidental cause, be it injustices, the passions of nations or the holders of power, & C., or in short, something or other which ought not to be. It is to what is by nature accidental that accidents happen, and the fate whereby they happen is thus a necessity.

इस उद्धरण का मात्र इतना अर्थ है कि अब तक इतिहास में युद्ध भी एक कारण रहा है जिससे मनुष्य की प्रगति हुई है। इस अर्थ का आधार हेगल का इतिहास दर्शन और अन्य अनुसंगिक संदर्भ हैं । वे आकस्मिक घटनाएं अवश्य हैं पर आकस्मिकता भी इतिहास की अनिवार्यता को गति प्रदान करती है। अविनेरी ने इस बात पर जोर दिया है कि सामान्यतया युद्ध का विरोध प्राण रक्षा और सम्पत्ति की सुरक्षा के आधार पर किया जाता है। पर हेगल ने स्वतः इसका निषेध किया है। उसका कहना है कि यदि सम्पत्ति की सुरक्षा और प्राणों की रक्षा के लिए युद्ध किया जाता है तो यह बात बिल्कुल हास्यास्पद लगती है क्योंकि युद्ध में मृत्यु, सम्पत्ति और जीवन दोनों की परिसमाप्ति संभव है। फिर युद्ध उनकी रक्षा कैसे करेगा? अविनेरी ने युद्ध की तुलना 'प्लेग' से की है। जैसे प्लेग में विषम परिस्थितियों के नाते कई परिवार संनद्ध होकर उसका सामना करते हैं और अपने - अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का परित्याग करते हैं, उसी प्रकार युद्ध की विषम परिस्थिति में राष्ट्र-बोध बहुत जागृत और जीवन्त होता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि प्लेग या युद्ध को महिमामण्डित किया जा रहा है। युद्ध उन्हें अवसर प्रदान करता है कि वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का अतिक्रमण करें। यह युद्ध का मनोवैज्ञानिक प्रभाव है। उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या है, संस्तुति नहीं। यदि ऐसी विषम परिस्थिति संयोगात आ ही गयी तो युद्ध में संलग्न व्यक्ति अपनी तनख्वाह के लिए प्राणों पर खतरा मोल नहीं लेता। वह व्यापक समष्टि बोध के अधार पर लड़ता है। किसी राज्य की शक्ति का अन्दाजा समष्टि बोध से ही लगता है। युद्ध वह कसौटी है जिससे यह पता चलता है।

अविनेरी की यह धारणा है कि हेगल ने युद्ध को ऐतिहासिक घटनाक्रम मानकर व्याख्या की है। न उसे प्रोत्साहित किया है न उसका समर्थन मात्र तटस्थ व्याख्या।

10. राज्य के विरुद्ध क्रान्ति स्वीकार्य नहीं है -

फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति 1789 के अनुभव के नाते हेगल जनक्रान्तियों के प्रति बड़ा संशकित था। उसका मत था कि सामान्यजन अनुशासित नहीं होते। वे भावनाओं के प्रवाहों में बहते हैं। क्रान्तियाँ अराजक हो जाती हैं। इसलिए वह सामान्यतया क्रान्तियों का समर्थन नहीं करता। पर ऐसी परिस्थितियाँ इतिहास में उत्पन्न होती हैं, जब सत्तारूढ़ शासक इतिहास की धड़कन को पहचानते नहीं। अपेक्षित सुधार और संशोधन नहीं करते। तब क्रान्तियाँ दुर्निवार विस्फोट की तरह घटित होती हैं।

क्रान्तियों में निहित अनिश्चितता के नाते हेगल उसको स्वीकार नहीं करता। पर वह मानता है कि विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति विद्रोह कर सकता है। सुकरात और ईसा मसीह का उदाहरण उसने प्रस्तुत किया है।

इन सारे प्रश्नों पर उलझन इस बात पर उत्पन्न होती है कि हेगल ने जिस राज्य का प्रारूप प्रस्तुत किया है वह वास्तविक रूप से स्थित राज्य नहीं है। हेगल के आलोचकों ने राज्य के आदर्श रूप और वास्तविक रूपों में स्थित राज्यों में अन्तर नहीं किया है।

उपर्युक्त लक्षणों से यह स्पष्ट है कि राज्य सामान्य संस्थाओं से भिन्न है। इसके बिना मनुष्य के भीतर निहित मनुष्य का नैतिक विकास संभव नहीं है। यह पृथ्वी पर ईश्वर तो नहीं है किन्तु पृथ्वी पर ईश्वर के विधान के अन्तर्गत स्थित है। इसलिए इसकी महानता को देखकर कहा जा सकता है कि इसमें दैवी तत्व है।

इस बुद्धिपरक राज्य की शासन व्यवस्था कैसी होगी? हेगल ने राज्य के तीन वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं - Tyranny (उत्पीड़न तंत्र), Democracy (लोकतंत्र) और Hereditory Monarchy (वंशानुगत राजतंत्र)। Tryanny (उत्पीड़न तंत्र) राज्यों के संस्थापकों के शासन का स्वरूप है। वे सामान्य जन की भीड़ से एक राज्य का निर्माण करते हैं। यह हेगल के लिए मैकियावेलियनिज्म (Machiavellianism) का वास्तविक अर्थ है। अर्थात् इसका अर्थ है राज्य स्थापना की कला। इस शब्द का यही अर्थ हेगल ने लगाया था। वह यह नहीं मानता कि मैकियावेलियनिज्म राज्य संचालन की व्यवस्था है। एक बार राज्य की स्थापना हो गयी तो अधिनायक अथवा उत्पीड़क की उपयोगिता समाप्त हो जाती है। राज्य के संचालन में उत्पीड़क या अधिनायक की अपेक्षा नहीं। इस व्यवस्था को नागरिक हटा देते हैं जब स्थापना के उपरान्त उत्पीड़न प्रारम्भ होता है। सामान्यतया मनुष्य इससे घृणा करते हैं। ऐसी व्यवस्था से शासित होना हीनता के भाव को जन्म देता है। इस व्यवस्था की प्रतिक्रिया में लोकतंत्र (Democracy) का जन्म होता है। प्राचीन यूनान का लोकतंत्र एक छोटे राज्य, नगर राज्य, का लोकतंत्र था। इस व्यवस्था में जिन्हें नागरिकता प्राप्त थी उनकी संख्या नगर राज्य के निवासियों की संख्या से कम थी। इसके अतिरिक्त यूनानी नागरिक पूर्णतया नगर राज्य से एकीकृत महसूस करता था क्योंकि प्राचीन यूनान में व्यक्ति-निष्ठता की अवधारणा (The conception of subjectivity) का विकास नहीं हुआ था। वह विकास तब हुआ जब सोफिस्ट और सुकरात के माध्यम से नागरिक और राज्य का संतुलन टूटने लगा। यह अनिवार्य ऐतिहासिक विकास था। पर यह विकास मूलतः आत्मचेतना की अभिव्यक्ति थी। व्यक्तिनिष्ठता के इसी सिद्धान्त का पूर्ण विकास आधुनिक युग में सम्पन्न हुआ। आधुनिक अर्थव्यवस्था व्यक्तिनिष्ठता की एक अभिव्यक्ति है। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति 1789 के तीन सिद्धान्त स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व इसके आधार हैं।

इसके अनुसार हर व्यक्ति की इच्छा स्वतंत्र है। इसी नाते वे समान भी हैं। इसी आधार पर सार्वजनिक सम्प्रभुता अथवा लोकतंत्र को फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों ने स्वीकार किया। पर वस्तुतः यह व्यक्तिगत चेतना की सत्ता थी। व्यक्ति के निजी संकल्प के सहारे लोकतंत्र को मूर्तिमान करने का प्रयास किया गया। व्यक्ति को केवल इन सिद्धान्तों का बोध था। पर चूंकि हर व्यक्ति को इसका बोध था इसलिए हर व्यक्ति अपने-अपने ढंग से इन सिद्धान्तों को समझता था। फलस्वरूप लोकतंत्र के स्वरूप पर असहमति थी। इसका एक ही बाध्य रूप सभी व्यक्तियों को स्वीकार्य था और वह था स्थापित व्यवस्था का विनाश। इस पर सभी सहमत थे। इन सिद्धान्तों के नकारात्मक पक्ष पर सहमति मात्र से संस्थाएँ नहीं बनतीं। सभी व्यक्ति अपने को सम्प्रभु का अंग मानते थे। वे यह समझते थे कि संस्थाएं बनने से समानता नष्ट होगी क्योंकि संस्थाओं में कार्यों का विभेदीकरण होगा। पर अमूर्त स्वरूप में स्वतंत्रता और समानता का बोध किसी भी व्यवस्था के प्रतिकूल है। अतः बड़े लोकतंत्र में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी बिना किसी संस्थागत संगठन के संभव नहीं। इसलिए जब भी कोई शासन तंत्र स्थापित होगा ये अमूर्त असीम, क्रान्तिकारी सिद्धान्त उसको प्रतिकूल होंगे। यह अनवरत् क्रान्ति (perpectual revolution) की स्थिति है और अनवरत क्रान्ति अनवरत अराजकता (perpectual anorchy) है। इस प्रकार हेगल के लिए अमूर्त स्वतंत्रता (absolute freedom) आतंक (terror) है। रुसो के अर्थ में परिकल्पित लोकतंत्र असम्भव है। व्यक्ति और शासन के बीच में संस्थाओं की श्रृंखला होनी चाहिए। प्रत्यक्ष लोकतंत्र इसको स्वीकार नहीं करता। जो जन सम्प्रभुता इसको स्वीकार नहीं करती वह जनतंत्र अराजक होने के लिए अभिशप्त है। हेगल के अनुसार फ्रांसीसी क्रान्ति और लोकतंत्र की यही त्रासदी थी। अमूर्त व्यक्ति का अस्तित्व भी नहीं है। पर इसी पर लोकतंत्र का सिद्धान्त आधारित है। इसलिए चार्ल्स टेलर के अनुसार आधुनिक लोकतंत्र अपने बन्धन में ही उलझ गया है :

'Modern democracy is thereafter in a bind'

इसका यह अर्थ नहीं है कि हेगल स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। वह स्वीकार करता है उनके अमूर्त रूप को। पर जब विभिन्न संस्थाओं में वे अनूदित होते हैं और समूह जीवन के नाते अनुशासित होते हैं तो वे आधुनिक राज्य के एक स्तम्भ बन जाते हैं। आधुनिक राज्य के दो स्तम्भ है - Principle of subjectivity और Principal of Universality. अपनी ऐतिहासिक सीमाओं में हेगल ने वंशानुगत राजतंत्र को उपयुक्त शासन तंत्र माना है। वस्तुतः यह वैधानिक राजतंत्र है। हेगल का कथन है:

'The development of the state to constitutional monarchy is the achievement of the modern world'.

हेगल के अनुसार संविधान थोपे नहीं जाते। वे देश विशेष की संस्कृति, वहाँ के निवासियों की जीवन वृत्ति से उपजते हैं। इस धारणा के अुसार हिंसा, आतंक और क्रान्ति के माध्यम से कोई संवैधानिक परिवर्तन बलपूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकता। हेगल ने अंग्रेजी संविधान का उदाहरण दिया है। बिना सामाजिक चेतना के संवैधानिक परिवर्तन निष्फल होते हैं।

इस दृष्टि से संवैधानिक राजतंत्र इतिहास सिद्ध व्यवस्था है। हेगल के अनुसार व्यवस्थापिका कानून बनायेगी, सम्राट को केवल हस्ताक्षर करना है। हेगल ने एक उपमा दी है जो संविधान और प्रशासन के इतिहास में अजर और अमर हो गयी। उसने कहा कि सम्राट को केवल आई (i) अक्षर पर बिन्दी लगाना है (dotting the i's) है। उसके बिना आई बिना बिन्दी (dot.) के ही रह जायेगा। व्यवस्थापिका का काम कानून बनाना है, राजा का काम केवल उस पर हस्ताक्षर करना है।

कार्यकारिणी को कानून लागू भी करना है और चूंकि न्यायपालिका कार्यकारिणी का एक अंग है, इसलिए कार्यकारिणी के इस अंश को निर्णय भी लेना है।

शासन सुचारू रूप से चले; इसलिए लोकमत की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। शासन के साथ इसकी अन्तक्रिया होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है स्वतंत्र विचार की अभिव्यक्ति के अवसर। इसलिए विचारों का प्रकाशन आवश्यक है। हेगल ने प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन किया था। उसने विधि के शासन के महत्व को रेखांकित किया है। इसके लिए आवश्यक है कि कानूनों की संहिता बनायी जाय। पर संहिता विधि की तकनीकी और शास्त्रीय भाषा में न हो अन्यथा कानून और नागरिक के बीच में वकील आ जायेंगे। हेगल को वकीलों में विश्वास नहीं था। उसकी यह भी धारणा थी कि सरल भाषा के अतिरिक्त कानून किसी देश की परम्परा और उनकी दृष्टियों का संचित रूप हो। पर वह इग्लैण्ड में प्रचलित 'कामन लॉ' को स्वीकार नहीं करता। कामन लॉ का अर्थ होगा कि न्यायाधीश उसकी व्याख्या करेगा। वह वस्तुतः न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून (Judge made law) है। कानून बनाने वाली व्यस्थापिका की कार्यवाही भी सार्वजनिक होनी चाहिए। इसलिए यह पारदर्शी हो, प्रकाशित हो ताकि लोकमत इस पर विचार कर सके।

न्यायालय की प्रक्रिया के सम्बन्ध में हेगल का मत था कि जूरी की व्यवस्था होनी चाहिए और न्यायिक प्रक्रियाएं बन्द कमरे में न होकर जनता के समक्ष होनी चाहिए। हेगल के सम्बन्ध में बहुत से राज्यों में न्यायिक प्रक्रियाएँ गोपनीय ढंग से चलती थीं। इन सबसे स्पष्ट है कि हेगल विधि के शासन (rule of law) का समर्थक था। इसके लिए हेगल ने उपर्युक्त प्रावधान तो किये ही हैं। उन सब के अतिरिक्त एक और प्रावधान पर जोर दिया है। उसने व्यक्तिगत अधिनियम और सार्वजनिक अधिनियम में अन्तर करना अनिवार्य माना है। व्यक्तिगत अधिनियम नागरिकों के निजी स्वार्थ और हितों से सम्बन्धित है; सार्वजनिक अधिनियम राज्य के सार्वजनिक हितों से। हेगल के समय में कुछ राज्यों में यह अन्तर नहीं था और कुछ प्रसिद्ध न्यायविदों ने भी इस अन्तर को स्वीकार नहीं किया था। पर हेगल ने इस अन्तर को अनिवार्य माना है। उसकी दृष्टि में इस अन्तर को न मानने पर स्वार्थ और सार्वजनिक हित का अन्तर मिटने लगता है और फलस्वरूप सार्वजनिक हित की पहचान लुप्त होने लगती है। राज्य निजी स्वार्थो के अभिभावक के रूप में उभरने लगता है। पर राज्य किसी राजवंश या नागरिकों के कुछ विशिष्ट परिवारों के हितों के संरक्षण का माध्यम नहीं है। यह एक नैतिक संस्थान है जो नागरिकों के आपसी सद्भाव के साथ मानवीय जीवन की पूर्णता का प्रयास करता है।

राज्य को नैतिक संस्थान मानने के नाते हेगल यह नहीं मान पाता कि राज्य की समस्या मात्र शासन का कुशल संचालन है। इसलिये उसने अपने समकालीन जर्मनी में प्रचलित कैमरेलिज़्म (Cameralism) की कड़ी समीक्षा की है। जो विचारक इस धारणा का प्रतिनिधि था, उसका नाम था जस्टी (Juste)। इस धारणा का प्रभाव अंग्रेजी अर्थशास्त्री स्टुअर्ट (Stuart) पर भी पड़ा। स्टुअर्ट से हेगल प्रभावित था। इस प्रभाव का कारण था स्टुअर्ट की तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था का विश्लेषण। स्टुअर्ट ने आर्थिक व्यवस्था के नियमन के लिए राज्य के हस्तक्षेप को अनिवार्य माना। यह कार्य राज्य के शासक द्वारा सम्पन्न होना है। शासन का स्वरूप जैसा भी हो - राजतंत्रतात्मक, निरंकुशतंत्रात्मक अथवा लोकतांत्रिक-स्टुअर्ट के लिए शासन तंत्र का स्वरूप नगण्य प्रश्न है। स्टुअर्ट स्वतः कैमेलिस्ट विचारकों से प्रभावित हुआ था। कैमेलिस्ट विचारधारा के प्रतिनिधि 'जस्टी' के अनुसार राज्य एक यंत्र की तरह है जिसमें पहिया, गियर, इसके कल पुर्जे एक दूसरे से मिलजुल कर काम करते हैं। शासक एक फोरमैन की तरह है जो मशीन को चलाता है। जस्टी का कथन है:

'A properly constituted state must be exactly analogous to a ma-

chine in which all the wheels and gears are precisely adjusted to one another; the ruler must be the foreman...'

कैमेलिस्ट विचार के अनुसार शासन का कुशल संचालन हो रहा है तो राज्य का कोई भी स्वरूप हो वह महत्वपूर्ण नहीं। अंग्रेजी कवि पोप की निम्न पक्तियाँ इस विचारधारा को पूर्णतया व्यक्त करती हैं:

'For forms of Government let fools contest Whatever is best administered is best.

पर हेगल के लिए यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि राज्य का स्वरूप है क्या? ऐसा इसलिए था कि शासन के कुशल संचालन मात्र से राज्य का औचित्य प्रमाणित नहीं होता। यह सही है कि स्टुअर्ट और जस्टी के इस बात को हेगल मानता है कि आर्थिक क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप करके व्यक्तिगत स्वार्थों के नाते उत्पन्न अराजकता को अनुशासित करना चाहिए। इससे व्यक्ति की सुरक्षा सुनिश्चित होगी। सुरक्षा अनिवार्य है लेकिन व्यक्ति का अत्यन्तिक लक्ष्य नहीं। आत्यन्तिक लक्ष्य है कि व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता को सटीक रूप से व्यक्त कर सके। यह तभी संभव है जब वह नैतिक जीवन व्यतीत करे और राज्य के अन्य नागरिकों के साथ उसका तादात्म्य हो। इसके लिए आवश्यक है कि नागरिक की शासन में भागीदारी हो। उसे अवसर प्रदान किया जाय ताकि वह राजनीतिक प्रश्नों पर निर्णय ले सके। निर्णय लेने की क्षमता और उत्तरदायित्व का बोध व्यक्ति को आर्थिक मानव (Homoeconomicus) के स्तर से उठाकर नागरिक (citigen अर्थात citizen) के स्तर पर प्रतिष्ठित करता है। इसलिये हेगल जीवन के आधुनिक विभाजन (modern fragmentation) के स्थान पर समष्टिगत जीवन की एकरसता और सहकार को राज्य के भीतर मूर्त करना चाहता था।

5.13 सारांश

हेगल के सम्बन्ध में अंग्रेजी भाषा-भाषी देशों में बड़ी भ्रान्तियाँ प्रचलित थीं। इसका उदाहरण बर्टेण्ड रसल का निम्नलिखित वक्तव्य है:

'If follows from his metaphysics that true liberty consists in obedience to an arbitrary authority, that free speech is an evil, that absolute monarchy is good, that the Prussian state was the best existing at the time when he wrote, that war is good and that an international organization for the peaceful settlement of disputes would be a misfortune....'

उपर्युक्त वक्तव्य प्रतीक है ऐसे सभी समीक्षकों का जो हेगल के चिन्तन को उग्र राष्ट्रवाद खासतौर से जर्मन राष्ट्रवाद, तानाशाही, सर्वाधिकारवाद और नात्सीवाद का भी समर्थक मानते रहे। इतना ही नहीं हेगल को नस्लवाद अथवा प्रजातिवाद का भी समर्थक माना गया है। हेगल के समय में कतिपय विचारकों ने उसे अनुदारवादी और रूढ़िवादी कहा। उनमें दो विचारक प्रमुख थे जे० एफ० फ्राइज और हेम। फ्राइज की धारणा थी कि हेगल का चिन्तन गुलामी और दासता का प्रतीक है। उसके अनुसार : (Hegel's philosophy has grown not in the gardens of science but on the dung heep of servility) फ्राइज की इस युक्ति के आधार पर हेगल का दर्शन अनुदारवाद और गुलामी का समर्थक था। फ्राइज अपने को उदारवादी मानता था। वाल्टर काफमैन ने फ्राइज की कृतियां से उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया है कि फ्राइज यहूदियों और गैर-यहूदियों में अन्तर मानता था तथा इस बात की वकालत करता था कि यहूदियों को अधिकारों से

वंचित किया जाय। इसके विपरीत हेगल, काफमैन के अनुसार, यहूदियों और गैरयहूदियों में अन्तर नहीं मानता था। उसके लिए आधुनिक राज्य में प्रजाति, धर्म, भाषा और संस्कृति के आधार पर किसी भी नागरिक में भेदभाव न किया जाय। सभी नागरिक समान है -चाहे वे ईसाई हों, मुसलमान हों, कैथोलिक हों अथवा प्रोटेस्टेट हों। आधुनिक राज्य का यही लक्षण है- विधि का शासन (rule of law)।

हेम (Haym) का आरोप था कि हेगल प्रशावादी है अर्थात् उसका दर्शन प्रशा के राजतंत्र का अन्धसमर्थन है। चार्ल्स टेलर (Charles Tylor) की युक्ति है कि जिस प्रशा को हेम ने हेगल का समर्थक माना है वह 1848 का प्रशावाद नहीं था। वस्तुतः 1848 का प्रशा तो हेगल की मृत्यु के 17 वर्ष ब.द उभरा है। जिस प्रशा का समर्थन हेगल ने किया है वह 1815 के बाद का प्रशा है। उस प्रशा में बड़े बौद्धिक और वैज्ञानिक परिवर्तन हुए। विश्वविद्यालयों में बौद्धिक स्वायत्तता जन्म लेने लगी। वह प्रबुद्ध प्रशा था। हेगल ने उस प्रशा का समर्थन किया था। किसी भी दृष्टि से हेगल में प्रशावाद (Prussianism) नहीं था। बल्कि एक समय ऐसा भी था जब हेगल प्रशा का बड़ा कड़ा आलोचक था। यह स्पष्ट है उसके 1802 के लेख 'जर्मन संविधान' (The German Constitution) में। वैसे भी हेगल ने जिस राज्य का चित्र फिलॉसफी आफ राइट' में खींचा है वह इतिहास में स्थित किसी राज्य विशेष का चित्र नहीं है। इसलिए विस्मार्क ने प्रशा को जो रूप प्रदान किया, जिसका विस्तार कैसर की जर्मनी और प्रथम महायुद्ध के उपरान्त उग्र जर्मन राष्ट्रवाद के प्रतीक के रूप में हिटलर में व्यक्त हुआ, उस प्रशा का समर्थन काफमैन, चार्ल्स टेलर, प्लेमेनाट्ज, प्लाण्ट, और पल्सजिन्स्की के अनुसार हेगल के राज्य चिन्तन में कदापि नहीं है। इसलिए ई0 एफ0 कैरिट (E.F. Coarit) के विचार 'हेगल एण्ड प्रशनिज्म' (Hegel and Prussianism), मैकगवर्न के विचार 'फ्राम लूथर टु हिटलर' (From Luther to Hitler) में और पापर के विचार 'द ओपेन सोसाइटी एण्ड इट्स इनमीज़ (The Open Society and its Enemies) में साक्ष्यों के आधार पर असंगत और निराधार हैं। पापर ने हेगल और नात्सी जर्मनी के बीच वैचारिक सम्बन्ध स्थापित किया है। वह हेगल के विचार को सर्वाधिकारी राज्य (Totalitarian state) का जनक मानता है। हर्बर्ट मार्क्यूस (Herbet Marcuse) ने अपनी पुस्तक 'Reason and Revolution' में हिटलर के सर्वाधिकारवादी राज्य और हेगल के अनुसार राज्य के स्वरूप में भेद उपस्थित किया है। उसके अनुसार हेगल मानता था कि राज्य नागरिक समाज से श्रेष्ठ है और यह नागरिक समाज का नियमन करता है। इसके विपरीत हिटलर के सर्वाधिकार वादी राज्य में नागरिक समाज अर्थात् व्यावसायिक वर्ग और आर्थिक स्वार्थ हिटलर के राज्य को परिचालित करते हैं। उस राज्य का उद्देश्य युद्ध, विजय, सत्तास्थापन, आर्थिक स्वार्थ, भौतिक समृद्धि थी। इतना ही नहीं हिटलर के राज्य में सत्ता केन्द्रीयकृत थी। नागरिकों को राजनीतिक जीवन में भाग लेने का कोई भी अधिकार नहीं था। इसलिए किसी भी दृष्टि से हिटलर के राज्य सिद्धान्त और हेगल के विचारों में संगति नहीं है।

इन आलोचनाओं के नाते हेगल के चिन्तन का महत्वपूर्ण पक्ष अवगुण्ठित हो गया। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त विचारकों ने हेगल के महत्व को समझाना प्रारम्भ किया। 19वीं शताब्दी में मार्क्स ने हेगल के तत्वशास्त्र को अस्वीकृत किया। पर उसने उसके अवदान को स्वीकार किया। 1870 के दशक में एन्जिल्स ने एक लेख में हेगल का उल्लेख किया। विलियम लाइविनेक्ट नामक सम्पादक ने टिप्पणी में हेगल को प्रशा के राजवंश के दार्शनिक की संज्ञा दी। मार्क्स और ऐन्जिल्स के बीच उसी दशक के दो पत्रों से यह स्पष्ट है कि इन दार्शनिकों को हेगल के सम्बन्ध में फैले अज्ञान पर हंसी आती थी। 20वीं शताब्दी में जर्मनी और इग्लैण्ड के बीच प्रतियोगिता के नाते प्रथम महायुद्ध और

द्वितीय महायुद्ध के परिप्रेक्ष्य में भ्रान्तियाँ विद्यमान रही। काफमैन ने तो प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि पापर ने हेगल के उस संचयन से उद्दरण दिये हैं जो हाई स्कूल के विद्यार्थियों के लिए तैयार किया गया था। उस संचयन में हेगल के पूरे लेख न देकर विभिन्न लेखों से काटछांट कर उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। उसी के आधार पर पापर ने यह कहाः "Hegelianism is the renaissance of tribalism" । इन सबको देखते हुए 1950 के उपरान्त हेगल का पुनर्मूल्यांकन हुआ। इस सम्बन्ध में अधुनातन विमर्श की निष्पति है कि हेगल ने आधुनिक समाज (Modern society) उसकी अर्थव्यवस्था और उसके सामाजिक सम्बन्धों की गहरी छान-बीन की। उसका प्रयास था कि आधुनिक समाज में व्यक्ति द्वीप की तरह अलग-थलग न रहें, बल्कि अपने स्वार्थों की पूर्ति करते हुए वे सार्वजनिक जीवन के अविच्छिन्न अंग बने रहे। वे सम्पूर्ण के साथ समरस हों। उसमें विलीन न हों। इन्हीं अर्थों में राज्य एक नैतिक संस्थान हैं- व्यक्तिनिष्ठता या व्यक्तिगत स्वतंत्रता (subjective freedom) और सार्वजनिक स्वतंत्रता (Public freedom) का समन्वय।

5.14 संदर्भ ग्रन्थ

(i) पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन (प्लेटो से मार्क्स) : आर. एम. भगत

(ii) पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन : डॉ. बी. आर. पुरोहित

(iii) पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन : डॉ. एस. सी. सिंहल

(iv) आधुनिक राज्य-दर्शन : राजेश्वर पाण्डेय

(v) प्रमुख राजनीतिक चिंतक (भाग-2) : डॉ0 ब्रजकिशोर झा

(vi) 'ए हिस्ट्री आफ पोलिटिकल थियरी (हिन्दीनुवाद) : जार्ज एच. सेवाइन

(vii) Charles Taylor : Hegel

(viii) Charles Taylor : Hegel and Modern Society.

(ix) Shlomo Avineri : Hegel's Theory of the Modern State.

(x) Raymond Plant : Hegel

(xi) Leo Strauss and Joseph Cropsey : History of Political Philosophy.

(xii) Walter Kaufman : From Shakespeare To Existentialism

(xiii) Z. A. Pelczynski (ed) : Hegel's Political Philosophy.

(xiv) Walter Kaufman : Hegel

(xv) Walter Kaufman : Hegel's Political Philosophy.

(xvi) Karl Raymond Popper : The Open Society and Its Enemies (Vol. II).

(xvii) Herbert Marcuse : Reason and Revolution.

(xviii) B.R. Mehta : Hegal and the Modern State.

(xix) George H. Sabine : A History of Political Theory.

(xx) W.M. McGovern : From Luther to Hitler.

(xxi) W.O. Silbey : Ideas and Ideology.

(xxi) W.A. Dunni : A History of Political Theory vol. 3

5.15 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1- स्वामी और दास सम्बन्ध पर हेगल के विचार स्पष्ट कीजिए ?

2- इतिहास दर्शन पर हेगल के विचारों का मूल्यांकन कीजिए ?

3- स्पष्ट कीजिए कि क्यों हेगल ने राज्य को नैतिक संस्थान के रूप में स्वीकार किया है?

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1- नागरिक समाज का एक लक्षण बताइये ?

2- हेगल की दृष्टि में स्वतंत्रता की विशेषताओं में से एक विशेषता बताइये?

3- एक कारण बताइये कि क्यों हेगल के अनुसार राज्य बुद्धि की चित्रलिपि है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1- वस्तुनिष्ठता (positivity) का अर्थ है :

(अ) जो उचित है
(ब) जो विधि सम्मत है
(स) जो समाज द्वारा स्वीकृत है
(द) ऐसी बाह्य सत्ता जो व्यक्ति को नियंत्रित करती है।

2- हेगल के लिए इतिहास :

(अ) घटनाओं का लेखा-जोखा है
(ब) प्रत्यक्षदर्शी का विवरण है।
(स) इतिहासकारों की अपनी-अपनी व्याख्याएं हैं।
(द) मूलतः स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति और उसका विस्तार है।

3- नागरिक समाज का अर्थ है :

(अ) नागरिकों का समूह
(ब) नागरिकों का शासन करने वाला समूह
(स) नागरिकों के लिए विधि बनाने वाली व्यवस्थापिका
(द) आवश्यकता, उत्पादन और पूर्ति से सम्बन्धित व्यवस्था

5.16 प्रश्नोत्तर

1- द

2- द

3- द

इकाई 6 - टामस हिलग्रीन (1836-1884)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 ग्रीन और उसका युग
6.3 ग्रीन के विचारों के स्रोत
6.4 ग्रीन की दार्शनिक दृष्टि
6.5 ग्रीन के राजनीतिक विचार
(अ) स्वतंत्रता का सिद्धान्त
(ब) अधिकारों का सिद्धान्त
6.6 राज्य का सिद्धान्त
6.7 सम्प्रभुता की अवधारणा
6.8 राज्य की प्रकृति
6.9 प्राकृतिक अधिकार, विधिक अधिकार और राज्य की संज्ञा का प्रतिरोध
310 राज्य और उसके अन्तर्गत अन्य समूह
6.11 राज्य के कार्य
6.12 युद्ध पर ग्रीन के विचार
6.13 सारांश
6.14 संदर्भ ग्रन्थ
1.16 संबंधित प्रश्न
1.17 प्रश्नोत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य टामस हिल ग्रीन के विचारों से आपको भली भाँति परिचित कराना है। इस का अध्ययन करने के पश्चात् आप।

- ग्रीन के चिन्तन के स्रोतों से अवगत हो सकेंगे।
- उसके विचारों के विभिन्न पहलुओं का विवेचन कर सकेंगे।
- ग्रीन के चिन्तन का मूल्यांकन कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

जन्म 1836, देहावसान 1884। ग्रीन के पिता ऐंग्लिकन चर्च के पादरी थे। ग्रीन स्वतः एक निष्ठावान ईसाई था। उसकी शिक्षा रग्बी और बैलियल कालेज आक्सफोर्ड में हुई। प्लेटो के अनुवादक जावेट (Jowett) के प्रभाव से बैलियल कालेज आक्सफोर्ड में वह प्रवक्ता नियुक्त हुआ। वहीं ट्यूटर और फेलो तथा अन्ततोगत्वा मारल फिलॉसफी में प्रोफेसर हुआ।

अध्ययन और अध्यापन के अतिरिक्त उसकी रूचि समाज की व्यावहारिक समस्याओं में भी

थीं। 1870 के उपरान्त उसने राजनीतिक सभाओं में भी भाग लेना और व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। आक्सफोर्ड सिटी काउन्सिल का वह निर्वाचित सदस्य था। राष्ट्रीय शिक्षा से जुड़ी समस्याओं में उसकी गहरी दिलचस्पी थी। वह आक्सफोर्ड स्कूल बोर्ड का सदस्य था। और 'रायल कमीशन ऑन सेकेण्डरी एडुकेशन' (Royal Commission on Secondary Education) का असिस्टेण्ट कमिश्नर भी। अपने भाई की, मद्यपान के नाते हुयी दुर्दशा देखकर वह आजीवन मद्यपान का विरोधी रहा। फलस्वरूप उसकी सहानुभुति ऐसे सभी अभियानों से थी जो मद्यपान-निषेध की वकालत करते थे। उसने 'यूनाइटेड किंगडम टेम्परेन्स एलान्यस (United Kingdom Temperence, Alliance) की सदस्यता ग्रहण कर ली। आक्सफोर्ड के विद्यार्थियों में मद्यपान की लत छुड़ाने के लिए उसने विश्वविद्यालय में काफी पिलाने की दुकान खोली। उसकी धारणा थी कि विद्यार्थियों को 'डेमान रम' (Demon Rum अर्थात् शैतानी शराब) का एक विकल्पपेय देना चाहिए। इस प्रकार ग्रीन ने अकादमिक चिन्तन को जीवन के साथ जोड़ने की कोशिश की।

शिक्षा का प्रसार और मद्यपान निषेध के साथ ही साथ उसने खेतिहर मजदूरों पर औद्योगीकरण के कुप्रभावों का भी अध्ययन किया। उसने भू-स्वामित्व से उत्पन्न असमानता को भी समाप्त करने की चेष्टा की। कहा जा सकता है कि एक प्रत्ययवादी के रूप में वह एक उग्र भू-व्यवस्था सुधारक (Land System reformer) था।

कृतियाँ -

ग्रीन ने अपने जीवन काल में बहुत कुछ प्रकाशित नहीं किया। उसकी मृत्यु के उपरान्त यत्र-तत्र बिखरी हुयी उसकी कृतियों को समेटकर 'राबर्ट लुई नेटिलशिप' ने तीन खण्डों में उन्हें प्रकाशित किया। कुछ कृतियाँ उसकी अलग से भी प्रकाशित हुई यथा राजनीतिशास्त्र पर आक्सफोर्ड के विद्यार्थियों को दिये व्याख्यानों की शृंखला 'लेक्चर्स आन द प्रिन्सिपल्स ऑफ पोलिटिकल आब्लिगेशन' शीर्षक से प्रकाशित की गयी। इसकी भूमिका लिखी आक्सफोर्ड के ही एक दूसरे प्रत्ययवादी आचार्य ए० डी० लिन्डसे ने। ग्रीन के राजनीतिक विचारों के सम्यक्बोध का यह आधार ग्रन्थ है। इसी सन्दर्भ में 1880 में लिकास्टर में सामान्य स्रोताओं के समक्ष दिया गया व्याख्यान 'लिबरल लेजिस्लेशन एण्ड द फ्रीडम ऑफ कान्ट्रैक्ट" (Liberal Legislation and the Freedom of Contract) भी उल्लेख ।

6.2 ग्रीन और उसका युग

ग्रीन के राजनीतिक चिन्तन में प्रत्ययवाद और उदारवाद के तत्व सम्मिलित हैं। इसलिए प्रत्ययवादी रूप में वह न तो पूर्णतया हेगल का समर्थक है और न उदारवादी रूप में पूर्णतया जान स्टुअर्ट मिल का। इसलिए ग्रीन का राजनीतिक चिन्तन उदारवादी प्रत्ययवाद है। यह समन्वय ग्रीन को दो कारणों से सम्पन्न करना पड़ा। एक कारण था ग्रीन की दार्शनिक विरासत। यह विरासत दार्शनिक चिन्तन की प्रत्ययवादी परम्परा थी जो प्लेटो और अरस्तू से होती हुई रूसो के माध्यम से काण्ट और हेगल में व्यक्त हुई।

अंग्रेजी दार्शनिक परम्परा द्वारा इसे संस्कारित कर ग्रीन ने आक्सफोर्ड प्रत्ययवाद (Oxford Idealism) का स्वरूप प्रदान किया। यह विरासत उसके चिन्तन का अधिष्ठान है। दूसरा कारण है यूरोप और विशेषकर इग्लैण्ड की सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक स्थिति तथा इससे उत्पन्न समस्याएँ। इग्लैण्ड की संवैधानिक परम्परा के दायरे में रहते हुए ग्रीन ने इन समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया। वह संवैधानिक परम्परावादी उदारवादी थी। उस उदारवादी परम्परा को बेंथम और जान स्टुअर्ट मिल ने साहचर्यात्मक मनोविज्ञान (Associational Psychology), सुखवाद (Hedonism), उपयोगितावाद (Utililarism), यद्भाव्यम नीति (Laissezfaire policy) के सन्दर्भों में व्याख्यायित किया। कतिपय बिन्दुओं पर जान स्टुअर्ट मिल ने बेंथम के उदारवाद का संशोधन किया है। इन कारणों के नाते ग्रीन का चिन्तन उदारवादी प्रत्ययवाद है। उसकी दृष्टि में उन

समस्याओं का यही समाधान था।

वे समस्याएं आखिर थीं क्या? एडम् स्मिथ और वेंथम ने व्यक्ति के अनुभव और भावनाओं को प्रधान मानते हुए व्यक्ति को ही साध्य के रूप में स्वीकार किया और समाज को साधन के रूप में। पर सुखवादी और उपयोगितावादी चिन्तन में व्यक्ति के साध्य होने का अर्थ नैतिक नहीं था। उस चिन्तन में साध्य होने का अर्थ था : व्यक्ति की एन्द्रिक सुखानुभूति। यह एन्द्रिक सुखानुभूति अधिकाधिक व्यक्त होती है व्यक्ति की स्वार्थ पूर्ति में। हर व्यक्ति बुद्धि से हिसाब लगाकर वही काम करता है जिससे उसको अधिकाधिक सुख मिले। जिससे अधिकाधिक सुख प्राप्त हो वही उसके लिए अधिकाधिक उपयोगी है। सुखवादी उपयोगितावादी उदारवाद नें मानवीय जीवन का कोई नैतिक लक्ष्य स्वीकार नहीं किया। उनके लिए जो सुखप्रद था वही नैतिक था। समाज अथवा राज्य एक साधन है। इस धारणा के अनुसार व्यक्ति जितना ही समाज और राज्य के बन्धनों से दूर होगा उतना ही स्वतंत्र होगा। इसलिए सामाजिकता व्यक्ति का नैतिक विकास नहीं।

इस दर्शन ने राज्य के स्वरूप को संकीर्ण रूप से प्रस्तुत किया। उसका कार्यक्षेत्र घटा दिया। उसका उद्देश्य था आवश्यक कानून बनाना और कानून के क्षेत्र में इस चिन्तन ने निरर्थक कालक्षरित कानूनों को समाप्त करने की बात उठायी और सार्थक कानूनों की संहिता बनाने पर जोर दिया। इस चिन्तन ने कुछ राजनीतिक सुधारों की चर्चा अवश्य की है। पर उन सुधारों का उद्देश्य प्रतिनिधि शासन का दायरा बढाना था; उस शासन के स्वभाव और चरित्र का नैतिक विस्तार करना नहीं। राज्य को बाजार के आर्थिक व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करना था। बाजार की व्यवस्था और सन्तुलन व्यक्तियों के पारस्परिक स्वार्थ की अर्न्तक्रिया से नियंत्रित है। इसलिए राज्य को मुक्त बाजार व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

1870 तक उपयोगितावादी चिन्तन और मुक्त बाजार व्यवस्था के दोष अंग्रेजी समाज में परिलक्षित होने लगे। यह सही है कि जान स्टुअर्ट मिल ने प्रतियोगिता मूलक अर्थव्यवस्था (Competitive economy) के दोषों को स्वीकार किया। इसलिए उसने अर्थव्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप की प्रस्तुति की। इसी नाते बार्कर का कथन है कि मिल ने इग्लैण्ड में समाजवाद का द्वार खोल दिया। मिल ने उपयोगितावाद का भी सुधार किया। पर उपयोगितावादी चिन्तन और मुक्त बाजार व्यवस्था का टुकड़ों - टुकड़ों में सुधार रास नहीं आया। व्यापार की वृद्धि या बाजार की वृद्धि, उत्पादन का बेतहाशा विस्तार, औद्योगीकरण की बढ़ती रफ्तार और इन सबसे उत्पन्न समस्याओं के प्रति राज्य की उदासीनता - इसने समस्याएँ उत्पन्न की।

इंग्लैण्ड में निर्धनों की संख्या में वृद्धि होने लगी, गांवों से किसान नगरों में मजदूर बन कर आने लगे और बाध्य होकर मिल मालिक की दी हुई मजदूरी पर फैक्ट्रियों में काम करने लगे। और काम भी उतने ही घण्टे जितने घण्टों तक मिल मालिक चाहे। उत्पादन की बाजारी जरूरत और मशीनों के प्रयोग से नगरों में मजदूर अमानवीय ढंग से श्रम करने के लिए बाध्य थे। इन मजदूरों में तेरह-चौदह वर्ष के बच्चे भी थे। कहने को तो मिल मालिक और मजदूर दोनों स्वतंत्र थे समझौता करने के लिए। उनके बीच का सम्बन्ध भी मुक्त बाजार व्यवस्था का सम्बन्ध था। यदि मज़दूर को मिल मालिक की दी हुई मज़दूरी पर उतने घण्टे काम करना स्वीकार नहीं था तो वह काम छोड़ सकता था। मिल मालिक ने उसे बाध्य नहीं किया था। मुक्त बाजार की उदारवादी व्यवस्था स्वतंत्रता का लेबिल तो चिपकाती है पर वह यह भूल जाती है कि जो आर्थिक रूप से सम्पन्न है वह उतना मजबूर नहीं जितना वे जो आर्थिक रूप से विपन्न है। इसलिए नगरों में मजदूर कानून की दृष्टि से भले ही उतने स्वतंत्र हो जितना मिल मालिक। पर वास्तविक दृष्टि से मिल मालिक की अपेक्षा मजदूर अत्यन्त असहाय थे।

फलस्वरूप निर्धनता बढ़ने लगी। उसके प्रभाव के अन्तर्गत मज़दूर का आत्मनियंत्रण कम होने लगा। मद्यपान के जरिये मजदूर अपने दुःख को भूलने की कोशिश करने लगा। इस प्रक्रिया में उसका नैतिक स्खलन प्रारम्भ हुआ। लोकस्वास्थ्य (public health) प्रभावित हुआ। शिक्षा का अभाव दीख पड़ने लगा। इन सबका प्रभाव यह हुआ कि 1870 तक आते-आते इंग्लैण्ड का

सामाजिक जीवन विशृंखलित होने लगा।

इसी परिप्रेक्ष्य में ग्रीन ने प्रारम्भिक उदारवाद का संशोधन किया और उसे प्रत्ययवाद के दार्शनिक अधिष्ठान पर प्रतिष्ठापित किया।

उपयोगितावाद और स्वतंत्रता के आधार पर मुक्त बाजार व्यवस्था और पूँजीपतियों की स्वतंत्रता में राज्य का हस्तक्षेप न करना और उसी स्वतंत्रता के आधार पर मज़दूरों को अपनी आवश्यकता के अनुसार मिल मालिकों से समझौता करने के लिए असुरक्षित छोड़ देना- इन सबने एक ऐसी स्थिति उत्पन्न की जिसके नाते सुखवादियों का छिछला व्यक्तिवाद और मुक्त बाजार व्यवस्था अमानवीय दृष्टिगत होने लगी। कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'पूँजी (capital) के प्रथम खण्ड के दसवें अध्याय में 'डेली टेलीग्राफ' 17 जनवरी 1860 में प्रकाशित एक समाचार को उदृघत किया है। वह सुखवादी, उपयोगितावादी, मुक्त बाजार व्यवस्था के अमानवीय रूप को उद्धृत करता है :

'Children of nine or ten years are dragged from their squalid beds at two, three or four o'clock in the morning and compelled to work for a bare subsistence until ten, eleven, or twelve at night, their limbs wearing away, their frames dwindling, their faces whitening, and their humanity, absolutely sinking into a stone-like torpor, ultterly terrible to contemplate.... The system, as the Rev. Montaguyalpy describes it, is one of unmitigated, slavery, socially, physically, morally, and spiritually...'

इस सामाजिक स्थिति के परिप्रेक्ष्य में अंग्रेजी लोकमत में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। वे राज्य के हस्तक्षेप न करने वाली नीति से ऊब चुके थे। इसका प्रमाण है : वे सारे अधिनियम जिनके आधार पर राज्य ने वहां हस्तक्षेप प्रारम्भ किया जहाँ पहले उसको नहीं करना चाहिए था। बालश्रम, काम के घण्टो का निर्धारण, शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में हस्तक्षेप इत्यादि। ए0वी0 डायसी ने 1905 में अपने विद्यार्थियों के समक्ष कुछ प्रस्तुत किये। वे पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। पुस्तक का शीर्षक है 'Relation between Law and Public Opinion in England in 19th Century'। इस पुस्तक में डायसी ने बदलते हुए लोकमत और उससे प्रभावित अंग्रेजी अधिनियमों की चर्चा की है। 1870 के बाद का इंग्लैण्ड तत्कालीन अर्थव्यवस्था और सामाजिक परिस्थिति से उत्पन्न समस्याओं के लिए राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार कर चुका था। डायसी के अनुसार अधिनियम का स्वरूप व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी (collectivist) हो गया था। 'कलेक्टिविस्ट' शब्द का प्रयोग डायसी ने किया है। 19वीं शताब्दी में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए और डायसी के लिए भी इस शब्द का वह अर्थ नहीं था जो 20वीं शताब्दी में मुसोलिनी, हिटलर और स्टालिन के सन्दर्भो में हुआ। 19वीं शताब्दी में इसका अर्थ था : मनुष्य मात्र स्वार्थी प्राणी नहीं है समाज और राज्य इसकी सुख प्राप्ति के साधन नहीं हैं। समाज से अलग उसका अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए व्यक्ति की स्वार्थपरता और उससे उत्पन्न पूंजीवाद की आर्थिक समस्याएँ, उनके नाते सामाजिक कुरीतियों का विस्तार -इन सबके समाधान के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है।

1880 तक आते-आते वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गयी। न केवल राज्य का हस्तक्षेप अपेक्षित था बल्कि व्यक्तिवाद, सुखवाद और उपोयगितावाद जान स्टुअर्ट मिल द्वारा संशोधित होने के बावजूद - अयथेष्ट था। इस परिवेश में ग्रीन को लगा कि व्यक्ति, समाज और राज्य की प्रकृति और उसके स्वरूप को संकीर्ण और शिथिल उपयोगितावादी और सुखवादी धारणाओं से मुक्त किया जाय। एक प्रकार से इग्लैण्ड की उदारवादी परम्परा के संशोधन का सवाल था और ग्रीन के चिन्तन ने यही कार्य सम्पन्न किया। वेन्थम और मिल के उदारवाद को उसने संशोधित किया। इस उदारवाद का आधार सुखवाद, उपयोगितावाद और राजनीतिक व्यक्तिवाद था। ग्रीन ने उदारवाद का आधार ही परिवर्तित कर दिया। अतः उसने उदारवाद को प्रत्ययवादी सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित किया। सेवाईन ने इसे उदारवाद का प्रत्ययवादी संशोधन (Idealist revision of liberalism) कहा है।

6.3 ग्रीन के विचारों के स्रोत

ग्रीन के विचारों के पाँच मुख्य स्रोत हैं : (1) यूनानी प्रत्ययवादी परम्परा। प्लेटो और अरस्तू - विशेष रूप से अरस्तू से ग्रीन अत्यधिक प्रभावित था। यूनानियों की तरह ग्रीन भी स्वीकार करता था कि मनुष्य मूलतः नैतिक प्राणी है और इसलिए राजनीतिक भी। राज्य मूलतः नैतिक संस्थान है। व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध नैतिकता के सम्बंन्ध हैं पर प्लेटों के प्रभाव से इस बिन्दु पर मुक्त होकर ग्रीन ने अरस्तू की तरह यह माना कि व्यक्ति का अस्तित्व राज्य में विलीन नहीं हुआ है। ग्रीन उदारवादी था जैसे कि अरस्तू था। यूनानी विचारकों की तरह ग्रीन भी मानता था कि नैतिकता विवेकजन्य है, न कि मनुष्य की इच्छा से प्रसूत। व्यक्ति का कल्याण इच्छापूर्ति में नहीं बल्कि नैतिक जीवन में है।

(2) मध्ययुगीन ईसाई धर्म विशेष रूप से सेण्ट पाल से ग्रीन प्रभावित हुआ था। ग्रीन का राजनीतिक चिन्तन धार्मिक चेतना पर अधिष्ठित है। ईश्वरीय चेतना अथवा शाश्वत चेतना ही मनुष्य की चेतना में प्रतिबिम्बित होती है। उसकी अन्तरात्मा शुभतत्व से प्रेरित है। उसी शुभत्व का विकास मनुष्य का नैतिक विकास है। इस रूप में स्वतंत्रता उसका मूल स्वभाव है। ईसाई धर्म ने मनुष्य के व्यक्तित्व (personality) की अवधारणा प्रस्तुत की। ग्रीन ने इसे पूर्णतया स्वीकार किया।

(3) आधुनिक युग में यूनानी प्रत्ययवादी परम्परा रूसो से छनकर दो जर्मन प्रत्ययवादी विचारकों काण्ट और हेगल में व्यवस्थित रूप से अभिव्यक्त हुई। इन दोनों विचारकों ने रूसो की इस धारणा को स्वीकार किया कि मनुष्य नैतिक संकल्प (moral will) सम्पन्न प्राणी है। सारा ज्ञान बुद्धि से प्राप्त होता है। अनुभव की भूमिका है किन्तु यह भूमिका नियामक नहीं। जर्मन प्रत्ययवादियों की इस धारणा को ग्रीन स्वीकार करता है। उन्हीं की तरह वह मानता था कि राज्य नैतिक विचार की अभिव्यक्ति है। इसलिए राज्य में मनुष्य विकसित होता है। फलस्वरूप राज्य कोई आकस्मिक, तदर्थ, तात्कालिक स्वार्थों के लिए आविर्भूत नहीं हुआ। स्वतंत्र होने का अर्थ है-नैतिक आदर्शों के अनुरूप आचरण। इसलिए मनुष्य केवल राज्य में ही स्वतंत्र रह सकता है - राज्य से मुक्त होकर नहीं।

(4) ईंग्लैण्ड की संवैधानिक परम्परा और उसकी उपलब्धियों को भी ग्रीन ने स्वीकार किया है - मैग्राकार्टा, 1688 का बिल आफ राइटस, संसदीय लोकतंत्र, संसदीय सम्प्रभुता, जनसम्प्रभुता और विधि का शासन। इस संवैधानिक परम्परा को प्रत्ययवादी जीवन दृष्टि से ग्रीन ने समर्थित किया।

(5) ईंग्लैण्ड की 'नानकन्फर्मिस्ट' (non-conformist) परम्परा से ग्रीन सम्पृक्त था। इस लम्बी परम्परा की एक कड़ी क्रामवेल था। क्रामवेल से ग्रीन का रक्तसम्बन्ध भी था। क्रामवेल ने 1848 के गृहयुद्ध के उपरान्त ईंग्लैण्ड का शासन संभाला था। वह धर्म के क्षेत्र में लकीर का फकीर न था। वह धार्मिक स्वतंत्रतावादी (ecclesiastical independent) था। क्रामवेल प्यूरीटन था। वह शासक होने के नाते अंग्रेजी परम्परा, संवेदनाओं और पूर्वाग्रहों को स्वीकार करता था। इसीलिए स्वतः धार्मिक स्वतंत्रतावादी होते हुए भी उसने अपने समकालीन नानकम्फर्मिस्ट सम्प्रदायों की उग्रवादियता और गुटबाजी पर रोक लगा दी। नानकन्फमिस्ट दृष्टि इग्लैण्ड की संवैधानिक परम्परा के अनुकूल है। इस बात का प्रमाण ग्रीन के लिए क्रामवेल था। प्रमाण स्वरूप ग्रीन ने क्रामवेल द्वारा लागू की गयी शासन की नियमावली (instrument of government) को संकेतित किया है। इस नियमावली में क्रामवेल ने संवैधानिक रीति से शासन संचालित करने पर जोर दिया है। क्रामवेल का सम्बन्ध उस सम्प्रदाय से था जिसको 'इन्डिपेन्डेन्स' (Independence) की संज्ञी दी जाती है। इसी सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण प्रतिनिधि था- सर हेनरी वेन (Sir Henary Vene)। उसने धार्मिक नागरिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसके अनुसार धर्म मनुष्य की अन्तरात्मा का स्वर है और राज्य की सदस्यता मनुष्य के बाह्य जीवन के उत्तरदायित्व से सम्बन्धित है। अतः एक ही साथ मनुष्य धर्म के प्रति भी आस्थावान हो सकता है और राज्य के प्रति भी। दोनों में तालमेल और संतुलन होना चाहिए। 17वीं शताब्दी में वेन (Vane) ने इसी सामंजस्य को रेखांकित किया। यूरोप में फ्रांस और स्पेन में जेस्विट्स (Jesuits) के धर्मोन्माद ने राज्य को, और उत्तरी जर्मनी में राजतंत्रों ने धर्म को नियंत्रित

कर इस संतुलन को तोड़ दिया था। वेन (Vane) और क्रामवेल (Cramwell) दोनों ने धार्मिक नागरिकता के सिद्धान्त में अन्तरात्मा की स्वतंत्रता और राज्य के प्रति व्यक्ति के कर्त्तव्य का समन्वय किया है। ग्रीन ने इसी समन्वय के आधार पर स्वतंत्रता का सिद्धान्त और राज्य के प्रति व्यक्ति के उत्तरदायित्व का युक्तितर्कमूलक सम्बन्ध स्थापित किया है। वेन और क्रामवेल से प्रभावित होकर ग्रीन ने कहा कि स्वतंत्रता आभ्यान्तरिक है। यह मनुष्य की चेतना का लक्षण है और इसका मूल आधार धार्मिक है।

ग्रीन ने अंग्रेजी गृहयुद्ध 1648, क्रामवेल, सर हेनरी वेन और 'इन्डिपेन्डेन्ट' सम्प्रदाय पर 1867 में अपने विद्यार्थियों के समक्ष चार व्याख्यान प्रस्तुत किये। नेटिलशिप द्वारा तीन खण्डों में सम्पादित ग्रीन की कृतियों के संग्रह के तीसरे खण्ड में ये चार व्याख्यान उपलब्ध है।

ग्रीन की नानकन्फर्मिटी का स्रोत अंग्रेजी इतिहास में उपलब्ध है- 1648 के गृहयुद्ध और उसके संचालक क्रामवेल में। पर तत्कालीन ईंग्लैण्ड में भी नानकफर्मिस्ट सम्प्रदाय थे। नानकन्फर्मिस्ट अपने चर्च को 'फ्री चर्च' कहते थे। वे स्वतंत्रता और नैतिककता दोनों के महत्व को रेखांकित करते थे। उनके लिए धर्म और राजनीति दोनों क्षेत्रों में स्वतंत्रता की महत्वपूर्ण भूमिका है। 1660 के बाद ईंग्लैण्ड में नानकन्फर्मिस्ट को किसी न किसी कारण के नाते प्रताड़ित किया जाता रहा है। इसलिए उनकी धारणा थी कि राज्य की सत्ता का प्रयोग संदिग्ध है और उसे मनुष्य के अभ्यान्तरिक जीवन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह अभ्यान्तरिक जीवन धर्म और नैतिकता का है। दोनों का सैद्धान्तिक आधार स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता व्यक्ति की स्वच्छन्दता और राज्य के अन्धानुकरण दोनों से भिन्न है। स्वतंत्र व्यक्ति इच्छाओं से नहीं बल्कि विवेक से अनुशासित होता है। विवेक से अनुशासित होने का अर्थ है आत्मानुशासन (self determination)। स्वतंत्रता आत्मानुशासन है।

नानकन्फर्मिस्ट मद्यपान के विरोधी थे। उनकी मांग थी कि राज्य मद्यनिषेध (prohibition) लागू करे। नैतिकता के अनुकूल परिस्थितियों की संरचना में राज्य की सक्रिय भूमिका नानकन्फर्मिस्ट स्वीकार करते थे। नानकन्फर्मिस्ट ने भू-सम्पत्ति के न्यायोचित वितरण का सवाल उठाया था। किन्तु वे व्यापार में अर्जित पूँजी के न्यायोचित वितरण की बात नहीं करते थे। कारण था कि भूमि की मात्रा सीमित है इसलिए न्यायोचित वितरण उचित है पर पूँजी का अर्जन व्यक्तिगत क्षमता, प्रतिभा और बुद्धि से सम्पन्न होता है। इसकी मात्रा सीमित नहीं असीम है। इसलिए इसके वितरण का कोई प्रश्न नहीं है।

6.4 ग्रीन की दार्शनिक दृष्टि

ग्रीन के राजनीतिक विचारों पर ईसाई धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसलिए उसकी दार्शनिक दृष्टि ईसाई धर्म से प्रभावित थी। इस सन्दर्भ में उसका प्रस्थान बिन्दु था - ईश्वरीय चेतना या वैश्विक चेतना (eternal consciousness)। मानवीय चेतना में शाश्वत चेतना प्रतिबिम्बित होती है। इसी नाते मनुष्य की चेतना स्वभावतः शुभत्व की ओर प्रेरित है। मनुष्य की चेतना में मंगल और कल्याण की जितनी अभिप्रेरणाएं हैं उनका स्रोत शाश्वत चेतना है। मनुष्य की चेतना केवल अपने कल्याण और मंगल के लिए अभिप्रेरित नहीं है बल्कि वह पूरे समाज के कल्याण और मंगल की कामना के प्रति भी उन्मुख है। ऐसा इसलिए है कि मनुष्य को बोध है कि अकेले वही नहीं बल्कि उसकी तरह सभी मनुष्य शुभत्व की धारणा से अभिप्रेरित है। यह मानव मात्र को एक सूत्र में बांधता है। वह सूत्र हैः शाश्वत चेतना का मानवीय चेतना में प्रतिबिम्ब। इसी आधार पर ग्रीन के चिन्तन में विश्व मानव समाज की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है।

मानवीय चेतना में शुभत्व उसके शुभ संकल्प या नैतिक संकल्प में परिलक्षित है। नैतिक संकल्प की अभिव्यक्ति से मानवीय चेतना शाश्वत चेतना की तरह पूर्णतया प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है। नैतिक चेतना का लक्ष्य मानवीय चेतना को पूर्ण बनाना है। अर्थात् नैतिक चेतना का लक्ष्य स्वतः नैतिक चेतना की पूर्णता है। इस सम्बन्ध में ग्रीन का कथन हैः

'In willing the will, wills itself'

नैतिक संकल्प का लक्ष्य स्वतः नैतिक संकल्प की ही पूर्णता है। ऐसी स्थिति में नैतिक संकल्प (moral will) स्वतः साध्य है साधन नहीं। साध्य (ends) है इसीलिए स्वतंत्र भी है। किसी बाहरी दबाव से प्रभावित नहीं है तभी नैतिक संकल्प है। वह स्वतः प्रेरित है। इस प्रकार शुभ संकल्प (good will) या नैतिक संकल्प (moral will) का लक्ष्य व्यक्ति है या उसकी पूर्णता है। ग्रीन का कथन है:

'Since in all willing a man is his own object, the will is always free.'

ग्रीन की इस धारणा का सादृश्य काण्ट के शुभ संकल्प की धारणा से दीख पड़ता है। नैतिक संकल्प से अभिप्रेरित होने का अर्थ है किसी बाहरी लालच या भय से प्रभावित न होकर अन्तः प्रेरणा से प्रभावित होना। अंतः प्रेरणा से प्रभावित होने के नाते मनुष्य की नैतिक चेतना का सहज स्वभाव स्वतंत्रता है। इसी नैतिक संकल्प के नाते हर व्यक्ति एक साध्य है क्योंकि उसमें निहित संकल्प साध्य (ends) है। साधन (means) नहीं। इसलिए स्वतंत्रता और शुभ संकल्प में अनिवार्य सम्बन्ध है। फलस्वरूप स्वतंत्रता और कल्याण की धारणाओं में भी अनिवार्य सम्बन्ध है। प्रत्येक व्यक्ति में नैतिक संकल्प है। इसलिए हर व्यक्ति साध्य है। इसी साध्य को प्रतिफलित करने के लिए स्वतंत्रता अनिवार्य है।

6.5 ग्रीन के राजनीतिक विचार

(अ) स्वतंत्रता का सिद्धान्त -

ग्रीन का स्वतंत्रता सिद्धान्त इग्लैण्ड की उदारवादी, व्यक्तिवादी चिन्तन परम्परा में स्वीकृत स्वतंत्रता सिद्धान्त से भिन्न है। इस दृष्टि से ग्रीन ने उदारवाद और व्यक्तिवाद दोनों का संशोधन किया है। ग्रीन व्यक्तिवादी है लेकिन बेंथम और मिल से भिन्न। इस भिन्नता का कारण है कि वह प्रत्ययवादी (Idealist) विचारक है। वेंथम और मिल ने समाज को व्यक्तियों का समूह माना और व्यक्ति को इच्छाओं का। हर व्यक्ति अपने स्वार्थ से प्रेरित है उसकी स्वार्थ पूर्ति व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य है। समाज और राज्य व्यक्ति की स्वार्थपूर्ति के साधन (instrument) है। लक्ष्य है केवल स्वतः व्यक्ति और उसकी स्वार्थपूर्ति। इसलिए व्यक्ति की स्वार्थपूर्ति में ही उसकी स्वतंत्रता निहित है। स्वतंत्र होने का अर्थ है बिना किसी बाधा के अपने इच्छाओं को पूरा करना। इसी बात को व्यक्तिवादी परम्परा में स्वतंत्रता को बन्धनों के अभाव के रूप में स्वीकार किया गया :

'Liberty is the absence of restraint'

राज्य का होना विधि और व्यवस्था के लिए अनिवार्य है। पर चूंकि राज्य बन्धन लगाता है इसलिए अशुभ (evil) है। व्यक्तिवादी हर बन्धन को अशुभ मानते थे। उनके लिए व्यक्ति अपने छोटे संसार में व्यक्तिगत स्वार्थों के साथ जीते हुए सीमित है। इस प्रकार व्यक्ति और स्वतंत्रता की जो धारणा उपयोगितावादी विचारक बेंथम और मिल ने प्रस्तुत की वह खोखली स्वतंत्रता और अमूर्त व्यक्ति की अवधारणा थी। बार्कर के अनुसार :

'Mill was the prophet of an empty liberty and an abstract individual.'

ग्रीन ने व्यक्तिवाद और उदारवाद का तो संशोधन किया, पर उपयोगितावाद (utilitarianism) और सुखवाद (hedonism) को एकदम से खारिज कर दिया। उसके अनुसार व्यक्ति की मूल प्रकृति सुखोन्मुखी न होकर शुभोन्मुखी है। मनुष्य सुख प्राप्ति की कामना से नहीं बल्कि नैतिक पूर्णता के लक्ष्य से अभिप्रेरित है। वह अपने स्वार्थों की दुनिया में सिमटा हुआ नहीं है, बल्कि सभी मनुष्य मानवीय चेतना में निहित शुभसंकल्प के सूत्र में पिरोये हुए हैं। इसलिए व्यक्ति की चेतना,

उसकी सत्ता समाज में रहकर पूर्ण होती है- अकेले नहीं। अतः मनुष्य मूलतः सामाजिक प्राणी है। ग्रीन का कथन है :

'The self is the social self'.

स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति इसी सामाजिक परिवेश में ही होगी- भले ही इसकी अभिव्यक्ति को समाज नियंत्रित न करे। स्वतंत्रता मूलतः नैतिक स्वतंत्रता है। नैतिक संकल्प विवेक द्वारा अनुशासित हो इसी में नैतिकता की पूर्णता है। यह एक प्रकार का आत्मानुशासन है। अतः स्वतंत्रता आत्मानुशासन है (freedom is self determination) । इसलिए स्वतंत्र होने का अर्थ है अपने से अपने को अनुशासित करना। इस अनुशासन में इच्छाओं और कामनाओं की भूमिका नहीं है। कामनाओं से परिचालित होना परतंत्रता है। इन से मुक्त होना स्वतंत्रता है। इनसे तभी मुक्त हो सकते हैं जब हम नैतिक संकल्प के अनुशासन को स्वीकार करें। इसलिए ग्रीन के लिए स्वतंत्रता बाहरी बन्धनों का अभाव नहीं बल्कि इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओं की दासता से मुक्ति और विवेक के अनुशासन की स्वीकृति है।

स्वतंत्रता की परिभाषा ग्रीन के अनुसार हैं :

'Liberty is the positive power of doing or enjoying things worth doing or enjoying.

इस परिभाषा में ग्रीन ने स्पष्ट किया है कि स्वतंत्रता कुछ करने अथवा कुछ का उपभोग करने की वस्तुनिष्ठ शक्ति है। इससे यह स्पष्ट है कि स्वतंत्र होने का अर्थ है कि हम कुछ करे न कि लोग हमारे साथ जो कुछ करना चाहें उस बन्धन से हम मुक्त रहें। इसलिए ग्रीन ने इसे 'positive' (वस्तुनिष्ठ) शक्ति कहा है। अतः स्वतंत्रता हमारे कर्म में व्यक्त होती है। कर्म समाज में आचरित होते है। इसलिए स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के लिए सामाजिक परिप्रेक्ष्य अनिवार्य है। समाज से दूर रहकर कोई व्यक्ति स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। इसलिए स्वतंत्रता और सामाजिकता एक दूसरे के अनुकूल है।

ग्रीन ने स्वतंत्रता को सकारात्मक स्वतंत्रता (positive freedom) की संज्ञा प्रदान की है। बेंथम और मिल की स्वतंत्रता की अवधारणा ग्रीन के अनुसार नकारात्मक स्वतंत्रता (negative freedom) है। नकारात्मक इसलिए कि व्यक्ति के जीवन में जिस सीमा तक समाज और राज्य नहीं होगा उस सीमा तक वह मुक्त है। जिस सीमा तक बन्धनों से मुक्त है उस सीमा तक वह स्वतंत्र है। अतः समाज और राज्य का न होना ही स्वतंत्रता है। व्यक्ति इनसे जितना दूर है उतना वह स्वतंत्र है। इसलिए यह नकारात्मक स्वतंत्रता है। व्यक्ति की यह कल्पना अमूर्त है। क्योंकि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जिसका अस्तित्व समाज और राज्य से दूर रहकर हो।

मिल और बेंथम की धारणा इसलिए भी नकारात्मक है कि स्वतंत्रता कुछ करने में नहीं पर दूसरे द्वारा कुछ न किये जाने में है। इस स्वतंत्रता की अवधारणा में कुछ न करने के नाते इसे नकारात्मक कहा गया। यह अन्दर से खोखली है क्योंकि इसका कोई विषय नहीं है। अभाव के सन्दर्भ में परिभाषित की जाने के नाते यह नकारात्मक है।

ग्रीन ने व्यक्ति और स्वतंत्रता की जो अवधारणा बेंथम और मिल में थी उसको अतिक्रमित किया। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति सामाजिक है और समाज में ही उसकी स्वतंत्रता वस्तुनिष्ठ शक्ति के रूप में जो करणीय है उसको सम्पादित करती है और जो उपभोगोचित है, उसका उपभोग करती है।

ग्रीन की स्वतंत्रता सम्बन्धी अवधारणा के निम्नलिखित लक्षण हैं :

1. मनुष्य की मानवीय चेतना बाह्य जगत के पदार्थों की ओर उन्मुख होती है- उनको प्राप्त करने के लिए। उसी में उसको अपना कल्याण और मंगल दीखता है। बाह्य जगत में सभी पदार्थों को प्राप्त करना श्रेयस्कर नहीं है। कुछ को पाना उचित है। और कुछ को पाना अनुचित। कामनाएँ और वासनाएँ तो बहुत कुछ पाना चाहती है। उनको पाना स्वतंत्रता नहीं परतंत्रता है। केवल उसी पदार्थ को

ग्रहण करना जिसका ग्रहण करना उचित हो - स्वतंत्रता है। इसलिए मनुष्य के संकल्प के समक्ष चयन का विकल्प है। उचित का चयन करे और अनुचित का चयन न करे।

2. क्या चयनित करना उचित है और क्या चयनित करना अनुचित है इसका संज्ञान विवेक से सम्भव है। जब कामनाओं को विवेक द्वारा अनुशासित किया जायेगा तब जो चयनित किया जायेगा वह उचित होगा। विवेक सम्मत चयन ही उचित है। विवेक सम्मत चयन को ही कहा जायेगा कि यह हमारे नैतिक संकल्प (moral will) या शुभ संकल्प (good will) का चयन है। इसी में व्यक्ति के कल्याण और मंगल की सिद्धि होगी।

6. नैतिक संकल्प जब किसी पदार्थ को चयनित करता है अर्थात् जब मनुष्य का विवेक किसी पदार्थ का उपभोग करना चाहता है या किसी कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसकी धारणा है कि इसमें हमारा मंगल होगा। पर मनुष्य यह जानता है कि समाज में उसी की तरह अन्य लोग भी हैं और उसी की तरह उनका भी स्वभाव और प्रकृति है। इसलिए जिसमें उनका कल्याण और मंगल है उसी में सभी का कल्याण और मंगल है। सभी को उन पदार्थों की आवश्यकता है। इसलिए मनुष्य अकेले उनका उपभोग नहीं करना चाहता वह सबके साथ मिलकर साहचर्य के साथ उनका उपभोग करना चाहता है या उपभोग करने में प्रवृत्त होता है। फलस्वरूप नैतिक संकल्प केवल अपना ही कल्याण नहीं चाहता बल्कि सभी के साथ मिलकर उनकी कल्याण की कामना करता चाहता है। व्यक्ति एक दूसरे के साथ इन्हीं सम्बन्धों में बंधते हैं- पारस्परिक कल्याण-कामना के सम्बन्ध में। पारस्परिक कल्याण कामना के ये सम्बन्ध लोक कल्याण या समाज कल्याण के सम्बन्ध है।

4. स्वतंत्रता नैतिक संकल्प का गुण होने के कारण राज्य द्वारा किसी पर थोपी नहीं जा सकती। यह नैतिक संकल्प की स्वतः स्फूर्त कामना है। इसलिए यह आभ्यान्तरिक है । व्यक्ति के स्वतंत्र होने में राज्य की भूमिका बहुत सीमित है। राज्य नैतिक संकल्प के आभ्यान्तरिक प्रदेश में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

5. स्वतंत्रता एक ओर तो आभ्यान्तरिक है और दूसरी ओर यह बाह्य जगत में चयनित कर्म अथवा चयनित पदार्थ में व्यक्त होती है। इसलिए इसकी बाह्य अभिव्यक्ति भी है और इस रूप में इसके निश्चित स्वरूप हैं। मिल और बेंथम की तरह खोखली नहीं है।

मानवीय चेतना स्वभावतः स्वतंत्रता का आग्रह उपस्थित करती है। इसी रूप में नैतिक संकल्प की चरितार्थता है।

(ब) अधिकार का सिद्धान्त

ग्रीन के अधिकार सिद्धान्त का महत्व आधुनिक युग के अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में अत्यधिक स्पष्ट होता है। लॉक ने प्राकृतिक अधिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त प्राकृतिक विधान पर अधिष्ठित था। प्राकृतिक अधिकार मनुष्य के जन्मजात अधिकार थे। इनके लिए सामाजिक स्वीकृति की अपेक्षा नहीं है। ये अपरिवर्तनशील हैं। लॉक ने जितने अधिकार परिगणित किये थे बस उतने ही अधिकार प्राकृतिक अधिकार हैं। प्राकृतिक अवस्था में भी ये और उतने ही अधिकार मनुष्य के पास थे- समाज और राज्य बनने पर भी व्यक्ति के पास ये अधिकार सुरक्षित है। राज्य इन्हें छीन नहीं सकता। राज्य के कानून को इन्हें सुरक्षित करना है। इस प्रकार प्राकृतिक अधिकार और उनके आधारस्वरूप प्राकृतिक विधान एक प्रकार का नैतिक मापदण्ड है जिसके आलोक में राज्य के कानून बनाना है। लेकिन लॉक यह भी मानता है कि समाज अपने बहुमत के निर्णय से प्राकृतिक अधिकारों को सीमित कर सकता है। अपने युग की सीमाओं के नाते लॉक इस विसंगति को देख नहीं पाया कि अगर समाज का बहुमत प्राकृतिक अधिकार को सीमित करता है तो फिर किस आधार पर प्राकृतिक अधिकार को अपरिवर्तनशील और अकाट्य माना जाय। प्राकृतिक अधिकार समाज और राज्य के सम्बन्धों के प्रश्न पर लॉक के विचारों में भ्रान्तियाँ और अस्पष्टतायें हैं।

परवर्ती काल में प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता का

मानक हो गया। 1789 की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति ने मनुष्य और नागरिकों के अधिकार (rights of man and citizens) के रूप में इन्हें घोषित किया। इस क्रान्तिकारी संस्करण में भी मनुष्य के अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व से निःसृत होते हैं। हेगल ने इसको अमूर्त आदर्शवाद (abstract idealism) कहा था। चूंकि अधिकारों को कोई ठोस आधार नहीं दिया गया इसलिए हर व्यक्ति को यह अवसर था कि वह यह निर्णय ले कि समाज और राज्य की व्यवस्थाएं क्या उसके परिकल्पित आदर्श के अनुसार हैं। ऐसी स्थिति में संभावना थी कि व्यक्ति निरन्तर असंतुष्ट हो और व्यवस्थाओं की निरंतर नुक्ताचीनी करता रहे। असंतोष का नैरन्तर्य व्यवस्था के लिए अराजक सिद्ध हो सकता है। अतः प्राकृतिक अधिकारों का व्यक्तिवादी स्वरूप व्यवस्था के अनुकूल नहीं है। उन्हें स्वीकार करने का अर्थ है व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्तिकारी विरोध पक्ष को स्वीकार करना।

फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति 1789 की विफलता, अराजकता, प्राकृतिक अधिकार की अस्पष्टता और उनका अराजतोन्मुखी होना- इन सबकी प्रतिक्रिया इंग्लैण्ड में हुई। उपयोगितावादी विचारधारा ने फ्रांस की राज्य क्रान्ति 1789 के बहुत पहले से ही उपयोगिता को सार्वजनिक जीवन के मापदण्ड के रूप में स्वीकार किया था। बेंथम ने प्राकृतिक अधिकार को बकवास माना। 18वीं शताब्दी के अन्तिम दशक और 19वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में अधिकारों की सुनिश्चितता के लिए कानून को उनका स्रोत माना। बेंथम का कथन था :

'Rights, properly so called, are the creatures of law, properly so called.'

इस प्रकार जिसे सही ढंग से अधिकार कहा जाय वह उसकी सृष्टि है जिसे सही ढंग से कानून कहा जाय। उदारवादी परम्परा ने बेंथम और आस्टिन के माध्यम से केवल विधिक अधिकार (legal rights) को ही स्वीकार किया।

इस परिप्रेक्ष्य में ग्रीन के अधिकार सिद्धान्त ने प्राकृतिक अधिकार की नैतिक परम्परा और इग्लैण्ड की संवैधानिक व्यवस्था में विधिक अधिकार की अवधारणा को संयुक्त किया। ग्रीन के लिए अधिकार प्राकृतिक अथवा नैतिक हैं। इनकी सत्ता मानते हुए उसने विधिक अधिकारों की भी सत्ता मानी है। इसलिए उसके अधिकार सिद्धान्त में प्राकृतिक अधिकार की उदारवादी परम्परा, अंग्रेजी संविधानवाद और प्रत्ययवादी चिंतन तीनों का ताना-बाना बुना हुआ है।

ऊपर के प्रस्तरों में यह स्पष्ट है कि मनुष्य की आत्मचेतना पूर्णता प्राप्त करने के लिए बाह्यजगत से अनुकूल पदार्थों का चयन करती है। अपनी समझ से आत्म चेतना वह पाना चाहती है जिससे उसका विकास संभव हो। ऐसा करने में उसे अपनी कामनाओं और वासनाओं की अभिप्रेरणाओं से बचना है। इच्छा तो करेगी बहुत सी वस्तु पाने की लेकिन मनुष्य विवेक से यह निर्णय करेगा कि किस वस्तु को पाना है और किसको नहीं पाना है। इसलिए उसको चयन करना है। जो वस्तु विवेक के अनुकूल होगी उसे पाना ही उसकी स्वतंत्रता है। बिना इस स्वतंत्रता के आत्मचेतना पूर्णता को प्राप्त नहीं होती। इसलिए उसकी आत्मचेतना उस वस्तु को पाने का आग्रह करेगी। उसको पाने का अर्थ है उस परिस्थिति को पाना जो आत्म विकास के अनुकूल हो। इसलिए स्वतंत्र होने का अर्थ हर वस्तु पाना नहीं है बल्कि वह पाना है जिससे आत्म कल्याण संभव हो। असली स्वतंत्रता यही है। यह ग्रीन के लिए वस्तुनिष्ठ स्वतंत्रता (positive freedom) है।

इस प्रकार हर व्यक्ति यह मांग प्रस्तुत करता है कि उसे अमुक वस्तु अथवा परिस्थिति आत्मविकास के लिए उपलब्ध होनी चाहिए। समाज में व्यक्तियों द्वारा विभिन्न मांगे प्रस्तुत की जा सकती हैं। संभव है कि एक व्यक्ति की मांग दूसरे व्यक्ति की मांग के अनुकूल न हो। व्यक्ति के स्तर पर अपनी आत्मचेतना के अनुसार बहुत सी मांगें प्रस्तुत की गयीं। अधिकारों के आविर्भाव की यह पहली अवस्था है। ग्रीन के अनुसार यह Claim अर्थात् मांग या दावा है।

अधिकारों के आविर्भाव की दूसरी अवस्था प्रारम्भ होती है समाज की भूमिका से। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि व्यक्ति मात्र अपने कल्याण के प्रति सतर्क नहीं है वह दूसरों के कल्याण

के प्रति सजग है। इसलिए वह अन्य व्यक्तियों से ऐसे सम्बन्धित होना चाहता है, जिसमें उसका और अन्य सभी लोगों का कल्याण हो। व्यक्तियों के ये पारस्परिक कल्याणोन्मुखी सम्बन्ध समाज की रचना करते हैं। इसलिए वस्तुतः यह समाज कल्याण के बोध में रूपायित होता है। हर व्यक्ति चाहता है कि जिस आदर्श लक्ष्य को वह पाना चाहता है उसको दूसरे स्वीकार करें क्योंकि दूसरे जिस आदर्श लक्ष्य को पाना चाहते हैं उसको वह स्वीकार करता है। ग्रीन के अनुसार ऐसा इसलिए संभव है कि मनुष्यों का स्वभाव सजातीय है। इस प्रकार जिस आदर्श लक्ष्य या मांग को समान रूप से स्वीकार कर लिया जाता है वह अधिकार के रूप में अनुदित होता है। इससे यह स्पष्ट है कि जिन मांगों अथवा आदर्श लक्ष्यों को समाज की स्वीकृति मिलेगी वही अधिकार होंगे। बिना सामाजिक स्वीकृति के हर व्यक्ति की अपनी मांग अलग-अलग होगी और उनका कोई सामान्य स्वरूप नहीं होगा जिसे समान रूप से सब स्वीकार करें। इसलिए अधिकार मांगों (claims) की सामाजिक स्वीकृति के उपरान्त ही आविर्भूत होते हैं। एक ओर व्यक्तिगत मांग अथवा व्यक्तिगत आग्रह के नाते उनका उद्देश्य नैतिक है और आत्मचेतना की पूर्णता के लिए स्वतंत्र होने के निमित्त आवश्यक है। दूसरी ओर समाज ने स्वीकृत कर इसे व्यक्तिगत आग्रह के दायरे से उठाकर सामाजिक आग्रह का विषय बना दिया।

समाज इन अधिकारों को चरितार्थ करने का आग्रह करता है। इन अधिकारों को ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकार अथवा आदर्श अधिकार कहा है। प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति की नैतिक चेतना से सम्बन्धित हैं किन्तु समाज के सदस्य के रूप में ये प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के अधिकार बन जाते हैं। इसलिए अधिकार के प्रश्न पर व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रय है।

ग्रीन के अनुसार प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति को प्राप्त जन्मजात अधिकार नहीं है। इनके अस्तित्व के लिए सामाजिक स्वीकृति आवश्यक है। अतः ये सामाजिक अवस्था में व्यक्ति के नैतिक अधिकार अथवा आदर्श अधिकार हैं। ये अधिकार परिवर्तनशील और विकासशील हैं। बदलते हुए परिवेश में समाज की परिवर्तित होती नैतिक चेतना भिन्न-भिन्न प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकार कर सकती है। फलस्वरूप प्राकृतिक अधिकार की संख्या सीमित नहीं है। एक युग में प्राकृतिक अधिकारों का परिगणन दूसरे युग के प्राकृतिक अधिकारों के परिगणन से भिन्न होगा। यह इसलिए संभव है कि समाज की नैतिक चेतना निरन्तर विकासशील है। एक युग में जिसे नैतिक मानते थे दूसरे युग में उसे अनैतिक माना जा सकता है जैसे दास प्रथा।

किसी भी युग का प्राकृतिक अधिकार राज्य और उसके कानूनों के लिए एक आदर्श मापदण्ड है। ग्रीन की धारणा थी कि उदारवादी समाज में शासन और लोकमत में गहरा सम्पर्क बना रहना चाहिए। सुसंस्कृत लोकमत शासन को अपेक्षित दिशा देने का प्रयास करे और शासन लोकमत के प्रति आदर और सम्मान का भाव रखे। जब समाज किसी प्राकृतिक अधिकार को स्वीकार करता है तो यह कहा जायेगा कि जो नितान्त व्यक्तिगत मांग थी वह अब व्यक्ति की न होकर समाज के परिपक्व लोकमत का अंग बन गयी है। राज्य से अपेक्षित है कि वह उसे कानूनी स्वरूप प्रदान करे अर्थात् प्राकृतिक अधिकार को कानूनी अधिकार (Legal rights) के रूप में स्वीकार करे। इस प्रकार प्राकृतिक अधिकार नैतिकता और कानून के बीच स्थित हैं। वे इसलिए नैतिकता से सम्बन्धित हैं कि आत्मचेतना की पूर्णता के लिए वे आवश्यक है। इसलिएवे नैतिक लक्ष्य से सम्बन्धित हैं। पर वे नैतिकता से भिन्न हैं, इस नाते कि नैतिकता व्यक्ति के आभ्यान्तरिक जीवन का विषय है। वह उसके लिए विवेक का आत्मानुशासन है। हर व्यक्ति अपने निर्णय से नैतिक होगा। किसी जोर दबाव के नाते नहीं। इस प्रकार नैतिकता व्यक्ति के आत्म विवेक की स्वीकृति है। इसके विपरीत अधिकार व्यक्ति के बाह्य सार्वजनिक जीवन के विषय हैं और वे कानून में रूपान्तरित कर लागू किये जा सकते हैं। उनके अस्तित्व के लिए समाज की स्वीकृति अपेक्षित है।

जहाँ एक ओर नैतिकता और प्राकृतिक अधिकार अथवा आदर्श अधिकार में समानता और अन्तर है वहीं दूसरी ओर प्राकृतिक अधिकार और कानूनी अधिकार में समानता और अन्तर है। कानूनी अधिकार की तरह प्राकृतिक अधिकार भी बाह्य जगत में कानूनी रूप में लागू किये जा सकते

हैं। इसके अतिरिक्त उनका अन्तर बड़ा विशिष्ट है। कानूनी अधिकार अपूर्ण, अनैतिक अन्यायपूर्ण और खण्डित हो सकते हैं। इसी संभावना के नाते समाज द्वारा स्वीकृत प्राकृतिक अधिकारों की अनिवार्यता है।

इन प्राकृतिक अधिकारों को आदर्श अधिकार भी कहा जाता है। दरअसल ग्रीन इस सत्य को रेखांकित करना चाहता है कि जब तक सामाजिक चेतना आदर्श अधिकारों को स्वीकार नहीं करती तब-तक उन्हें प्रबुद्ध शासक का आदर्श अधिकारों को कानूनी रूप देने का उद्देश्य सफल नहीं होगा। इसी नाते लिखित और निर्मित संविधानों में बड़े-बड़े आदर्श अधिकारों की चर्चा होती है। पर जिनके लिए वह संविधान बनाया जाता है वे लोग अपने आचरण से उन अधिकारों को निषेधित ही करते हैं। परिपक्व सामाजिक चेतना द्वारा प्रस्तुत अधिकारों को जब कानून में ढाला जायेगा तभी वे नागरिकों के आचरण में अनूदित होंगे। इसलिए अपेक्षा हैं सामाजिक चेतना के नैतिक विकास की।

मानवीय चेतना स्वतंत्रता की मांग करती है। स्वतंत्रता चरितार्थ होती है अधिकारों में और अधिकारों के लिए राज्य अनिवार्य है। क्यों अनिवार्य है? अधिकार लागू किये जाते हैं। इनको आरोपित करने के लिए किसी सत्ता का होना अनिवार्य है और वह सत्ता राज्य है। इस प्रकार स्वतंत्रता और अधिकार के माध्यम से मनुष्य की आत्म चेतना अथवा उसका नैतिक संकल्प राज्य के अस्तित्व के साथ अनिवार्यतया सम्पृक्त है।

6.6 राज्य का सिद्धान्त

ग्रीन ने राज्य की प्रकृति और उसके औचित्य को नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित किया है। इसके लिए मनुष्य का नैतिक संकल्प सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। राज्य इसी नैतिक संकल्प द्वारा सृजित है। इस सृजन का अर्थ है कि राज्य का औचित्य नैतिक संकल्प के सन्दर्भ में ही प्रमाणित किया जा सकता है। ग्रीन का आदर्श यूनानी नगर राज्यों का नागरिक जीवन था। व्यक्ति एक दूसरे के साथ मिलकर समूह के जीवन में भाग लेकर ही अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकते थे। इसलिए राज्य यूनानियों के लिए एक नैतिक संस्थान था। यूनानी दृष्टि और ग्रीन की दृष्टि में इतना अन्तर है कि यूनानी नगर राज्यों में दास नागरिकता से वंचित थे। ग्रीन के लिए राज्य की नागरिकता से कोई भी वर्ग वंचित नहीं है। उसके लिये राज्य में दास हैं ही नहीं। इसलिए सभी नागरिक समान रूप से एक दूसरे के साथ राज्य के जीवन में सहभागी हैं। यह सहभागिता व्यक्ति के आत्मविकास के लिए आवश्यक है। व्यक्ति का आत्मविकास मात्र भौतिक सुख, साधनों और सुविधाओं की उपलब्धि नहीं है। यह आत्म विकास नैतिक है। इसलिए राज्य तर्क की दृष्टि से नैतिक चेतना द्वारा सृजित है। किसी और आधार पर राज्य का औचित्य प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

यूनानी विचारकों की राज्य सम्बन्धी इस धारणा को आधुनिक युग में रूसो ने नैतिक संकल्प के आधार पर प्रतिष्ठापित किया। रूसो के अनुसार स्वतंत्रता नैतिक संकल्प का अनुशासन है। स्वतंत्रत होने का अर्थ है नैतिक रूप से स्वतंत्रत होना। इच्छाओं और कामनाओं को असीम रूप से संतुष्ट करना स्वतंत्रता नहीं, स्वच्छन्दता है। रूसो के लिए एन्द्रिक उपभोग की निर्बन्ध तृप्ति स्वतंत्रता नहीं है। स्वतंत्रता है विवेक का अनुशासन। इस प्रकार रूसों ने नैतिक स्वतंत्रता की अवधारणा प्रस्तुत की। यह नैतिक स्वतंत्रता राज्य में ही प्राप्त होती है। रूसो के लिए मनुष्य होने का अर्थ नैतिक रूप से स्वतंत्र होना है अर्थात् मनुष्य का वैशिष्ट्य नैतिक स्वतंत्रता है। इस वैशिष्ट्य का आधार है- मनुष्य का नैतिक संकल्प। इसी नाते राज्य का आधार रूसो के लिये नैतिक संकल्प है।

इसी मूल बात को काण्ट और हेगल ने अपने चिंतन प्रस्थान में समाहित किया। यूनानी दृष्टि, रूसो, काण्ट और हेगल की धारणा को इंग्लैण्ड की संवैधानिक परम्परा के सन्दर्भ में ग्रीन ने छानकर प्रस्तुत किया। छानकर इसलिए कि प्लेटो, अरस्तू, रूसो, काण्ट और हेगल की कतिपय धारणाओं से ग्रीन असहमत था। पर उनकी मूलभूत धारणाओं को ग्रीन ने पूर्णतया स्वीकार किया : (1) राज्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के लिए आवश्यक होने के नाते एक नैतिक संस्थान है। (2)

राज्य में व्यक्ति स्वतंत्र होता है; स्वतंत्रता नैतिक है; यह नैतिक संकल्प पर आधारित है; इसलिए राज्य का औचित्य भी नैतिक संकल्प पर आधारित है; फलस्वरूप राज्य नैतिक संकल्प पर अधिष्ठित है। इसी बात को ग्रीन ने निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया :

'Will, not force, is the basis of the state'

संकल्प, शक्ति नहीं, राज्य का आधार है। ग्रीन ने संकल्प और कामनाओं में अन्तर माना है। इसलिए यह नहीं कहा जायेगा कि कामना (desire) राज्य का आधार है। संकल्प जो मूलतः नैतिक संकल्प है वही राज्य का आधार है।

ग्रीन ने राज्य के आधार के रूप में मात्र शक्ति को ही खारिज नहीं किया है। उसके अनुसार प्रसंविदा भी राज्य का आधार नहीं है। शक्ति और प्रसंविदा केवल बाह्य परिस्थितियों के आधार पर राज्य की उत्पत्ति को संकेतित करते हैं। एक का आधार है भय और दूसरे का स्वार्थ। भय समाप्त हो जाय और स्वार्थ पूरा न हो तो राज्य की प्रासंगिकता ही समाप्त हो जायेगी। अतः राज्य की उत्पत्ति के ये आधार परिस्थिति सापेक्ष है; इसलिए अस्थायी हैं। राज्य का अतिरिक्त औचित्य इनसे प्रमाणित नहीं होता। इस औचित्य को प्रमाणित करने के लिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि राजनीतिक बाध्यकारिता का नैतिक आधार क्या है। हम क्यों राज्य के सदस्य हैं और राज्य की आज्ञाओं का पालन करना नैतिक दृष्टि से क्यों उचित है? इन प्रश्नों का उत्र राज्य के अस्तित्व और उसके औचित्य के नैतिक आधार में निहित है। ग्रीन ने अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स आन द प्रिंसिपुल्स आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन' (Lectures on the Principles of Political obligation) में यही प्रमाणित करने का प्रयास किया है।

यह पुस्तक राज्य के नैतिक स्वरूप को व्याख्यायित करती है। व्यक्ति के नैतिक संकल्प की पूर्ण चरितार्थता के लिए स्वतंत्रता अनिवार्य है। स्वतंत्रता है नैतिक मान्यताओं और आदर्शों के अनुरूप आचरण। इसके लिए परिस्थितियाँ अपेक्षित हैं। व्यक्ति इन परिस्थितियों की मांग करता है जो उसकी नैतिक मान्यताओं के अनुकूल हैं। जब व्यक्ति की अलग-अलग मांगे समाज द्वारा स्वीकृत होकर कुछ समेकित मांगों का रूप ग्रहण करती हैं तो उन्हें प्राकृतिक अधिकार अथवा आदर्श अधिकार कहते हैं। इस पर सामाजिक चेतना की मुहर लग जाती है। समाज इन अधिकारों की मांग इसलिए करता है कि ये प्राकृतिक अधिकार वे परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल हैं। समाज द्वारा स्वीकृत प्राकृतिक अथवा आदर्श अधिकारों को लागू करने के लिए किसी सत्ता का होना अनिवार्य है। यह सत्ता ही राज्य सत्ता है। अतः अधिकार और राज्य का अनिवार्य युक्ति मूलक सम्बन्ध है।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब सामाजिक चेतना ने प्राकृतिक अधिकारों को स्वीकृत कर लिया तो क्या सामाजिक चेतना की स्वीकृति के उपरान्त व्यक्ति स्वतः उनका अनुपालन नहीं करेंगे? ग्रीन का उत्तर हैः सामाजिक चेतना की स्वीकृति के उपरान्त सम्भावना है कि कुछ व्यक्ति ऐसे हो जिनकी वास्तविक इच्छाएँ उन अधिकारों को स्वीकार न करे। वास्तविक इच्छा (actual Will) और विवेक सम्मत इच्छा में अन्तर है। सामाजिक चेतना की स्वीकृति का अर्थ है समाज में रहने वाले व्यक्तियों में निहित विवेक सम्मत संकल्प की स्वीकृति। जब इसकी सामाजिक अभिव्यक्ति होती है तो वह सार्वजनिक संकल्प (General Will) या सार्वजनिक इच्छा है। अतः यह सम्भावना है कि सार्वजनिक इच्छा ने आदर्श परिस्थितियों अथवा आदर्श अधिकारों को स्वीकार तो कर लिया पर कुछ व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा उन परिस्थितियों को लागू करने के मार्ग में बाधक बनेगी। उन व्यक्तियों के क्रियाकलापों को रोकने लिए राज्य आवश्यक है। इसलिए आदर्श अधिकार को राज्य की शक्ति द्वारा व्यक्तियों की वास्तविक इच्छा पर लागू किया जायेगा। इसके अभाव में व्यक्ति उन परिस्थितियों से वंचित हो जायेगा जो उसके नैतिक बनने में सहायक हैं। ग्रीन के सिद्धान्त ने एक प्रकार के विरोधाभास (parodox) की स्थिति उत्पन्न की। वह स्थिति है नैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए बाध्यता (coercion) आवश्यक है। यह मात्र विरोधाभास है, अन्तर्विरोध (contradiction) नहीं।

किस प्रकार ? अन्तर्विरोध इसलिए नहीं है कि राज्य बाध्यता का प्रयोग व्यक्ति के स्वतंत्र संकल्प को सीधे प्रभावित करने के लिए नहीं करता। स्वतंत्रत संकल्प तो व्यक्ति का अपना निर्णय है। राज्य की सत्ता उस निर्णय शक्ति पर दबाव नहीं डालती। वह केवल नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों को सुनिश्चित करती है और नागरिकों को बाध्य करती है कि वे उन परिस्थितियों को दुर्व्यवस्थित न करें।ये परिस्थितियाँ स्वतंत्र संकल्प के नैतिक लक्ष्य के अनुकूल हैं। इसलिए राज्य उन व्यक्तियों की वास्तविक इच्छाओं पर दबाव डालता है जो इन परिस्थितियों को दुर्व्यवस्थित करते हैं। इसलिए राज्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यक्ति की वास्तविक इच्छाओं से है। व्यक्ति की नैतिक इच्छा या नैतिक संकल्प से उसका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है।

ग्रीन ने इन तर्कों से राज्य के अस्तित्व को नैतिक रूप से अनिवार्य माना है।

6.7 सम्प्रभुता की अवधारणा

जिस सामाजिक चेतना ने प्राकृतिक अधिकारों की सृष्टि की है वही सामाजिक चेतना राज्य की सत्ता की भी संरचना करती है। राज्य की सत्ता को ही सम्प्रभुता से अभिहित किया जाता है।

ग्रीन के सम्प्रभुता सिद्धान्त में रूसों और आस्टिन का संयोग परिलक्षित होता है। ग्रीन राज्य के अस्तित्व और औचित्य को सार्वजनिक संकल्प पर अधिष्ठित मानता है। इसलिए राज्य की सत्ता का आधार समाज का सर्वाजनिक संकल्प है। यह नैतिक आदर्शों की सामाजिक चेतना है। यह प्रत्यक्षतः नैतिक लक्ष्य को रूपायित करती है और इसी के निमित्त राज्य की सम्प्रभुता संरचित की गयी है। अतः यह कहना अनुपयुक्त नहीं है कि सामाजिक चेतना अथवा सार्वजनिक संकल्प (General Will) ही सम्प्रभु है। यही वह स्रोत है जिसके नाते राज्य की सत्ता की वैधता (legitimacy) प्रमाणित की जा सकती है। पर राजनीतिक यथार्थ का परिदृश्य थोड़ा भिन्न है। इस यथार्थ के नाते व्यावहारिक जगत में सम्प्रभु शक्ति का प्रयोग निरन्तर समाज नहीं करता। उस शक्ति का प्रयोग- इस बिन्दु पर ग्रीन के ध्यान में इग्लैण्ड का उदारहण है- कुछ निश्चित व्यक्ति करते हैं। इन्हें आस्टिन ने Determinate human superior (निश्चित मानव श्रेष्ठ) कहा है। ग्रीन ने इसको स्वीकार किया है। वह निश्चित मानव श्रेष्ठ साधारण सभा (House of commons) लार्डसभा (House of Lords) और सम्राट अथवा साम्राज्ञी (King or Queen)- जैसी स्थिति हो - है। स्पष्ट है कि ग्रीन ने आस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त को ईंग्लैण्ड के सन्दर्भ में स्वीकार किया था। उसने उन जटिलताओं को नज़र अन्दाज कर दिया जिसके नाते समीक्षकों ने प्रमाणित किया है कि आस्टिन का सिद्धान्त ईंग्लैण्ड की स्थिति पर भी लागू नहीं होता।

वस्तुतः ग्रीन सम्प्रभुता सिद्धान्त के सहारे इग्लैण्ड की संवैधानिक परम्परा और प्रत्ययवाद का संयोग प्रस्तुत कर रहा था। स्वतः ईंग्लैण्ड में जनता की सम्प्रभुता और संसदीय सम्प्रभुता दोनों को वहाँ की संवैधानिक परम्परा में यथोचित स्थान प्राप्त है। निर्वाचन द्वारा जनता संसद चुनती है। अतः जनता राजनीतिक सम्प्रभु (political sovereign) है और संसद निर्वाचित होने के उपरान्त जो कानून बनाती है वह सर्वोपरि है और उसी कानून को न्यायालय लागू करते हैं तथा जनता को उसका पालन करना है। इसलिए संसद विधिक सम्प्रभु (legel sovereign) है।

इस प्रकार रूसो और आस्टिन का संयोग प्रत्ययवाद और इग्लैण्ड की संवैधानिक परम्परा का संयोग तो है ही। यह राजनीतिक सम्प्रभु और विधिक सम्प्रभु का भी संयोग है।

6.8 राज्य की प्रकृति

ग्रीन निरन्तर इस बात को रेखांकित करता है कि भले ही राज्य-सत्ता नागरिकों की वास्तविक इच्छा को नियंत्रित और प्रभावित करे, वह है मूलतः नैतिक संस्थान ही और इसी नाते राज्य की बाध्यकारी शक्ति का नैतिक औचित्य भी है। ग्रीन, प्लेटो की तरह न समष्टिवादी है, न हेगल की तरह राज्य की नैतिक पूर्णता (moral perfection) का समर्थक ही। वह अरस्तू और काण्ट के

अधिक निकट है। इन दोनों विचारकों ने राज्य का नैतिक औचित्य स्वीकार किया है किन्तु व्यक्ति को राज्य में विलीन नहीं किया है। अर्नेस्ट बार्कर के अनुसार :

"Green is more Aristotlian than Platonic, more Kantian than Hegelian.'

अतः व्यक्ति की सत्ता समाज अथवा राज्य में विलीन नहीं हुई है। दरअसल ग्रीन के लिए व्यक्ति का अस्तित्व समाज के बाहर है ही नहीं और समाज भी उन व्यक्तियों से बना है जो उसमें हैं। समाज की सार्वजनिक इच्छा व्यक्तियों के नैतिक सन्दर्भ से ही संचित होता है। ग्रीन कहता था कि : Without society no persons. ग्रीन यह भी मानता थाः Without persons, no society इस प्रकार ग्रीन के अनुसार व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध उन सम्बन्धों से भिन्न है जिसे समष्टिवादियों और व्यक्तिवादियों ने प्रस्तुत किया था।

सामाजिक चेतना द्वारा व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिए कुछ नैतिक परिस्थितियों की अपेक्षा है। दरअसल ग्रीन के लिए व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध अचेतन रूप से नैतिक सम्बन्ध है। यह रोजाना के जीवन में परिलक्षित होता है। बाजार में दुकानदार और खरीददार के बीच ऊपर से तो आर्थिक, सम्बन्ध दीख पड़ता है पर मूलतः यह सम्बन्ध नैतिक है- दाम लेकर सामान देना और सामान पाकर दाम देना नैतिक मान्यता है। मुहल्ले वालों से और समाज में अन्य लोगों से सम्बन्ध मूलतः नैतिक है। इसलिए जब भी मनुष्य एक दूसरे के साथ रहते हैं, वे अनजाने नैतिक सम्बन्ध में ही बंधते हैं। लेकिन यह दैनिक सम्बन्ध बहुत ही प्रारम्भिक नैतिकता का बोध कराता है। नागरिकता की स्पष्ट नैतिक चेतना इनमें नहीं होती। पर इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर समाज की सार्वजनिक इच्छा आदर्श परिस्थितियों की मांग करती है और उसके लिए राज्य की सत्ता की मांग करती है। ग्रीन का कहना है कि जिस समाज में अशिक्षा है, मद्यपान है, निर्धनता है उस समाज के सदस्य उक्त परिस्थितियों के नाते नागरिकता की नैतिक चेतना का बोध नहीं कर पाते। ग्रीन ने समाज के इन वंचित सदस्यों का चित्रांकन निम्नलिखित शब्दों में किया हैः

'an untaught and underfed denizen of a London yard with gin shops on the right hand and on the left'.

यह चित्र सामान्य नागरिक का नहीं है। पूंजीवादी समाज में औद्योगीकरण के दौरान मिलों फैक्ट्रियों में काम करने वाले अशिक्षित, निर्धन, मद्यपानरत मजदूरों का है जिनके दायें-बायें जिन की दुकानें हैं। इन व्यक्तियों से अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे चेतनरूप में नागरिकता की नैतिक चेतना का परिचय दें। किन्तु बीज रूप में अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में उनके आपसी और सामाजिक सम्बन्धों में यह धारणा अचेतन रूप से विद्यमान है कि सामाजिक सम्बन्ध मूलतः किसी न किसी नैतिक विधान द्वारा अनुशासित होते हैं।

राज्य उसी मुक्त नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति है। जो नैतिक चेतना मजदूरों में सुप्त है वह अन्य व्यक्तियों के माध्यम से चेतन रूप में नैतिक संकल्प में व्यक्ति होती हैं। उसी नैतिक संकल्प का सामाजिक रूप से व्यक्त होता है सार्वजनिक संकल्प में और उसी पर राज्य अधिष्ठित है। इसलिए व्यक्ति, समाज और राज्य नैतिक चेतना से आवेष्ठित हैं। यह सार्वजनिक नैतिक लक्ष्य की सामाजिक चेतना है। इसलिए ग्रीन ने उसे सार्वजनिक संकल्प कह दिया है। व्यक्ति में यह नैतिक संकल्प है। इसी की सार्थकता के नाते राज्य अपेक्षित है। इसलिए राज्य का आधार सार्वजनिक संकल्प है। इस दृष्टि से वास्तविक सम्प्रभु सार्वजनिक संकल्प है। यह जन सम्प्रभुता का सिद्धान्त है। ग्रीन के चिन्तन में इस संदर्भ में रूसो का प्रभाव स्पष्ट है।

पर ग्रीन इतनी ही व्याख्या से संतुष्ट नहीं होता। ईंग्लैण्ड की संवैधानिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में जनसंप्रभुता राजनीतिक वास्तविकता की अन्तिम व्याख्या नहीं है। इसलिए ग्रीन को सार्वजनिक संकल्प की सम्प्रभुता को मानते हुए एक दूसरे प्रकार के सम्प्रभु को भी मानता था। यह सम्प्रभु अपेक्षाकृत सीमित और स्पष्ट है। ग्रीन के लिए यह निश्चित मानव श्रेष्ठ (determinate human

superior) है। यह मत आस्टिन ने प्रतिपादित किया था। उसकी दृष्टि और ग्रीन की दृष्टि में भी इंग्लैण्ड का वही सम्प्रभु है। इसे विधिक सम्प्रभु (legel sovereign) कहा जाता है। इस प्रकार ग्रीन ने रूसो और आस्टिन दोनों प्रकार की संम्प्रभुता का संयोग किया है।

क्या एक राज्य में दो सम्प्रभु संभव है? क्या ग्रीन ने सम्प्रभुता के सन्दर्भ में असंभव स्थिति उत्पन्न नहीं की है? क्या इस नाते निरन्तर संघर्ष की संभावनाएं जन्म नहीं लेती? पहले और दूसरे प्रश्नों का उत्तर है कि ग्रीन ने दो सम्प्रभुता स्वीकार अवश्य किया है पर ये दोनों सम्प्रभुताएं समान्तर नहीं है। इसलिए असम्भव स्थिति का प्रश्न ही नहीं है । तीसरे प्रश्न का उत्तर है कि निरन्तर संघर्ष की कोई संभावना नहीं है क्योंकि दोनों संप्रभुताएं समानान्तर नहीं हैं। हाँ मतभेद की संभावना है और यह मतभेद समाज के सार्वजनिक संकल्प और विधिक सम्प्रभु के निर्णयों के बीच सम्भव है। पर यह निरन्तर संघर्ष की स्थिति नहीं है। समाज और सरकार में भेद लोकतंत्र की जीवन्तता और उसकी क्रियाशीलता का प्रभाव है। जिस लोकतंत्र में सरकार के क्रिया कलापों के प्रति समाज उदासीन हो, जहाँ नागरिक सरकार की गतिविधियों का लेखा-जोखा नहीं रखते और सरकार के समक्ष साग्रह अपनी धारणाओं को संगठित रूप से व्यक्त नहीं करते वह लोकतंत्र मात्र औपचारिक है। बस ढाँचा है किन्तु उसमें गतिशीलता नहीं। ग्रीन मतभेद को स्वीकार करता है, निरन्तर संघर्ष को नहीं। इसलिए दोनों सम्प्रभुताओं में संघर्ष की संभावना नहीं है।

दरअसल उसमें से एक राजनीतिक सम्प्रभु है और दूसरा विधिक सम्प्रभु। इन दोनों में स्तर भेद है। राजनीतिक सम्प्रभु निर्वाचन में सक्रिय होता है, प्रतिनिधियों का चयन करता है और यही प्रतिनिधि संसद सदस्य के रूप में अधिनियम पारित करते हैं। अतः जो विधिक सम्प्रभु है उसकी संरचना राजनीतिक सम्प्रभु करता है। इसलिए राजनीतिक सम्प्रभु का स्तर विधिक सम्प्रभु से भिन्न है।

इंग्लैण्ड में राजनीतिक सम्प्रभु और विधिक सम्प्रभु की संभावनाएं लॉक के चिन्तन से प्रारम्भ हुयी हैं। यह नामकरण लॉक ने नहीं किया है। किन्तु विधि और राजनीति के यर्थाथ को देखते हुए यह भेद आवश्यक है। इसलिए भले ही ग्रीन ने इसे नहीं किया हो, समीक्षकों ने ग्रीन के सन्दर्भ में यह भेद उपस्थित किया है।

अर्नेस्ट बार्कर ने दो सम्प्रभुताओं का भेद नहीं माना है। उनके अनुसार जनता न तो विधिक सम्प्रभु है और न वास्तविक सम्प्रभु। उनका कथन है :

'This must not be confused with the assertion that the ultimate sovereign, de jure or de facto, is the people.'

बार्कर का मत है कि सार्वजनिक संकल्प राजनीतिक क्रिया-कलापों को प्रेरित करने वाली शक्ति है और यह एक प्रकार की नैतिक शक्ति है। इसी नैतिक आस्था के नाते जनता के प्रतिनिधि अपने दायित्वों का निर्वहन करते हैं। यही नैतिक शक्ति प्राकृतिक अधिकारों की भी संरचना करती है और यही उन प्रतिनिधियों की भी जो कानून बनाते हैं।

6.9 प्राकृतिक अधिकार, विधिक अधिकार और राज्य की सत्ता का प्रतिरोध

प्राकृतिक अधिकार सार्वजनिक संकल्प द्वारा निर्धारित वे आदर्श परिस्थितियाँ हैं जो स्वतंत्रतता की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल हैं। स्वतंत्रता नैतिक स्वायत्तता को चरितार्थ करने के लिए आवश्यक है। इसलिए प्राकृतिक अधिकार वे परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य को नैतिक बनने में सहायक हैं। राज्य से अपेक्षित है कि वह इन प्राकृतिक अधिकारों या आदर्श अधिकारों को कानूनी अधिकारों में व्यक्त करे।

पर अगर राज्य ऐसा न करे तो क्या होगा? किस प्रकार समाज राज्य द्वारा प्राकृतिक अधिकार को स्वीकृत कराये? यह समस्या लोकतंत्र में तो उठती ही है। दलीय व्यवस्था पर आधारित

लोकतांत्रिक शासन में तो यह और मुखर हो उठती है। संभवतः इसका कारण है कि दलीय व्यवस्था में जो कानून बनते हैं वे एक दल के निर्णय पर आधारित होते हैं। इसलिए संभव है वे एकपक्षीय और पूर्वाग्रहयुक्त हों। फलस्वरूप सामाजिक चेतना द्वारा मनोनीत प्राकृतिक अधिकार और दलीय व्यवस्था के अन्तर्गत पारित अधिनियम में अन्तराल हो। इस व्यवस्था में जो भी बहुमत है वह अस्थायी और तदर्थ है। दल सत्तारूढ़ होते हैं और सत्ता से खिसकते हैं फिर दूसरा दल सत्तारूढ़ होता हैं। ऐसी स्थिति में आज का बहुमत आने वाले कल का अल्पमत हो सकता है। कानूनी अधिकार दलीय बहुमत के भाग्य से जुड़े हैं; प्राकृतिक अधिकार समाज की नैतिक चेतना से। यदि इन दोनों प्रकार के अधिकारों में अन्तर्विरोध या अन्तराल हो तो क्या करना चाहिए? यह सवाल निरन्तर उठेगा क्योंकि समाज की नैतिक चेतना सतत् विकासशील है इसलिए प्राकृतिक अधिकारों का स्वरूप परिवर्तित होता रहेगा और नये-नये प्राकृतिक अधिकार मनोनीत किये जायेंगे। कानूनी अधिकार इन नये प्राकृतिक अधिकारों के साथ कदम-ब-कदम परिवर्तित नहीं होते हैं। इसलिए अन्तराल निरन्तर बना रहेगा।

ग्रीन ने सम्हलकर इस प्रश्न का उत्तर दिया है। क्या समाज को प्राकृतिक अधिकारों को कानूनी स्वरूप प्रदान करने के लिए राज्य की सत्ता का प्रतिरोध करना चाहिए? इसी सवाल के साथ एक यह भी सवाल जुड़ा है कि क्या किसी ऐसे प्राकृतिक अधिकार के लिए जिसे समाज की चेतना ने स्वीकार नहीं किया है पर व्यक्ति की नैतिक चेतना ने स्वीकार किया है। राज्य की सत्ता का प्रतिरोध किया जा सकता है? इस दूसरे प्रकार की समस्या का उदाहरण ग्रीन ने ही दिया है। उसने अफ्रीका के नीग्रो निवासियों की ओर संकेत किया है। उसका कहना था कि संभव है कि एक व्यक्ति की नैतिक चेतना नीग्रों निवासियों को दास बनाने की प्रथा को अनैतिक मानती है पर सामाजिक चेतना-ग्रीन के समय में ऐसी स्थिति थी - उसे अनैतिक नहीं मानती थी। इस स्थिति में उस व्यक्ति की नैतिक चेतना के अनुसार नीग्रो का यह प्राकृतिक अधिकार है कि वह दासता से मुक्त हो और स्वतंत्र हो। अगर किसी व्यक्ति की नीग्रो के प्रति यह दृष्टि है तो यह उस व्यक्ति का व्यक्तिगत प्राकृतिक अधिकार है। क्या वह व्यक्ति नीग्रों के सम्बन्ध में अपनी नैतिक चेतना के आधार पर राज्य की सत्ता का प्रतिरोध करे?

ग्रीन का उत्तर हैः नहीं। प्राकृतिक अधिकार सम्बन्धी व्यक्तिगत नैतिक चेतना के लिए प्रतिरोध करना इसलिए अनुचित है कि एक के लिए सम्पूर्ण में दुर्व्यवस्था उत्पन्न नहीं की जा सकती। ग्रीन ने सलाह दी है कि उस व्यक्ति के लिए उचित है कि पहले वह प्राकृतिक अधिकार की अपनी निजी व्यक्तिगत धारणा को सामाजिक चेतना द्वारा स्वीकृत कराये। इसके लिए उसको विचार-विमर्श करना चाहिए। संवाद और प्रचार-प्रसार द्वारा यह संभव होगा। जब सामाजिक चेतना इसको स्वीकार कर ले तब राज्य से यह आग्रह किया जा सकता है कि वह इस कानूनी अधिकार को स्वीकार करे। इस पर भी अगर राज्य स्वीकार नहीं करता है तो? ग्रीन का मत है कि प्रतिरोध संभव है पर समाज प्रतिरोध के लिए बाध्य नहीं है। ग्रीन ने इंग्लैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में समाधान प्रस्तुत किया है। उस व्यवस्था में निर्धारित समय पर नागरिक अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं। इसलिए बदलती हुई सामाजिक चेतना निर्वाचन के उपरान्त गठित हाउस ऑफ कामन्स में परिलक्षित होती है। डायसी ने अपनी पुस्तक 'लॉ एण्ड पब्लिक ओपिनियन' में इस बात के प्रमाण दिये हैं कि कैसे बदलते हुए लोकमत को इंग्लैण्ड में कानून बदलकर समायोजित किया गया है। इन सन्दर्भों में ग्रीन के अनुसार प्रतिरोध का स्वरूप और उसका विस्तार वह नहीं है जो 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति में था। ग्रीन के लिए प्रतिरोध लोकतांत्रिक व्यवस्था का लोकतांत्रिक प्रतिरोध है।

6.10 राज्य और उसके अन्तर्गत अन्य समूह

ग्रीन के अनुसार राज्य संवासों का संवास (society of societies) है। ग्रीन के अनुसार व्यक्ति और राज्य के बीच में बहुत से संवास और निगम मध्यस्थ का काम करते हैं। निश्चित ही ग्रीन के ऊपर गायर्के (Gierke) का प्रभाव स्पष्ट था। गायर्के ने यूरोपीय मध्ययुग के निगमों की गहराई

से छानबीन की है। ग्रीन मानता था कि बहुत से संवास ऐसे हैं जो राज्य की ही धारणा से अनुस्यूत हैं। इनकी रचना राज्य के कानून से नहीं हुई हैं। इन संवासों और निगमों के अधिकारों की अपनी व्यवस्था है। इनके अपने अधिकार और कर्त्तव्य है। ऐसा इसलिए है कि यह मानवीय समूह है। इस नाते सदस्यों के अन्योन्याश्रय के लिए अधिकार और कर्त्तव्य की व्यवस्था अपेक्षित है। राज्य इन अधिकारों की रचना तो नहीं करता पर वह इन संवासों के बीच पारस्परिक तालमेल के सम्बन्ध में अधिनियम बना सकता है - संवासों के सदस्यों के आन्तरिक सम्बन्धों और उन संवासों के अन्य संवासों के बाह्य सम्बन्धों के निमित्त।

ग्रीन मानता है कि इसमें से कुछ संवास तो राज्य की सत्ता में ही अनुस्यूत हैं और उसके पूर्ववर्ती। जैसे - परिवार। राज्य न तो इन संवासों की रचना करता है और न तो अपने कानून से इन संवासों को नष्ट करता है। इन्हीं अर्थों में ग्रीन ने कहा है कि राज्य संवासों का संवास (society of societies) है। राज्य को केवल इन संवासों के आपसी सम्बन्धों का और संवासों के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों का समायोजन करना है। इस प्रकार नागरिकों के जो भी अधिकार सुनिश्चित किये जाते हैं वे सब राज्य द्वारा नागरिकों को प्रदत्त अधिकार माने जायेंगे। कानूनी अधिकारों का अन्तिम स्रोत तो राज्य है ही। कोई संवास या संवास का कोई सदस्य यह आग्रह नहीं कर सकता कि उसके अधिकार राज्य के विरुद्ध हो या राज्य से प्राप्त नहीं है। विधि और व्यवस्था की स्थापना की अन्तिम शक्ति तो राज्य ही है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य स्वेच्छाचारी है। राज्य को इस बात का ध्यान देना है कि वह समायोजन के निमित्त ही पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य का निर्धारण करेगा और इस पर ध्यान देगा कि उनकी स्थिति और उनका अस्तित्व बरकरार रहे। स्वतंत्र होने की दिशा में संवास आवश्यक परिस्थितियाँ हैं।

उपर्युक्त प्रस्तर से स्पष्ट है कि ग्रीन ने राज्य की प्रकृति को नैतिक माना। विधिक रूप से सम्प्रभुता को सर्वोच्च शक्ति माना। पर यह सब मानते हुए भी उसने यह नहीं माना कि राज्य नैतिकता का पूर्ण स्वरूप है; कि नैतिक नियम और राज्य द्वारा बनाये गये अधिनियम में कोई अन्तर नहीं है। अतः ग्रीन नहीं मानता है कि जो नैतिक नियम है वही अधिनियम हैं और जो अधिनियम हैं वहीं नैतिक नियम हैं। इस प्रकार ग्रीन ने राज्य को यह शक्ति नहीं सौंपी कि वह नैतिक नियमों की संरचना करे। ये नैतिक नियम व्यक्ति के स्वतंत्र संकल्प से निःसृत हैं। राज्य की सत्ता व्यक्ति के आभ्यान्तरिक नैतिक संकल्प को प्रभावित नहीं कर सकती। राज्य का उद्देश्य है कि स्वतंत्रता के लिए आवश्यक परिस्थितियों को जो असामाजिक तत्त्व बाधित करते हैं, उन असामाजिक तत्वों को राज्य बाधित करे। अर्थात् स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के लिए जो असामाजिक तत्व बाधा स्वरूप हैं उन बाधाओं की बाधा राज्य है। इसीलिए ग्रीन ने कहा कि राज्य बाधाओं की बाधा (hindrance to hindrances) है।

राज्य कैसे इन बाधाओं को रोकता है? सबसे पहले तो राज्य विधि और व्यवस्था लागू कर इन असामाजिक तत्वों को बाधित करता है और आवश्यकता हो तो दण्डित भी करता है। पर बाधाएं इतनी ही नहीं है। और भी बाधाएं हैं जो सूक्ष्म हैं जैसे-अशिक्षा, मद्यपान की आदत। व्यक्ति की आन्तरिक कमजोरियों के नाते बहुत सी बाधाएं व्यक्ति के भीतर ही जन्म लेती हैं। इन बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य बाह्य परिस्थितियों की रचना कर सकता है। ये बाधाएं मूलतः नैतिक बाधाएं हैं। अपनी कामनाओं से आहत व्यक्ति स्वतंत्र नहीं, दास है। इस नैतिक बाधा को दूर करने के लिए ग्रीन की संस्तुति है कि राज्य प्रारम्भिक शिक्षा, मद्यपान निषेध और भूस्वामित्व के प्रश्नों पर हस्तक्षेप करे। ग्रीन ने राज्य के सीमित कार्यक्षेत्र को स्वीकार किया है। उसका राज्य न पूर्णरूप से नकारात्मक है न पूर्ण रूप से सकारात्मक। उसने जितना राज्य के कार्यक्षेत्र को स्वीकार किया है उसके बाहर के क्षेत्र में राज्य हस्तक्षेप नहीं कर सकता। पर इस निर्धारित और सीमित क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए। उसका कथन है कि मनुष्य जिस प्रकार के हैं अपने यथार्थ आचरण में हमें स्वीकार करना चाहिए और वहीं से उनके नैतिक विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। उनका अज्ञान, मद्यपान की आदतें, उनकी निर्धनता - यह एक सामाजिक यथार्थ है। जब तक ये परिस्थितियाँ रहेंगी मनुष्य

का आन्तरिक विकास संभव नहीं हो पायेगा। ग्रीन ने उन व्यक्तियों की कड़ी आलोचना की है जो मानते थे कि सामाजिक सुधारों से राज्य को अपना हाथ खींच लेना चाहिए। हर्बर्ट स्पेंसर उनमें से एक था। वह विकासशील सुखवाद (evolutionary hedonism) का समर्थक था। उसके अनुसार विकास की यात्रा में अस्तित्व के लिए संघर्ष होता था। जो योग्यतम है उसी का अस्तित्व बचा रहता है। इसको स्पेंसर कहता था योग्यतम की उत्तर जीविता (survival of the fittest) इस आधार पर स्पेंसर कहता था कि राज्य को बीमारों के इलाज के लिए अस्पताल नहीं खोलना चाहिए। अगर प्राकृति उन्हें योग्य समझेगी तो वे स्वतः रोगमुक्त हो जायेंगे। रोगियों को स्वतः अपनी औषधि का प्रबन्ध करना चाहिए। यह राज्य का काम नहीं कि किसी को आर्थिक सहायता प्रदान करे। स्पेंसर राज्य के यद्भाव्यम नीति (Laisle Faire theory of the state) का समर्थक था। इस प्रकार स्पेंसर ने राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यंत सीमित कर दिया। ग्रीन उदारवादी तो जरूर था लेकिन बेंथम, मिल और स्पेंसर की तरह का उदारवादी बिल्कुल नहीं। उसने उदारवाद का पुनर्पाठ (revi:.on) प्रस्तुत किया। ऐसा करने में उसने कुछ क्षेत्रों में राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार किया। स्पेंसर के योग्यतम की उत्तरजीविता (survival of the fittest) के सिद्धान्त पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए उसने यह सवाल उठाया : (From where is the arrival of the fittest) योग्यतम की उत्तरजीविता का आगमन कहाँ से हुआ?) इस सवाल में ग्रीन ने राज्य के हस्तक्षेप के कारणों को संकेतित किया है। उसका कहना था कि राज्य ने बहुत कुछ ऐसा काम किया है- शताब्दियों तक - जिससे मनुष्य योग्य बन सके और अब भी बहुत कुछ ऐसा कर रहा है जिसके नाते उसकी योग्यता में वृद्धि हो रही है।

राज्य के जितने भी कार्य हैं वे सार्वजनिक जीवन के कार्य हैं। जिन परिस्थितियों को वह दूर करता है वे भी बाह्य हैं। पर बाह्य होते हुए भी बाह्य नहीं। वे मनुष्य की चेतना के अंग हैं। इसके अतिरिक्त उनका अस्तित्व नहीं है। अर्थात् व्यक्ति की दृष्टि से उन परिस्थितियों का साक्षात्कार मनुष्य की चेतना करती है। उसका बोध मनुष्य को होता है। इस रूप में वे मनुष्य की चेतना के अंग हैं। इसलिए जब भी मनुष्य अपनी स्वतंत्रता का निर्धारण करेगा ये परिस्थितियां आभ्यान्तरिक रूप से उसकी बाधक बनेंगी, साधक नहीं। इसलिए इन परिस्थितियों को दूर करना और ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना जो व्यक्ति की चेतना के अंश के रूप में स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति में साधक हों - यह राज्य का कार्य है।

6.11 राज्य के कार्य

(i) प्रारम्भिक शिक्षा-

ग्रीन मानता था कि अशिक्षा व्यक्ति के विकास में बाधक है। इसलिए राज्य को प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य करनी चाहिए। शिक्षित व्यक्ति अपने और समाज दोनों के लिए अनिवार्य रूप से सहायक है। शिक्षा से व्यक्ति और समाज दोनों को लाभ होता है। इसलिए राज्य को चाहिए कि वह पिता को बाध्य करे कि वह पुत्र को शिक्षा प्रदान करे। ऐसी कोई स्वतंत्रता पिता के पास नहीं है जिसके आधार पर वह कह सके कि उसकी इच्छा है कि वह पुत्र को पढ़ाये अथवा न पढ़ाये। अतः राज्य को बाध्य करना चाहिए कि पिता पुत्र को शिक्षित करे। तभी व्यक्ति उन बाधाओं को दूर कर सकेगा जो उसकी योग्यता को संकुचित करती है। इन बाधाओं से मुक्त होकर स्वतंत्र होने की और नैतिक निर्णय लेने की क्षमता में वृद्धि होगी। व्यक्ति के पास जैसे जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार है वैसे ही उसके पास शिक्षा का अधिकार है। इस प्रकार व्यक्ति आत्मोपयोगी और समाजोपयोगी दोनों होगा। राज्य के पास यह शक्ति है, अधिकार है कि व्यक्ति को योग्यम बनाने के लिए शिक्षा की व्यवस्था करे। ग्रीन की दिलचस्पी आजीवन प्रारम्भिक शिक्षा में बनी रही और व्यावहारिक स्तर पर इन समस्याओं के सक्रिय समाधान में उसका योगदान था।

(ii) मद्यपान निषेध-

औद्योगीकरण के नाते मजदूरों के बीच शराब पीने की लत बढ़ रही थी। जो मजदूर नहीं थे वे भी नगरों में शराब के आदी थे। गाँवों से नगर में आने वाले मजदूरों की शराब पीने की आदत में वृद्धि हो गयी। मद्यपान मनुष्य की चेतना को कुंठित करता है। कुंठित चेतना विवेक प्रयोग के लिए अक्षम है। इसलिए आवश्यक है कि व्यक्ति की चेतना को शराब के नशे से मुक्त किया जाय। मुक्त होने पर ही उसका नैतिक संकल्प स्वायत्तता का बोध करेगा। मद्यपान आभ्यान्तरिक परतंत्रता है। इस बाधा को दूर करने के लिए राज्य को मद्यपान-निषेध अथवा मद्यपान की आदत को कम करने का प्रयास करना चाहिए। सतही तौर पर लगेगा कि चूँकि ग्रीन ने शराब की खरीद फरोख्त पर रोक लगा दी। इसलिये यह रोक उदारवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध है। पर ग्रीन ऐसा नहीं मानता था। उसके अनुसार जो स्वतंत्रता न व्यक्ति के लिए कल्याणकारी है और न समाज के लिए, वह स्वतंत्रता नहीं है। इसीलिए ग्रीन ने मद्यनिषेध की मांग की है। न शराब रहेगी और न बेचने और खरीदने वाले शराब बेचने और खरीदने की मांग करेंगे।

(iii) मिल एवं फैक्ट्रियों में आर्थिक सुधार-

ग्रीन ने औद्योगीकरण के नाते उत्पन्न मजदूरों की स्थिति पर भी ध्यान दिया है। ध्यान देने का आधार क्या है? ऐसी परिस्थितियों की रचना करना जिसमें मजदूरों की भौतिक बाधाएं दूर हो सकें। मात्र बाध्यता दूर करना और व्यक्ति को स्वच्छन्द छोड़ देना स्वतंत्रता नहीं है। व्यक्ति की बाध्यताएँ तो दूर हों। पर ऐसी परिस्थितियाँ भी विकसित की जायें जो स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के अनुकूल हो। ग्रीन का कथन है:

'When we measure the progress of society by its growth in freedom we measure it by the increasing development and exercise of the whole of those powers of contributing to social good with which we believe the members of the society to be endowed... The mere removal of compulsion, the mere enabling of a man to do as he likes, is in itself no contribution to true freedom'.

उपर्युक्त आधार पर ग्रीन का मानना था कि मजदूरों के सम्बन्ध में राज्य को इस तरह से हस्तक्षेप करना चाहिए कि उन्हे राहत मिले। उसका मानना था कि फैक्ट्रियों और मिलों की वजह से नगरों की जनसंख्या में वृद्धि तो हुई पर उतने मकान नहीं बने। मजदूर तंग कमरों में रहने को मजबूर थे। जितने लोग रहते थे उससे कहीं कम स्थान उन कमरों में था। मकानों के सम्बन्ध में कोई अधिनियम नहीं था। फैक्ट्रियों में मजदूरों को मशीनों पर काम करते वक्त बड़े खतरे उठाने पड़ते थे। इसके सम्बन्ध में भी कोई अधिनियम नहीं था। उनके स्वास्थ्य पर भी असर पड़ता था पर ऐसी कोई योजना नहीं थी जो उन्हें बचा सके। जिन गलियों और मकानों में वे रहते थे वे तंग तो थे ही, गन्दे भी बहुत थे। उनके काम के घण्टे निर्धारित नहीं थे। स्त्रियाँ और बच्चे भी खतरनाक फैक्ट्रियों एवं मशीनों में काम करते थे। मजदूरों की मजदूरी भी उसी तरह निर्धारित होती थी जैसे खुले बाजार में वस्तुओं की कीमत। ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य स्वतंत्र हो ही नहीं सकता। वह कितनी असुविधाओं से घिरा हुआ है। कितने खतरों का उसे सामना करना पड़ रहा है। जब तक ये असुविधाएं दूर नहीं होती, मनुष्य के ये बन्धन समाप्त नहीं होते, तब तक इस बात की आशा करना कि मनुष्य अपने नैतिक संकल्प के अनुशासन में आचरण करेगा दुष्कर है। इसलिए ग्रीन ने इस सम्बन्ध में कुछ सुधारों की संस्तुतियाँ प्रस्तुत कीं।

उसने संस्तुति की कि मिलों और फैक्ट्रियों से सम्बन्धित अधिनियम बनाये जाएँ और इनके मालिकों को इन अधिनियमों को मानने के लिए बाध्य किया जाय। मजदूरों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सक्षम चिकित्सकों की संस्तुतियों के आधार पर संहिता बनायी जाय और उसका कड़ाई से पालन करवाया जाय। सफाई और रखरखाव के सम्बन्ध में भी अधिनियम बनाये जायं।

इतना ही नहीं। ग्रीन ने यह भी संस्तुति की कि मजदूरों के काम के अधिकतम घण्टे प्रत्येक दिन और प्रत्येक सप्ताह के लिए निर्धारित किये जायं। फैक्ट्री में काम करने से यदि किसी मजदूर की क्षति होती है तो उसे क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भी अधिनियम होने चाहिए। फैक्ट्रियों में मजदूरों के काम करने की परिस्थितियाँ सुनिश्चित की जायें। मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी निर्धारित की जाय। स्त्रियों और बच्चों के काम पर रोक लगे अथवा उनके काम की सीमा निर्धारित की जायं।

ग्रीन की ये संस्तुतियां आज के कल्याणकारी राज्य का पूर्वाभास है। पर ग्रीन ने इन संस्तुतियों को आत्मचेतना को बाधाओं से मुक्त करने और स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल परिस्थितियों के सन्दर्भ में प्रस्तुत की थीं। ग्रीन को विदित था और उसने स्पष्ट कहा भी है कि उसकी संस्तुतियाँ संविदा की स्वतंत्रता के उदारवादी सिद्धान्त पर प्रहार करती हैं। उसने उस प्रकार के संविदा की स्वतंत्रता को निरर्थक बताया जिसमें एक पक्ष अर्थ सम्पन्न और शक्ति सम्पन्न है और दूसरा पक्ष निर्धन एवं मजबूरियो का शिकार। मिल मालिक सम्पन्न है और मजदूर मजबूर। यह पता ही नहीं कि कल खाने को क्या मिलेगा तो मजदूर हर समझौता और हर परिस्थिति को मानकर काम करने को बाध्य होगा और इसीलिए मिल मालिक से वह संविदा करता है काम करने के लिए। संविदा की यह स्वतंत्रता मजदूर की परिस्थितियों से मिल मालिक को नाजायज लाभ उठाने की छूट देता है। फलस्वरूप मजदूर के लिए स्वतंत्रता अर्थहीन है। वह स्वतंत्र है सिर्फ अपने को बेचने के लिए। इस प्रक्रिया में मजदूर का कोई नैतिक विकास नहीं होता बल्कि उसका विकास कुंठित ही होता है। मजदूर भी व्यक्ति है और व्यक्ति के रूप में एक नैतिक साध्य (moral end)। मिल मालिक भी समाज के अन्य व्यक्तियों की तरह नैतिक साध्य हैं। मजदूर, मिल मालिक और समाज के अन्य व्यक्ति अपने-अपने में नैतिक साध्य होने के नाते साध्यों के राज्य (kingdom of ends) के सदस्य हैं। समाज ही साधनों का राज्य है। इसलिए वही स्वतंत्रता सार्थक है जो समाज मिल मालिक और मजदूर के नैतिक विकास में सहायक है। राज्य का हस्तक्षेप इस दिशा में साधक है। इसलिए राज्य को संविदा की स्वतंत्रता पर रोक लगाते हुए उपर्युक्त संस्तुतियों को लागू करना चाहिए।

(iv) सम्पत्ति-

संविदा की स्वतंत्रता पर ग्रीन ने 1880 में लिकास्टर में दिये गये अपने व्याख्यान में प्रहार किया है। व्याख्यान का शीर्षक थाः 'Liberal Legislation and Freedom of Contract' व्याख्यान का सन्दर्भ थाः आयरलैण्ड के काश्तकारों और भू-स्वामियों के बीच समझौते का अनुशासन। इस योजना ने एक प्रश्न उठाया और यह प्रश्न बार-बार उदारवादी विधायन के सम्बन्ध में उठा है। सवाल था : कहने को तो यह उदारवादी है पर क्या यह संविदा की स्वतंत्रता को सीमित नहीं करता? उदारवादियों की स्वीकृत धारणा यह थी कि कानूनी बन्धनों को शिथिल किया जाय और स्वतंत्रता को उस सीमा तक विस्तृत किया जाय जिस सीमा तक वे सार्वजनिक विधि और व्यवस्था के अनुकूल हैं। इसलिए यदि समझौते की शक्ति को सीमित किया जाता है तो क्या उसे उदारवाद कहेंगे? उपयोगितावादियों के अनुसार तो राज्य को किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना ही नहीं चाहिए। बस उतना ही हस्तक्षेप आवश्यक है जितना सार्वजनिक विधि और व्यवस्था के लिए अपरिहार्य है। इससे अधिक नहीं। अगर इससे अधिक हस्तक्षेप है तो उदारवाद का खण्डन है। उपयोगितावादियों की इस धारणा का आधार बेंथम का सिद्धान्त था कि कानून स्वतंत्रता का संकोच है। बेंथम की यह धारणा, ग्रीन के अनुसार, इस भ्रान्ति पर आधारित थी कि स्वतंत्रता मात्र कानून से ही संकुचित होती है। इसलिए मनुष्य जितना राज्य से दूर रहेगा उतना ही वह स्वतंत्र होगा। पर बात ऐसी है नहीं। कानून के अतिरिक्त और भी परिस्थितियां हैं जो स्वतंत्रता को संकुचित करती हैं। स्वतंत्रता की बेंथम की धारणा ग्रीन की दृष्टि में नकारात्मक थी। ग्रीन ने उसके स्थान पर सकारात्मक स्वतंत्रता की अवधारणा प्रस्तुत की। राज्य से दूर रहकर नहीं, बल्कि राज्य के सदस्य के रूप में मनुष्य स्वतंत्र हो सकते हैं। उसके लिए कुछ परिस्थितियों की आवश्यकता है। ये परिस्थितियाँ स्वतंत्रता की संभावना सुनिश्चित करेंगी। ये संभावना मात्र कानूनी कागजी नहीं होनी चाहिए। संविदा की स्वतंत्रता हो सकता

है कि किसी परिस्थिति में सहायक हो। पर यह साधन है साध्य नहीं। व्यावहारिक रूप से यह स्वतंत्रता कमजोर पक्ष को और भी कमजोर बनाती है। आयरलैण्ड के किसानों की इतनी शक्ति नहीं थी कि वे भू-स्वामियों के साथ सौदेबाजी कर सकें। वे अत्यन्त मजबूर थे। इसलिए भू-स्वामी मनमानी शर्तों पर समझौता करते थे। कहने को तो यह संविदा की स्वतंत्रता थी पर यह भू-स्वामियों का वर्चस्व था जो संविदा का नाजायज़ लाभ उठाता था। अतः मात्र औपचारिकता थी संविदा की। अगर किसान ऐसा न करते तो वे जमीन से बेदखल होते और बेदखल होने का मतलब था भुखमरी। इसलिए समझौता द्वारा किसानों को अत्यन्त मजबूर किया जाता था। ऐसी स्थिति में अगर राज्य समझौते की शर्तों को लागू न करता तो वह उस अत्याचार को रोकता जो भू-स्वामी काश्तकारों पर करते। यह वास्तविक सच्ची स्वतंत्रता के लिए साधक था। जो निर्धन और कमजोर हैं उन किसानों को संरक्षित करना वस्तुतः अत्याचार को रोकना था। भले ही ऊपर से देखने पर यह संविदा की स्वतंत्रता को संकुचित करना था।

इस प्रकार ग्रीन ने उदारवादी विधायन को एक नई गति और दिशा प्रदान की। इसे सामाजिक प्रतिबद्धता से जोड़ दिया और मानवीय पक्ष को रेखांकित किया - वह पक्ष जो समाज कल्याण और सर्वजन हिताय हो। सिर्फ यह कहना कि हमको चयन की स्वतंत्रता होनी चाहिए एक मजाक है- खासतौर पर उस परिस्थिति में जब चयन करने में एक पक्ष दूसरे पक्ष की अपेक्षा बलवान हो। ग्रीन की यह धारणा पूँजी प्रथम खण्ड (capital vol.I) में कार्लमार्क्स की एक युक्ति का स्मरण कराती है।

"If right equals right, force decides.'

(यदि अधिकार बराबर है तो फैसला ताकत से होता है।)

यह सही है कि उदारवाद का उद्देश्य स्वतंत्र समाज का अस्तित्व और संरक्षण है। यह भी सही है कि उदारवादी राज्य व्यक्तियों को नैतिक नहीं बना सकता। पर यह सही नहीं है कि राज्य में कुछ भी होता रहे और राज्य चुपचाप बैठकर सब कुछ सहन करे। उसे उन परिस्थितियों की रचना करनी है जिसमें स्वतंत्रता सार्थक रूप से व्यक्त हो सके। भले ही इसके लिए संविदा की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करना पड़े।

अतः भूस्वामित्व पर उसकी संस्तुति थी कि परिवारों के परम्परागत अधिकारों को समाप्त किया जाय। इसके वितरण को राज्य द्वारा नियंत्रित किया जाय क्योंकि भू-संपत्ति एक विशेष प्रकार की सम्पत्ति है जिसकी वृद्धि नहीं की जा सकती। जमीन कुछ लोगों के हाथों में सिमटी है। इस एकत्रीकरण को समाप्त किया जाय क्योंकि भूसम्पत्ति जीवन-धारण से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित है। इंग्लैण्ड की व्यवस्था में अधिकांश लोग भूमि से वंचित थे और ग्रीन के लिए वे ही सर्वहारा के स्रोत हैं। कहा जा सकता है कि ग्रीन ने अपने युग के सन्दर्भ में भूनियंत्रण की बात करके अत्यन्त प्रगतिशील संस्तुतियां प्रस्तुत की हैं।

पर भू-सम्पत्ति से इतर पूंजी के रूप में सम्पत्ति पर ग्रीन के विचार भिन्न हैं। सम्पत्ति किसी भी प्रकार की हो वह मनुष्य की क्षमता की अभिव्यक्ति के लिए सहायक होती है और इस क्षमता की अभिव्यक्ति समाज के लिए भी सहायक है। जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार के लिए एक ओर ज्ञान का अधिकार और दूसरी ओर सम्पत्ति का अधिकार आवश्यक है। सम्पत्ति मूलतः सामाजिक कल्याण में सहायक है।

सम्पत्ति समाज विरोधी नहीं है। जहाँ तक पूंजी का प्रश्न है इसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है और यह संभवना है कि मजदूर भी छोटा-मोटा पूंजीपति बन सकता है। पर संभावना किसान के लिए नहीं है। पूंजी में असमानता मनुष्य की क्षमता के नाते उत्पन्न होती है और यह असमानता स्वीकार्य है। यह मनुष्य की योग्यता पर आधारित है। जिसकी जैसी क्षमता, वैसी उसकी उपलब्धि। स्वतंत्रता की मुक्त क्रियाशीलता के नाते पूँजी की असमानता उत्पन्न होती है।यह संभावना सभी व्यक्तियों की है कि वे स्वतंत्र रूप से प्रयासरत और क्रियाशील हों। ऐसी व्यवस्था जो संकल्प की क्रियाशीलता को

कुछ लोगों में तो संरक्षित करती है किन्तु अधिकांश लोगों में संकुचित करती है अनुचित है। इसलिए ग्रीन पूंजी के रूप में सम्पत्ति के नियंत्रण की बात नहीं करता। इसका सृजन, संवर्द्धन और संरक्षण व्यक्ति की क्षमता पर आधारित है और उस क्षमता को मुक्त रूप से व्यक्त होने का अवसर मिलना चाहिए।

(v) दण्ड सिद्धान्त-

ग्रीन ने राज्य को बाधाओं की बाधा (hindrance to hindrances) माना है। यह उन नकारात्मक तत्वों का निषेध करता है जो स्वतंत्रता की सक्रिय अभिव्यक्ति में बाधक हैं। सतही तौर पर तो लगता है कि ग्रीन के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र निषेधात्मक ही है। पर ऐसा है नहीं। शिक्षा और मद्यपान के सम्बन्ध में अधिनियम, फैक्ट्रियों एवं मजदूरों के सम्बन्ध में राज्य का हस्तक्षेप, भूसम्पत्ति का वितरण सकारात्मक कार्य (affirmative action) हैं। इसके अतिरिक्त जिन्हें नकारात्मक कार्य समझा जाता है उनका उद्देश्य भी सकारात्मक है। स्वतंत्रता के लिए अनुकूल परिस्थितियों को सुनिश्चित करने के लिए राज्य हस्तक्षेप करने के निमित्त सकारात्मक निर्णय लेता है। मात्र निर्णय ही सकारात्मक नहीं है, हस्तक्षेप का उद्देश्य भी सकारात्मक है। मनुष्य की जो क्षमता प्रतिकूल परिस्थितियों के नाते अवरुद्ध है, जिससे मुक्त होने पर स्वतंत्र होने की प्रक्रिया द्वारा समान्य हित की उपलब्धि सम्भव है, उन परिस्थितियों को राज्य हस्तक्षेप द्वारा निषेधित करता है

इस प्रकार राज्य का उद्देश्य सकारात्मक है। इसी सन्दर्भ में दण्ड विधान का भी महत्व है। दण्ड का उद्देश्य अपराधी के नैतिक अपराध अथवा भविष्य में उसके सुधार को ध्यान में रखकर नहीं किया जाता। कुछ विचारकों की धारणा थी कि दण्ड नैतिक अपराध के अनुपात में प्रदान करना चाहिए। ग्रीन ने इस सिद्धान्त को खारिज किया है। उसकी धारणा थी कि नैतिक अपराध का मात्रात्मक परिगणन नहीं हो सकता क्योंकि जिस संकल्प से प्रेरित होकर अपराधी ने अपराध किया है उसके भीतर प्रविष्ट होना राज्य के लिए असंभव है। संकल्प की गहराई को जाने बिना नैतिक अपराध की गहराई का पता नहीं लगेगा। राज्य की सत्ता संकल्प के संसार में प्रविष्ट हो ही नहीं सकती। इसलिए नैतिक अपराध का मात्रात्मक परिगणन असंभव है। भविष्य में अपराधी के नैतिक सुधार की दृष्टि से भी दण्ड नहीं दिया जाता। ग्रीन ने इस दृष्टि को भी स्वीकार नहीं किया है। उसके अनुसार यदि दण्ड का उद्देश्य अपराधी का भविष्य में नैतिक सुधार है तो इससे दण्ड अपराधी को वर्तमान में अपराध से निरुद्ध नहीं कर सकेगा। इसके अतिरिक्त अपराधी स्वतः अपनी नैतिक चेतना को जागृत नहीं कर पायेगा। जब अपराधी के सुधार का दायित्व राज्य लेगा तो अपराधी को यह अवसर कब प्राप्त होगा कि वह अपने प्रयास से अपनी नैतिक चेतना को स्वतः जागृत करे। ग्रीन के दर्शन में यह व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह स्वतः नैतिक बनने का दायित्व उठाये। इस प्रकार दण्ड विधान वह बाहरी परिस्थिति है जिसमें अपराधी को अवसर प्राप्त होता है अपने आप नैतिक बनने का। यह एक प्रकार की शक्ति है जो उस परिस्थिति को दूर करती है जिसके नाते अपराधी की नैतिक चेतना सुप्त रहती है। दण्ड की ताकत तभी कारगर होगी जब वह प्रतिकूल परिस्थितियों के अनुपात में हो। इसलिए दण्ड विधान से अपेक्षित है कि जिस अपराध के लिए दण्ड दिया जाता है, वह अपराध जिस सीमा तक स्वतंत्रता के लिए अनुकूल परिस्थितियों का खण्डन करता है, उसी सीमा तक दण्ड भी दिया जाय। वस्तुतः दण्ड विधान का प्रभाव अपराधी की सुप्त नैतिक चेतना को झटका (shock) देकर जगाना है। इसलिए इसका उद्देश्य दिखने में तो नकारात्मक लगेगा पर नकारात्मक है नहीं। यह सकारात्मक है क्योंकि इसका उद्देश्य नैतिक बोध को जागृत करना है।

राज्य की दण्ड शक्ति उस शक्ति को निरुद्ध करती है जो अधिकारों के विरुद्ध है। यह इसका प्रत्यक्ष प्रभाव है। इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव यह है कि राज्य की दण्ड शक्ति असामाजिक शक्तियों को निरुद्ध कर उस परिस्थिति को जन्म देती है जिसमें मनुष्य का संकल्प नैतिक रूप से परिष्कृत होता है। इस प्रकार यह सुधारात्मक भी है। ग्रीन के दण्ड सिद्धान्त का उद्देश्य मूलतः अप्रत्यक्ष रूप से सुप्त नैतिक चेतना को जागृत करना है। इसलिए दण्ड अपराधी की नैतिक चेतना को झटका (shock) देता है।

6.12 युद्ध पर ग्रीन के विचार

ग्रीन-इस बात की चर्चा की गयी है-प्रारम्भिक ईसाई संतो-सेण्ट पाल और सेण्ट आगस्टीन-से प्रभावित था। ईसाई चिन्तन ने वैश्विक बंधुत्व (universal brotherhood) को स्वीकृत किया था। इस वैश्विक बंधुत्व का आधार मनुष्य और ईश्वर का सम्बन्ध है। इसके नाते सभी मनुष्यों में समान तत्व है। शरीर से इतर वे वैश्विक चेतना के अंश हैं और यह चेतना उनकी आत्मचेतना में प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार राज्यों से बड़ा एक विश्व मानव समाज है। ग्रीन ने उस स्पष्ट समाज की रूपरेखा नहीं दी। पर उसने इस ओर संकेत जरुर किया है- विश्वमानव- समाज और राज्य का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का उत्तर मिलता है ग्रीन के युद्ध संबंधी विचारों में।

सामान्यतया यह धारणा ग्रीन के समय में प्रचलित थी और आज भी प्रचलित है कि राज्य की सम्प्रभुता राज्य के भीतर और राज्य के बाहर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य की सर्वोच्च शक्ति है। दो राज्यों का सम्बन्ध दो समानान्तर सम्प्रभुओं का सम्बन्ध है। सम्प्रभु पर कोई बन्धन या सीमा नहीं है। यदि वह युद्ध प्रारम्भ करता है तो यह उसके अधिकार क्षेत्र में है। ग्रीन के समय में तो सम्प्रभु की सर्वोच्च शक्ति पर कोई सीमा थी ही नहीं। हाँलाकि सम्प्रति ढेर सारी सीमाएं अब सम्प्रभु पर लग गयी हैं। तिस पर भी जो राज्य आज युद्ध प्रारम्भ करना चाहता है वह युद्ध प्रारम्भ कर ही देता है। ग्रीन के समय में तो सम्प्रभु को और छूट थी। युद्ध सवोच्च शक्ति की सत्ता का प्रमाण था। इस स्थिति में भी ग्रीन ने यह स्वीकार नहीं किया कि बाह्य क्षेत्र में राज्य पर सीमा नहीं है। वह युद्ध का निषेध करता है। जिस आधार पर उसने निषेध किया है वह है वैश्विक समाज की अवधारणा, मानवमात्र का बन्धुत्व और प्रत्येक व्यक्ति में निहित जीवन का अधिकार।

यदि कोई अधिकार संसार में सभी मनुष्यों को जन्मना प्राप्त है तो वह जीवन का अधिकार है। यह उनमें निहित है और उनसे अपेक्षा नहीं की जाती कि वे स्वतः ऐसा कोई काम करें जिससे जीवन का अधिकार बाधित हो। ग्रीन के अनुसार प्रारम्भ में अधिकार छोटे-छोटे कबीलों और आदिम समाजों में निहित था। कबीले या आदिम समाज के सदस्य यह मानते थे कि हर सदस्य में जीवन-अधिकार निहित है। उस स्थिति में वैश्विक बन्धुत्व की धारणा नहीं थी। पर एक समूह दूसरे समूह के इस अधिकार को स्वीकार नहीं करता था और एक दूसरे से युद्ध करते रहते थे। अगर युद्ध होता तो एक दूसरे को मरने-मारने पर उतारू होना उनके लिए कोई कठिन बात नहीं थी। अपने सदस्यों में यह अधिकार मानना और दूसरों में न मानना- नैतिकता के विकास की प्रारम्भिक अवस्था थी। ग्रीन ने विकास सिद्धान्त को नैतिक विकास के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया। इस विकास में संकीर्ण नैतिक धारणाएं व्यापक होती हैं। यह व्यापकता दिखाई पड़ती है वैश्विक समाज के सदस्यों का एक दूसरे के जीवन के अधिकार को स्वीकार करने में। यह धारणा वैश्विक बंधुत्व पर अधिष्ठित है। यह व्यापकता वैश्विक बंधुत्व की धारणा के नाते संभव हुई। इस धारणा को गति प्राप्त हुई रोमन लॉ और ईसाई धर्म में। यह अधिकार सुनिश्चित होता है वैश्विक समाज के नाते।

इस सन्दर्भ में यह प्रश्न उठता है कि क्या युद्ध नैतिक रूप से उचित है? ग्रीन का उत्तर है : नहीं। बड़े महान लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी युद्ध करना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं। यह जीवन अधिकार का खण्डन है। तर्क की दृष्टि से ग्रीन का कहना है कि यदि किसी राज्य को यह लगे कि युद्ध द्वारा ही वह किसी अप्रीतिकर परिस्थिति से निजात पा सकता है तो यह कहा जायेगा कि वह अप्रीतिकर परिस्थिति भी युद्ध के नाते उत्पन्न हुई। इसलिए किसी अनुचित काम को दूर करने के लिए अनुचित काम नहीं किया जा सकता। अतः युद्ध निरपेक्ष औचित्य (absolute rightousness) नहीं है। परिस्थिति-सापेक्ष इसे उचित मान सकते हैं। यदि किसी निहायत अनुचित स्थिति को बदलने के लिए युद्ध अपरिहार्य हो तो इसका सापेक्ष औचित्य है। युद्ध राज्य का लक्षण नहीं और न तो यह अनिवार्यतः राज्य की सम्प्रभुता की निष्पति है। युद्ध खण्डित राज्य की वास्तविकता है। इतिहास में ऐसे राज्य एक दूसरे पर अत्याचार और अनाचार करते हैं। कल जो अनाचार था उसे आज दूर करने के लिए युद्ध प्रारम्भ होता है। युद्ध भी अनाचार ही है। भले ही इसका प्रारम्भिक उत्तरदायित्व उन

लोगों पर हो जिन्होंने पहले अनाचार किया। ग्रीन के सिद्धान्त में इस बात पर जोर दिया गया है कि युद्ध चाहे जितना भी अपरिहार्य हो वह किसी न किसी प्रारम्भिक अपराध के नाते संभव होता है। इसीलिए ग्रीन के युद्ध सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में अर्नेस्ट बार्कर ने कहा हैः

'There is guilt somewhere; there can not but be guilt somewhere'.

युद्ध पर ग्रीन के विचार का सार संक्षेप हैः नैतिक रूप से अविकसित राज्य ही युद्ध करते हैं। राज्य जितना ही नैतिक रूप से विकसित होगा युद्ध की संभावना उतनी ही घटेगी।

6.13 सारांश

ग्रीन के चिन्तन में उदारवाद और प्रत्ययवाद का नया संस्करण उभरा है। ग्रीन में दोनों का समन्वय है। फलस्वरूप ग्रीन न तो बेंथम और मिल की तरह व्यक्तिवादी है और न हेगल की तरह प्रत्ययवादी।

उसके व्यक्तिवादी उदारवाद के मुख्य लक्षण हैः

1- व्यक्ति एक साध्य है। साध्य के रूप में समाज में अन्य लोगों के साथ स्वतंत्र होना उसका नैतिक विकास है; राज्य इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकता वह केवल परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है। नैतिक बनना व्यक्ति का उत्तरदायित्व है और इसी में व्यक्ति का आत्मविकास है। इसलिए व्यक्ति साध्य है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि ग्रीन के उदारवाद ने व्यक्ति को सामाजिक प्राणी माना है और समाज साध्यों का राज्य है। इसलिए व्यक्ति एक नैतिक साम्राज्य का सदस्य है। उसकी आत्म चेतना सबकी आत्मचेतना को ध्यान में रखकर विकसित होती है। यह उसके उदाहरण का प्रत्ययवादी अंश है।

व्यक्तिवादी, उपयोगितावादी उदारवाद भी व्यक्ति को साध्य मानता था। पर व्यक्ति के साध्य होने का अर्थ था कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और कामनाओं को निर्बाध रूप से पूरा करे। इस प्रकार ग्रीन का उदारवाद उपयोगितावादियों के उदारवाद से भिन्न था।

2- ग्रीन का स्वतंत्रता सिद्धान्त व्यक्तिवादी भी है और प्रत्ययवादी भी। इन अर्थों में व्यक्तिवादी है कि स्वतंत्रता व्यक्ति की शक्ति है। इसका स्रोत उसका नैतिक संकल्प है और व्यक्ति ही अपने को स्वतंत्र कर सकता है, राज्य नहीं। यह सिद्धान्त इसलिए प्रत्ययवादी है कि स्वतंत्रता आत्मनिर्धारण (self determination) है। इसलिए यह कामनाओं एवं इच्छाओं का विवेक-सम्मत अनुशासन है। स्वतंत्रता व्यक्ति को समाज में ही उपलब्ध होती है। समाज और राज्य से दूर होकर नहीं। स्वतंत्रता और विधि में प्रतिकूल सम्बन्ध नहीं है। विधि स्वतंत्रता का संकोच नहीं है। ये सब लक्षण उसके प्रत्ययवाद के लक्षण हैं।

3- ग्रीन ने व्यक्ति के जीवन के अधिकार को मौलिक अधिकार माना है। यह वैश्विक मानव समाज के सभी सदस्यों को प्राप्त है। इस रूप में यह ग्रीन के व्यक्तिवादी अंश की पुष्टि करता है पर यह अधिकार भी मानव समाज के सदस्य के रूप में ही प्राप्त होता है। यह व्यक्ति का एकान्तिक अधिकार नहीं है। यह उसके प्रत्ययवाद की पुष्टि करता है।

4- ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकार अथवा आदर्श अधिकारों की योजना स्वीकार की है। ये अधिकार कानूनी अधिकारों से भिन्न हैं और उनकी अपेक्षा महत्वपूर्ण हैं। राज्य को चाहिए कि प्राकृतिक अधिकारों को कानूनी रूप प्रदान करे। इस प्रकार ग्रीन के उदारवाद ने लॉक की तरह कानूनी अधिकार के समानान्तर प्राकृतिक अधिकार की व्यवस्था की है और अतिविशिष्ट परिस्थिति में राज्य के प्रतिरोध की भी बात की है। बस इतना ही पुराने व्यक्तिवादी उदारवाद का अंश ग्रीन में है। अन्यथा उसका प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त और प्रतिरोध का सिद्धान्त पुराने उदारवाद विशेषकर लॉक के उदारवाद से सर्वथा भिन्न है। लॉक के लिए प्राकृतिक अधिकार की संख्या तीन है। ग्रीन के अनुसार प्राकृतिक अधिकार परिवर्तनशील हैं। इनकी संख्या निर्धारित

नहीं है। पुराने उदारवादियों के लिए प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति का जन्मजात अधिकार हैं। ग्रीन के लिए प्राकृतिक अधिकार परिस्थिति सापेक्ष बदलते हैं। और समाज की स्वीकृति पर आधारित हैं। केवल एक अधिकार है जो व्यक्ति को जन्मना प्राप्त है। वह अधिकार है - जीवन का अधिकार। प्रतिरोध के प्रश्न पर लॉक के लिए प्रतिरोध का अर्थ था संवैधानिक परिवर्तन-हिंसात्मक नहीं। ग्रीन के लिए प्रतिरोध का अर्थ है राज्य की सत्ता द्वारा संरचित अन्यायपूर्ण कानून अथवा अन्यायपूर्ण परिस्थिति की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील होना। यह हिंसात्मक नहीं। कैसे होती है? इसे ग्रीन ने स्पष्ट नहीं किया है।

5- ग्रीन के लिए राज्य नैतिक संस्थान है किन्तु नैतिकता का पूर्ण रूप नहीं है। राज्य को नैतिक संस्थान मानने से ग्रीन पुराने उदारवादियों से भिन्न है। पर राज्य को नैतिकता का पूर्ण रूप न मानने से वह कठोर प्रत्ययवादियों से भी भिन्न है-खासतौर से हेगल से। ग्रीन के संशोधित उदारवाद में व्यक्तिवाद और प्रत्ययवाद दोनों के अंश हैं।

6- ग्रीन के संशोधित उदारवाद में राज्य के कार्यक्षेत्र का निर्धारण पुराने उदारवादियों और प्रत्ययवादियों के कार्यनिर्धारण से भिन्न है। न तो ग्रीन ने यह कहा कि जितना राज्य का हस्तक्षेप नहीं होगा उतना व्यक्ति के लिए कल्याणकारी होगा और न तो उसने यह कहा कि सम्पूर्ण जीवन का नियंत्रण राज्य करे। उसने राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकार किया है और इस दृष्टि से जो कार्यक्षेत्र निर्धारित किया है वह ऊपर से तो नकारात्मक है लेकिन मूलतः सकारात्मक है। उसने आर्थिक क्षेत्र में भी हस्तक्षेप स्वीकार किया है। इसलिए राज्य के कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित ग्रीन के विचार में संशोधित उदारवाद का लक्षण है। ग्रीन के लिए राज्य के कार्यों का उद्देश्य है स्वतंत्रता अथवा नैतिकता के अनुकूल परिस्थितियों का सृजन।

7- ग्रीन ने राज्य की सम्प्रभुता पर नैतिक सीमाएं लगायी हैं। सम्प्रभु बहुत से काम नहीं कर सकता। राज्य के अन्तर्गत स्थित संवासों को वह नष्ट नहीं कर सकता। युद्ध करना उसका वैशिष्ट्य नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ग्रीन ने उसे नैतिक दायरे के भीतर बांधा है।

वस्तुतः ग्रीन का राजनीतिक दर्शन जितना प्रत्ययवादी परम्परा के प्रति समर्पित है उतना ही इग्लैण्ड की संविधानवादी, व्यक्तिवादी, उदारवादी परम्परा के प्रति भी। इनको संयुक्त करने की प्रक्रिया में ग्रीन ने प्रत्ययवाद और उदारवाद दोनों में परिवर्तन किया। उसके चिन्तन ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के माध्यम से इग्लैण्ड में प्रत्ययवादी परम्परा की श्रृंखला प्रारम्भ की। इसकी अगली कड़ियाँ ब्रेडले और बोसांके थे।

6.14 संदर्भ ग्रन्थ

(i) टी. एच. ग्रीन : लेक्चर्स आन द प्रिंसिपल्स आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन (हिन्दी अनुवाद)

(ii) अर्नेस्ट बार्कर : इंग्लैण्ड का राज्य दर्शन (हिन्दी अनुवाद) (1847-1914)

(iii) पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन (प्लेटो से मार्क्स) : आर. एम. भगत

(iv) पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन : डॉ. बी. आर. पुरोहित

(v) पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन : डॉ. एस. सी. सिंहल

(vi) आधुनिक राज्य-दर्शन : राजेश्वर पाण्डेय

(vii) पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन : ओ. पी. गाबा

(viii) Ernest Barker : English Political Thought (1847-1914)

(ix) W. M. McGovern : From Luther to Hitler.

(x) M. Richter : The Politics of Conscience : T. H. Green And His Age.

(xi) P.P. Nicholson : The Political Philosophy of the British Idealists : Selected Studies.

6.15 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1- सकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ ग्रीन की दृष्टि में क्या है?

2- ग्रीन के चिन्तन में किस प्रकार उदारवाद और प्रत्ययवाद का योग सम्भव हुआ?

3- युद्ध और प्रतिरोध पर ग्रीन के विचार स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1- स्वतंत्रता का एक लक्षण बताइये?

2- राज्य का एक कार्य बताइये?

3- ग्रीन द्वारा प्रस्तुत नकारात्मक स्वतंत्रता का एक लक्षण बताइये?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :

1- ग्रीन के अनुसार नकारात्मक स्वतंत्रता का अर्थ है :

(अ) विवेक का अनुशासन है। (ब) कामनाओं का नियंत्रण है।

(स) राज्य का अनुशासन है। (द) विधि स्वतंत्रता का संकोच है।

2- राज्य का कार्य है :

(अ) व्यक्ति को नैतिक बनाना (ब) व्यक्ति को स्वतंत्र करना

(स) अनिवार्य या युद्ध करना व्याख्याएं हैं। (द) स्वतंत्रता के मार्ग की बाधाओं को दूर करना।

3- प्राकृतिक अधिकार का अर्थ है :

(अ) प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त अधिकार

(ब) राज्य द्वारा प्रदत्त अधिकार

(स) राज्य का अनुशासन

(द) समाज की नैतिक चेतना द्वारा स्वीकृत अधिकार

6.16 प्रश्नोत्तर

1 - द

2- द

3- द

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS - 07
पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास बेन्थम से माओ तक

खण्ड

03

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

इकाई-7 5

वाल्टर बेजहॉक (1826-1877)

इकाई-8 17

विलियम मैकडूगल (1871-1935)

इकाई-9 24

ग्राहम वालास (1858 - 1932)

खण्ड 3 का परिचय : मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

इस खंड में मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के बीच तीन प्रमुख राजनीतिक चिन्तकों के विचारों का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। ये चिन्तक आधुनिक अबुद्धिवाद (Irrationalism) की दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर राजनीतिक - सामाजिक जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। अबुद्धिवाद दर्शन का उदय मूलतः हीगेल के बुद्धिवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। 19वीं सदी के अन्त में अनेक दार्शनिकों जैसे विलियम जेम्स, हेनरी वर्गसां, नीत्शे आदि ने हीगेल के दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रबल प्रहार किए व कहा कि (i) न तो ब्रह्मांड के प्रश्नों का समाधान केवल बुद्धिवाद के आधार पर हो सकता है और न ही सामाजिक संस्थाओं की श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता का निर्धारण कोरे बुद्धिवाद की कसौटी पर संभव है। (ii) इसका कारण यह है कि ब्रह्माण्ड किन्ही कठोर तार्किक नियमों के आधार पर संचालित नहीं हो रहा है। (iii) मनुष्य भी मूलतः एक अबुद्धिवादी प्राणी है और राजनीतिक सामाजिक जीवन की विभिन्न क्रियाओं पर अनेक अबुद्धिवादी कारकों का प्रभाव पड़ता है।

कालान्तर में इस अबुद्धिवादी दर्शन को अनेक राजनीतिक एवं सामाजिक विचारकों ने अपनाया, और धीरे-धीरे सामाजिक मनोविज्ञान के रूप में एक नए समाज-विज्ञान का उदय हुआ जिसने मनुष्य की सामाजिक-राजनीतिक क्रियाओं के पीछे विद्यमान मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरणाओं (Psychological Motivation) का अध्ययन किया। इन विचारकों में बेजहॉट, मैकडूगल, दुर्खीम, ली बॉन, ग्राहम वालस आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। उनका विचार है कि चेतन बुद्धि से कहीं अधिक अवचेतन प्रवृत्तियाँ, वासनाएँ एवं भावनाएँ मानव-व्यवहार का निर्धारण करती हैं। इस खंड में तीन प्रमुख विचारकों-बेजहॉट, मैकडूगल एवं ग्राहम वालास के विचारों का वर्णन किया गया है।

प्रथम इकाई में इंग्लैण्ड के प्रमुख चिन्तक बेजहॉट के विचारों का उल्लेख है। स्पेंसर की तरह बेजहॉट ने भी डार्विनवाद को अपने राजनीतिक विचारों का आधार बनाया। उन्होंने चार मूल मान्यताओं का प्रतिपादन किया (1) अस्तित्व का संघर्ष मनुष्य को समाज बनाने के लिए प्रेरित करता है, (2) वे समाज ही सर्वाधिक फलते-फूलते हैं जो बहुत सुसंगठित और अनुशासित होते हैं, (3) विभिन्न समाजों के बीच प्रतिस्पर्धा व संघर्ष सामाजिक-सांस्कृतिक उन्नयन का मार्ग प्रशस्त करता है, (4) एक श्रेष्ठ समाज व्यक्तिगत स्वतंत्रता व लोकतंत्र पर आधारित होता है। बेजहाट अपने राजसत्तावादी रूझान के बावजूद अन्ततः एक उदारवादी विचारक माना जाता है।

द्वितीय इकाई में विलियम मैकडूगल के विचारों का वर्णन है। मैकडूगल इस धारणा को अस्वीकार करता है कि मनुष्य के निर्णय, कार्य और दृष्टिकोण मूलतः बुद्धि-विवेक से निर्धारित होते हैं। वह आदर्शवादी विचारधारा के अमूर्त बुद्धिवाद और उपयोगितावाद के बुद्धिवादी सुखवाद का कटुआलोचक है। उसके अनुसार मनुष्य कतिपय मूल-प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर कार्य करता है। उसने इन मूल-प्रवृत्तियों की एक विस्तृत तालिका प्रस्तुत की है और यह दर्शाने की चेष्टा की है कि कुछ मूलप्रवृत्तियाँ व्यक्तिगत व सामूहिक जीवन को किस प्रकार निर्देशित व नियंत्रित करती हैं। उसका विचार है कि मनुष्य के निर्णयों, संवेगों व कार्यों को विविध प्रकार के समूहों की प्रथाएँ व मान्यताएँ प्रभावित करती हैं। इन समूहों में राष्ट्र को सर्वोच्च मानता है। मैकडूगल की मनोवैज्ञानिक व्याख्या से राजसत्तावादी निष्कर्ष प्रवाहित होते हैं।

तीसरी इकाई में ग्राह्मवालास के विचारों का विवेचन किया गया है। अन्य मनोविज्ञानवादियों की तरह वालास भी राजनीति को आदत व प्रवृत्ति जैसी अवचेतन प्रक्रियाओं का परिणाम मानता है।

उसने लोकतंत्र के मनोवैज्ञानिक आधारों का विस्तृत विवेचन किया और अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप लोकतांत्रिक प्रणाली के कई पक्षों को लेकर वह काफी सशंकित भी हुआ। पर उसका विश्वास था कि ज्ञान-विज्ञान के विकास के फलस्वरूप मनुष्य अपनी नकारात्मक प्रवृत्तियों और भावनाओं को वश में करने में सफल होगा, और अन्ततः लोकतंत्र विवेकपूर्ण साधनों और पद्धतियों से संचालित हो सकेगा। इकाई के अन्त में मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है।

इकाई 7 - वाल्टर बेजहॉक (1826-1877)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 वाल्टर बेजहॉट - संक्षिप्त परिचय

7.3 राजनीति और मनोविज्ञान

7.4 व्यक्तिगत स्वतंत्रता

7.5 ब्रिटिश संविधान की व्याख्या

7.6 बेजहॉट - उदारवादी या रूढ़िवादी

7.7 सारांश

7.8 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

7.9 संबंधित प्रश्न

7.10 प्रश्नोत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय की मुख्य विशेषताओं के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- वाल्टर वेजहॉट के राजनीतिक चिन्तन से अवगत हो सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास का एक रोचक पक्ष यह है कि पुर्नजागरण काल में मानवीय बुद्धि की स्व-पर्याप्तता एवं स्वायत्तता की जो स्पष्ट घोषणा हुई थी, उस पर बीसवीं शताब्दी तक आते आते गंभीर प्रश्नचिह्न लग जाते हैं, और अबुद्धिवाद (Irrationalism) के सिद्धान्त का आर्विभाव होता है। वस्तुतः जैसे-जैसे प्राकृतिक विज्ञानों का विकास हुआ, मानवीय बुद्धि की संभावनाओं एवं सीमाओं का स्वरूप स्पष्ट होने लगा। प्रत्यक्षवाद (Positivism) के प्रभाव में राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति को अपनाए जाने पर जोर दिया जाने लगा। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मनोविज्ञान के रूप में मानवीय स्वभाव के वैज्ञानिक अध्ययन की एक नई विद्या का उदय हुआ। मनोविज्ञान के संस्थापकों में अमरीकी दार्शनिक विलियम जेम्स एवं जर्मन दार्शनिक वुंड्ट (Wundt) का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। प्रारंभ में तो मनोविज्ञान को मन या चेतना का विज्ञान माना जाता था, पर धीरे-धीरे इसे व्यवहार का विज्ञान माना

जाने लगा। प्रसिद्ध विद्वान बुडवर्थ के अनुसार - "मोटे तौर से मनोविज्ञान का प्रारंभ इस प्रश्न 'मनुष्य क्या करता है?' से होता है और उसके बाद 'क्यों' और 'कैसे' जैसे प्रश्नों को उठाया जाता है। इन प्रश्नों का उत्तर यह प्राकृतिक विज्ञान की प्रणालियों और अवधारणाओं के आधार पर देता है और साथ ही प्रयोगमूलक एवं अन्तः प्रेक्षण की पद्धतियों को भी अपनाता है।"('A broadly defined functional psychology starts with the question 'what man does' and proceeds to question 'how' and 'why'. It attempts to answer these questions by adhering to the concept and methods of natural science and by employing experimental and introspective methods)' प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जे0 बी0 वाटसन ने मनोविज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान की वस्तुनिष्ठ एवं प्रयोगात्मक शाखा माना जिसका सैद्धान्तिक लक्ष्य मानव व्यवहार को नियंत्रित करना व उसके विषय में भविष्यवाणी करना है। विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने मानव मन एवं व्यवहार के वैज्ञानिक अध्ययन के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाला कि समाज में मनुष्य का व्यवहार एवं आचरण केवल मात्र बुद्धि व तर्क से संचालित नहीं होता, वरन् उसके जीवन में मूल प्रवृत्तियों (Instincts) भावनायें (Emotions) आदि अबुद्धिवादी तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बाद में फ्रायड आदि विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया कि मानवीय व्यवहार मन की अवचेतन प्रवृत्तियों से संचालित होता है। आमतौर पर मनुष्य बौद्धिक या तार्किक विश्लेषण के आधार पर कार्य नहीं करता, बल्कि बुद्धि अवचेतन आवेगों का अनुसरण करती है।

19वीं सदी के अन्तिम दशकों में राजनीति विज्ञान पर दो मुख्य प्रभाव पड़ते दृष्टिगोचर होते हैं- डार्विन आदि विकासवादी वैज्ञानिकों की जीव शास्त्रीय मान्यताओं पर नवोदित मनोविज्ञान की मान्यताओं का। परन्तु जीव शास्त्रीय दृष्टिकोण की अपेक्षा मनोविज्ञानवाद का प्रभाव अधिक दीर्घजीवी सिद्ध हुआ। जीव विज्ञानवाद ने जिस प्रकार मनुष्य को प्राणि-जगत के जीवधारियों के समकक्ष रखकर समझने का प्रयास किया वह हास्यास्पद था। मानव पशु-जगत के प्राणियों के समान नहीं है, वरन् उनसे उच्चतर व श्रेष्ठतर हैं। वह एक नैतिक प्राणी है जो मात्र 'जीवन' के लिए नहीं वरन् 'सद्जीवन' के लिए जन्म लेता है। मनोविज्ञानवाद के प्रतिपादकों ने मनुष्य की अधिक युक्तिसंगत अवधारणा प्रस्तुत की। मनुष्य की मानसिक व भावनात्मक संरचना काफी जटिल है, उसके जीवन के लक्ष्य पशु-जगत से गुणात्मक रूप से भिन्न हैं। लामार्क या डार्विन जैसे जीव वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित 'प्राकृतिक चयन' (Natural Selection) का सिद्धान्त मानवीय कल्याण को निर्धारित नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य एक नीतिवान भावनाशील एवं विचारवान प्राणी है, और उसके कल्याण का निर्धारण नैतिक मानदण्डों के आधार पर होता है। इस प्रकार राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में जीवशास्त्रीय मान्यताओं का प्रभाव अल्पकालिक रहा और उनका स्थान मनोविज्ञानवाद ने ले लिया। प्रो। बार्कर के शब्दों में - "यदि हमारे पूर्वज जीवशास्त्रीय ढंग से सोंचते थे तो हम मनोवैज्ञानिक ढंग से सोचते हैं। (If our fathers thought biologically, we think psychologically')

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के विचारकों ने महत्वपूर्ण योगदान

दिया है। उन्होंने मानवस्वभाव का ज्यादा जटिल व युक्ति संगत सिद्धान्त प्रस्तुत किया और राजनीति व मानव स्वभाव के घनिष्ठ सम्बन्ध की व्याख्या की। मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का जन्मदाता वाल्टर बेजहॉट को माना जाता है, और इसके प्रमुख प्रतिपादकों में मैकाइवर, मैकडूगल, सुपनर, गिडिंग्स व ग्राह्म वालास आदि शामिल हैं। मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय की मुख्य मान्यताओं का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा सकता है-

वाल्टर बेजहॉक (1826-1877)

7. मनोविज्ञान जो कि प्राकृतिक विज्ञान की विशुद्ध प्रयोगात्मक शाखा के रूप में विकसित हुआ, के प्रभाव में मानव-स्वभाव का यर्थाथवादी अन्वेषण प्रारंभ हुआ। विचारकों ने तर्क दिया कि मनोविज्ञान की सहायता से हम मनुष्य को ठीक-ठीक समझ सकते हैं, फलतः राजनीतिक अध्ययन अधिक यथार्थवादी बन सकता है। ग्राह्म वालास आदि ने तर्क दिया कि राजनीति शास्त्रियों ने अरस्तू, एक्विनास आदि विचारकों के आधार पर मानव-स्वभाव की अत्यन्त आदर्शवादी एवं अमूर्त धारणाएं बना ली हैं जो राजनीतिक जीवन के सही स्वरूप को समझने में बाधक हैं। अतः राजनीति का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनोवैज्ञानिक उपागम की सहायता लेना आवश्यक है।

2. मनोविज्ञानवाद मनुष्य की बुद्धिवादी (Rationalist) व्याख्या को अस्वीकार करता है। 18वीं सदी में जिसे प्रबोध-काल (Age of Englightnment) कहा जाता है, यह दृष्टिकोण प्रतिपादित किया गया कि मनुष्य परम बुद्धिशील प्राणी है, बुद्धि मनुष्य का सर्वोच्च तत्व है और इसकी सहायता से वह प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सकता है, आदर्श राज व्यवस्था की स्थापना कर सकता है एवं मानवीय जीवन की विभिन्न बुराइयों व अनिश्चिताओं का हल ढूंढ सकता है। इस प्रकार कांट आदि विचारकों ने 'बुद्धि की मुक्तिदायिनी सामर्थ्य' (Emancipating Power of Human Reason') पर बहुत दिया और कहा कि यदि मनुष्य अपने को धर्म व परम्परा के प्रभाव से मुक्त कर ले तो उसके लिए कोई भी कार्य असंभव नहीं है। परन्तु 20वीं सदी में समाजशास्त्रियों व मनोवैज्ञानिकों ने यह प्रमाणित किया कि मनुष्य को नितान्त बुद्धिशील मानना असत्य व अवैज्ञानिक हैं क्योंकि मनुष्य वस्तुतः अपनी मूल-प्रवृत्तियों व भावनाओं से संचालित होता है और इन पर बुद्धि की कोई नियंत्रण नहीं है। कालान्तर में फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों ने अवचेतन एवं अचेतन मन की निर्णायक भूमिका को रेखांकित किया और कहा कि मनुष्य के कार्य एवं व्यवहार को प्रभावित व निर्धारित करने में चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन अधिक सक्रिय रहता है।

3. मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के विचारक एक ओर व्यक्ति के व्यवहार की जटिलताओं को समझने का प्रयास करते हैं तो दूसरी ओर समूह-मनोविज्ञान (Group Psychology) भी उनके अध्ययन व अन्वेषण का विषय रहा है। समूह व्यवहार के मनोवैज्ञानिक विवेचन के अन्तर्गत निम्न प्रश्न आते हैं-समूह के अंग के रूप में व्यक्ति किस प्रकार व्यवहार करता है? एक भीड़ का व्यवहार एक साधारण मनुष्य के व्यवहार से किस प्रकार भिन्न होता है? भीड़ में कौन से मनोवेग व्यक्ति के आचरण को निर्धारित करते हैं व उनका क्या परिणाम होता है? मनोविज्ञान

की वह शाखा है जो समूह के मनोविज्ञान का अध्ययन करती है, सामाजिक-मनोविज्ञान (Social Psychology) कही जाती है, और दुर्खीम, ट्राटर, मैकडूगल आदि ने समूह-मनोविज्ञान के विविध पक्षों को अध्ययन का विषय बनाया है।

7.2 वाल्टर बेजहॉट - भूमिका

वाल्टर बेजहॉट 19वीं सदी के एक बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न चिन्तक एवं लेखक थे। लार्ड ब्राइस ने लिखा है कि वह अपनी पीढ़ी के सर्वाधिक मौलिक विचारक थे। ('Those who had the good fortune to know him still remember him as perhaps the most original mind of his generation') उनके माता-पिता का सम्बन्ध इग्लैण्ड में सामरसेट के एक प्रसिद्ध व्यापारिक घराने से था। उनके पिता एक बैंक अधिकारी थे। बेजहॉट एक प्रतिभावान छात्र थे और नीति दर्शन तथा विधि की पढ़ाई पूरी करने के बाद वह अपने पारिवारिक व्यवसाय में ही चले गए। उनकी ब्रिटिश राजनीति में गहरी दिलचस्पी थी, और लिबरल पार्टी के सदस्य के रूप में उन्होंने कई चुनाव लड़े। परन्तु उन्हें चुनावों में सफलता न मिली। इन चुनावी असफलताओं ने उन्हें निराश नहीं किया न ही उनमें कोई कटुता आने पायी। इनसे उन्हें राजनीतिक प्रक्रिया की अधिक व्यापक और गहरी समझ अवश्य हुई। एक राजनीतिक समीक्षक के रूप में बेजहॉट का बहुत सम्मान था, वह अनेकों महत्वपूर्ण राजनीतिज्ञों व मंत्रियों का विश्वासपात्र था और वे बेजहँट की सलाह व मार्गदर्शन को बहुत महत्व प्रदान करते थे। ग्लैडस्टोन तो उन्हें 'एक अतिरिक्त वित्तमंत्री' (a kind of spare chancellor of exchequer) ही मानते थे।

बेजहॉट की आर्थिक व वित्तीय मामलों में गहरी पैठ थी। वह लम्बे समय तक प्रतिष्ठित पत्र 'इकॉनामिस्ट' का सम्पादक भी रहा। 'लोम्बार्ड स्ट्रीट' नामक उसकी पुस्तक बैंकिंग की एक श्रेष्ठ कृति मानी गयी। एक अर्थशास्त्री के रूप में उसकी तीन मूलभूत मान्यताएं थी- (i) मौद्रिक एवं अ-मौद्रिक अर्थव्यवस्था के बीच मौलिक अन्तर होता है। (ii) सभी आर्थिक प्रक्रियाओं में घनिष्ठ अर्न्तसम्बन्ध है। (iii) आर्थिक व्यवहार का विश्लेषण करते समय मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय तत्वों का ध्यान रखा जाना चाहिए।

एक राजशास्त्री अर्थशास्त्री होने के साथ वह एक अप्रतिम जीवनीकार एवं निबन्धकार भी थे। उन्होंने अनेक महापुरुषों जैसे सन्त आगस्टीन, कार्लायल, डिकेन्स, बोलिगब्रोक, मैकाले आदि की उत्कृष्ट जीवनियाँ लिखीं। इस प्रकार बेजहॉट एक ऐसे प्रबुद्ध समाज-वैज्ञानिक थे जिनके विचारों ने अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र पर गहरा प्रभाव डाला। मैक्स लर्नर के अनुसार "वह यूरोप के दाशनिकों की उस परम्परा की कड़ी हैं जो 18वीं सदी में बर्क, 19वीं सदी में टाकविले एवं जे0 एस0 मिल से होती हुई 20वीं सदी में मैक्स वेबर एवं ग्राहम वालास एक विस्तृत है।"

7.3 राजनीति और मनोविज्ञान

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फिजिक्स एंड पालिटिक्स' में बेजहॉट ने विज्ञान की नई उभरती शाखा-जीव विज्ञान की मान्यताओं के संदर्भ में राजनीतिक जीवन के स्वरूप पर विचार किया है। लामार्क और डार्विन जैसे विकासवादियों के 'योग्यतम की विजय' (Survival of the Fittest) के सिद्धान्त के आधार पर वह मानवीय समाज को समझने का प्रयास करता है। वह यह मूल प्रश्न

उठाता है कि प्रागैतिहासिक काल से मानव समाज का विकास किस प्रकार हुआ है, व राष्ट्रीय चरित्र (National Character) का निर्माण कैसे होता है? वेजहॉट के विचारों पर प्रसिद्ध मानव-शास्त्रियों जैसे, लुबॉक, मैकलेनान, हेनरी मेन आदि का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। 'फिजिक्स एंड पालिटिक्स' में मानव के राजनीतक विकास का समाज-मनोवैज्ञानिक विवेचन है तथा राज्य के विकास में आदत, अनुकरण, प्रथा, युद्ध आदि कारकों की भूमिका को स्पष्ट किया गया है। प्रो0 बार्कर के अनुसार बेजहॉट का यह ग्रंथ मनोवैज्ञानिक उपागम का सूत्रपात करता है।

बेजहॉट के अनुसार मानव-जाति के विकास के तीन चरणों में बाँटा जा सकता है- प्रारंभिक अवस्था जिसमें किसी प्रकार की राज व्यवस्था नहीं थी (Age of non-polity) निश्चित राजव्यवस्था का युग (Age of Fixed polity) जब संगठित सामूहिक जीवन का दौर आया, पारिवारिक व जातीय निष्ठाएं सुदृढ़ हुयीं, प्रथाओं के द्वारा सामाजिक जीवन को स्थिरता प्राप्त हुई, और तीसरा व अन्तिम चरण विचार का युग (Age of Discussion) या लोचपूर्ण राज व्यवस्था का युग (Age of flexible polity) है जब मानवीय बुद्धि प्रथाओं की जड़ता को नकार कर नए मार्ग व नए सिद्धान्त गढ़ती है, जीवन में स्थिरता के साथ गतिशीलता व प्रयोगवाद का युग आता है।

प्रारंभिक अवस्था में मानव जीवन स्वकेन्द्रित था, निर्बलों पर बलवानों का पूर्ण नियंत्रण था। जीवन-संघर्ष में या तो बलवान निर्बलों को नष्ट कर देते थे या लोग ढीले - ढीले परिवारों में संगठित होकर अस्तित्व की रक्षा करते थे। यह आदिम जीवन हाब्स द्वारा वर्णित, प्राकृतिक दशा जैसा था।

जीवन के संघर्ष ने लोगों को यह अहसास करा दिया कि बिखराव और एकाकीपन घातक है, अतः लोग कबीलों में संगठित होने लगे और अपने सरदार के मार्ग-दर्शन में चलने लगे। मनुष्य के जीवन में धीरे-धीरे व्यवस्था (Order) का उदय हुआ और मनुष्य में सहयोग तथा अनुशासन की प्रवृत्तियाँ होने लगीं। सामूहिक जीवन का उदय मनुष्य के विकास का दूसरा चरण है। जहाँ प्रथम चरण में परिवार इकाई था, वहीं दूसरे-चरण में समूह (Group) इकाई बना। भौगोलिक परिस्थितियों व अन्य कारकों से हर समूह का एक विशिष्ट स्वरूप सामने आया। अनुकरण की प्रवृत्ति ने समूह के लोगों को घनिष्ठ बन्धनो में बाँध दिया। ये समूह अपनी विशिष्ट प्रथाओं व मान्यताओं के आधार पर संचालित होने लगे। इन विभिन्न समूहों के बीच संघर्ष व युद्ध होना स्वाभाविक ही था, पर वही समूह जीवित व सुरक्षित रह सके जो सुसंगठित एवं अनुशासित थे। प्रथाएं समूह का आधार थी, वे उनको अस्मिता प्रदान करती थी। इसलिए इन प्रथाओं को बहुत पवित्रता प्राप्त थी। एक समूह को अपने किसी सदस्य द्वारा इन परम्पराओं व प्रयासों का उल्लंघन या इनसे भटकाव स्वीकार्य न था। बेजहॉट के अनुसार प्रथा रूपी केक सम्पूर्ण समूह को पोषण प्रदान करता था और प्रथाओं का समाज पर कठोर नियंत्रण था। समूह की पहचान उसकी प्रथाएं थी, प्रथाएं अपने में साध्य थीं, मनुष्य मात्र पूर्ति का साधन था। समूह की शक्ति इस बात पर निर्भर करती थी कि व्यक्ति इन प्रथाओं का कितनी निष्ठा से पालन कर रहा है। इन प्रथाओं के पीछे केवल शासक की शक्ति नहीं थीं, कबीलों के धार्मिक विश्वास व मान्यताएं इन प्रथाओं को एक रहस्यमय शक्ति प्रदान करती थीं। इनका उल्लंघन करने वाला राजदण्ड का भी भागी होता था और दैवीय कोप का

भी।

बेजहॉट के अनुसार, प्रथाओं के द्वारा समाज की जीवन-पद्धति व जीवन-शैली का निर्धारण होता था। इसके फलस्वरूप हर समूह का एक विशिष्ट राष्ट्रीय चरित्र (National character) उभरता था। जीवन-संघर्ष में जो समूह पराजित हो जाता, उसे विजयी समूह की जीवन-पद्धति को स्वीकार करना पड़ता। इस प्रकार आदत (Habit) और अनुकरण (Imitation) के आधार पर एक स्थिर सामाजिक राजनीतिक जीवन स्थापित हुआ। इस द्वितीय चरण को बेजहॉट 'स्थिर राजव्यवस्था का युग' कहता है।

बेजहॉट के अनुसार प्रथाओं के प्रति अत्यधिक आग्रह 'स्थिर समाज' को जड़ बना देता है। उदाहरण के लिए उपयोगिता व सुविधा की दृष्टि से किया गया कार्य-विभाजन और श्रम-विभाजन जातिप्रथा में विकृत हो जाता है। समाज नई व परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने की क्षमता खोता जाता है अतः प्रगति व सुधार अवरुद्ध हो जाते हैं। इस स्थिति से उबरने का एक ही उपाय है कि विचार-विमर्श के द्वारा प्रथाओं की समीक्षा होती रहे ताकि अनुपयोगी निरर्थक प्रथाओं का त्याग किया जा सके। इसलिए राजनीतिक विकास के तीसरे चरण को बेजहॉट ने 'विचार - विमर्श का युग' (Age of Discussion) कहा है। विचार-विमर्श प्रथाओं की जड़ता से मुक्ति प्रदान करता है, प्रयोग व परिवर्तन की धारा को प्रवाहित करता है और समाज को अन्ततः उन्नयन की ओर ले जाता है। संवाद और वाद-विवाद से मानवीय बुद्धि की क्षमताओं की वृद्धि होती है, मनुष्य विभिन्न विकल्पों को जानने का श्रेष्ठ विकल्प का चयन करने में समर्थ होता है। स्थिरता के साथ सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त होता है। विकास की दौड़ में वे राष्ट्र पिछड़ जाते हैं अथवा मिट जाते हैं जो परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढ़ालने में असमर्थ रहते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे जीवन के संघर्ष में पशु-पक्षियों की वे प्रजातियाँ धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं जिनमें अनुकूलन (Adaptation) की क्षमता नहीं होती। इस प्रकार डार्विनवाद की मान्यताओं से प्रभावित बेजहॉट समाज-व्यवस्था के लचीलेपन में विश्वास करता है।

बेजहॉट के अनुसार विचार-विमर्श का अभाव शासन को निरंकुश बना देता है, जबकि विचार-विमर्श पर आधारित शासन (Government by Discussion) संविधान की मर्यादाओं में रहता है और जनकल्याण में प्रवृत्त रहता है। उसके अनुसार प्राचीन यूनान व तत्कालीन इंग्लैण्ड की शासन प्रणालियाँ विचार-विमर्श पर आधारित शासन के उदाहरण हैं।

अतः प्रथाओं के कठोर केक को तोड़ने का उपाय विचार-विमर्श ही है। विचार-विमर्श पर आधारित शासन जनता का और जनता के लिए शासन होता है। बेजहॉट एक संवैधानिक और उदारवादी राज व्यवस्था का समर्थक है यद्यपि उसका यह मानना था कि इस दौर के सभी देश या उनकी जनता उदारवादी शासन के लिए उपयुक्त नहीं है। उदारवादी शासन उन्हीं राज्यों में संभव है जहाँ जनता में कानून का पालन करने की भावना हो एवं व्यवस्था के प्रति आदर-भाव हो।

7.4 व्यक्तिगत स्वतंत्रता

बेजहॉट व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पक्षधर है, यद्यपि उसका यह भी मानना है कि स्वतंत्रता असीमित नहीं हो सकती और व्यवहार में स्वतंत्रता पर कुछ सीमाएं आरोपित करनी पड़ती हैं, जहाँ

तक विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि वैचारिक स्वतंत्रता के बिना समाज प्रगति नहीं कर सकता। पर विचार की असीमित व पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। बेजहॉट के अनुसार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की कसौटी यह होनी चाहिए कि कोई विचार समाज के अस्तित्व के लिए घातक तो नहीं है, यदि शासक वर्ग यह समझता है कि किसी विचार के प्रसार या प्रकाशन से समाज का ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो सकता है तो उस पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। यद्यपि हमेशा यह तय कर पाना कि अमुक विचार समाज के लिए हितकर है या अहितकर, आसान नहीं है, और जिस प्रकार वैचारिक स्वतंत्रता का दुरूपयोग संभव है उसी प्रकार राज्य की शक्ति का भी दुरुपयोग होता है, फिर भी बेजहॉट वैचारिक स्वतंत्रता को महत्व प्रदान करता है। उचित यह होगा कि अमुक विचार की अभिव्यक्ति की अनुमति दी जाए अथवा नहीं, इसका निर्णय प्रर्याप्त सावधानी एवं निष्पक्षता से किया जाए।

बेजहॉट ने आर्थिक - क्षेत्र में स्वतंत्रता का प्रश्न भी उठाया है। वस्तुतः वह आर्थिक स्वतंत्रता का संयत प्रतिपादक है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति उसी सीमा तक स्वतंत्र है जिस सीमा तक उसके आर्थिक व व्यापारिक हितों का राष्ट्र के आर्थिक व व्यापारिक हितों से टकराव न हो। क्रेन ब्रिन्टन के अनुसार वह आर्थिक स्वतंत्रता के शास्त्रीय उदारवादी सिद्धान्त (Lassez Faire) का अन्ध भक्त नहीं था। व्यक्ति विवेकपूर्ण व उत्तरदायी तरीके से आर्थिक स्वतंत्रता का उपभोग करे जिससे राष्ट्र के हितों का संवर्धन हो। बेजहॉट के अनुसार मानव जीवन एक नैतिक विधान से बंधा हुआ है। इसलिए स्वतंत्र प्रतियोगिता के नाम पर व्यक्ति के स्वार्थपूर्ण, अनैतिक और समाज-विरोधी कार्यों की अनुमति नहीं दी जा सकती। किसी समाज व सरकार के जनता के प्रति शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे मूलभूत दायित्व होते हैं और इन दायित्वों की पूर्ति के लिए उन्हें अपनी भूमिका निभानी चाहिए।

बेजहॉट शास्त्रीय अर्थशास्त्र से भिन्न दृष्टिकोण रखता है। उसका मानना था कि कोई सरकार अर्थशास्त्रियों के सुझावों व मंतव्यों को आँख मूंद कर स्वीकार नहीं कर सकती। शासन के लक्ष्यों का निर्धारण शासक करेंगे न कि अर्थशास्त्री। वह मौद्रिक नीतियों व सिद्धान्तों के क्षेत्र में व्यापारियों को खुली छूट देने का विरोधी था। वह मुद्रा के चलन पर सरकार के एकाधिकार का प्रबल पक्षधर था। उसने पूंजीपतियों व व्यापारियों की अधिकाधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता पर जोर दिया। एक केन्द्रीय बैंक लोगों में मुद्रा-व्यवस्था के प्रति विश्वास बनाए रखती है, और इससे अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ता प्राप्त होती है।

7.5 ब्रिटिश संविधान की व्याख्या

बेजहॉट ने राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं एवं राष्ट्रीय चरित्र के घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रतिपादित किया है, उसने कहा कि कोई सार्वभौमिक राजनीतिक व आर्थिक सिद्धान्त नहीं होते, राष्ट्रीय चरित्र के अनुसार ही राजनीतिक सिद्धान्त व संस्थाएँ होती है। बेजहॉट ने जिस प्रकार राजनीतिक व आर्थिक संस्थाओं को प्रभावित करने वाले कारकों को समझने का प्रयास किया है उस पर सर हेनरी मेन का प्रभाव देखा जा सकता है। अपनी धारण को पुष्ट करने के लिए उसने इंग्लैंड व फ्रांस की शासन प्रणालियों का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। बेजहॉट के अनुसार फ्रांस के लोग बहुत तर्कशील उत्तेजनाशील एवं अड़ियल स्वभाव के होते हैं जिस कारण वहाँ गणतांत्रिक व

प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं ज्यादा टिक नहीं पातीं, और इस स्वभाव के लोगों को अनुशासित और नियंत्रित करने के लिए अन्ततः सर्वसत्तावादी साधनों का सहारा लेना होता है। इसके विपरीत इंग्लैण्ड के लोग व्यावहारिक, सहिष्णु तथा एक सीमा तक भोदूं (Stupid) होते हैं।, बहुत तर्कशील व पूर्णतावादी नहीं होते, अतः वहाँ प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। ('The most essential quality for a free people whose liberty is to be progressive, permanent and on a large scale....is much stupidity')

बेजहॉट के अनुसार वही व्यक्ति किसी राष्ट्र को महान व प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान कर सकता है, जो जनता के अन्तरंग व घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने की कला में दक्ष हो। गिबन, बोलिंगब्रोक, डिजरायली, राबर्टपील आदि राजनेताओं के जीवन-चरित्र के द्वारा उसने इसी तथ्य को रेखांकित किया कि किसी नेता की महानता व सफलता राष्ट्रीय मनोविज्ञान को समझने पर निर्भर करती है।

बेजहॉट की सर्वाधिक चर्चित पुस्तक 'दि इंग्लिश कान्स्टीट्यूशन' है, जिसमें, उन्होंने ब्रिटिश संवैधानिक जीवन के मूलाधारों पर प्रकाश डाला है। उसने ब्रिटिश संविधान के विषय में प्रचलित इस मान्यता की इंग्लैण्ड में संवैधानिक शक्ति राजा और कामन सभा लार्डसभा में विभाजित है, को अस्वीकार कर दिया है। बेजहॉट ने एक नए दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए कहा कि इंग्लैण्ड के शासन तंत्र का एक गरिमापूर्ण (Dignified) भाग है जिसमें ससंसद राजा आता है, और दूसरा सक्रिय (Efficient) भाग है जिसके अन्तर्गत केबिनेट आती है। शासन के गरिमापूर्ण तत्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए बेजहॉट ने कहा कि राजपद उसी प्रकार इंग्लैण्ड की जनता के मन-मस्तिष्क को उद्वेलित व प्रभावित करता है जिस प्रकार आदिवासियों को जादू-टोना। ग्रामीण व शहरी जनता दोनों के लिए सम्राट एक महान परम्परा व इतिहास का प्रतीक है जिसका राज्यारोहण, जिसके शब्द और जिसकी चमक-दमक लोगों को गहरा मनोवैज्ञानिक सम्बल प्रदान करती है। राजपद इंग्लैण्ड की राजनीतिक स्थिरता एवं परिपक्वता का आधार है। राजा के प्रति जनता का गहरा भावात्मक लगाव है और वे उसे ही अपना असली शासक समझते हैं। बेंथम की आलोचना करते हुए उसने कहा है कि यह कहना कि लोग स्वार्थवश शासक की आज्ञा का पालन करते हैं, हास्यास्पद हैं। लोगों में शासक के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने में साम्राज्य राष्ट्रीयता, गौरव की आकांक्षा जैसे तत्व महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मैक्स लर्नर का विचार है कि बेजहॉट ने राजपद को उसी प्रकार राजनीतिक दृष्टि से उपयोगी माना जैसे गिबन ने रोमन साम्राज्य के लिए धर्म को (What Bagehot discovered about the English monarchy was what Gibbon had discovered about religion in imperial Rome: both were politically useful')

केबिनेट संविधान का सक्रिय व क्रियात्मक (Efficient) भाग है जिसके स्वरूप का वर्णन करते हुए बेजहॉट ने लिखा, 'केबिनेट नियंत्रण का ऐसा केन्द्र है जिसका चयन देश का शासन चलाने के लिए व्यवस्थापिका द्वारा उन लोगों में से किया जाता है जिनको वह जानती हैं, जिन पर वह विश्वास करती है। यह व्यवस्थापन विभाग व कार्यपालन विभाग को संयुक्त करने वाला तत्व है।' (A board of control chosen by the legislature out of persons whom it trusts and knows to rule the nation.... a combining committee, a hyphen that joins and a

buckle that fastens the legislative part of the state to the executive part.') यह कहना कि इंग्लैण्ड का शासन शक्ति-पृथक्ककरण के सिद्धान्त पर आधारित हैं, नितान्त भ्रामक है। वस्तुतः केबिनेट शासन प्रणाली का मूल तत्व व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में शक्तियों की सहभागिता है, न कि शक्तियों का पृथक्करण।

बेजहॉट की उक्त पुस्तक अमरीकी गृह-युद्ध के समय की रचना है। इसमें उसने ब्रिटिश प्रणाली और अमरीका की अध्यक्षीय प्रणाली का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका मत है कि अध्यक्षीय प्रणाली की तुलना में संसदात्मक व्यवस्था श्रेष्ठतर है। अमरीकी प्रणाली में पर्याप्त लचीलेपन का अभाव है, केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण से शासन-तंत्र को कमजोर बना दिया है क्योंकि दोनों के बीच खींचतान की संभावना निरन्तर विद्यमान है और शक्तियों के प्रथक्करण के कारण प्रशासन में आए दिन गतिरोध व टकराव उत्पन्न होता रहता है। परन्तु बेजहॉट यह देख पाने में विफल रहा कि जैसे जैसे अमरीकी प्रणाली परिपक्व और स्थिर होगी, इन छोटी मोटी जटिलाताओं से निपटने का मार्ग ढूंढ लेगी। फ्रेंच विद्वान टाकविले के विपरीत वह जनता की प्रबल भागीदारी का अमरीकी राजनीतिक प्रक्रिया पर पड़ने वाले सकारात्मक प्रभाव को समझ पाने में असमर्थ रहा।

7.6 उदारवादी या रुढ़िवादी

क्रेन ब्रिन्टन के अनुसार " बेजहॉट के माध्यम से हमें उस दौर के राजनीतिक विचारों का श्रेष्ठ परिचय मिलता है...... वह एक उदारवादी है पर ऐसा उदारवादी नहीं तो दलीय विवादों में उलझा हो और दलीय निष्ठाओं में कैद हो।" ('Bagehot affords an excellent introduction to political ideas of his time. He was a liberal but not a liberal immersed in party struggles and held to party loyalities'.) बेजहाट व्यापक अर्थ में उदारवादी है, संकीर्ण दलीय दृष्टिकोण में बंधा उदारवादी नहीं है। वह बुद्धिवादी नहीं है और न ही उसका मनुष्य की बुद्धिमत्ता व श्रेष्ठता में असीमित विश्वास है। यह आशावादी है, पर उसका आशावाद सतही नहीं है उसको उदारवादी कहने का सबसे सशक्त तर्क है सत्य की उपलब्धि के लिए निरन्तर प्रयोग (Trial and Error) करने में विश्वास। जब हमें प्रयोग करने की स्वतंत्रता होती तभी हम किसी नैतिक या वैज्ञानिक सत्य तक पहुँच सकते हैं। सत्य पर किसी व्यक्ति या जन-समूह का एकाधिकार नहीं होता, अतः किसी विचार या सिद्धान्त को प्रतिबन्धित करना उचित नहीं होगा। जे0 एस0 मिल की तरह वह मानता है कि सत्य का आर्विभाव संवाद से,विचार विनिमय से, खंडन और मंडन से होता है। कोई चर्च अथवा राज्य सत्य का ठेकेदार नहीं माना जा सकता। समाज के किसी एक विचार या सिद्धान्त के साँचे में ढ़लान प्रगति-विरोधी है, इससे समाज में जड़ता उत्पन्न होती है।

बेजहॉट ने प्लेटो आदि यूनानी तथा मध्ययुगीन दार्शनिकों के इस तर्क को भी नहीं माना कि सत्य कोई स्थिर या निश्चित (Fixed) वस्तु होती है। उसने कहा कि विकासवाद के सिद्धान्त के उदय के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि सत्य भी विकासशील है। सत्य को स्थिर मानने से समाज में गतिशीलता समाप्त हो जायगी व समाज सदैव के लिए एक ढाँचे में कैद हो जाएगा। यदि सत्य स्थिर

है तो परिवर्तन नवीनता एवं सृजनशीलता के द्वार बन्द हो जाएंगे। अपने तर्क को उसने प्रभावशाली भाषा में इस प्रकार अभिव्यक्त किया- "If it be said that people are all alike, that the world is a plain with no natural valleys and no natural hills, the picturesqueness of existence is destroyed, and what is worse the instinctive emulation by which the dweller in the valley is stimulated to climb the hill is annihilated and becomes impossible")

बेजहॉट इस दृष्टि से भी उदारवादी है क्योंकि वह नैतिक अथवा राजनीतिक दमन का विरोधी हैं। किसी व्यक्ति अथवा सरकार व समाज को अपनी मान्यताएं दूसरों पर जोर जबरदस्ती से नहीं लाना चाहिए। यह व्यक्ति की नैतिक गरिमा का अतिक्रमण है। वह मानता है कि शासन-शक्ति के बूते नैतिक सुधार नहीं किए जा सकते। निसन्देह मद्यपान एक बुराई है, पर कानून के द्वारा इस बुराई को समाप्त करना न संभव है और न वांछनीय। मनुष्य के नैतिक विचलन को रोकने का सर्वोत्तम साधन शिक्षा है। बेजहाट की सभी रचनाओं में शक्ति के दुरूपयोग के प्रति तीव्र वितृष्णा दृष्टिगोचर होती है। राजनीतिक - सामाजिक जीवन का केन्द्रीय तत्व शक्ति नहीं है, ऐसा उसका दृढ़ विचार है।

परन्तु बेजहॉट एक अन्ध व्यक्तिवादी (Doctrimaire Individualist) भी नहीं है। वह यह नहीं मानता कि पुरातन की अपेक्षा नवीन सदैव ही श्रेष्ठ होता है। वह यह भी नहीं मानता कि व्यक्ति सदैव ही साध्य है और राज्य मात्र साधन है। वह समाज के जटिल ताने-बाने को समझता है, उसे पर्याप्त महत्व प्रदान करता है। संस्थाओं के क्रमिक विकास और जीवन में परम्पराओं की महत्ता का उसे एहसास है। वह मानवीय बुद्धि की सीमाओं को भी समझता है। इस प्रकार बेजहॉट अनुदारवाद के अनेक तत्वों को अंगीकार करता है और इस दृष्टि से वह 19वीं सदी के विचारक कार्यालय की श्रेणी में आता है। मैक्स लर्नर ने लिखा है कि बेजहॉट में अभिजात्यवादी (Aristocratic) प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रुप से पलिक्षित होती हैं 19वीं सदी में मताधिकार के विस्तार के लिए संसद द्वारा पास किए जाने वाले कानूनों को लेकर वह बहुत उत्साहित नहीं था। आम-जनता की राजनीतिक सामर्थ्य के बारे में उसके मन में अनेक शंकाएँ भी थीं। वस्तुतः एक पुस्तिका में उसने मताधिकार के सीमित व संयत विस्तार की वकालत की। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि श्रमिकों को मताधिकार देने से शिक्षित व कुलीन वर्ग का महत्व घटेगा। डार्विनवाद के तर्क को दुहराते हुए उसने कहा कि यदि अयोग्य लोगों की अनावश्यक रुप से अधिक चिन्ता की जाएगी तो इससे विकास की प्रक्रिया बाधित होगी। उसने लिखा-'The true principle is that every person has a right to so much political power as he can exercise without impeding any other person who would fitly exercise such power'. स्पष्ट है कि बेजहॉट को अनुदारवादी सिद्धान्तों में विद्यमान सत्य को स्वीकार करने से परहेज नहीं था।

बेजहॉट का महत्व :- आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में बेजहॉट कई कारणों

नहत्वपूर्ण विचारक है। वह तत्कालीन ब्रिटिश राजनीति और राजनीतिज्ञों का कुशल चितेरा था। के राजनीतिक व आर्थिक सिद्धान्तों में विलक्षण अर्न्तदृष्टि विद्यमान है जिसके कारण वह हर ार के अतिवाद और संकीर्णता से बचने में समर्थ हुआ। राजनीति में मनोवैज्ञानिक उपागम का ाणेश करने का श्रेय उसी को जाता है। परवर्ती युग के विद्वानों व राजनेताओं पर बेजहाट के ोहनकारी व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ा। अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति बुडरो विल्सन ने कहा था यदि उनका वश चले तो अमरीका को सुसंस्कृत और श्रेष्ठ बनाने की बागडोर बेजहाट जैसी कुछ ृतियों को सौंप दें। (Had I command of the culture of men, I shall wish to raise up the instruction and stimulation of my nation more than one same, sagacious tic of men and affairs like Walter Baghehot')

.7 सारांश

इस इकाई में मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय की विशेषताओं का वर्णन किया गया है और ोविज्ञानवाद के जन्मदाता वाल्टर बेजहाट के राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन भी किया गया है। ोविज्ञानवाद मनुष्य को मूलतः बुद्धि-प्रधान प्राणी नहीं मानता। उनका विचार है कि राजनीतिक व ाजिक जीवन में मनुष्य के निर्णयों वा कार्यों का आधार उसकी मूल प्रवृत्तियाँ व भावनाएं होती हैं। द्व इन मूल-प्रवृत्तियों व भावनाओं को सन्तुष्ट करने का मंत्र मात्र है। इस सम्प्रदाय के विचारकों ने ा कि न केवल व्यक्तिगत जीवन में, वरन् समूह के सदस्य के रूप में मनुष्य संवेगों व भावनाओं ही संचालित होता है। राजनीतिक जीवन-उसके सिद्धान्तों व संस्थाओं पर भावना मनोविज्ञान का रा प्रभाव पड़ता है। मानव-स्वभाव का वैज्ञानिक व यर्थाथपरक अध्ययन करके ही हम राजनीतिक वन के यथार्थ को भली प्रकार समझ सकते हैं।

वाल्टर बेजहॉट ने राजनीति व मनोविज्ञान के घनिष्ट सम्बन्ध को निरूपित किया। उन्होंने विंनवाद की मान्यताओं के संदर्भ में राजनीतिक जीवन के विकास क्रम पर प्रकाश डाला है और । प्रक्रिया में मनोवैज्ञानिक तत्वों के योगदान को प्रमुखता से निरुपित किया है। बेजहॉट की ब्रिटिश ैधानिक प्रणाली की व्याख्या भी अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण मानी जाती है। ब्रिटिश संवैधानिक व ानीतिक जीवन के आधारों की व्याख्या करते हुए उन्होंने इसके दो मुख्य पक्ष माने-उसका रिमापूर्ण भाग जिसमें संसद व राजा का समावेश किया और उसका सक्रिय बाग जिसमें केबिनेट ामिल हैं। बेजहॉट उदारवादी विचारक थे, परन्तु उनका उदारवाद विशिष्ट था। बेजहॉट कई ोकों से एडमंड बर्क का स्मरण कराते हैं।

.8 संदर्भ ग्रंथ

राजनीतिक चिन्तन का इतिहास - डा0 जे0 पी0 सूद

पालिटिकल थॉट इन इंग्लैण्ड - अर्नेष्ट बार्कर

7.9 संबंधित प्रश्न -

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न-

1- मनोविज्ञानवाद के उद्भव एवं विकास में वाल्टर बेजहॉट के योगदान की समीक्षा कीजिए

2- बेजहॉट की ब्रिटिश संविधान की व्याख्या के मुख्य तत्वों पर प्रकाश डालिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न-

1- मनोविज्ञानवाद की मुख्य मान्यताएँ बताइए।

2- स्वतंत्रता पर बेजहॉट के विचारों का वर्णन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1- मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय पर निम्न में से किसका प्रभाव पड़ा है?

(अ) डार्विन

(ब) एक्वीनास

(स) न्यूटन

(द) लॉक

2- निम्न में से कौन तत्व बेजहॉट को उदारवादी सिद्ध करते हैं?

(अ) परम्परा की महत्ता के प्रति आग्रह

(ब) प्रयोगवाद

(स) राजनीतिक संस्थाओं का जटिल स्वरूप

(द) उपरोक्त में कोई नहीं

भाव हो।

7.10 प्रश्नोत्तर -

1- (अ)

2- (ब)

काई 8 - विलियम मैकडूगल (1871-1935)

ाई की रूपरेखा

)   उद्देश्य

प्रस्तावना

मैकडूगल का मूल प्रवृत्तियों का सिद्धान्त

समूह मन का सिद्धान्त

राष्ट्र संबंधी विचार

मूल्यांकन

सारांश

संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

संबंधित प्रश्न

प्रश्नोत्तर

) उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप मैकडूगल की मनोवैज्ञानिक एवं राजनीतिक मान्यताओं वगत हो सकेंगे।

। प्रस्तावना

मनोविज्ञान और राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्रों में विलियम मैकडूगल का विशिष्ट स्थान है। जन्म इंग्लैण्ड लंकाशायर में हुआ था। 17 वर्ष की अवस्था में मानचेस्टर विश्वविद्यालय से क की परीक्षा पास करने के बाद वह कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय गए जहाँ शरीर-विज्ञान (Physi-y) का अध्ययन किया। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्तों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। क एवं मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के लिए उन्होंने कई देशों व द्वीप समूहों की यात्राएं भी कीं। 4 में वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में मनोदर्शन के प्राध्यापक नियुक्त किए गए। उनकी रचनाएँ हैं-फिजियोलाजिकल सायकॉलोजी, एन इंट्रोडक्शन टू सोशल सायकॉलोजी, दि ग्रुप ।

अपने बौद्धिक जीवन के पूर्वार्द्ध में मैकडूगल मनोविज्ञान, मानव विज्ञान एवं शरीर विज्ञान ों में शीर्ष विचारक माने जात थे परन्तु कालान्तर में उनकी मुख्य मान्यताएँ जैसे मूल प्रवृत्तियों द्धान्त, आनुवंशिक सिद्धान्त जगत में अपनी साख खोने लगी और मैकडूगल बौद्धिक जगत में पर चले गए। 1930 में उन्होंने अपनी मनोव्यथा को इस प्रकार व्यक्त किया - "The I write, the more antagonism I seem to provoke.'

मैकडूगल मूलतः एक मनोवैज्ञानिक थे, और मनोवैज्ञानिक के रूप में प्रकार्यवाद

(Functionalism) के प्रतिपादक थे। चार्ल्स डार्विन के प्रभाव में मनोविज्ञान के विद्वानों न जी शास्त्र का अध्ययन प्रारंभ किया क्योंकि उन्हें लगा कि मनोवैज्ञानिक प्रश्नों का उत्तर ढूंढने जीवशास्त्र काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है। जीववैज्ञानिक मनुष्य को एक सावयविक (Livi organism) मानते हैं जो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रयत्नशील व संघर्षशील है और इ उद्देश्य से वह पर्यावरण के अनुकूल बनने का प्रयास करता है। इन विद्वानों ने कहा कि मनुष्य मानसिक कार्य उसकी विविध जैविक गतिविधियों का ही अंग है और उनका उद्देश्य भी जीवन-र और परिस्थितियों के अनुसार अपने के ढालना होता है। इस प्रकार मनोविज्ञान मनुष्यों की मानसि प्रक्रियाओं का अध्ययन करने का अध्ययन करने की एक विधा है ठीक उसी प्रकार जैसे शरी विज्ञान जैविक शरीर के अध्ययन की। इस प्रकार जीव विज्ञान के प्रभाव के कारण मनोविज्ञान क्षेत्र में भी मनुष्य में भी मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों,आनुवंशिकी, आदत, अनुकरण आदि नए क्षे का अध्ययन प्रारंभ हुआ।

प्रकार्यवाद के दो स्वरूप प्रतिपादित किए गए- यंत्रवादी (Mechanistic) और उद्देश्यमूल (Purposive and Hormic) मैकडूगल एक उद्देश्यमूलक प्रकार्य वादी है। उसकी तीन प्रमु मान्यताएँ हैं - (i) मनुष्य का व्यवहार उद्देश्यपरक होता है, (ii) प्रत्येक व्यक्ति में कुछ मूल-प्रवृत्ति होती हैं जो उद्देश्य परक होती हैं। (iii) मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार मूल प्रवृत्तियों या उनसे उत भावों से निर्धारित होता है।

8.2 मूल प्रवृत्तियों का सिद्धान्त (Theory of Instincts)

मैकडूगल का विचार है कि सभी सजीव प्राणिधारियों का मुख्य उद्देश्य होता है जीवन-र (Horme or the urge to live) जीवित रहने और जीवन में विकास करने के इस उद्देश्य की पू हेतु व्यक्ति में मूल-प्रवृत्तियाँ होती हैं। जिसको परिभाषित करते हुए वह कहते हैं-"यह वंश-परम्परा प्राप्त वह मानसिक-शारीरिक प्रवृत्ति है जिसके कारण व्यक्ति एक विशेष प्रकार की वस्तुओं पर ध्य केन्द्रित करता है, एक भावनात्मक उत्तेजना का अनुभव करता है और उसके लिए विशेष प्रकार कार्य करता है।" (Insticts are inherited psychophysical dispositions which determi the individual to perceive or pay attention to objects of a certain class, to expe ence an emotional exitement .... and to act in regard to it in a certain mann मैकड्गल के अनुसार मनुष्य मूलप्रवृत्तियों का पुतला है, बुद्धि मूल प्रवृत्तियों की दासी है जिस कार्य उन्हें सन्तुष्ट करने के उपाय खोजना है। यदि ये मूल-प्रवृत्तियाँ न हो तो मनुष्य निश्चेष्ट निष्क्रिय हो जाएगा। वह उस घड़ी की भाँति गतिहीन हो जाएगा जिसकी कमानियाँ निकाल दी ग हो, अथवा उस भाप के इंजन की भाँति ठप्प हो जाएगा जिसकी आग बुझा दी गयी हो। ये मू प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य व समाज को सक्रिय व जीवन्त बनाए रखती हैं। और इन्हीं में हमें जीव मस्तिष्क व इच्छा के रहस्यों को खोजना होगा। ('Take away these instinctive dispositio with their powerful impulses and the organism would become incapable of act ity of any kind, it would be insert and motionless like a wonder clockwork whose mainsprings have been removed or a steam-engine whose f has been drawn. These impulses are the mental forces that maintain and sha all the life of the individuals and societies, and in them we are c

fronted with central mystery of life and mind and will')

इस प्रकार मनुष्य अधिकांशतः अबुद्धिवादी प्रेरणाओं से ही संचालित होता है। मनुष्य में कितनी मूल-प्रवृत्तियाँ होती हैं, इस सम्बन्ध में मैकडूगल के विचार कई बार बदले। अन्ततः उसने कहा कि मनुष्य में 14 मूलप्रवृत्तियाँ (instincts) होती हैं। जिनमें से प्रत्येक के साथ एक भावना (Emotion) जूड़ी होती हैं जिसके कारण मनुष्य विशेष प्रकार से आचरण करता है। उदाहरण के लिए पलायन की मूल-प्रवृत्ति के साथ भय की भावना जुड़ी होती है। किसी अनजान अंधेरे स्थान पर हमारे अन्दर पलायन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और हम भयग्रस्त हो जाते हैं। मैकडूगल ने इन मूल-प्रवृत्तियों एवं सम्बद्ध संवेगों को इस प्रकार व्यक्त किया है-

मूल प्रवृत्ति	**संवेग**
पलायन (Escape)	भय (Fear)
कलह (Pugnacity)	क्रोध (Anger)
वितृष्णा (Repulsion)	घृणा (Disgust)
सन्तान की इच्छा (Parental instinct)	वात्सल्य (Tenderness)
प्रार्थना (Appeal)	क्लेश (Distress)
काम (Mating)	कामुकता (Lust)
कौतूहल (Curiosity)	आश्चर्य (Wonder)
आत्म-निषेध (Self-Denial)	हीनता (Subjection)
आत्म-प्रकाशन (Self - assertion)	हर्ष (Elation)
सामूहिकता (Gregariousness)	एकाकीपन (Lonliness)
भोजन की खोज (Food-seeking)	भूख (Appetite)
संचय (Acquisition)	स्वामित्व (Ownership)
सृजनात्मकता (constructiveness)	सृजन-सुख (Creative pleasure)
हास (Laughter)	प्रसन्नता (Amusement)

उपर्युक्त मुख्य मूलप्रवृत्तियों के अतिरिक्त छींकना, खाँसना, मल-मूत्र विसर्जन आदि कुछ गौण बृत्तियाँ भी होती हैं। इनका वेग क्षणिक परन्तु प्रबल होता है यद्यपि इनका सामाजिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। इस प्रकार मनुष्य का व्यवहार तार्किक या बौद्धिक सिद्धान्तों से प्रेरित नहीं होता और न ही उसका स्वभाव किसी कार्य के सुखदायी या दुखदायी परिणामों की गणना करना होता है। मनुष्य में अनेक मूल-प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं जो उद्दीपन की वस्तु के सामने आने पर स्वयं ही प्रतिक्रिया करती हैं और ऐसा करने में विवेक की कोई भूमिका नहीं होती।

मैकडूगल बेंथन व हाब्स आदि विचारकों को अहंवादी सुखवादी मनोविज्ञान को अस्वीकार

करता है। वह यह नहीं मानता कि मनुष्य स्वकेन्द्रित प्राणी है और उसके सभी कार्य अपने सुख व स्वार्थ की गणना के आधार पर होते हैं। मानव प्रकृति से एकांकी प्राणी नहीं है, वरन् एक सामाजिक प्राणी है। उसके अन्दर विद्यमान मूल-प्रवृत्तियाँ उसे समाज की अपरिहार्यता का एहसास कराती हैं। बहुधा मनुष्य त्याग, एवं आत्म-निग्रह की भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करता है। वह परिवार व समाज के सुख और कल्याण के लिए हँसते-हँसते कष्ट सहता है। माता-पिता अपने बच्चों के सुख व सुरक्षा के लिए सुख को त्यागने में संकोच नहीं करते। मनुष्य की सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ उसे अपने जीवन के खतरे में डालकर भी अनुसंधान के लिए प्रेरित करती हैं। संसार में हजारों लोगों ने मातृभूमि की सेवा के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया। इनसे स्पष्ट है कि मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियां उसे आत्म-सुख की ओर ही नहीं वरन् परमार्थ की ओर भी प्रवृत्त करती हैं।

मैकडूगल के अनुसार मनुष्य का सामाजिक व्यवहार सामूहिकता की मूल प्रवृत्ति का परिणाम मात्र नहीं है। सामाजिक व्यवहार अनेक मूल-प्रवृत्तियों जैसे वात्सल्य, आत्म-प्रकाशन आदि का योग होता है। मूल-प्रवृत्तियाँ तो जन्मजात होती हैं परन्तु उनके योग से निर्मित संवेगों (Sentiments) पर वातावरण, परिस्थितियों और अनुभव का प्रभाव पड़ता है।

8.3 समूह मन (Group - Mind) का सिद्धान्त

मैकडूगल के अनुसार नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ न केवल व्यक्ति वरन् भीड़ आदि जन-समूह के आचरण को भी प्रेरित व संचालित करती हैं। परन्तु इसके साथ मनुष्य के आचरण पर सामाजिक वातावरण का प्रभाव भी पड़ता है। मनुष्य के व्यवहार को निर्धारित करने में उस समूह या समुदाय की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिसका वह सदस्य है। व्यक्ति अनेक छोटे-बड़े समूहों के अन्तर्गत रहता है। समूह का एक अपना मानसिक जीवन होता है जिसकी छाप समूह के सदस्य पर पड़ती है। यह समूह-मन अपने घटकों का योगमात्र नहीं है, वरन् वह एक विशिष्ट चेतना है। यह समूह-मन रूसों की सामान्य-इच्छा की भाँति एक उच्चतर नैतिक शक्ति रखता है जिसके प्रभाव के कारण ही व्यक्ति अपने अहं एवं स्वार्थ से ऊपर उठकर निर्णय कर पाता है। यह समूह-मन एक ऐसा कोष है जो व्यक्ति की न्यूनताओं को पूर्ण करता है। मैकडूगल के अनुसार 'व्यक्ति अपने में अपूर्ण है, वह उन विशाल सामाजिक व मानसिक शक्तियों का एक इकाई मात्र है जो अपने को समाज में प्रकट करती हैं और उन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु कार्य करती हैं जिनका व्यक्ति अनुमान भी नहीं लगा सकता।' (Each individual is an individual only in an incomplete sense; he is but a unit in the vast system of vital and spiritual forcess which are experissing themselves in the form of human societies and working towards ends which no man can foresee'.) इसी सामूहिक मन के प्रभाव से मानवोचित गुणों का विकास होता है क्योंकि यह व्यक्तिगत मन की अपेक्षा अधिक विकसित, एवं परिष्कृत होता है। मैकडूगल के अनुसार सामूहिक मन विकास की लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। उसके शब्दों में - 'समाज के आदर्श, लक्ष्य एवं परम्पराएँ आचरण के व्यक्ति-निर्मित सिद्धान्तों से उच्चतर होती हैं और संगठित समाज के निरंतर विकास के द्वारा ही व्यक्ति उच्चतर स्तरों को प्राप्त कर सकता है। ('Society has ideals and aims and traditions loftier than any principles of conduct the individual can form for himself unaided and only by the further evolution of organised society can man be raised to higher levels.)

समाज से विलग व्यक्ति स्वार्थी व नैतिक दृष्टि से उदासीन हो जाता है। समूह-मन ही उसे अपने हितों के साथ समाज के हितों को समुचित महत्व देने के लिए प्रेरित करता है। मैकडूगल समूह-मन के अस्तित्व के प्रति बहुत आश्वस्त हैं पर उनके स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर पाते। वह सामाजिक चेतना को व्यक्तिगत चेतना से उच्चतर तो मानते हैं पर उसे किसी अलौकिक सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं मानते। समूह-मन समाज का परिष्कृत मानसिक व्यक्तित्व है। इस प्रकार उसका समूह-जन का सिद्धान्त बोसांके की तरह दार्शनिक सिद्धान्त न होकर एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है। उसका सिद्धान्त इस दृष्टि से बोसांके से सादृष्य रखता है कि बोसांके की तरह वह मानता है कि समाज के अन्दर विद्यमान विभिन्न समूह व समुदाय समाज के प्रतिद्वन्दी नहीं, पूरक हैं, और इनके माध्यम से व्यक्ति की प्रवृत्तियों का उन्नयन होता है। मैकडूगल ने जनमत को विवेकशील मार्गदर्शक कहा है कि क्योंकि वह व्यक्ति को समाज के प्रति निष्ठावान बनाने में सहायक होता है। समाज व समूह-मन को दी जाने वाली इसी महत्ता के कारण प्रसिद्ध समीक्षक रॉको ने मैकडूगल को प्लेटोवादी कहा है, यद्यपि मैकडूगल के लिए यह विशेषण बहुत युक्तिसंगत नहीं है।

8.4 राष्ट्र सम्बन्धी विचार

मैकडूगल के सामूहिक मन के सिद्धान्त का मूर्त स्वरूप उसका राष्ट्र का विचार है। राष्ट्र को परिभाषित करते हुए वह कहते हैं- ''राष्ट्र एक ऐसा जनसमूह है जिसे किसी सीमा तक स्वतंत्रता प्राप्त होती है, जसका अपना विशिष्ट राष्ट्रीय मन एवं चरित्र होता है और इसी कारण वह राष्ट्रीय विचार व इच्छा को व्यक्त करने की क्षमता रखता है।'' मैकडूगल के अनुसार यद्यपि एक व्यक्ति अनेक प्रकार के समूहों - स्थानीय, व्यावसायिक, मनोरंजनात्मक आदि का सदस्य होता है, पर राष्ट्र वह सर्वोच्च समूह है जो सभी समूहों के बीच सामंजस्य स्थापित करता है और उनको नियंत्रित करता है। इस प्रकार मैकडूगल हीगल की भांति राष्ट्र-गान को सर्वोच्च संगठन मानता है। परन्तु वह हीगल की भाँति राष्ट्र की आध्यात्मिक धारणा का प्रतिपादक नहीं है, वरन् राष्ट्र को एक ऐसा मानसिक विचार व संगठन मानता है जिसका निर्माण सजातीयता, समान् उद्देश्य, समान इतिहास आदि कारकों के सम्मिलन से होता है। एक राष्ट्र की स्थापित संस्थाएं उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ हैं उसके रीति रिवाज उसकी आदतें हैं, उसके बौद्धिक-वैचारिक संगठन उसके विचार-केन्द्र हैं। इस प्रकार मैकडूगल ने राष्ट्र की विकासवादी परन्तु मनोवैज्ञानिक अवधारणा प्रतिपादित की है।

मैकडूगल का अबुद्धिवाद न केवल उसे राष्ट्र राज्य का पुजारी बनाता है वरन् राज्य में कुलीनतांत्रिक शासन का पक्षधर भी बनाता है। उसके अनुसार एक सुसंगठित समूह व एक भीड़ के स्वरूप में एक मौलिक अन्तर होता है। जहाँ एक सुगठित समूह अधिक विवेकपूर्ण व नैतिक होता है वहीं भीड़ भावावेश में कार्य करती है और इसलिए उसके कार्य में विवेक व नैतिकता का तत्व काफी कम होता है। एक सुगठित समूह में साध्य का निर्धारण सम्पूर्ण समूह करता है व साधनों का चयन समूह के श्रेष्ठ लोगों पर छोड़ दिया जाता है। इस आधार पर मैकडूगल यह मानते हैं कि लोकतंत्र कभी अच्छा शासन नहीं हो सकता क्योंकि उसका संचालन भीड़ की मानसिकता के आधार पर होता है। एक सुसंचालित राज्य वह है जो समाज 'श्रेष्ठ मस्तिष्कों' के द्वारा नियंत्रित व निर्देशित हो। उसके राष्ट्रों में - ''एक जन-समूह के कार्य तभी अधिक प्रभावी, सुसंगत और नियंत्रित हो सकते हैं, जब वह एक नायक का अनुसरण व आज्ञापालन करता है। हर कोई नेता नहीं हो सकता नेतृत्व के लिए

असाधारण गुण अपेक्षित हैं......... यदि एक जनसमूह को राष्ट्र के रूप में संगठित होना है तो इसमें नेताओं को पैदा करने की क्षमता होनी चाहिए।''

राष्ट्र-राज्य व कुलीन तांत्रिक नेतृत्व सम्बन्धी मैकडूगल के ये विचार बरबस नाजीवादी सिद्धान्तों का स्मरण कराते हैं।

8.5 मूल्यांकन

विलियम मैकडूगल बीसवीं सदी के उस दौर का चिन्तक है जब बौद्धिक व वैज्ञानिक जगत में बड़ी तीव्रता से परिवर्तन हो रहे थे। उदाहरण के लिए, मनोविज्ञान में प्रकार्यवाद का स्थान व्यवहारवाद ले रहा था। मैकडूगल समय के साथ नहीं चल पाया, नवीन प्रवृत्तियों का महत्व समझने और नई चुनौतियों का रचनात्मक रूप से मुकाबला करने के स्थान पर वह अपनी मान्यताओं पर ही अड़ा रहा। परिणाम स्वरूप वह बौद्धिक जगत में हाशिए पर पहुंच गया।

आलोचकों का मत है कि मैकडूगल का मूल-प्रवृत्तियों का सिद्धान्त अस्पष्ट और अमूर्त है और इसके आधार पर मानव-स्वभाव की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती। मनुष्य में कितनी व कौन सी मूल-प्रवृत्तियाँ हैं, इस सम्बन्ध में मैकडूगल के विचार बार-बार बदलते रहे। जब कभी वह अपनी मान्यताओं के प्रतिपादन में कठिनाई में पड़ता है, तो किसी नई मूल-प्रवृत्ति को आविस्कृत करके उस बौद्धिक कठिनाई से पीछा छुड़ा लेता है। प्रसिद्ध दार्शनिक जॉन डिवी ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन नेचर एंड कन्डक्ट' में तर्क दिया है कि मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ कभी शून्य में काम नहीं करतीं। सामाजिक वातावरण उन्हें नियंत्रित व निर्देशित करता है, उन्हें ठोस स्वरूप प्रदान करता है। मूल-प्रवृत्तियों की कोई सर्वमान्य तालिका बना पाना न तो संभव है और न हीं उचित। वे आपस में इतनी घुली-मिली व जटिल होती हैं कि सीधे सपाट तरीके से उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त समाज में मनुष्य की आदतों को डालने व बदलने की अपार शक्ति होती है जिसके कारण मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियों की अनन्त रूपों में अभिव्यक्ति होती है। आलोचकों का यह भी कहना है कि मैकडूगल मूल-प्रवृत्ति व आदतों (Learned Habits) में स्पष्ट अन्तर नहीं कर पाया।

उसका 'समूहजन' का सिद्धान्त भी सुपरिभाषित नहीं है और इस कारण वह विद्वत्-जगत में स्वीकार्य न हो सका।

मैकडूगल एक प्रतिभाशाली चिन्तक था परन्तु उसमें धैर्य तटस्थता व निष्पक्षता का अभाव था जिसके कारण उसकी मान्ताएं सतही, अस्पष्ट औ पूर्वाग्रहों से युक्त है। वह इन मान्यताओं में इस तरह जकड़ गया कि नए परिवर्तनों व सकारात्मक समीक्षा की अवहेलना कर बैठा। इसी कारण उसका स्थाई प्रभाव न पड़ सका।

8.6 सारांश

विलियम मैकडूगल मूलतः एक शरीर वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक था। उसने लामार्क एवं डार्विन के जीवशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर मनुष्य व समाज की मनोवैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत की है। उसका मूल-प्रवृत्ति का सिद्धान्त काफी चर्चित व विवादास्पद रहा। उसने व्यक्ति की 14 मूल-प्रवृत्तियाँ मानी और उनके आधार पर उसके व्यक्तिगत व सामाजिक व्यवहार का विश्लेषण

किया। उसके 'समूह-मन' के सिद्धान्त ने समाज की प्रथाओं, मान्यताओं व आदर्शों को समझने की एक नई दृष्टि दी। 'समूहजन' एक ऐसी असाधारण मनोवैज्ञानिक व नैतिक शक्ति है जो व्यक्ति को निर्देशित, विकसित व परिष्कृत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मैकडूगल की मान्यताएं विचारोत्तेजक थीं, पर उनमें काफी अस्पष्टता थी जिसके कारण वे अधिक प्रभाव छोड़ने में सफल रहों।

8.7 संदर्भित ग्रन्थ

1. राजनीतिक चिन्तन का इतिहास (भाग-2) - डा0 जे0 पी0 सूद

8. आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का इतिहास - डा0 गंगादास तिवारी

8.8 सम्बन्धित प्रश्न -

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

1. मैकडूगल के 'समूह-मन' के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न -

1. मैकडूगल के 'मूल प्रवृत्ति' सम्बन्धी विचार स्पष्ट कीजिए।

8. मैकडूगल के अनुसार मनोविज्ञान किस प्रकार राजनीति को प्रभावित करता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. निम्न में कौन सा कथन मैकडूगल के मूल-प्रवृत्ति सिद्धान्त के विरुद्ध जाता है?

   (अ) मूल-प्रवृत्तियाँ वंश-परम्परा से हस्तान्तरित होती हैं।

   (ब) मूल प्रवृत्तियाँ असामाजिक होती हैं।

   (स) मूल-प्रवृत्तियाँ बुद्धि को संचालित करती हैं।

   (द) हर मूल-प्रवृत्ति के साथ एक भावना जुड़ी होती हैं।

8. मैकडूगल का 'समूह-जन का सिद्धान्त -

   (अ) एक आध्यात्मिक अवधारणा है।

   (ब) एक विकासवादी व मनोवैज्ञानिक अवधारणा है।

   (स) ईसाई राजदर्शन में प्रतिपादित 'नैतिक विधि' का विस्तार है।

   (द) बोसांके की दार्शनिक अवधारणा से सादृश्य रखता है।

8.7 प्रश्नोत्तर -

1. (ब)

8. (ब)

इकाई 9 - ग्राहम वालास (1858-1932)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 ग्राहम वालास की अध्ययन प्रणाली

9.3 मानव स्वभाव का विश्लेषण

9.4 लोकतंत्र की समीक्षा

9.5 राज्य व शासन संबंधी विचार

9.6 ग्राहम वालास का महत्व

9.7 मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का मूल्यांकन

9.8 सारांश

9.9 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

9.10 संबंधित प्रश्न

9.11 प्रश्नोंत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप ग्राहम वालास के मुख्य विचारों जैसे-राजनीति व मानव स्वभाव में सम्बन्ध, लोकतंत्र का स्वरूप आदि से अवगत हो सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

ग्राहम वालास का जन्म इंग्लैण्ड में एक पादरी परिवार में हुआ था। उसने श्रुबरी स्कूल एवं कार्पस क्रिस्टी कालेज, आक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की। 1886 में वह इंग्लैण्ड की समाजवादी रूझान की बौद्धिक संस्था 'फेबियन सोसायटी' में शामिल हो गया, यद्यपि वैचारिक मतभेदों के कारण वह कुछ समय वाद इस संस्था से अलग हो गया। परन्तु उसका समाजवादी सिद्धान्तों के प्रति आजीवन आकर्षण एवं समर्पण रहा। वालास ने 'लंदन स्कूल आफ इकॉनामिक्स' की स्थापना में योगदान किया और आगे चलकर इस प्रतिष्ठित संस्था में राजनीति शास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। वालास एक महान चिन्तक ही नहीं, एक कुशल प्रशासक भी था। लंदन स्कूल बोर्ड, लंदन काउंटी काउन्सिल आदि संस्थाओं के सदस्य के रूप में उसने अपनी प्रशासनिक कुशलता की गहरी छाप छोड़ी। वह एक प्रभावशाली लेखक था, और उसकी प्रमुख रचनाओं में 'ह्यूमन नेचर इन पालिटिक्स', 'दि ग्रेट सोसायटी, 'अवर सोशल हेरिटेज', एवं 'दि लॉ ऑफ थॉट' शामिल हैं।

एक राजनीतिक विचारक के रूप में ग्राहम वालास का महत्व इस बात में है कि मानवीय प्रकृति के संदर्भ में राजनीतिक संस्थाओं की व्याख्या की। सिड्नी वेब के अनुसार, 'उसकी प्रतिभा मनुष्यों व उनका समस्याओं को समझने में निहित थी।' (His genius was for dealing with persons and their problems') वालास ने कहा कि राजनीतिक संस्थाओं का शुष्क ढांचा अपने में महत्वपूर्ण नहीं है राजनीतिक संस्थाओं को ऊर्जा व गतिशीलता व्यक्ति के आदर्श, उसके उद्देश्य, इच्छाएं व भावनाएं प्रदान करती हैं। राजनीतिक संरचनाओं पर मानव-स्वभाव का गहरा प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार राजनीतिक मनोविज्ञान की विशिष्ट शाखा के विकास में वालास का भी महत्वपूर्ण योगदान है। एक शिक्षक, प्रशासक व सक्रिय राजनीतिक के रूप में अपने अनुभवों एवं इंग्लैण्ड व अमरीका में कार्यरत अपने मित्रों व विद्यार्थियों के चिन्तन व विमर्श के आधार पर वालास ने राजनीतिक व मनोविज्ञान के घनिष्ठ सम्बन्धों का अध्ययन किया। उसके सिद्धान्तों पर उसके समाजवादी रूझान का भी प्रभाव देखा जा सकता है।

9.2 ग्राहम वालास की अध्ययन प्रणाली

वालास ने कहा कि मानव-स्वभाव राजनीतिक जीवन को काफी प्रभावित करता है, पर राजनीतिक विचारकों ने मानव-स्वभाव का ठीक से अध्ययन नहीं किया है। वे राजनीतिक जीवन की व्याख्या व्यक्ति की एक ऐसी अमूर्त अवधारणा के आधार पर करते हैं जो बहुत बुद्धिशील हैं, जो अपने लक्ष्यों व हितों का निर्धारण काफी सोच-विचार के करता है और उन लक्ष्यों व हितों की पूर्ति के साधनों का चयन करते समय तर्क बुद्धि को कसौटी बनाता है। वालास ने कहा कि मनुष्य को इतना बुद्धिशील मानना यर्थाथ से परे है। वस्तुतः मनुष्य मूल-प्रवृत्तियों, संवेगों व भावनाओं का पुतला है और अवचेतन तत्व जैसे आदत, अनुकरण-वृत्ति, भावुकता आदि राजनीतिक जीवन के क्रियाकलापों पर निर्णायक प्रभाव डालते हैं। अतः मानव मनोविज्ञान का ज्ञान राजनीतिक अध्ययन की पूर्वशर्त है। आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों व निष्कर्षों को राजनीतिक जीवन के अध्ययन में प्रयुक्त करने के लिए संख्यात्मक पद्धति (The Quantitative Method) का सहारा लेना चाहिए। तथ्यों व आंकड़ों का संग्रह कर उनका वर्गीकरण व विश्लेषण किया जाना चाहिए व इसके उपरान्त निष्कर्ष निकाले जाने चाहिए। वालास ने कहा कि राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में सांख्यिकीय अध्ययन (The Statistical Study) की अति आवश्यकता है। मानव-स्वभाव से सम्बन्धित माप-तौल करने योग्य तथ्यों का संग्रह कर वैज्ञानिक व विश्वसनीय निष्कर्ष निकालने व सिद्धान्त-रचना में सांख्यिकी बहुत सहायक हो सकती है। इस प्रकार वालास अनुभवात्मक व अनुगणनात्मक दृष्टि का प्रबल समर्थक है और इसलिए प्रसिद्ध समीक्षक रॉको ने उसे अरस्तूवादी कहा है।

9.3 मानव-स्वभाव का विश्लेषण

अपनी पुस्तक 'ह्यूमन नेचर इन पालिटिक्स' में ग्राहम वालास ने राजनीति व मनोविज्ञान के घनिष्ठ सम्बन्ध का विवेचन किया है। वालास की इस अनूठी व मौलिक रचना का राजनीतिशास्त्र पर गहरा प्रभाव पड़ा। प्रोफेसर हेराल्ड लास्की ने लिखा है कि वालास की इस पुस्तक ने इंग्लैण्ड

व अमरीका में राजनीति पद्धति के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। (It wrought something like a revolution in the methodology of political discussion both in England and in America. It was the first time that democracy had been discussed by a man amply aquainted with the psychological research; its freshness its humour, its almost uncanny power of realistic insight gave a new and profound stimulus to scientific thinking')

वालास ने कहा कि राजनीति का अध्ययन काफी असन्तोषजनक स्थिति में है क्योंकि विचारशील लोगों ने लोकतांत्रिक प्रणाली से जो अपेक्षाएं संयोजी थी, वे पूरी नहीं हुई हैं। जिस लोकतंत्र को एक आदर्श व मुक्तिदायिनी प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया था, वह भी विकृतियों व दुर्बलताओं से ग्रस्त है। लोग इस स्थिति के लिए सामान्यतः पुरातनपंथी राजनीतिक संस्थाओं सीमित मताधिकार, अशिक्षा व असमानता को दोषी मानते हैं। पर ग्राहम वालास इससे भिन्न दृष्टिकोण रखता है। उसने कहा कि मानव-स्वभाव ही संस्थाओं को संचालित करता है, इसलिए दोष संस्थाओं का नहीं मानव-स्वभाव का सही अध्ययन न करने का है। वस्तुतः विचारकों ने मनुष्य - स्वभाव के मूल तथ्यों व सत्यों को समझने की चेष्टा ही नहीं की। वालास ने कहा कि मनुष्य को मूलरूप से एक बुद्धिशील प्राणी मानना गलत है। राजनीतिक जीवन तर्क व बुद्धि से संचालित नहीं होता। यदि किसी व्यक्ति के दैनिक क्रिया-कलाप का लेखा जोखा रखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि उसके अधिकांश निर्णय व कार्य भावनाओं, आदतों या अनुकरण-वृत्ति पर आधारित होते हैं, और बुद्धि की भूमिका बहुत कम ही होती है। इसलिए बुद्धिवाद (Intellectualism) पर बहुत भरोसा करना ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसे में हम राजनीतिक जीवन के विषय में सही निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। मनुष्य की राजनीतिक संस्थाओं व राजनीतिक धारणाओं के स्वरूप को निर्धारित करने में अचेतन, अबुद्धिवादी कारकों व प्रभावों की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। (Many of the half-conscious processes by which men form their political opinions are non-rational. The empirical art of politics consists largely in the creation of opinion by the deliberate exploitation of sub-conscious non-rational inference'– Graham Wallas) वालास का विचार है कि जिस प्रकार शिक्षा और अपराध-विज्ञान के क्षेत्रों में मनोविज्ञान की सहायता ली जाती है, उसी प्रकार राजनीति जीवन के विश्लेषण में मनोवैज्ञानिक पद्धति बहुत उपयोगी हो सकती है।

यद्यपि मनुष्य में अनेक प्रकार की मूल-प्रवृत्तियाँ और भावनाएं होती हैं पर राजनीतिक दृष्टि से सभी महत्वपूर्ण नहीं है। उसके अनुसार जिन प्रवृत्तियों का राजनीतिक दृष्टि से महत्व हैं वे हैं-प्रेम,भय, सम्पत्ति की इच्छा, संघर्ष की प्रवृत्ति, सन्देह की प्रवृत्ति, श्रेष्ठता हासिल करने की प्रवृत्ति। वालास यह भी मानते हैं कि राजनीतिक व्यवहार मनोवैज्ञानिक कारकों के अतिरिक्त राजनीतिक पर्यावरण से भी प्रभावित होता है। राजनीति पर्यावरण निरन्तर परिवर्तनशील है, क्योंकि नए लोग, नए दृष्टिकोण व नई प्रवृत्तियाँ आती रहती हैं और इनका प्रभाव हमारे राजनीतिक व्यवहार पर पड़ता है। इस संदर्भ में वह राजनीतिक प्रतीकों जैसे नारों, झंडा, चुनाव चिन्ह आदि को बहुत महत्व देता है जिनके माध्यम से हमारे मन-मस्तिष्क को प्रभावित किया जाता है। इन

प्रतीकों का एक बौद्धिक आधार होता है पर आम जनता के लिए वे 'विचार' न होकर भावना का उद्दीपन करने वाले नाम होते है। वालास के अनुसार एक कुशल राजनेता वह है जो भावात्मक नारों और भाषणों के द्वारा जनता को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल रहे। तभी वह अपने राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है। जनता की भावनाओं को उभाड़ने की प्रवृत्ति चुनावों के समय अथवा संकट काल में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है। 'गरीबी हटाओ', 'लोकतंत्र खतरे में है' आदि भावात्मक नारों के द्वारा राजनीतिज्ञ जनमत को अपने पक्ष में मोड़ने का प्रयास करते हैं। वालास के अनुसार चुनाव तो वस्तुतः 'मंत्रमुग्ध करने की कला' (Exercise -in-Spellbinding) की परीक्षा का काल होता है। दल का नाम, झंडा,चुनाव चिन्ह, पोस्टर, नारों आदि सभी का प्रयोग मतदाता की भावुकता को उद्वेलित करने के लिए किया जाता है।

इस प्रकार राजनीति भावनाओं से संचालित होती है, बुद्धि व तर्क सहायक भूमिका में होते हैं। 'लोगों के दिमाग वीणा के तारों की भाँति एक साथ झंकृत होते हैं और एक मानसिक अनुभव में भावना, संवेग संकेत सभी घुले मिले रहते हैं। (Their minds act like a harp all of whose strings throb together, so that emotion, impulse, inference are often simultaneous and intermingled aspects of a single mental experience.')

वालास के अनुसार जब हम भीड़ के अंग के रूप में व्यवहार करते हैं तब अबुद्धिवादी तत्व अपनी चरम सीमा पर होते हैं। वस्तुतः हममे से अधिकांश लोग भीड़ की मनोवृत्ति रखते हैं, अर्थात् भेंडचाल चलना हमारा स्वभाव होता है। हमारी इस बुद्धिवादी प्रवृत्ति को रेडियो, टेलीविजन एवं प्रेस से उद्दीपन प्राप्त होता रहता है। ये प्रचार व संचार माध्यम अत्यन्त सूक्ष्म तरीके से हमारी भावनाओं व संवेदनाओं को इच्छित दिशा में मोड़ देते हैं।

उक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं कि ग्राहम वालास व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में बुद्धि व तर्क की कोई भूमिका नहीं मानता अथवा वह बुद्धिवाद का विरोधी है। वालास के अनुसार मानवीय जीवन में बुद्धि का भी स्थान है और प्लेटो की तरह वह मानता है कि बुद्धि व भावना के समुचित सामंजस्य से ही व्यक्ति का कल्याण हो सकता है। वस्तुतः बड़े उद्देश्यों की उपलब्धि बुद्धि व भावना के द्वन्द्व पर नहीं, उनके उचित समन्वय पर निर्भर करती है, उदाहरणार्थ, यदि युद्ध व विषमता जैसी बुराईयाँ दूर करनी हैं तो लक्ष्यों के निर्धारण व साधनों के चयन में बुद्धि व तर्क का प्रयोग करना ही होगा। वालास बुद्धि की भूमिका को नकारता नहीं है, वह इसको अतिरंजित महत्व देना ठीक नहीं समझता।

9.4 लोकतंत्र की समीक्षा

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वालास लोकतंत्र के सिद्धान्त और व्यवहार में विद्यमान भारी अन्तर को सामने लाना चाहता है। मताधिकार के विस्तार अथवा मतदाताओं को शिक्षित बनाने के कार्य से लोकतंत्र की गुणात्मकता में वृद्धि की ज्यादा संभावना नहीं है क्योंकि पढ़ने लिखने की सामर्थ्य आ जाने से यह तय नहीं हो जाता कि जनता भावना के आवेग में नहीं बहेगी। आम जनता भावुक होती है, उसमें अनुकरण की प्रवृत्ति होती है और इसी का लाभ चतुर

राजनेता चुनावों के समय उठाते हैं। भावनात्मक मुद्दों को उठाना व भावनात्मक अपीलें करना राजनेताओं का हथियार बन चुका है। पर वालास लोकतंत्र का विरोधी नहीं है और न ही वह प्लेटो की तरह बौद्धिक एवं दैनिक कुलीनता को शासन के अधिकार की कसौटी मानता है। वह मानता है कि बुद्धिशील लोग भी प्रायः भावावेश में निर्णय कर बैठते हैं। वालास शासन में जनता को भागीदारी का प्रबल समर्थक है और वह ऐसे शासन को जो जन-सहमति पर आधारित नहीं है, विकृत शासन मानता है। (Government without consent is a complicated and ugly process) उसका विचार है कि राजनेता मनोविज्ञान की सहायता से मानव स्वभाव को समझे और मतदाताओं को शिक्षित करने की व्यवस्था की जाए। तभी राजनीतिक जीवन में भावनाओं व संवेगों के दुष्प्रभाव को नियंत्रित किया जा सकेगा। वह राजनीतिक व मनोवज्ञान के युक्तिसंगत समन्वय द्वारा सामाजिक नियंत्रण एवं सामजिक सुधार हैं विश्वास रखता था। इसलिए मैकगवर्न ने कहा है "ग्राहम वालास हृदय से लोकतंत्रवादी व बुद्धिवादी है। यद्यपि वह मानता है कि मनुष्य-जाति अविवेकपूर्ण है, फिर भी उसे विवेकपूर्ण आचरण करने के लिए शिक्षित व प्रशिक्षित किया जा सकता है।"

9.5 राज्य व शासन सम्बन्धी विचार

अपनी पुस्तक 'दि ग्रेट सोसाइटी' में वालास ने आधुनिक औद्योगिक राज्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। राज्यों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है, सक्रिय व संवेदनशील नागरिकों का स्थान भीड़ एवं भीड़ की मनोवृत्ति ने ले लिया है, सामाजिक सम्बन्धों से आत्मीयता व निकटता समाप्त हो रही है और लोग निर्व्यक्तिकरण की दिशा में जा रहे हैं। औद्योगिक अर्थव्यवस्था में श्रम-विभाजन का सिद्धान्त उभरा है। पर इसने श्रम को ऊबाऊ और सृजनात्मकता से रहित बना दिया है। यद्यपि वालास ने मार्क्स की तरह इस स्थिति के लिए 'अलगाव' (Alienation) शब्द का प्रयोग नहीं किया है, पर उसके निष्कर्ष इसी दिशा में संकेत करते हैं। वालास ने इस स्थिति से उबरने का कोई समाधान तो नहीं सुझाया है, पर तेजी से विलुप्त होते परम्परागत सामुदायिक जीवन के प्रति उसकी प्रशंसा बार-बार मुखरित होती हैं।

वालास ने समकालीन ब्रिटिश राजनीति व प्रशासन की स्थिति पर भी चिन्ता प्रकट की है। संसदों में प्रभावशाली विचार-विमर्श का अभाव, राजनीतिक दलों की संकीर्ण व दलगत सोंच, प्रशासन की रूढ़िवादिता व जड़ता का वह कटु आलोचक था। इसका विचार था कि शासन के नए सिद्धान्तों की खोज आवश्यक हो गयी है ताकि जन सामान्य के जीवनस्तर का उन्नयन हो और उन्हें सुरक्षा व स्वतंत्रता प्राप्त हो। वालास ने इसी दृष्टि से प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व को आज़माने की वकालत की।

9.6 ग्राहम वालास का महत्व

ग्राहम वालास कोई व्यवस्थित चिन्तक न था, न ही वह उग्र सुधारवादी था। पर एक शिक्षक, प्रशासक व लोकसेवक के रूप में वह सामाजिक नवनिर्माण के प्रति निरन्तर समर्पित व सक्रिय रहा। वह राजनीतिक चिन्तन की कल्पनावादी एवं अमूर्त शैली का आलोचक था। उसने अनुभवात्मक व संख्यात्मक पद्धतियों को स्वीकार करने पर बल दिया। प्रसिद्ध विद्वान चार्ल्स मेरियम के अनुसार वालास की पुस्तकों ने राजनीतिक अनुसंधान को नई दिशा प्रदान की व

शोध के नए मार्ग खोले। रॉको का विचार है कि रॉको का विचार है कि वह समकालीन मनोविज्ञान के ज्ञान को लोकतांत्रिक प्रणाली के संदर्भ में प्रयुक्त करने में अग्रणी था। वालास के दृष्टिकोण की प्रतिध्वनि लिपमैन एवं लासवेल जैसे दार्शनिकों के चिन्तन में सुनाई पड़ती है।

9.7 मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का मूल्यांकन

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय ने इंग्लैण्ड, फ्रांस व अमेरिका के अनेक विचारकों पर गहरा प्रभाव डाला। मनोवैज्ञानिक उपागम के प्रभाव में अनेक पुरानी मान्यताओं को नया स्वरूप मिला व अध्ययन व चिन्तन के नए क्षेत्र उभरे। ग्राह्म वालास, मैकडूगल, सुमनर, दुर्खीम आदि की रचनाओं ने मानव-मन के विभिन्न पक्षों को उद्घाटित किया और सामाजिक सम्बन्धों पर उनके प्रभाव की व्याख्या की। राजनीतिक जीवन पर प्रवृत्ति व भावना, आदत व प्रथा का कितना व कैसे प्रभाव पड़ता है, इसको रेखांकित करने में मनोविज्ञानवाद ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। पर मनोविज्ञानवाद की कुछ सीमाएं व दुर्बलताएं भी हैं। इस सम्प्रदाय के विद्वानों ने मानव-स्वभाव के यर्थाथवादी पक्षों को इतना महत्व दिया कि वे आदर्शों व मूल्यों के प्रति उदासीन हो गए। मनोविज्ञानवाद मुख्यतः दो दृष्टियों से दोषपूर्ण है।

1. मनोवैज्ञानिक उपागम मूल्यों व आदर्शों के पक्षों की उपेक्षा करता है जबकि ये राजनीतिक जीवन के अनिवार्य अंग है। जीव वैज्ञानिक सम्प्रदाय की भांति मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय भी यथार्थ का विवेचन - विश्लेषण करके अपने कर्तव्य की इत श्री मान लेता है। प्रवृत्ति, भावना, आदि मनोनैज्ञानिक तत्व मानव व्यवहार व सामाजिक व्यवस्था को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, इन बातों का वैज्ञानिक विवेचन महत्वपूर्ण होते हुए भी दार्शनिक व नैतिक दृष्टि से पर्याप्त नहीं हो सकता क्योंकि उनके सकारात्मक नकारात्मक प्रभाव का मूल्यांकन भी बहुत महत्वपूर्ण है और इसके लिए नैतिक व दार्शनिक सिद्धान्तों को कसौटी बनाना होगा। इसीलिए प्रो0 अर्नेस्ट बार्कर ने कहा है कि 'जब मनोवैज्ञानिक राजनीति की ओर रुख करता है तो वह जीव वैज्ञानिक से बेहतर सिद्ध नहीं होता।' ('The Pshcyologist does not greatly transcend the biologist when he turns his attention to politics') जीव-शास्त्री और मनोवैज्ञानिक दोनों ही प्राकृतिक विज्ञान की पद्धतियों के सहारे राजनीतिक जीवन का अध्ययन करते हैं, और वैज्ञानिक पद्धति मूल्यों व आदर्शों के प्रति तटस्थ होती है। अतः मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय की एक सीमित उपयोगिता है।

2. मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय उच्चतर की व्याख्या निम्नतर को कसौटी बनाकर करता है। यह नितान्त अनुचित है क्योंकि उच्चतर को कसौटी बनाकर निम्नतर को समझना ही सही दृष्टिकोण होगा। मनुष्य में अनेक प्रकार की वासनाएं, भावनाएं, प्रवृत्तियाँ व आदतें विद्यमान हैं, इसमें से अनेक पशु-समाज में भी पायी जाती हैं। एक श्रेष्ठ राजनीतिक समाज की स्थापना तभी संभव है जब हम विवेक को आधार पर अपनी प्रवृत्तियों व भावनाओं को नियंत्रित करना सीखें। मानव सभ्यता का विकास वस्तुतः उसके विवेक व आत्म-नियंत्रण के विकास का पर्याय है। मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के विचारक मानवीय जीवन की व्याख्या उसकी मूल आदिम प्रवृत्तियों के आधार पर करते हैं जो नितान्त आपत्तिजनक है। मनुष्य ईश्वर का अंश है, एक श्रेष्ठ राजनीतिक समाज की स्थापना इस दैवीय अंश के उत्तरोत्तर विकास पर निर्भर करती है। महान दार्शनिक अरविन्द घोष ने इसी प्रकार के विकासवाद का प्रतिपादन किया है। मूल-प्रवृत्तियों व भावनाओं का विश्लेषण - विवेचन मात्र सही

उपागम नहीं हो सकता, इसका उन्नयन व रुपान्तरण करना एक राज-दार्शनिक की मुख्य चिन्ता होनी चाहिए।

9.8 सारांश

ग्राहम वालास सामाजिक मनोविज्ञान के एक प्रमुख प्रतिपादक थे। उनका विचार है कि राजनीतिक जीवन चेतन बुद्धि की अपेक्षा अवचेतन कारकों यथा आदत, प्रवृत्ति, अनुकरण से अधिक संचालित व विश्वास था कि राजनीति में सफलता उन्हीं दलों व नेताओं को मिलती है जो जनता की भावनाओं को छूने या प्रभावित करने की समार्थ्य रखते हैं। वालास लोकतंत्र के कतिपय पक्षों का आलोचक था परन्तु फिर भी वह लोकतंत्र को किसी अन्य प्रणाली से श्रेष्ठ मानता है। वालास के चिन्तन में आशावादिता भी विद्यमान है, वह मानता है कि धीरे-धीरे मनुष्य भावनाओं व प्रवृत्तियों को नियंत्रित करना सीख जाएंगे और उनके निर्णय विवेक के आधार पर हो सकेगे। वस्तुतः वालास के राजनीतिक चिन्तन में उनकी यह चिन्ता बार-बार उभरती है किस प्रकार और किन पद्धतियों का प्रयोग कर मानव के कार्यों का व्यवहार को भीड़ की मानसिकता से मुक्त कर अधिक विवेक संगत बनाया जाए। ग्राहम वालास के विचारों का इंग्लैण्ड व अमरीका का राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उनके शिष्य वाल्टर लिपमैन की प्रसिद्ध रचना, 'पब्लिक ओपीनियन' वालास की मान्यताओं का सशक्त प्रतिपादन है।

9.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. फ्राम लूथर टू हिटलर-विलियम मैकगवर्न
2. हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थॉट - गैटल

9.10 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय में ग्राहम वालास के महत्व का परीक्षण कीजिए।
2. वालास के लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मानव-स्वभाव पर वालास के विचार लिखिए।
2. मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय की सीमाओं का उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. वालास ने मानव स्वभाव के किस पक्ष को विशेष महत्वपूर्ण माना है?
   (अ) बुद्धि (ब) हिंसा (ग) भावना (द) भय
2. ग्राहम वालास किस शासन प्रणाली को सर्वोत्तम मानता है?
   (अ) मिश्रित शासन (ब) लोकतंत्र (स) अधिनायक तंत्र (द) वर्गतंत्र

9.11 प्रश्नोत्तर

1. (स) 2. (ब)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS - 07
पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास बेन्थम से माओ तक

खण्ड

04

मार्क्स तथा मार्क्सवादी

इकाई-10 — 5
कार्ल मार्क्स (1818-1883)

इकाई-11 — 34
लेनिन (1870-1924)

इकाई-12 — 63
माओ (1893-1976)

खण्ड-4 का परिचय : मार्क्स तथा मार्क्सवादी

मार्क्सवादी समाजवाद लगभग एक शताब्दी तक आधुनिक विश्व को चमत्कृत एवं प्रभावित करता रहा । वस्तुतः मार्क्सवाद ने 20वीं सदी के राज्यों को दो खेमों में बॉट दिया। समाजवादी खेमे के लोग मार्क्स को एक मसीहा मानते थे जबकि पूँजीवादी गुट उसे एक शैतान के रूप मे देखता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्सवाद में एक विलक्षण आकर्षण है जो विचारकों व जन सामान्य सभी को उद्वेलित करता है। मार्क्सवादी समाजवाद एक ऐसा राजनीतिक दर्शन और आन्दोलन था जो पूँजीवादी उदारवाद की विद्रुपताओं एवं विसंगतियो के विरूद्ध अस्तित्व में आया। यह मूलतः एक भौतिकवादी विचारधारा है जो भौतिक आर्थिक कारकों को इतिहास की मूल प्रेरणा मानती है । मार्क्सवाद एक क्रान्तिकारी विचारधारा है, पूँजीवादी समाज की विषमता और शोषण को यह एक हिंसक क्रान्ति द्वारा समाप्त करना चाहती है । मार्क्स की पुस्तक 'साम्यवादी घोषणा पत्र' क्रान्तिकारियों की बाइबिल मानी जाती है । इस खंड में मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्तों - द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, वर्ग संघर्ष की अवधारणा आदि के विवेचन द्वारा मार्क्सवाद के स्वरूप और उसकी सीमाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है ।

रूस के महान विचारक व क्रान्तिकारी लेनिन मार्क्स के कट्टर अनुयायी थे । लेनिन ने ही मार्क्सवादी सिद्धान्तों के आधार पर रूस में प्रथम साम्यवादी शासन प्रणाली की स्थापना की। लेनिन मार्क्स का अनुसरण करता है परन्तु अन्धानुकरण नहीं । लेनिन का दृढ़ विश्वास था कि मार्क्सवाद एवं गतिशील एवं जीवन्त विचारधारा है, और इसको व्यावहारिक रूप देते समय परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक संशोधन करना उचित एवं वांछनीय है । सोवियत संघ की विशिष्ट सामाजिक - आर्थिक परिस्थितियों के अनुरूप मार्क्सवादी सिद्धान्तों में परिवर्तन और विचार का श्रेय लेनिन को जाता है । उसके दल सम्बन्धी विचार, साम्राज्यवाद की धारणा इसके प्रमाण हैं । इस खंड में लेनिन के प्रमुख विचारों का वर्णन करते हुए दर्शाया गया है कि लेनिन ने किस प्रकार मार्क्सवाद को सोवियत रूस जैसे कृषि प्रधान व औद्योगिक दृष्टि से अविकसित देश में अमली जामा पहनाने का कार्य किया । कालान्तर में इसी प्रक्रिया को माओ ने चीन में एवं फिदेल कास्त्रों ने क्यूबा में आगे बढ़ाया।

इकाई -10 कार्ल मार्क्स (1818-1883)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 जीवन परिचय

10.3 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

10.4 ऐतिहासिक भौतिकवाद

10.5 पूंजीवाद की शल्यक्रिया

10.6 वर्ग, वर्गीय चेतना एवं वर्ग संघर्ष

10.7 राज्य पर विचार

10.8 क्रान्ति एवं साम्यवादी समाज

10.9 मार्क्स के बाद मार्क्सवाद

10.10 सारांश

10.11 संदर्भ-ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

10.12 संबंधित प्रश्न

10.13 प्रश्नोत्तर

10.0 उद्देश्य

यह अध्याय इस उद्देश्य से लिखा जा रहा है कि आप जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स के विचारो की मौलिक मान्यताओं से परिचित हो सकें इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात आपको कार्ल मार्क्स के सम्बन्ध में निम्नलिखित जानकारियाँ प्राप्त हो सकेंगी -

- किस प्रकार मार्क्स ने अपने जीवन की विषम परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष करते हुये भी अपनी बौद्धिक क्षमता को अन्त तक किसी भी प्रकार से कमजोर नहीं पड़ने दिया।
- मार्क्स के विचारों का अध्ययन करने में हमारे समक्ष क्या समस्यायें उत्पन्न होती हैं, और किस प्रकार इन समस्याओं का समाधान प्राप्त किया जा सकता है ।
- द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद क्या है ? और किस प्रकार यह पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की शल्य क्रिया करने में आधार के रूप में प्रयोग किया जाता है ।
- वर्ग, राज्य, क्रान्ति एवं साम्यवादी समाज के सम्बन्ध में मार्क्स का क्या दृष्टिकोण था, और इस दृष्टिकोण का निर्माण कैसे हुआ था ।

10.1 प्रस्तावना

चिन्तन के इतिहास में सम्भवतः कोई ऐसा चिन्तक नहीं हुआ है जिसने मानव जाति पर मार्क्स से अधिक या व्यापक प्रभाव छोड़ा हो, व्यापक होने के साथ-साथ अत्यधिक शक्तिशाली भी था उसका

प्रभाव, उसके विचारों की शक्ति मानवीय चेतना को एक लम्बे समय तक आन्दोलित करती रही, सन 1917 की रूसी क्रान्ति से लेकर शीत युद्ध की समाप्ति तक का समय कार्ल मार्क्स के विचारों के प्रसार एवं प्रभाव का समय माना जा सकता है । लेकिन रूसी क्रान्ति के बहुत पहले से ही मार्क्स के विचार लोगों को आकर्षित करने लगे थे । अपने जीवन काल में ही मार्क्स की बौद्धिक एवं नैतिक सत्ता स्थापित हो चुकी थी, और उसका नाम एक नवीन प्रकार के आन्दोलन के साथ जुड़ चुका था। चिन्तन के जीवन और कर्म के जीवन दोनों को समान रूप से प्रभावित करने की क्षमता रखने वाले मार्क्स के विचारों ने एक समय में समूची मानवता को दो भागों में बांट दिया था - एक वेजो मार्क्स के समर्थक थे, और दूसरे वे जो उसके विरोधी थे ।

मार्क्स ने न केवल दर्शन शास्त्र, राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्रों में अपना प्रभाव छोड़ा बल्कि उसने समाजशास्त्र, कला एवं साहित्य को भी भरपूर प्रभावित किया । साहित्य में समाजवादी यर्थाथवाद की परम्परा पर मार्क्स के विचारों का प्रत्यक्ष प्रभाव है विधिशास्त्र एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्याओं पर विचार करते हुये तो मार्क्स की सहायता ली ही गयी थी, यहाँ तक कि विकास एवं पर्यावरण के पेचीदा प्रश्नों का हल ढूँढने में भी उसके विचारों को महत्वपूर्ण माना गया था, उसके दार्शनिक विचारों ने बहुत सी नयी दार्शनिक परम्पराओं को जन्म दिया, इनमें से कुछ ने उत्तर औद्योगिक समाज को अपने अध्ययन का विषय बनाया तो कुछ ने मनुष्य और उसके तात्विक एकाकीपन को मार्क्स के ही विचारों से प्रेरित बहुत से क्रान्तिकारियों ने एशियाई, अफ्रीकी और लैटिन अमेरिकी देशों के आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के रास्ते खोजने का प्रयास किया।

यह आश्चर्य की बात है कि जिस व्यक्ति के विचारों ने इतना चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न किया उस व्यक्ति के व्यक्तित्व में ऐसा कुछ भी नहीं था जिसे चमत्कृत करने वाला कहा जा सके। मार्क्स एक सिद्धान्त शास्त्री था, और स्वभाव से वह एकाकी प्रवृत्ति का व्यक्ति था बहुत सीमित लोगों से उसकी मित्रता थी, और बहुत कम वह सार्वजनिक कार्यक्रमों में भाग लिया करता था। उसका अधिकतर समय अपनी पढ़ने की मेज या ब्रिटिश म्युजियम के पढ़ने वाले कमरे में व्यतीत होता था, यहाँ तक कि जिस सर्वहारा वर्ग के कल्याण के लिये उसने अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया था उस वर्ग से भी उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। केवल सन 1848-49 की अल्प अवधि में ही उसने राजनीति में हिस्सेदारी की थी, उसकी लेखन शैली उसके विचारों के तले दबी हुई और दूषित थी, वह अच्छा वक्ता भी नहीं था। उसके भाषणों को लोग आदर के साथ सुनते अवश्य थे लेकिन उसके भाषण लोगों के लिये प्रेरणा के स्रोत नहीं होते थे उसके व्यक्तित्व में ऐसा कुछ नहीं था जो व्यक्तियों में उसके प्रति सर्मपण का भाव उत्पन्न कर सके अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वह एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का सम्मानजनक नेता अवश्य बन गया था किन्तु अपने अनुयायियों में वह कोई भावनात्मक लगाव को उत्पन्न करने में कभी सक्षम नहीं रहा, उसमें अर्न्तदृष्टि का अभाव था और दूसरों की मनः स्थिति से उसे जैसे कोई सरोकार नहीं था दूसरों के प्रति उसका व्यवहार अधिकतर अपरिष्कृत होता था, और कभी कभी वह दूसरों पर अनावश्यक रूप से संदेह भी करता था किन्तु इन सबके बावजूद केवल उसके समर्थक ही नहीं बल्कि उसके विरोधी भी उसके शक्तिशाली व्यक्तित्व, उसके विचारों की मौलिकता और राजनीतिक -आर्थिक परिस्थितियों के उसके अदभुत विश्लेषण से बहुत दूर तक प्रभावित थे।

10.2 जीवन परिचय

हेनरिख और हेनरिटा मार्क्स के सबसे बड़े पुत्र कार्ल मार्क्स का जन्म जर्मनी के ट्रायर नगर में 5 मई 1818 को हुआ था मार्क्स के पिता को, जो पेशे से एक वकील था, यहूदी होने के कारण अपने जीवन की अनेक परिस्थितियों में बहुत से समझौते करने पड़े थे वह अपने युवा पुत्र की प्रतिभा से अच्छी तरह परिचित तो था किन्तु वह उसके स्वतंत्र और विद्रोही विचारों के कारण चिन्तित भी था, पिता और पुत्र में एक भावनात्मक लगाव तो अन्त तक बना रहा, किन्तु मार्क्स के ऊपर उसके माता का कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता उसकी माता ने न ही कभी अपने पुत्र की प्रतिभा को पहचाना और न ही उससे कोई विशेष लगाव रखा। सन 1835 में अपने पिता के सुझाव के अनुसार मार्क्स ने बॉन विश्वविद्यालय में कानून

पढ़ने के लिये प्रवेश लिया सन 1836 में वह बर्लिन विश्वविद्यालय आ गया। इस बड़ी जनसंख्या वाले आधुनिक नगर की जीवन शैली ने उसे नवीन प्रकार के सामाजिक पर्यावरण से परिचित कराया,

बर्लिन में कार्ल मार्क्स ने विधि शास्त्र की पढ़ाई छोड़ कर दर्शन शास्त्र में रूचि लेना प्रारम्भ किया, और उसने हेगल का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया। अपने पिता के अनेक सुझावों को अनदेखा कर उसने अपने जीवन के सम्बन्ध में एक निर्णय ले लिया था- अब उसे वकालत का पेशा नहीं करना था, वह अनेक युवा हेगलवादियों के सम्पर्क में आया, और चौबीस वर्ष की आयु में वह एक दार्शनिक के रूप में जाना जाने लगा था। बाद में जब युवा हेगलवादीयों में फूट पड़ी, और हेगल के अनुयायी दो खेमों - दक्षिणपंथी और वामपंथी - में बट गये तब मार्क्स वामपंथी खेमे का नेता बन गया । वह एक उदारवादी पत्रिका में लेख लिखता रहा और बाद में उसी पत्रिका का सम्पादक बन उसने उस पत्रिका के उदारवादी चेहरे को बदल कर उसे एक आक्रामक वामपंथी चेहरा दिया । अप्रैल 1843 में, अपने शक्तिशाली पड़ोसी रूस को प्रसन्न करने के उद्देश्य से प्रशिया की सरकार ने बिना किसी चेतावनी के मार्क्स की पत्रिका का प्रकाशन बन्द कर दिया ।

अप्रैल 1843 में मार्क्स ने अपने पिता के मित्र और अपने प्रशंसक की पुत्री जेनी से विवाह किया जो जीवन की तमाम विषम परिस्थितियों को झेलते हुये अन्त तक अपने पति को बौद्धिक एवं संवेदनात्मक उर्जा प्रदान करती रही। मार्क्स भी उसकी सूझ बूझ उसके उच्च कुल, और उसके सौन्दर्य से प्रभावित था, और जब भी उसे अपने जीवन के अन्तहीन संघर्षों में विश्राम की आवश्यकता महसूस हुई उसने अपनी पत्नी के कंधों का ही सहारा लिया, नवम्बर 1843 में दोनों ने जर्मनी छोड़ कर फ्रांस आने का निश्चय किया । सन 1843-45 की अवधि मार्क्स के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण थी ।अब तक उसका जो दार्शनिक राजनीतिक दृष्टिकोण निर्मित हो चुका था उसी का विकास एवं परिमार्जन इस अवधि में हुआ ।

फ्रांस की राजधानी पेरिस उस समय बौद्धिक एवं कलात्मक चेतना का केन्द्र थी वहाँ निवास कर रहे लेखकों व चिन्तकों में उत्साह और आशा थी, किन्तु मार्क्स पेरिस के वातावरण से प्रभावित नहीं था। वह यहां पर फिर से अपनी पत्रिका प्रकाशित करने के उद्देश्य से आया था, और साथ में इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये कि किन कारणों से फ्रांसीसी क्रान्ति विफल हो गयी थी । पेरिस में मार्क्स की भेट कई फ्रांसीसी समाजवादियों और दूसरे देश से आये क्रान्तिकारियों से हुयी, किन्तु आम तौर पर उसने उन्हें कोई विशेष महत्व नहीं दिया उसकी दृष्टि में इनके पास कोई ऐतिहासिक समझ नहीं थी, और ये कल्पना लोक में विचरण करते थे। यहीं पर मार्क्स का प्रसिद्ध रूसी अराजकतावादी बकुनिन से वैचारिक संघर्ष भी हुआ दोनों एक दूसरे की ताकत को समझते थे, और एक दूसरे से घृणा करते थे। उनके वैचारिक मतभेद ने योरोप के समाजवादी आन्दोलन को काफी क्षति पहुँचाया। पेरिस में ही मार्क्स ने प्रूधों के विचारों की भी कटु आलोचना किया। उसके लिये प्रूधो यथार्थ को समझने योग्य ही नहीं था। किन्तु फ्रांस में ही मार्क्स की भेंट एक ऐसे व्यक्ति से हुयी जिसके साथ मार्क्स एक अटूट मित्रता के बन्धन में अपने जीवन भर के लिए बंध गया। मित्रता का यह सूत्र और प्रगाढ़ इस कारण भी हुआ कि आगे चल कर यह व्यक्ति मार्क्स का बौद्धिक सहयोगी भी हो गया इस व्यक्ति का नाम था फ्रेडरिक एंजिल्स।

फ्रांस से निकाले जाने के पश्चात कुछ समय तक ब्रुसेल्स में रहने के बाद अगस्त 1849 में मार्क्स लन्दन चला गया और एक मास बाद उसका पूरा परिवार भी वहीं चला आया । यहीं पर मार्क्स मार्च 1883 में अपनी मृत्यु तक रहा, और यहीं प्रारम्भ हुआ बौद्धिकता को समर्पित उसका संघर्षपूर्ण जीवन योरप के बौद्धिक वातावरण से अलग थलग पड़े इंग्लैण्ड में उस समय किसी समाजवादी क्रान्ति की कोई आशा नहीं थी । मार्क्स भी किसी भ्रम में नहीं था। लंदन में रहते हुये उसने अपने आप को केवल दार्शनिक-सैद्धान्तिक विश्लेषण में लगाये रखा। उसकी कार्य करने की क्षमता अदभुत थी। प्रातः नौ बजे से लेकर सांय सात बजे तक, जब ब्रिटिश म्यूजियम का पुस्तकालय बन्द होता था, वह कुर्सी पर बैठा अध्ययन किया करता था। घर लौटने के पश्चात पुनः लिखने पढ़ने का सिलसिला देर रात तक जारी रहता था । आय का कोई निश्चित साधन न होने के कारण वह लगातार कर्ज में डूबता जा रहा था। सस्ते से सस्ता आवास खोजना उसकी मजबूरी हो गयी थी। अपने कर्जदारों से बचना उसकी दिनचर्या का हिस्सा बन गया था।

घर का एक एक सामान गिरवी रखा जाने लगा था। ऐसे में एंजिल्स से मिलने वाली आर्थिक सहायता और कभी कभार किसी पत्र या पत्रिका में प्रकाशित होने वाले उसके लेखों का पारिश्रमिक ही मार्क्स और उसके पूरे परिवार को जिलाये हुये थां । दरिद्रता का हाल यह था कि आये दिन उसे और उसके पूरे परिवार को रात का भोजन भी नहीं मिल पाता था, और सभी को भूखे पेट ही सोना पड़ता था। पैसे के अभाव में वह अपने बीमार बेटे का इलाज भी नहीं करा सका था, और जब सन 1856 में उसके प्रिय बेटे की मृत्यु हो गयी तब वास्तव में मार्क्स अत्यधिक दुखी हुआ था।

दरिद्रता का दुष्प्रभाव मार्क्स के मानसिक व शारीरिक स्वास्थ्य पर लगातार पड़ रहा था। वह चिड़चिड़ा और शक्की हो गया था, और उसका शरीर दुखदायी फोड़ों से ग्रस्त था। उसकी पत्नी भी निरन्तर अभावों से संघर्ष करते हुये अब थक हार चुकी थी। मार्क्स अब तक छियालिस वर्ष का हो चुका था और उसके छः में से तीन बच्चों की मृत्यु हो चुकी थी। अपने परिवार के प्रति सर्मपित मार्क्स के लिये यह दुखदायी तो था ही परन्तु आने वाले वर्षों में उसके लिए इतना ही दुखदायी यह भी था कि योरूप में चारों ओर निरन्तर प्रतिक्रियावाद की विजय होती ही दिखाई पड़ रही थी । लासाल, प्रूधो और बकुनिन की मृत्यु के पश्चात अर्न्तराष्ट्रीय समाजवाद के नेतृत्व के लिए मार्क्स को चुनौती देने वाला अब कोई नहीं रह गया था । लेकिन अब मार्क्स भी थक चुका था। इन दिनों अधिकतर वह अपने स्वास्थ्य के प्रति चिन्तित रहता था। उसका जीवन भी लगातार एकाकी होता चला जा रहा था, किन्तु उसकी बौद्धिक क्षमता में कोई ह्रास नहीं हुआ था। वह प्रातः सात बजे सो कर उठता था और काली काफी की अनेक प्यालियाँ पीने के पश्चात वह दोपहर दो बजे तक अध्ययन करता था। शाम को थोड़ी देर सैर करने के पश्चात वह रात का खाना अपने परिवार के साथ खाता था, और फिर रात को दो या तीन बजे तक लिखने व पढ़ने का क्रम जारी रहता था। सन 1881 में उसकी जीवन संगिनी कैंसर की लम्बी व कष्ट प्रद बीमारी से चल बसी। एंजिल्स ने लिखा है कि उसी के साथ मार्क्स भी मर गया था। अपनी पत्नी की मृत्यु का दुख मार्क्स कभी भी भूल नहीं सका । 14 मार्च 1883 की एक रात अपनी पढ़ने वाली कुर्सी पर बैठकर सोते हुए मार्क्स की नींद में ही मृत्यु हो गयी।

मार्क्स के विचारों का अध्ययन प्रारम्भ करने के पहले हम आपको यह बताना चाहेंगे कि उसके विचारों को समझने का प्रयास हमारे समक्ष क्या प्रारम्भिक कठिनाईयां उत्पन्न करता है । पहली बात तो यह है कि उसका हेगल के साथ कैसा वैचारिक सम्बन्ध था हम आपको यह पहले बता चुके हैं कि मार्क्स ने अपनी युवावस्था में हेगल का बहुत गहराई से अध्ययन किया था, और वह उसके अनेक अनुयायियों में से एक था। हेगल के सभी युवा समर्थक जो युवा हेगलवादी के नाम से जाने जाते थे अपने गुरू के इस प्रसिद्ध कथन की सच्चाई पर एकमत थे कि 'जो यथार्थ है वही बौद्धिक है और जो बौद्धिक है वही यथार्थ है'। वे इस कथन का अर्थ यह लगाते थे कि किसी घटना की सही व्याख्या इस बात में निहित होती है कि इस घटना की तार्किक अनिवार्यता को प्रर्दशित किया जाय। किन्तु युवा हेगलवादीयों में फूट इस बात को लेकर पड़ी कि हेगल ने उपर्युक्त कथन में महत्ता प्रथम अर्ध भाग की है या द्वितीय अर्ध भाग की । दक्षिण पंथियों के लिये जो यर्थाथ था वही बौद्धिक था, किन्तु वाम पंथियों के लिये जो बौद्धिक था वही यर्थाथ था। दक्षिण पंथी व्याख्या प्रकारान्तर से यथास्थिति को सर्वोत्तम मान कर उसे स्वीकृति प्रदान करती है किन्तु वामपंथी व्याख्या, अबौद्धिक यथार्थ को अस्वीकार कर, परिवर्तन की मांग करती है। ऐसी ही दृष्टि के कारण मार्क्स दर्शन को परिवर्तन को एक अस्त्र मानता था।

हेगल ने वैचारिक ऋण को स्वीकार करते हुये भी मार्क्स ने अनेक स्थलों पर हेगल की आलोचना किया है । उसने कहा है कि हेगल सर के बल खड़ा था, और उसने पैर के बल खडा कर उसे सीधा कर दिया है। उसने यह भी कहा है कि हेगल के विचार यद्यपि सही थे किन्तु उस पर रहस्यवाद का एक पर्दा पड़ा हुआ था। उसने उस पर्दे को उठा देने का काम किया है। वास्तव में, एक जर्मन भौतिकवादी दार्शनिक फायरबाख द्वारा लिखी हुई हेगल की आलोचना ने मार्क्स को यह रास्ता दिखाया था जिससे होकर मार्क्स हेगल की गलतियों को पकड़ सका। किन्तु इन सबके बावजूद इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मार्क्स ने बहुत कुछ हेगल से लिया है। वह न केवल हेगल की भांति समस्याओं को समझता है बल्कि उसी की भांति उनका हल भी प्रस्तुत करता है, और ये हल जिन स्वरूपों में प्रस्तुत

किये गये हैं उनका ढांचा भी हेगलवादी है। सामाजिक स्वतंत्रता, ऐतिहासिक प्रगति आदि की संकल्पनायें दोनों के चिन्तन में एक जैसी दिखाई पड़ती है। दोनों की दृष्टि योरुप केन्द्रित हैं । विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि मार्क्स को कितना हेगलवादी माना जाय, और कितना नहीं।कुछ का यह मानना है कि मार्क्स का मित्र एंजिल्स जितना हेगलवादी था उतना मार्क्स नहीं। मार्क्स के विचारों के बारे में प्रमाणिक जानकारी प्राप्त करने के लिये पहले यह आवश्यक हो जाता है कि उसका हेगल के साथ सही सम्बन्ध निर्धारित किया जाय ।

दूसरी समस्या यह है कि मार्क्स और एंजिल्स का वैचारिक सम्बन्ध क्या था। पारम्परिक दृष्टिकोण तो दोनों के विचारों में कोई भेद या विभाजन नहीं करता है । बहुत सी रचनायें दोनों ने संयुक्त रूप से लिखा है। उनमें कितना और क्या मार्क्स का था और कितना और क्या एंजिल्स का यह कह पाना अत्यंत कठिन है। ऐसा भी हुआ कि मार्क्स का लिखा कोई लेख एंजिल्स के नाम से प्रकाशित हुआ, और एंजिल्स का लिखा मार्क्स के नाम से। दोनों ने किसी स्थल पर अपने वैचारिक मतभेदों को प्रदर्शित नहीं किया है। किन्तु कुछ लेखकों, उदाहरण के लिये श्लोमों अविनेरी, का यह मानना है कि मार्क्स के विचारों को सही ढंग से समझने के लिये यह आवश्यक है कि उसके विचारों को एंजिल्स के विचारों से पृथक किया जाय। अविनेरी का यह कहना है कि उनकी जीवन पर्यन्त मित्रता और उनके बीच बौद्धिक सहयोग के बावजूद उन्हें एक सामूहिक व्यक्तित्व नहीं दिया जा सकता है। उनका व्यक्तित्व इतना भिन्न था कि उनके विचार हमेशा एक जैसे नहीं हो सकते । मार्क्स एक संवेदनशील यहूदी परिवार से था, विश्वविद्यालय में उसने उच्च शिक्षा ग्रहण की थी, और प्रारम्भ से उसकी रूचि दर्शन शास्त्र में थी। इसके विपरीत एंजिल्स एक जर्मन औद्योगिक घराने का व्यक्ति था, उसका प्रशिक्षण व्यापार जगत के लिए हुआ था, और उसकी रूचि मुख्य रूप से आर्थिक विषयों में थी ।

मार्क्स में सर्जनात्मक प्रतिभा थीं, मौलिकता थी, और विश्लेषण की अदभुत क्षमता थी। एंजिल्स के पास यह सब नहीं था उसके पास यथार्थ को पकड़ने वाली बुद्धि थी, व्यवहारिक स्तर की समस्याओं को पहचानने की एक पैनी दृष्टि थी, और दूसरों द्वारा की जाने वाली खोज को अपने पक्ष में प्रयोग करने की कला का ज्ञान था। वह ढेर सारे आंकड़ों की भीड़ में से अपने काम के आंकड़े आसानी से निकाल सकता था, और मार्क्स से बेहतर लिख सकता था। यहाँ तक कि मार्क्स के जटिल विचारों को मार्क्स से बेहतर समझ भी सकता था। न सिर्फ उनके बीच बौद्धिकता का भेद था बल्कि उनकी जीवन शैली भी बिल्कुल अलग-अलग थी । मार्क्स का जीवन अव्यवस्थित था, वह बहुत सफाई से रहता नहीं था, उसकी पुस्तकें बेतरतीब ढंग से बिखरी रहती थीं, लेकिन एंजिल्स हमेशा साफ कपड़े पहनने वाला और व्यवस्थित जीवन जीने वाला व्यक्ति था। यद्यपि मार्क्स की नौकरानी से मार्क्स को एक अवैध संतान थी किन्तु पर स्त्री गमन मार्क्स के स्वभाव में नहीं था। इसके विपरीत एंजिल्स स्त्रियों में रूचि रखने वाला शौकीन मिजाज का एक व्यक्ति था। उसे जीवन के राग रंग पसंद थे। मार्क्स और एंजिल्स के बीच जो बौद्धिकता और व्यक्तित्व का भेद था वही यह समस्या उत्पन्न करता है कि हम मार्क्स के विचारों का अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले उसके विचारों को एंजिल्स से अलग करे या नहीं, या करें तो किस सीमा तक।

मार्क्स का स्वयं मार्क्स के साथ सम्बन्ध भी उसके विचारों के अध्ययन में एक समस्या उत्पन्न करता है। मार्क्स पर लिखने वाले बहुत से विद्वानों ने युवा और प्रौढ़ मार्क्स या पहले के मार्क्स और बाद के मार्क्स में भेद किया है । कुछ ने युवा मार्क्स के ही विचारों को प्रमाणिक व वास्तविक माना है, किन्तु कुछ के लिये प्रौढ़ मार्क्स के विचार ही अध्ययन व शोध के लिये सही सामग्री प्रस्तुत करते हैं । सन 1844 में मार्क्स राजनीतिक अर्थशास्त्र की कुछ मौलिक संकल्पनाओं जैसे पूंजी, श्रम, सम्पत्ति, धन, आवश्यकता एवं पारिश्रमिक आदि का दार्शनिक विश्लेषण करने का प्रयास करता है। उसके इस प्रयास का ही परिणाम थीं उसकी पुस्तक 'इकोनोमिक एण्ड फिलासफी मैन्युस्क्रप्टस आफ 1844' जिसे मार्क्स ने कभी पूरा नहीं किया, और जो पहली बार सन 1932 में प्रकाशित हुयी थी। इस पुस्तक में मार्क्स के ऊपर हेगल का गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। उसकी छवि एक ऐसे दार्शनिक की दिखाई पड़ती है जो पूँजीवादी समाज में श्रमिकें के आत्म-निर्वासन की समस्या के कारणों की पड़ताल करने में रूचि रखता है। मार्क्स इस पुस्तक में समाजवाद को एक सामान्य विश्व दृष्टि के रूप में प्रस्तुत करते हुए आर्थिक प्रश्नों को

प्रकृति की व्यवस्था में मनुष्य के स्थान की दार्शनिक व्याख्या से जोड़ता है। जहाँ एक ओर उसकी बाद की रचनाओं में मूल्य के श्रम सिद्धान्त एवं अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के विश्लेषण के लिए प्रमुख उपकरण के रूप में प्रयोग किया गया है वहीं दूसरी ओर इन सिद्धान्तों का सन 1844 की पुस्तक में कोई उन्लेख भी नहीं है ।

मार्क्स के विचारों के विकास में यह एक टूट मानी जाय या नही यह बात विद्वानों का विभाजित करती है। यदि यह टूट है तो फिर महत्ता किसे दी जाय ? लेजेक कोलावस्की के मतानुसार तो यह कोई टूट नहीं है, और सन 1844 की पुस्तक को मार्क्स की बाद की प्रसिद्ध पुस्तक 'पूँजी' का पहला व अपरिष्कृत संस्करण माना जा सकता है। अविनेरी ने भी युवा और प्रौढ़ मार्क्स को लेकर उठने वाले विवाद को अवास्तविक बताया है, और कहा है कि मार्क्स की वैचारिक व्यवस्था समग्र है और उस व्यवस्था में उसके पहले और बाद के विचारों को एक दूसरे के आमने-सामने खड़ा करना सही नहीं है । दरअसल अपने अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार मार्क्स या किसी दार्शनिक के विचारों को समझने का प्रयास करना दोषपूर्ण है।

मार्क्स के अध्ययन में जिन तीन उपर्युक्त समस्याओं के बारे में आपको बताया गया है उनका समाधान खोजना तो एक लम्बे व जटिल शोध का विषय होगा। हम मार्क्स के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोण अपनाते हुये उसका अध्ययन करेंगे। इस दृष्टिकोण के अनुसार पहली बात यह कि वह हेगल से प्रभावित होते हुये भी उससे मौलिक मतान्तर रखता था। आगे आवश्यकतानुसार उनकी वैचारिक निकटता और भेद को रेखांकित किया जायेगा। दूसरी बात उसके बौद्धिक सहयोगी एंजिल्स के विचारों को उसके विचारों से पृथक करने की आवश्यकता नहीं है, और तीसरी बात युवा और प्रौढ़ मार्क्स के भेद को अनदेखा करते हुये हम प्रौढ़ मार्क्स के विचारों पर अपना ध्यान केन्द्रित रखेंगे ।

10.3 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मार्क्सवाद का दर्शन कहा गया है । यह धारणा मार्क्स की पहली पीढ़ी के अनुयायियों में बहुत शक्तिशाली धारणा रही है, और रूसी क्रान्ति के पश्चात तो यह कम्युनिस्ट विचारधारा की रूढ़िवादिता का अनिवार्य अंग बन गयी थी। इस धारणा ने विद्वानों के बीच कई प्रकार के विवाद भी उत्पन्न किये हैं। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त का विकास सन 1844-48 की अवधि में अपनी विभिन्न पुस्तकों - 'द जर्मन आइडियोलाजी', 'होली फैमिली' आदि - में किया था। उसके सहयोगी एंजिल्स ने भी इस सिद्धान्त का अध्ययन अपनी पुस्तकों 'ऐंटी डयूहरिंग' और 'डायलेक्टिक्स आफ नेचर' में किया है। एंजिल्स के विचारों ने आगे चल कर और अधिक विवादों को जन्म दिया।

मार्क्स ने हेगल के द्वन्द्ववाद सम्बन्धी विचारों को स्वीकार करते हुये एक स्थान पर लिखा है कि द्वन्द्ववाद का मौलिक स्वरूप हेगल के चिन्तन में प्रगट होता है, लेकिन साथ ही उसने यह भी लिखा है कि हेगल एक आदर्शवादी था और उसका द्वन्द्ववाद तभी उपयोगी हो सकता है जब उसका रहस्यात्मक आवरण उस पर से हटा दिया जाय । दूसरे स्थान पर मार्क्स फिर यह कहता है कि रहस्यात्मक होने के बावजूद हेगल का द्वन्द्ववाद सबसे पहली बार गति के सामान्य नियमों को उनकी समग्रता में प्रस्तुत करता है, किन्तु इन नियमों की बौद्धिकता को समझने के लिये यह आवश्यक है कि इन्हें इनके रहस्यात्मक खोल से बाहर निकाल लिया जाय। यहीं पर मार्क्स यह भी कहता है कि हेगल का द्वन्द्ववाद सर के बल खड़ा था और उसने उसे सीधा पैर के बल खड़ा कर दिया है। मार्क्स द्वन्द्ववाद की धारणा के लिये हेगल का चाहे जितना भी ऋणी रहा हो सन 1843 से सन 1873 तक लगातार वह हेगल की आलोचना करता रहा। उसकी आलोचना हेगल के द्वन्द्ववाद के औपचारिक ढांचे और सार तत्व दोनों की ओर केन्द्रित थी । न केवल मार्क्स ने हेगल के प्रतिलोमनों, उसके अभिन्नता सिद्धान्त और तार्किक रहस्यवाद की आलोचना किया है, उसने हेगल की इस असफला के लिये भी उसकी आलोचना किया है कि वह प्रकृति की स्वायत्तता और सामाजिक स्वरूपों की ऐतिहासिकता को स्थापित नही कर सका था। ऐसी स्थिति में हेगल से मार्क्स की निकटता को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता है ।

यदि अपने आप में देखा जाय तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दो बुर्जुवा या पूंजीवादी धारणाओं का

संयुक्त रूप है- एक वैज्ञानिक-क्रान्ति एवं बुद्धिवाद की विचारधारा द्वारा प्रस्तुत यांत्रिक भौतिकवाद, और दूसरा हेगल के आदर्शवादी विचार धारा का द्वन्द्ववाद। पहली विचारधारा की यांत्रिकता द्वन्द्ववाद के साथ मेल नहीं खाती, और दूसरी विचारधारा की आदर्शवादिता भौतिकवाद के साथ मेंल नहीं खाती है। मार्क्स ने दोनों धारणाओं को एक दूसरे के विरूद्ध खड़ा कर दोनों को आंशिक रूप से स्वीकार किया और आंशिक रूप से अस्वीकार । उसने यांत्रिक भौतिकवाद में से भौतिकवाद को लिया और आदर्शवादी द्वन्द्ववाद में से द्वन्द्ववाद को, और फिर दोनों को संयुक्त कर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की नई धारणा को प्रस्तुत किया । परिणाम स्वरूप एक नई दार्शनिक दृष्टि या विश्व दृष्टि का जन्म हुआ। इसी को एंजिल्स ने 'कम्युनिस्ट विश्व दृष्टि' कहा। मार्क्स व एंजिल्स द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया गया जो यद्यपि प्राकृतिक विज्ञान की श्रेणी में नहीं आता फिर भी उसकी निश्चययात्मकता इसमे मौजूद है, और जो प्राकृतिक विज्ञान की विभिन्न खोजों द्वारा निरन्तर पुष्ट होता है। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को समाज के ऐतिहासिक अध्ययन तक सीमित रखा, किन्तु एंजिल्स ने इसे व्यापकता देते हुये प्रकृति, समाज, एवं चिन्तन तीनों पर लागू किया क्योंकि उसके अनुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद गति के वे सामान्य नियम हैं जो सभी स्थानों पर लागू होते हैं ।

भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद को संयुक्त किये जाने पर दोनों ही रूपान्तरित हो जाते हैं । द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का भौतिकवाद, अपने पारम्परिक पूर्वज की भांति, अवव्याख्यावादी नहीं है, यह चेतना को पदार्थ में विघटित नहीं करता, और न दोनों का तादात्मय करता है। यह मानता है कि पदार्थ और चेतना, द्वन्द्वात्मक रूप से, एक दूसरे से न सिर्फ भिन्न है बल्कि एक दूसरे के विपरीत है , परन्तु फिर भी उनमें एक ऐसी एकता है जिसमें पदार्थ मौलिक या प्राथमिक है। पदार्थ चेतना के बिना रह सकता है, किन्तु चेतना का पदार्थ के बिना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। चेतना ऐतिहासिक रूप से पदार्थ पर आश्रित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न विज्ञानो का एक एकीकृत श्रेणी बद्ध ढांचा होता है जिसका आधार तो भौतिक विज्ञान है किन्तु विभिन्न विज्ञानों को भौतिक विज्ञान में विघटित नहीं किया जा सकता है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि भौतिक विज्ञान हमें हमारी चेतना से स्वतंत्र वस्तुगत यथार्थ का ज्ञान देता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में द्वन्द्ववाद का आयाम इस बात पर बल देता है कि इंद्रीय गोचर यथार्थ एक गतिहीन अविकसित एकता को प्रर्दशित नहीं करता बल्कि एक ऐसी एकता को व्यक्त करता है जो आन्तरिक रूप से विभाजित है एवं अर्न्तविरोधों से युक्त है। अर्न्तविरोधों का संघर्ष यर्थाथ को निरन्तर प्रगतिशील परिवर्तन,जो एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है, की ओर धकेलता ले जाता है। परिवर्तन विकासवादी एवं क्रान्तिकारी दोनो होता है, किन्तु अपनी क्रान्तिकारी अभिव्यक्ति में यह नवीन एवं गुणात्मक रूप से भिन्न यथार्थ को सृजित करता है । तर्क के मौलिक आधार से देखा जाय तो यह कहा जायेगा कि चूँकि यथार्थ अन्तर्विरोधों से युक्त होता है अतः शब्दों में उनका विवरण भी अर्न्तविरोधों से युक्त होगा, और इसलिये उनकी व्याख्या आकारी तर्कशास्त्र की सीमाओं को पार कर ही का जा सकती है ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन मौलिक नियम हैः - (1) मात्रा का गुण में और गुण का मात्रा में परिवर्तित होने का नियम । इस नियम के अनुसार ही इतिहास में होने वाले क्रमशः मात्रात्मक परिवर्तन गुणात्मक क्रान्तिकारी परिवर्तन को उत्पन्न करते हैं । (2) विरोधों की एकता का नियम। यह नियम इस बात को बताता है कि इन्द्रिय गोचर यथार्थ एक ऐसी एकता को प्रदर्शित करता है जो अर्न्तविरोधों से ग्रस्त है (3) निषेध के निषेध का नियम । यह नियम यह दावा करता है कि विरोधी वस्तुओं में होने वाले संघर्ष में एक वस्तु अपनी विरोधी वस्तु का निषेध करती है किन्तु वह स्वयं ऐतिहासिक प्रगति को दूसरी उच्च्च अवस्था में अपनी विरोधी वस्तु द्वारा निषेधित कर दी जाती है यह वस्तु जो निषेध के निषेध द्वारा उत्पन्न होती है निषेधित वस्तु का कुछ गुण रखने के बावजूद एक नयी वस्तु होती है । इसी को द्वन्द्ववाद के तीन तत्व - वाद, प्रतिवाद एवं संवाद - के रूप में भी माना जाता है ।

सबाइन के अनुसार मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा उसे कई निश्चित निष्कर्षों की ओर ले जाती है । वह भौतिकवाद को वैज्ञानिक मानते हुये जहाँ एक ओर हेगल से अपने को अलग करता है वहीं दूसरी ओर वह सामाजिक विज्ञान को अधिक निश्चयात्मक एवं कठोर बनाने का प्रयास करता है । वह यह तो नहीं मानता कि सामाजिक विज्ञान भौतिक विज्ञान की अनुकृत हो सकता है लेकिन वह यह अवश्य

मानता है कि इस विज्ञान को अनेक प्रकार की अस्पष्टताओं से मुक्त किया जा सकता है । हेगल विज्ञान को हेय दृष्टि से देखता था, किन्तु मार्क्स का स्वाभाविक झुकाव वैज्ञानिकता की ओर था। वह तथ्य और अनुभव को वरीयता देता था। लेकिन इसके बावजूद मार्क्स ने द्वद्वात्मक भौतिकवाद में एक प्रकार की शिथिलता भी थी जो उसे सम्भावित और अनिवार्य में हमेशा फर्क नहीं करने देती ।

भौतिकवाद का दूसरा अर्थ मार्क्स द्वारा धर्म को अस्वीकृति में प्रगट होता है यह एक "उग्र नीरीश्वरवाद" की स्थापना करता है। धर्म हमेशा से एक रूढ़िवादी सामाजिक शक्ति के रूप में रहा है। इसके विपरीत भौतिकवाद परिवर्तन और क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त करता है धर्म मार्क्स के लिये "जनता की अफीम" है। यह एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न करता है । जहाँ कोई दोहरापन नहीं है वहां यह दोहरे पन का भ्रम उत्पन्न करता है। आत्मा और शरीर, स्वर्ग और नर्क ये सब इसी दोहरेपन के उदाहरण हैं। धर्म मनुष्य को अपने जीवन को जैसा है वैसा स्वीकार करने की सलाह देता है। यह जीवन की विषम परिस्थितियों के वास्तविक कारण खोजने और उन्हें दूर करने की प्रेरणा नहीं देता है। यथा स्थिति को बनाये रखने और उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए धर्म का प्रयोग बहुत मजबूती के साथ किया जाता है ।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त से मार्क्स जो तीसरा निष्कर्ष निकालता है वह यह है कि यह एक नयी क्रान्ति की मांग करता है । फ्रांसीसी क्रान्ति केवल एक राजनीतिक क्रान्ति थी जिसने सामन्तशाही को समाप्त कर बुर्जुवा शासन को स्थापित किया, किन्तु जिसने सत्ता के चरित्र में कोई परिवर्तन नहीं किया। सत्ता जैसे पहले शोषण का उपकरण थी वैसे ही बाद में भी यह रही । अन्तर केवल इतना था कि शोषण करने वाले बदल गये थे। मध्यम वर्गीय समाज प्रजातांत्रिक गंणराज्य की व्यवस्था से अधिक विकसित नहीं कर सकता, किन्तु विकास को इससे भी उच्च एक अवस्था है जो एक नयी सामाजिक क्रान्ति के फलस्वरूप आयेगी , और जिसमें सत्ता शोषण का उपकरण नहीं होगी क्योंकि शोषण के कारण समाप्त हो चुके होंगे। इसाई धर्म की भाँति, फ्रांस की बुर्जुवा क्रान्ति भी, दोहरेपन का भ्रम उत्पन्न करती थी - काल्पनिक स्वतंत्रता और वास्तविक दरिद्रता। स्वतंत्रता एवं समानता के आदर्श केवल एक आवरण मात्र थे। इस आवरण के नीचे थी व्यापक दरिद्रता में जीवन बसर करने वाली पीड़ित मानवता की एक बहुत बड़ी संख्या ।

सन 1883 में मार्क्स की मृत्यु के पश्चात द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा को आगे विकसित करने का उत्तरदायित्व उसके सहयोगी एंजिल्स के कंधों पर आ गया। एंजिल्स ने व्यवहारिक बुद्धि तो थी किन्तु दार्शनिक प्रतिभा नहीं । इसलिए इस धारणा के सम्बन्ध में मार्क्स के यहाँ वहां बिखरे विचारों को समेट कर एन्जिल्स उन्हें किसी दार्शनिक व्यवस्था के अन्तर्गत संयोजित नहीं कर सका । मार्क्स और एंजिल्स दोनों द्वन्द्ववाद के सामान्य स्वभाव के बारे में वही कहते हैं जो हेगल ने कहा था वे केवल हेगल द्वारा इसके स्वेक्षा चारी एवं दोषपूर्ण प्रयोग की आलोचना करते हैं। इन तीनों के लिये द्वन्द्ववाद अन्ततोगत्वा एक तात्विक धारणा है। फर्क सिर्फ यह है कि हेगल के लिये यह आदर्शवादी तात्विकता है जो चिन्तन के आत्मविकास में प्रगट होती है, लेकिन मार्क्स व एंजिल्स के लिये यह भौतिकवादी तात्विकता है जो चिन्तन में प्रतिबिम्बित होने वाले प्रकृति के आत्मविकास में प्रगट होती है। एंजिल्स ने यह कहा है कि द्वन्द्ववाद की विशिष्ट उपयोगिता इस बात में निहित है कि यह ऐतिहासिक प्रगति की अनिवार्यता की खोज करता है, लेकिन हेगल, मार्क्स और एंजिल्स तीनों के लिये यह अनिवार्यता अन्ततोगत्वा एक नैतिक अनिवार्यता ही है ।

इस बात में संदेह नहीं है कि मार्क्स का समाज का सिद्धान्त भौतिकवादी एवं द्वन्द्वात्मक दोनों हैं और यह वैज्ञानिक होने का दावा करता है , किन्तु द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद को एक दूसरे से संयुक्त करने से एक समस्याग्रस्त तनाव की स्थिति उत्पन्न होती है। भौतिकवाद को यांत्रिकता एवं वस्तुनिष्ठता से पृथक करना एक कठिन समस्या है। यदि पृथक न किया जाय तो यह नैतिकता से विहीन है, और यदि यह नैतिकता से च्युत है तो यह मार्क्स के लिये उपयोगी नहीं हो सकता । इसके अलावा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ऐतिहासिक भौतिकवाद को अनिवार्यतः 'अर्थवाद' की ओर धकेलता है। अर्थवाद की प्रवृत्ति के विरूद्ध न केवल मार्क्स व एंजिल्स को बल्कि लेनिन को भी बाद में संघर्ष करना पड़ा था । सन 1920

व 30 के दशकों में लेनिन की मृत्यु के पश्चात, रूसी क्रान्ति की उपलब्धियां जब स्टालिन की तानाशाही में लुप्त होने लगी तब रूस के बाहर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का महत्व निरन्तर कम होता गया । पाश्चात्य मार्क्सवाद की मानवतावादी परम्परा में तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की चमक पूर्णतया धूमिल हो गयी। हालांकि लूकाच और कॉरश्च द्वारा की गयी मार्क्स वाद की हेगलवादी व्याख्या जो मार्क्स वाद को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से दूर ले जाती है दूसरे मार्क्सवादियों जैसे आल्थ्यूसर एवं डेला वोल्पे द्वारा स्वीकार नहीं की गयी है लेकिन अब विद्वानों द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को गम्भीरता से नहीं लिया गया है ।

10.4 ऐतिहासिक भौतिकवाद

जहां एक ओर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मार्क्सवाद का दर्शन कहा गया है वहीं दूसरी ओर ऐतिहासिक भौतिकवाद को मार्क्स वाद का विज्ञान माना गया है । कम्युनिस्ट परम्परा में दोनों को संयुक्त कर द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद या इतिहास की भौतिकवादी धारणा मार्क्स के चिन्तन में केन्द्रीय महत्व रखती है। इसी पर निर्भर है मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता। ऐतिहासिक भौतिकवाद, मार्क्स के अनुसार, कोई दार्शनिक प्रत्यय नहीं है बल्कि यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है जिसकी सत्यता अनुभव के आधार पर पुष्टि की जा सकती है । एंजिल्स ने सन 1892 में अपनी पुस्तक 'सोशलिज्म : युटोपियन एण्ड साइन्टिफिक' के आलेख में लिखा है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद इतिहास के प्रति वह दृष्टिकोण है जो यह मानता है कि उन सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे जो समाज को आर्थिक प्रगति की दिशा में ले जाती है अन्ततोगत्वा आर्थिक कारण होता है। आर्थिक कारणों से ही उत्पादन एवं विनिमय की पद्धतियां निर्धारित होती हैं ,समाज में वर्गीय विभाजन होता है, और वर्ग संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है । मार्क्स और एंजिल्स ने सन 1844-45 में ' द जर्मन आडियालोजी' नामक पुस्तक लिखते हुये ऐतिहासिक भौतिकवाद की धारणा को विकसित करने का प्रयास प्रारम्भ किया था । पहले लिखी हुई दूसरी पुस्तकों - जैसे 'द जीनिश क्यूशचन' एवं 'होली फैमिली' आदि में भी इस धारणा पर विचार किया गया है। एक रूचिकर बात यह है कि जहाँ एक ओर मार्क्स यह कहता था कि इस धारणा को एंजिल्स ने स्वतंत्र रूप से विकसित किया है वहीं दूसरी ओर एंजिल्स का यह कहना था कि मार्क्स ने दो महत्वपूर्ण खोज किया - एक ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त और दूसरा अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।

ऐतिहासिक भौतिकवाद की धारणा का विकास हेगल द्वारा प्रस्तुत ढांचे के अन्तर्गत किया गया है। हेगल और मार्क्स दोनों के लिये मानवता का इतिहास एक ऐसे सीधे मार्ग का अनुसरण करता है जो अपने को दुहराता नहीं है, और जो खोजे जा सकने वाले नियमों से शासित होता है । ये नियम भौतिक विज्ञान एवं रसायन विज्ञान के नियमों से भिन्न होते हैं । क्योंकि ये इतिहास द्वारा संदंभित होते हैं। मनुष्य के ऐतिहासिक विकास की प्रत्येक अवस्था पहले की अवस्था से इस मानने ने में भिन्न होती है कि यह नये गुणों से सम्पन्न होती है, लेकिन नयी अवस्थाओं को उत्पन्न करने वाले नियम एक ही हैं । हेगल के लिये ऐतिहासिक प्रगति के पीछे जो शक्ति कार्यरत है वह सनातन, सार्वभौम आत्मा है । वास्तव में, अपनी अभिव्यक्ति की विभिन्न अवस्थाओं में यह आत्मा इतिहास को आगे की ओर ले जाती है, लेकिन इतिहास आगे प्रवाहमान संघर्ष के माध्यम से होता है। यह संघर्ष है आत्मा के विभिन्न आन्तरिक तत्वों का जो धार्मिक या राष्ट्रीय युद्धों में प्रगट होता है । फायरबाख से प्रेरित मार्क्स इस दृष्टि कोण की आलोचना करता है। वह कहता है कि हेगल के दृष्टिकोण की वैधता अनुभव के आधार पर परखी नहीं जा सकती अतः यह दृष्टिकोण अवैज्ञानिक हैं । मार्क्स के लिये न तो आत्मा और न ही फायरबाख का पदार्थ ऐतिहासिक प्रगति का कारण है, बल्कि जो कारण है वह है किसी समाज की आर्थिक संरचना। दूसरे शब्दों मे, इतिहास की प्रेरक शक्तियाँ आर्थिक हैं जब समाज की आर्थिक संरचना के विभिन्न तत्वों में संघर्ष होता है, जो वर्ग संघर्ष के रूप में प्रगट होता है , इतिहास प्रगति करता है। इसी लिये समूचा इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है ।

आर्थिक शक्तियों के अन्तर्गत मार्क्स उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों को सम्मिलित करता है। उत्पादन के साधन एवं श्रम शक्ति उत्पादन की शक्तियों के अन्तर्गत आते हैं । इनके विकास के दायरे में मशीनरी की प्रगति, श्रम की प्रक्रिया में आने वाले बदलाव, उर्जा ने नये श्रोतों का खुलना आदि

ऐतिहासिक घटनायें आती हैं, किन्तु अन्य बहुत सी चीजों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विज्ञान को भी उत्पादन की शक्तियों के अन्तर्गत रखते हैं। कोहेन ने भौगोलिक क्षेत्र को भी इसी में सम्मिलित किया है। उत्पादन के सम्बन्धों का निर्माण उत्पादन की शक्तियों पर आर्थिक स्वामित्व से होता है। पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पादन के सम्बन्ध का सबसे मौलिक रूप इस बात में प्रगट होता है कि इस व्यवस्था में उत्पादन के साधन पर पूंजीपति का नियंत्रण होता है और श्रमिक का स्वामित्व केवल अपनी श्रम शक्ति पर होता है। आर्थिक स्वामित्व वैधानिक स्वामित्व से इस मायने में भिन्न होता है कि यह उत्पादन की शक्तियों के नियंत्रण से सम्बन्धित होता है । इसीलिए यद्यपि श्रमिक का अपने उद्योग में वैधानिक स्वामित्व हो सकता है किन्तु फिर भी आर्थिक स्वामित्व नहीं होता। उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों और मनुष्य को उत्पादन की प्रक्रिया से जोड़ते है -

मार्क्स के चिन्तन में एक दुविधा की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब यह स्पष्ट नहीं होता कि वह उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों में किसे प्राथमिक मानता है। वह कभी एक पर बल देता है तो कभी दूसरे पर । सोवियत मार्क्सवाद की परम्परा में तो यह माना गया है कि मार्क्स के लिये उत्पादन की शक्तियाँ प्राथमिक हैं, किन्तु कुछ विद्वान यह कहते हैं कि यह तर्क केवल स्टालिन की औद्योगिक नीतियों का राजनीतिक औचित्य प्रस्तुत करने के लिये दिया गया था। सच तो यह है कि मार्क्स स्वयं स्पष्ट नहीं था नही वह उत्पादन की शक्तियों को प्राथमिक मानता है परन्तु कहीं वह यह भी कहता है कि उत्पादन के सम्बन्ध प्रभावशाली है और वे उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। एक को प्राथमिक मानने से व्याख्या भी कुछ समस्यायें उत्पन्न होती हैं, किन्तु दूसरे को प्राथमिक मानने से व्याख्या की दूसरी समस्यायें उत्पन्न होती हैं ।

उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों का आपसी सम्बन्ध निर्धारित करने में जो समस्या है वह यह है कि मार्क्स किसी उत्पादन पद्धति में इन दोनों में सामंजस्य की स्थिति मानता है, किन्तु आगे चल कर इनमें से एक को इस प्रकार विकसित होना है कि इनके बीच का सामन्जस्य समाप्त हो जाय और एक अर्न्तविरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाय। इनके विकास में असमायोजन का तत्व अर्न्तनिहित है, केवल आक्समिक रूप से नहीं बल्कि अनिवार्य रूप से। सामंजस्य का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि इनमें से कोई एक दूसरे को नियंत्रित करता है बल्कि केवल यह अर्थ हो सकता है कि दोनों एक दूसरे को प्रभावित या नियंत्रित करते हैं , लेकिन मार्क्स अपने तर्कों में एक मोड़ देते हुये यह कहता है कि उत्पादन की शक्तियों में विकास सामंजस्य को नष्ट करता है, और अब उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के लिये एक जंजीर बन जाते हैं । दोनों का अर्न्तविरोध संघर्ष की स्थिति उत्पन्न करता है, और फिर एक नया समायोजन बनता है। नया समायोजन पुराने से श्रेष्ठ होता है ,लेकिन इस नये समायोजन को भी एक समय में नष्ट होना है। पूँजीवादी समाज में जो समायोजन है वह अब तक का सबसे श्रेष्ठ है, लेकिन अन्तिम है । इसी समाज के गर्भ से नये समाज का जन्म होगा ।

मार्क्स की उपर्युक्त धारणाओं के साथ जुड़ी हुयी है उसकी मूल संरचना एवं अधि संरचना की धारणायें । 'काट्रीब्यूशन टू द क्रिटीक आफ पोलिटिकल इकानामी' के आलेख में मार्क्स ने लिखा है कि मनुष्य अपने जीवन की सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में ऐसे सम्बन्धों में प्रवेश करते हैं जो अनिवार्य हैं और जो उनकी इच्छा से स्वतंत्र हैं। ऐसे सम्बन्धों की समग्रता से समाज की आर्थिक या मूल संरचना का निर्माण होता है। इसी यथार्थ संरचना पर खड़ी होती है समाज की अधिसंरचना जिसके क्षेत्र में समाज की विभिन्न संस्थायें - वैधानिक, राजनीतिक, नैतिक आदि आती हैं । अतः किसी समाज की मूल संरचना उसकी अधि संरचना को निर्धारित करते है, उस समाज में पाये जाने वाले राज्य और सामाजिक चेतना के स्वरूपों को भी इस दृष्टि से अधिसंरचना स्वायत्त नहीं है । यह अपने आप उत्पन्न नहीं होती है। इसका आधार उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों में है। समाज की मूल संरचना में कोई परिवर्तन उसकी अधिसंरचना को भी उसी अनुरूपता में परिवर्तित कर देता है। वास्तव में, जब उत्पादन की शक्तियों और उत्पादन के सम्बन्धों में असमायोजन की स्थिति उत्पन्न होती है तब मूल संरचना और अधिसंरचना मे भी अर्न्तविरोध उत्पन्न होता है । इसी अर्न्तविरोध से एक नये समायोजन की स्थिति उत्पन्न होती है ।

मूल और अधिसंरचना का सम्बन्ध इतना सरल या सपाट नहीं है जितना कि वह ऊपर से

दिखता है। मार्क्स इस बात को समझता था कि मूल संरचना को अकेले निर्धारक तत्व मान लेने से एक आर्थिक अवव्याख्यावाद की स्थिति उत्पन्न होगी। इसीलिए वह इनके सम्बन्धों को ऐतिहासिक, टेढ़ा मेढ़ा और अधिसंरचना की प्रभावशीलता के अनुरूप मानता है। इसीलिये यह आवश्यक नहीं है कि एक प्रकार की मूल संरचना पर आधारित अधिसंरचना की सभी संस्थायें उस मूल संरचना के अनुरूप ही हों। मार्क्स कहता है कि अधिसंरचना की सही समझदारी के लिये मूल संरचना का ऐतिहासिक संदर्भ ग्रहण करना आवश्यक है उसे यह मालूम था कि मूल एंव अधिसंरचना (विशेषकर कानून एवं कला के क्षेत्रों में) का विकास हमेशा एक दूसरे के अनुरूप नहीं होता है यदि ऐसा होता तो एक अविकसित उत्पादन पद्धति वाले ग्रीक समाज में साहित्य एवं कला का इतना उत्कृष्ट विकास न हुआ होता ।

मार्क्स जब इस प्रश्न का उत्तर देता है कि क्या प्राचीन ग्रीक एवं मध्य युगीन समाजों मे भी अधिसंरचना मूल संरचना द्वारा निर्धारित होती है या केवल पूंजीवादी समाज में ही ऐसा है तब वह स्पष्ट रूप से अधिसंरचना को प्रभावोत्पादक मानता है । अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि अधिसंरचना मूल संरचना का केवल एक निष्क्रिय प्रत्यावर्तित रूप है। मूल संरचना की प्रतिक्रिया इस पर होती है लेकिन यह भी मूल संरचना पर अपनी प्रतिक्रियायें करता है। इन दोनों के बीच यांत्रिक नहीं एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है इसी कारण एक को कारण और दूसरे को उसका कार्य मान कर इनके सम्बन्धों की व्याख्या नहीं की जा सकती है । आलथूसर ने मूल संरचना के निर्धारक होने और प्रभावशाली होने में भेद किया है। उसका कहना है कि यह अन्ततोगत्वा निर्धारक तो होती है किन्तु हमेशा प्रभावाशाली नहीं। मूल और अधिसंरचनं का सम्बन्ध नींव और इमारत का सम्बन्ध नहीं है। अधिसंरचना की महत्ता इस बात में है कि समाज को व्यवस्थित करने और उसमें स्थायित्व करने और उसमें स्थायित्व लाने के लिये वैधानिक एवं राजनीतिक संस्थायें अनिवार्य हैं। इनकी अनिवार्यता प्रर्दशित करने के लिये यह आवश्यक है कि इन्हें मूल संरचना की उपज मात्र न माना जाय दूसरे शब्दों में, अधिसंरचना को एक सापेक्षिक स्वायत्तता देना आवश्यक है।

किसी समाज में प्रचलित उत्पादन की प्रभावी पद्धति उस समाज की सामाजिक चेतना का स्वरूप निर्धारित करती है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वैचारिकी के सिद्धान्त में वैचारिकी का उदय या तो प्रचलित सामाजिक व्यवस्था का औचित्य सिद्ध करने के लिये होता है या एक विशेष वर्ग के स्वार्थों को संरक्षित करने के लिये। कोई सामाजिक व्यवस्था अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप वैचारिकी को उत्पन्न करती है। यदि मध्य युग में धर्म की आवश्यकता थी तो बुर्जुवा युग में उदारवाद की। धर्म ने जिस आवश्यकता की पूर्ति मध्ययुग में किया उसी आवश्यकता की पूर्ति उदारवाद पूंजीवादी युग में करता है। यदि धर्म के अनुसार हमारा धनी या निर्धन होना एक रहस्यात्मक दैवी व्यवस्था और हमारे भाग्य पर निर्भर है तो उदारवादी आर्दशों के अनुसार यह उस स्वतंत्र प्रतियोगिता पर निर्भर है जिसमें भाग लेने का हमें बराबर का हक है, लेकिन जिसमें हम पाते सिर्फ उतना ही है जितना पाने के लिये हम योग्य हैं। मार्क्स ने वैचारिकी को नकारात्मक अर्थों में प्रयोग करते हुये इसे झूठी चेतना कहा है । मूल और अधिसंरचना के अर्न्तविरोध को छिपाने के लिये यह प्रयोग की जाती है, लेकिन मार्क्स कभी कभी यह भी कहता है कि वैचारिकी यथार्थ को तोड़ने मरोड़ने का काम करती है । यह चेतना और यथार्थ की उलटी अभिव्यक्ति भी करती है। अतः वैचारिकी की दुहरी भूमिका है । लेकिन अपनी दोनों भूमिकाओं में यह नकारात्मक है मार्क्स की मृत्यु के पश्चात मार्क्सवादियों ने इसे एक सकारात्मक स्वरूप देने का प्रयास किया । श्रमिक चेतना से उत्पन्न समाजवादी वैचारिकी को सकारात्मक माना गया ।

मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् उसके अनुयायियों ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त को एक पूर्व निर्मित सूत्र के रूप में प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था । एंजिल्स ने इस प्रकार से इसका प्रयोग किये जाने का विरोध किया । उसने कहा कि किसी आर्थिक व्यवस्था में कभी धर्म तो कभी राजनीति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । उसने यह भी कहा कि केवल मूल और अधिसंरचना में ही प्रतिक्रिया नहीं होती बल्कि अधिसंरचना के विभिन्न तत्वों में भी आपस में प्रतिक्रिया होती है । एंजिल्स ने यह माना कि उसने और मार्क्स ने एक नये सिद्धान्त को प्रस्तुत करने के उत्साह में इस सिद्धान्त के महत्व को आवश्यकता से अधिक बढ़ा दिया था, किन्तु उनका मन्तव्य यह था कि किसी ऐतिहासिक घटना के पीछे केवल आर्थिक कारण नहीं होता बल्कि बहुत से कारण होते हैं । किन्तु उन समस्त कारणों में आर्थिक कारण सबसे मौलिक, सबसे

मजबूत , सबसे निर्णायक व प्राथमिक होता है। यहीं पर सबाइन ने व्यंग करते हुये यह कहा है कि यदि ऐतिहासिक भौतिकवाद का केवल इतना ही मतलब है तो फिर इस सिद्धान्त को मानने वाले इतिहासकार बुर्जुवा इतिहासकारों से भिन्न कैसे हैं ? वास्तव में, एंजिल्स ऐतिहासिक भौतिकवाद को आर्थिक अवव्याख्यावाद से मुक्त करने में सफल नहीं हो सका, क्योंकि वह स्वयं अपनी रचनाओं से इसे उसी दिशा में ले जा रहा था।

अन्ततोगत्वा मूल व अधिसंरचना का रूपक किसी निश्चित अर्थ को प्रगट नहीं कर पाता है । ऐसा इसलिए कि इस रूपक का प्रयोग दो अलग अलग प्रकार की व्याख्यायें करने के लिये एक साथ किया गया है एक तो यह बताने के लिये कि यह किस प्रकार पूंजीवादी समाज के विभिन्न विशिष्ट स्तरों का विकास करता है, और दूसरा यह बताने के लिये कि इन स्तरों में से कैसे एक दूसरों को निर्धारित करता है ।पहली बात की व्याख्या करने में तो यह एक हद तक सफल है, किन्तु दूसरी बात की व्याख्या यह नहीं कर पाता है। यह नहीं बता पाता कि किस प्रकार राजनीतिक व सामाजिक चेतना के स्वरूप मूल संरचना द्वारा निर्धारित होते हैं। वास्तव में, यह सिद्धान्त आर्थिक संरचना को दूसरी संरचनाओं से अलग कर उसे इस प्रकार गतिहीन बना देता है कि वह प्रतिक्रिया करने में सक्षम ही नहीं हो पाती है। ऐतिहासिक भौतिकतावाद का सिद्धान्त आर्थिक व्यवस्था को नियंत्रित करने में कानून की महत्वपूर्ण भूमिका को भी अनदेखा करता है। इसके अलावा मार्क्स के चिन्तन में व्यवहार की संकल्पना का अभाव भी ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त में एक जड़ता उत्पन्न करता है। व्यवहार की संकल्पना मार्क्स के चिन्तन की प्रारम्भिक अवस्था में तो दिखाई पड़ती है, किन्तु न तो मार्क्स ने इसे बाद में विकसित किया और न तो सोवियत मार्क्सवाद की परम्परा में इसे कोई महत्व दिया गया। फ्रैंकफर्ट स्कूल ने अवश्य इसे इसकी अज्ञात अवस्था से बाहर निकालने का प्रयास किया।

10.5 पूंजीवाद की शल्य क्रिया

पूंजीवाद वह आर्थिक व्यवस्था है जिसमं पूंजी, अपने विभिन्न स्वरूपों में, उत्पादन का प्रमुख साधन होती है पूंजी चाहे जिस स्वरूप में हो महत्वपूर्ण यह है कि इस पर एक सामाजिक वर्ग (पूंजीपति वर्ग) का नीति स्वामित्व होता है। दूसरे वर्ग इससे वंचित रहते है। यहीं पूंजीवाद का केन्द्रीय लक्षण है। पूंजीवाद का इतिहास कें एक चरण के रूप में विकास कब हुआ इस बात पर इतिहासकारों में मतभेद है। टानी के अनुसार इसका उदयकाल 16वीं शताब्दी है । तो हिल के अनुसार 17वीं और स्टोन के लिये 18वीं शताब्दी। किन्तु इस बात पर मतभेद नहीं है कि किस देश में इस आर्थिक व्यवस्था का जन्म सबसे पहले हुआ। आम तौर पर इंग्लैण्ड को पूंजीवाद का "पालना और पौधशाला" माना गया है । सन 1851 में ब्रिटिश सरकार ने औद्योगिक उत्पादों एवं मशीनरी की एक वृहद प्रदर्शनी का आयोजन किया था, और पूरे संसार से इसे देखने के लिए लोगों को आमंत्रित किया था । इस प्रदर्शनी ने एक नई सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की आधारशिला रखी। लेकिन इसके पूर्व ही सत्रहवीं शताब्दी में, जैसा कि लास्की ने कहा है, इंग्लैण्ड पूंजीवादी प्रगति के मार्ग पर मजबूती से अपने पैर जमा चुका था व्यापार एवं वाणिज्य के विकास ने पुरानी मान्यताओं को भंग कर एक नयी सामाजिक चेतना को उत्पन्न कर दिया था ।

मार्क्स के अनुसार, सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब सम्पत्ति की सामंतवादी धारणा विघटित होने लगी तब पूंजीवाद का जन्म हुआ। इस धारणा के विघटित होने के बहुत से कारण थे। खेती की जमीन का व्यवसायीकरण, नये समुद्री रास्तों की खोज जिसने व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप दिया, मनुष्य की बढ़ती हुयी आवश्यकतायें, पूंजी का एकत्रीकरण और उसका सामाजिक प्रयोग, नागरिक समाजो का प्रचलन, ग्रामीण जनसंख्या का शहर की ओर पलायन आदि अनेक कारण थे जिन्होंनें मार्क्स के अनुसार पूंजीवाद का मार्ग प्रशस्त किया। अब पूरे संसार को समाहित करने वाले बाजार का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। मार्क्स पूंजीवाद को फैक्ट्री सिस्टम या मशीनरी सिस्टम भी कहता है। उसने एक स्थान पर कहा है कि हवा चक्की ने हमें सामंती समाज और वाष्प इंजन ने हमें पूंजीवादी समाज दिया है अतः प्रश्न यह उठता है कि प्रविधि से पूंजीवाद का क्या सम्बन्ध है ? उद्योग और पूंजीवाद का गहरा सम्बन्ध तो है, किन्तु मार्क्स यह नहीं मानता था कि प्रविधि ने पूंजी वाद को जन्म दिया है। वास्तव में, औद्योगीकरण के पहले

पूंजीवाद आया ,और औद्योगीकरण सम्भव हुआ पूंजी के प्रारम्भिक एकत्रीकरण से । अविनेरी ने मार्क्स की स्थिति को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि मार्क्स के लिये औद्योगिक क्रान्ति पूंजीवाद की प्रक्रिया को प्रारम्भ नहीं करती बल्कि उसकी परिणति है । अतः पूजीवाद की उत्पत्ति का अध्ययन तकनीक के बदलते हुयें स्वरूप का अध्ययन नहीं हो सकता है, बल्कि इस बात का अध्ययन होगा कि वे सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियां क्या थीं जिन्होंने परिवर्तन प्रारम्भ किया । कुल मिलाकर, मार्क्स यह कहना चाहता है कि मनुष्य के जीवन की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन पूंजीवाद के जन्म के लिए उत्तरदायी था। (यहाँ पर हम मार्क्स की तुलना मैक्स वेबर से कर सकते हैं जिसने प्रोटेस्टेंन्ट इसाई सम्प्रदाय द्वारा सामाजिक चेतना में किये गये परिवर्तन को पूंजीवाद के प्रसार के लिये उत्तरदायी माना है)

पूंजीवाद शब्द का प्रयोग सबसे पहले थैकरे ने सन 1854 में किया था। मार्क्स यद्यपि पूंजीपति, पूंजीवादी आदि शब्दों का प्रयोग तो करता है लेकिन पूंजीवाद शब्द का प्रयोग करने से वह बचता है । सम्भवतः इस कारण से कि यह शब्द प्रचलन में नहीं था उसने इस शब्द का पहला प्रयोग सन 1877 में अपने एक रूसी अनुयायी को लिखे पत्र में किया है । लेकिन अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनों से ही मार्क्स इस व्यवस्था के अध्ययन में रूचि लेने लगा था। हेगल का प्रभाव से उसके ऊपर अन्त तक रहा किन्तु आगे चल कर उसकी रूचि सम्यता के विकास का कोई परा आनुभविक सार्वभौम सिद्धान्त खोजने में नहीं थी । सन 1850 के बाद से मार्क्स ने पूंजीवाद का एक सामाजिक संस्था के रूप में विधिवत अध्ययन प्रारम्भ किया। इस अध्ययन में वह हेगल के दर्शन में पायी जाने वाली संस्थागत इतिहास की धारणा को विकसित कर रहा था । वह दोहरी योजना के अन्तर्गत अध्ययन करते हुये वर्तमान सामाजिक वर्गों के आर्थिक मूल और सवर्गों के परस्पर अर्न्तविरोध के स्वभाव का आर्थिक विश्लेषण करता है । अध्ययन की यह दुहरी योजना उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कैपिटल'' की विषय-वस्तु है । पहली के अन्तर्गत वह उद्योगों के पूंजीवादी संगठन, मध्यम वर्ग का उत्थान और औद्योगिक श्रमिकों के वर्ग की उत्पत्ति का वृहत ऐतिहासिक अन्वेषण करता है; दूसरी के अन्तर्गत वह इस बात का शोध करता है कि पूंजी वाद की कार्य प्रणाली क्यों अनिवार्यतः दो ही सामाजिक वर्गों को जन्म देती है, क्यों इनमें परस्पर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है, और क्यों यह संघर्ष दिन प्रतिदिन तीव्रतम होता जाता है ।

मार्क्स की पुस्तक 'कैपिटल' के दो पक्ष हैं -एक विवरणात्मक और दूसरा विश्लेषणात्मक । पहला पक्ष तो बहुत श्रेष्ठ शैली में लिखा गया है। इसके गद्य का सौन्दर्य अतुलनीय है। पूंजीवाद की नैतिक कुरूपता का जिन शब्दों में मार्क्स ने विवरण प्रस्तुत किया है वे सीधे हृदय को स्पर्श करते हैं । मार्क्स बताता है कि किस तरह यह आर्थिक व्यवस्था सामन्ती सम्बन्धों को समाप्त करती है; हस्त कला , शिल्पकला व दस्तकारी को नष्ट करती है ; किस तरह इस अर्थोपिशाच ने प्रेम, धर्म, दया, उदारता, परोपकार व सदाशायता के नैतिक आर्दशों को रौंद कर रख दिया है। मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध केवल बाजार या धन का सम्बन्ध होकर रह गया है। मुक्त व्यापार के नाम पर नग्न, क्रूर एवं शर्मनाक शोषण चारों ओर व्याप्त है। इस व्यवस्था ने जो कुछ भी उच्च व पवित्र था उस पर से उसका मुखौटा उतार कर उसे निम्न व अपवित्र बना दिया है। भावनाओं की उष्मा लुप्त हो गयी है और सभी कुछ आत्म-स्वार्थ के बर्फीले पानी में डूब गया है। मार्क्स ने पूंजीवाद की नैतिक भत्सर्ना तो की है, किन्तु वह अपने तर्कों को नैतिक मूल्यों पर आधारित नहीं करता है । अपनी तमाम बुराइयों के बावजूद भी पूंजीवाद की अर्थ व्यवस्था सामन्तवाद की अर्थव्यवस्था से श्रेष्ठ है क्योंकि यह एक श्रेष्ठ उत्पादन पद्धति पर आधारित है। यह बात भी ध्यान देने की है कि मार्क्स पूंजीपतियों को इस व्यवस्था के जन्म के लिये उत्तरदायी नहीं मानता है। पूंजीपति भी, श्रमिकों की भांति, इस व्यवस्था में फंसा हुआ है । यह व्यवस्था तो ऐतिहासिक अनिवार्यता के नाते उत्पन्न होती है, न कि पूंजीपतियों की इच्छा से ।

'कैपिटल' का विवरणात्मक पक्ष जितना श्रेष्ठ है उतना ही कमजोर है उसका विश्लेषणात्मक पक्ष। मार्क्स के औद्योगिक पंजीवाद के मानवीय एवं सामाजिक परिणामों को समझने में गलती नहीं की थी । उसने औद्योगिक श्रमिकों को व्यापक दरिद्रता और इस दरिद्रता से उत्पन्न होने वाले नैतिक मूल्यों के पतन का जो विवरण दिया था वह भी सच था, किन्तु जब वह पूंजीवाद की यांत्रिकता का विश्लेषण करता है जब वह यह बताने का प्रयास करता है कि क्यों पूंजीवाद अनिवार्यतः इन बुराइयों को उत्पन्न करता है

तब मार्क्स गलती करता है । वह दोषपूर्ण विश्लेषण से दोषपूर्ण निष्कर्ष निकालता है अपने विश्लेषण के लिये मार्क्स दो अलग अलग श्रोतों से सहायता लेता है। एक तो अंग्रेजी क्लासिकी अर्थशास्त्रीय परम्परा से और दूसरा हेगल के दर्शन से। दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं । किन्तु फिर भी, जैसा कि राबर्ट टकर ने कहा है, दोनों में एक चीज की समानता है। अंग्रेजी परम्परा में यह माना गया है कि बाजार को संचालित करने वाला एक 'अदृश्य हाथ' है जो मनुष्यों की इच्छाओं से परे है । इसी के समानान्तर हेगल भी यह मानता था कि इतिहास को निर्देशित करने वाली एक सार्वभौम अदृश्य आत्मा है। दोनों में एक अदृश्य सत्ता की समानता है, और इसी कारण मार्क्स दोनों को अपने उद्देश्य के लिये प्रयोग कर सका। किन्तु दोनों को वह आंशिक रूप से ही स्वीकार करता है । आंशिक रूप से इसलिये कि दोनों में दोष है। अंग्रेजी परम्परा का दोष यह था कि यह आर्थिक संकल्पनाओं का विश्लेषण करने में इतिहास को अनदेखा करती है । हेगल का दोष यह था कि वह इतिहास का अध्ययन करते हुये अर्थशास्त्र को अनदेखा करता है। अंग्रेजी परम्परा के विरूद्ध मार्क्स ने कहा कि 'अर्थशास्त्रीय धारणाओं पर इतिहास की मुहर लगी होती है', और हेगल के विरूद्ध उसने कहा कि 'नागरिक समाज की शरीर रचना की खोज आर्थिक जगत में की जानी चाहिये'।

पूंजीवाद की आर्थिक संरचना की पड़ताल करते हुये मार्क्स दो एक दूसरे से जुड़े सिद्धान्तों की स्थापना करता है -एक, मूल्य का श्रम सिद्धान्त,और दूसरा,अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त। अर्थशास्त्रीय चिन्तन के इतिहास में मूल्य का श्रम सिद्धान्त मार्क्स की देन नहीं है । इसकी एक झलक तो लाक मे ही दिखाई पड़ती है जब वह यह कहता है कि प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामुहिक सम्पत्ति पर व्यक्ति का निजि अधिकार तब प्रारम्भ होता है जब व्यक्ति उसमें अपना श्रम मिश्रित करता है। उस सीमा तक वह अपना श्रम मिश्रित करता है इस सीमा तक वह सम्पत्ति उसकी निजि हो जाती है लेकिन मूल्य का श्रम सिद्धान्त वास्तव में अंग्रेज क्लासिकल अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो की देन है । मार्क्स ने रिकार्डो को एक महान अर्थशास्त्री के रूप में स्वीकार किया है। शुम्पीटर और डॉब आदि अर्थशास्त्रियों ने मार्क्स के ऊपर रिकार्डो ने भरपूर प्रभाव की चर्चा की है, किन्तु रिकार्डो के श्रम सिद्धान्त को मार्क्स उसी रूप में स्वीकार नहीं करता है। मार्क्स के लिये रिकार्डो ने यह तो ठीक समझा था कि किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के उत्पादन में व्यय हुये अनिवार्य श्रम-समय की मात्रा से निर्धारित होता है किन्तु रिकार्डो की भूल यह थी कि वह अमूर्त और मूर्त श्रम या सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य श्रम और व्यक्तिगत श्रम का भेद नहीं करता है। मार्क्स के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त हुये सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य श्रम -समय की मात्रा से निर्धारित होता है ।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विभिन्न लक्षणों में से एक लक्षण यह है कि इस व्यवस्था में पूंजी व श्रम का स्वतंत्र अनुबन्ध होता है। दूसरे शब्दों में, एक स्वतंत्र बाजार में श्रम को खरीदा और बेचा जाता है । मार्क्स के अनुसार श्रमिक अपना श्रम नहीं, अपनी श्रम शक्ति या श्रम करने की अपनी क्षमता को बेचता है। श्रमिक अपने श्रम से उत्पादित वस्तु को नहीं बेच सकता है । वह केवल एक निश्चित पारिश्रमिक के बदले अपनी श्रमशक्ति को बेच सकता है। इसी में यह अर्न्तनिहित है कि श्रमिक अपनी श्रमशक्ति का विक्रय करने के लिये वैधानिक रूप से स्वतंत्र है, और यह कि वह उत्पादन के साधनों में पृथक है। श्रम की स्वतंत्र खरीद और बिक्री जहां एक ओर श्रमिक को दासता और बेगार की बेड़ियों से मुक्त करती है वहीं दूसरी ओर उसे इस बात के लिये मजबूर भी करती है कि यदि उसे जीवित रहना है कि फिर अपने श्रम को बेचना ही है ।

श्रम एक अनूठी चीज है जो खर्च होने की प्रक्रिया में दूसरी वस्तुओं में मूल्य उत्पन्न करती है । यद्यपि पूंजीवादी बाजार में श्रम एक वस्तु के रूप में उपस्थित होता है किन्तु इसमें कुछ ऐसी विशिष्टतायें हैं जो इसे दूसरी वस्तुओं से अलग करती हैं। पहली बात तो यह है कि यह अन्य वस्तुओं की भाँति उत्पन्न नहीं होता है। इसके उत्पन्न होने की एक जटिल जैविक व सामाजिक पुनुरूत्पादन प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में ऐसे सामाजिक सम्बन्ध निहित हैं जिनकी व्याख्या पूंजीवादी सम्बन्धों के विशुद्ध तर्क से नहीं की जा सकती है। दूसरी बात, श्रम शक्ति ऐसी वस्तु है जो खरीदने वाले पूंजीपति और बेचने वाले श्रमिक के बीच सम्बन्धों की एक नई शृंखला उत्पन्न करती है। इस क्रय-विक्रय में केवल वस्तु की कीमत से ही

मतलब नहीं होता बल्कि श्रम करने की परिस्थिति और उसकी तीव्रता से भी होता है । पूंजीपति और श्रमिक के बीच अपने अपने वर्गीय हितों को लेकर उठने वाले विवादों से पूंजीवादी उत्पादन की तकनीक एवं सामाजिक स्वरूप निर्धारित होते हैं तीसरी बात श्रम शक्ति का विक्रय श्रमिकों को अपने सर्जनात्मकता से पृथक करता है। श्रमिक जो वस्तु उत्पादित करता है वह पूंजीपति की होती है और उस पर श्रमिक का कोई नियंत्रण नहीं होता । पूंजीवादी उत्पादन पद्धति श्रमिकों में अनिवार्यतः आत्म निर्वासन का बोध उत्पन्न करती है ।

मूल्य की धारणा मार्क्स के चिन्तन में बहुत तनावग्रस्त धारणा है गैर मार्क्स वादी अर्थशास्त्री तो इसे पूर्ण रूप से अतार्किक मानते हैं । मार्क्सवादी अर्थशास्त्री भी इसे लेकर विभाजित दिखते हैं । कुछ के लिये पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में उत्पादन प्रक्रिया को समझने के लिये इसका प्रयोग करना आवश्यक नहीं है, लेकिन कुछ के लिये इसका प्रयोग किये बिना पूंजीवाद को समझा नहीं जा सकता है। किसी भी वस्तु के दो मूल्य होते हैं - एक उपयोगी मूल्य, और दूसरा, विनिमय मूल्य। विनिमय मूल्य वह मूल्य है जिसमें किसी वस्तु के एक प्रकार के उपयोगी मूल्य दूसरी वस्तु के दूसरे प्रकार के उपयोगी मूल्य से परिवर्तित होते हैं। किन्तु यह कथन एक भ्रम की स्थिति उत्पन्न करता है, क्योंकि किसी वस्तु का विनिमय मूल्य समय स्थान व परिस्थिति के सापेक्ष होता है । एक वस्तु के उतने विनिमय मूल्य हो सकते हैं जितने कि वह दूसरी वस्तुओं से परिवर्तित होती हैं।अतः किसी वस्तु के विमिमय मूल्य के निर्धारण के लिये यह आवश्यक है कि उस वस्तु में और जिन वस्तुओं से वह परिवर्तित की जा रही है कुछ ऐसा हो जो उन्हें समान बनाये। समान बनाने वाली चीज, मार्क्स के अनुसार, श्रम है क्योंकि सभी वस्तुएं श्रम से उत्पन्न होती हैं। परिवर्तन की प्रक्रिया में सभी वस्तुयें समांगी हो जाती हैं क्योंकि इनमें समांगी श्रम लगा होता है इसी समांगी श्रम को मार्क्स अमूर्त श्रम कहता है ।

मार्क्स द्वारा प्रस्तुत मूल्य की धारणा की काफी आलोचना हुई है। सन 1896 ई. में ही वोहम -बावर्क ने अपनी एक पुस्तक में मार्क्स की बड़ी सशक्त आलोचना प्रस्तुत की थी । उसके बाद से मार्क्स पर लगातार यह आरोप लगाया जाता रहा कि वह श्रम के अलावा वस्तुओं के अन्य सामान्य गुणों की अनदेखा करता है। वस्तुओं का आपस में परिवर्तन का एक बड़ा कारण यह है कि जो वस्तुयें परिवर्तन के लिये प्रस्तुत की जाती हैं उनकी आपूर्ति कम होती है और उनकी आवश्यकता या मांग अधिक । अतः विनिमय का कारण व्यक्तियों के मनोविज्ञान में खोजा जाना चाहिये, उनके उन प्रेरत तत्वों में जिनके कारण वे वस्तुओं की मांग और आपूर्ति करते हैं मार्क्स के लिये मूल्य अर्मूत श्रम का वस्तुगत रूप है। यह न तो यथार्थ कीमत है और न आर्दश कीमत। इसकी माप धन के रूप में होती है अतः मार्क्स का मूल्य सिद्धान्त उसका धन सिद्धान्त भी है ।

मूल्य के श्रम सिद्धान्त की आलोचना करते हुये शुम्पीटर ने लिखा है कि यह एक बहुत संकीर्ण परिस्थिति में ही व्याख्या के उपकरण के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति यथार्थ में नहीं होती है । यह सिद्धान्त तभी काम कर सकता है जब (1) पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति हो, (2) केवल श्रम द्वारा ही किसी वस्तु का उत्पादन किया जा रहा हो ; और (3) प्रयुक्त होने वाला सभी श्रम एक ही प्रकार का हो। मूल्य का श्रम सिद्धान्त कलात्मक वस्तुओं या प्राचीनता का महत्व रखने वाली वस्तुओं के मूल्य की व्याख्या नहीं कर सकता है । बढ़ता हुआ मशीनीकरण जो वस्तुओं के उत्पादन में श्रम को निरन्तर नगण्य करता चला जा रहा है इस सिद्धान्त के लिये दूसरी समस्या उत्पन्न करता है। मशीनो की भूमिका को उन्हें 'मृत श्रम' कह कर अनदेखा नहीं किया जा सकता है। यह सम्भव है कि भविष्य में प्रविधि का कुछ ऐसा विकास हो कि श्रम की आवश्यकता पूरी तौर पर समाप्त हो जाय । तब वर्ग-संघर्ष के बजाय प्रविधि ही इतिहास को प्रवाहमान बनाने वाली प्रेरक शक्ति हो जायेगी । उत्पादन की प्रक्रिया में यदि प्रविधि निर्धारक तत्व से जायेगी तब निश्चित ही उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप बहुत अपरिचित तरीके से बदल जायेगा।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त द्वारा मार्क्स पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में होने वाले श्रमिकों के शोषण की व्याख्या करता है। अतिरिक्त मूल्य पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का विशिष्ट लक्षण है जो मुनाफे का रूप लेता है। शोषण इस कारण होता है कि श्रमिक को किसी वस्तु का उत्पादन करने का जो पारिश्रमिक प्राप्त

होता है उससे अधिक कीमत पर वह वस्तु बेची जाती है। पूंजीवादी उत्पादन में वस्तुयें बेचने के लिए ही उत्पादित की जाती है । उन वस्तुओं का स्वामी पूंजी पति होता है, और वह उन्हें बेचकर अतिरिक्त मूल्य प्राप्त करता है क्योंकि उस वस्तु के मूल्य और उस वस्तु के उत्पादन में लगी पूंजी के मूल्य में हमेशा अन्तर होता है। पूंजी के मूल्य के दो भाग होते हैं - एक, स्थिर पूंजी, और दूसरा, परिवर्तनशील पूंजी। उत्पादन के साधन में प्रयुक्त पूंजी का मूल्य स्थिर पूंजी का मूल्य है जो उत्पादित वस्तु में स्थानान्तरित हो जाता है । परिवर्तनशील पूंजी वह है जो श्रमिकों की श्रम शक्ति खरीदने के लिये उन्हें उनकी श्रम शक्ति के मूल्य के रूप में दी जाती है । उत्पादन की प्रक्रिया श्रम शक्ति के मूल्य से प्रारम्भ हो कर उस श्रम शक्ति द्वारा उत्पादित वस्तु के मूल्य में समाप्त होती है। इन दोनों का अन्तर अतिरिक्त मूल्य है ।

श्रमशक्ति खर्च होने की प्रक्रिया में नये मूल्य उत्पन्न करती है। यह नया मूल्य उस मूल्य से अधिक होता है जो श्रम शक्ति के मूल्य के रूप में श्रमिक को दिया जाता है । यदि ऐसा न होता तो पूंजीपति श्रमिक को काम पर नहीं लगाता । श्रमिक को जीवित रहने के लिये अपनी श्रम शक्ति बेचने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है । श्रम बाजार में उनका शोषण इसलिए नहीं होता कि वे अपनी श्रमशक्ति को कम मूल्य पर बेचते हैं। रिकार्डो ने यह माना था कि जब पूंजी व श्रम के आपसी परिवर्तनों में असमानता होती है तब अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न होता है। मार्क्स कहता है कि यहां कोई धोखा या फरेब नहीं है, और रिकार्डो यह गलती इसलिये करता है कि वह श्रम और श्रम शक्ति का भेद नहीं करता । उसके अनुसार पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में श्रमिक का शोषण उसकी वर्गीय स्थिति के नाते अर्न्तनिहित है । श्रम शक्ति को उसका मूल्य देने के बावजूद अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न होता है, और यही श्रमिक के शोषण का कारण होता है। शोषण का वास्तविक कारण शोषक और शोषित की वर्गीय स्थिति में खोजा जाना चाहिए । श्रमिक का पूंजीवादी उत्पादन प्रक्रिया में प्रवेश करना हो उसके शोषण का कारण बन जाता है। उसकी यह स्वतंत्रता कि वह चाहे तो अपना श्रम बेचे या चाहे तो न बेचे, मार्क्स के अनुसार, झूठी स्वतंत्रता है क्योंकि इसका एक मात्र विकल्प भूखों मरने की स्वतंत्रता है ।

अतिरिक्त मूल्य की गणना मात्रा में की जा सकती है। एक श्रमिक जो अतिरिक्त मूल्य उत्पन्न करता है उसकी गणना उसके द्वारा उत्पन्न किये गये मूल्य और उसकी श्रमशक्ति के मूल्य का अन्तर निकाल कर की जा सकती है । पहले का निर्धारण श्रम प्रक्रिया की उन परिस्थितियों जिनमें श्रमिक काम करता है और बाजार की परिस्थितियों जिनमें उत्पादित वस्तु बेची जाती है के द्वारा होता है । दूसरे का निर्धारण श्रम बाजार की परिस्थितियों और उन वस्तुओं के मूल्य जिन्हें श्रमिक अपनी श्रम शक्ति उत्पन्न करने के लिये प्रयोग करता है के द्वारा होता है। अतिरिक्त मूल्य की गणना अनिवार्य श्रम से अतिरिक्त श्रम का भाग देकर भी प्राप्त की जा सकती है, या फिर श्रमिक द्वारा अपनी आजीविका के लिये श्रम करने के घंटों से भाग दिया जाय उन घंटों को जिनमें वह पूंजीपति के लिये कार्य करता है ।

अ.मू.- अतिरिक्त श्रम / अनिवार्य श्रम

= पूंजीपति के लिये काम के घंटे / अपने किये काम के घण्टे

जो अतिरिक्त मूल्य पूंजी पति प्राप्त करता है उसमें से वह यदि उसका उद्योग किराये की जमीन पर है तो भूस्वामी को उसका किराया देता है । इसी में से वह उन्हें देता है जो उत्पादन की व्यवस्था की देख रेख करते हैं और उन्हें जो उत्पादित वस्तु को बाजार तक पहुंचाने और उन्हें बेचने का काम करते हैं। मार्क्स के अनुसार ये लोग अनुत्पादक श्रम करते हैं। यदि पूंजीपति ने किसी बैंक या वित्तीय संस्था से कर्ज लिया है तो उसका भुगतान भी वह अपने अतिरिक्त मूल्य से करता है। अतिरिक्त मूल्य का एक हिस्सा राज्य कर के रूप में भी वसूल कर सकता है । इन सारे भुगतानों के बाद जो अतिरिक्त मूल्य शेष बचता है वह पूंजीपति का होता है । इसी को मार्क्स 'उदयमिता का मुनाफा' भी कहता है ।

पूंजीवाद के पक्ष में यह तर्क दिया गया था कि यह एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जिससे जो भी बाजार में जितना लाता है, स्वतंत्र परिवर्तन के कारण, उतना ही उसका मूल्य पाता है। अन्ततोगत्वा सभी को सामाजिक उत्पाद का उचित हिस्सा प्राप्त होता है। मार्क्स इसके विरूद्ध, अतिरिक्त मूल्य के उपकरण का प्रयोग कर, यह तर्क देता है कि एक औद्योगिक व्यवस्था जिसमें पूंजीपति उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है हमेशा श्रमिक को इस बात के लिए विवश करेगी कि वह जितना मूल्य अपनी श्रमशक्ति का पाता

है उससे अधिक वह अपनी श्रम शक्ति बेचे । पारिश्रमिक सामान्य तौर पर जीविका के न्यूनतम स्तर पर ही रहेगा, और ऐसा जनसंख्या के दबाव के कारण नहीं होगा (जैसा कि मालथस ने मानने की भूल की थी) बल्कि इसलिये होगा कि पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपति वर्ग का निजि स्वामित्व इस व्यवस्था में उनका वर्चस्व स्थापित करता है । मार्क्स अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त से दो निषकर्ष निकालता है - (1) पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था अन्ततोगत्वा विघटित हो जायेगी; (2) इसके विघटन के पश्चात इसकी विरोधी सामाजिक -आर्थिक व्यवस्था जो समाजवाद की व्यवस्था है अनिवार्यतः स्थापित होगी । हालांकि अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का मार्क्सवादीयों ने भी बहुत प्रयोग नहीं किया है लेकिन फिर भी मार्क्स ने उपर्युक्त दोनों निष्कर्षों को सभी मार्क्सवादी धार्मिक आस्था के साथ स्वीकार करते हैं । उनके लिये पूंजीवाद का विघटन और समाजवद की स्थापना ऐतिहासिक प्रगति का उतना ही निश्चित उद्देश्य है जितना कि एक निष्ठावान इसाई के लिये जीजस का दुबारा आगमन।

पूंजीवाद के विनाश के बीज उसकी व्यवस्था में ही निहित हैं। प्रतियोगिता पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था के नियमों को गतिमान बनाती है। यह जटिल होती है, और कई स्तरों पर कार्य करती हैं । पूंजीपतियों की आपसी प्रतियोगिता के कारण अतिरिक्त मूल्य को दर में निरन्तर गिरावट आयेगी । अतः मुनाफे की दर में कमी आयेगी । इस स्थिति से निबटने के लिये पूँजीपति श्रमिको के काम के घंटे बढ़ायेगा, किन्तु श्रमिकों द्वारा इसका विरोध किये जाने पर दोनों के बीच तनाव और बढ़ेगा। इसके अलावा भी काम के घंटों को एक सीमा से आगे बढ़ाना पूंजीपतियों के लिये लाभप्रद नहीं होगा । (मार्क्स कहता है कि सन 1847 में जब ब्रिटेन की संसद ने 'दस घंटे काम का विधेयक' पारित किया था तो उस विधेयक को श्रमिक संगठनों और पूंजीपतियों दोनों का समर्थन प्राप्त था) मुनाफे में गिरावट से निबटने के लिये दूसरा तरीका यह होगा कि पूंजीपति श्रमिक की उत्पादकता में वृद्धि करे। इसके लिये नवीन तकनीकों का आविष्कार कर उन्हें प्रयोग में लाया जायेगा । एक के बाद एक नवीन तकनीकी की खोज, मार्क्स ने कहा है, पूंजीवादी व्यवस्था में नित्य नवीन क्रान्ति को उत्पन्न करती है। किन्तु लम्बे दौर में नवीन तकनीक भी कारगर नहीं होगी क्योंकि सभी इसकी खोज और इसके प्रयोग में लगे रहेंगे । अतः अन्ततोगत्वा मुनाफे की दर गिरती ही जायेगी ।

मार्क्स पूंजीवाद के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते हुये कहता है कि इस व्यवस्था में छोटे छोटे पूंजीपति क्रमशः नष्ट होते जायेंगे; उत्पादन बड़ी बड़ी इकाईयों में केन्द्रित होता जायेगा; धन व सम्पत्ति भी समाज के कुछ लोगों के हाथों में सिमटती जायेगी; एकाधिकार का विकास होगा जो पूंजीवाद के चेहरे को और विकृत करेगा; श्रमिकों का शोषण तीव्रतर होता जायेगा । पूंजीवाद की अर्थव्यवस्था अपने ही द्वारा उत्पन्न किये हुये आर्थिक दुष्चक्र में दिन प्रतिदिन फंसती जायेगी । परिणाम स्वरूप अतिरिक्त उत्पादन, आर्थिक मंदी और बेरोजगारी की ऐसी विकराल समस्यायें उठेंगी जिनका कोई हल नहीं निकाला जा सकेगा । बेरोजगार औद्योगिक श्रमिकों की 'आरक्षित सेना' सामाजिक व्यवस्था के लिये एक बड़ा खतरा बन जायेगी। किसी भी उपाय से पूंजी और श्रम के अर्न्तद्वन्द्व को रोका नहीं जा सकेगा । पूंजी और श्रम के स्वतंत्र अनुबंध के आवरण के नीचे सामाजिक उत्पादन और व्यक्तिगत मुनाफाखोरी या संगठित उत्पादन और अराजक वितरण का जो द्वन्द्व हैं वह पूंजीवाद को निगल लेगा । मार्क्स के शब्दों में 'यह आवरण फट पड़ेगा ----- लूटने वाले लुट जायेंगे' ।

प्रश्न यह है कि मार्क्स की सभी भविष्यवाणी गलत कैसे हो गयी है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि मार्क्स ने पूंजीवाद की कार्यप्रणाली को न सिर्फ गलत समझा बल्कि यह भी गलत समझा कि यह एक जड़ व्यवस्था है यह जैसी है उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। लेकिन सच्चाई यह है, जैसा कि शुम्पीटर ने कहा है , पूंजीवाद एक 'क्रान्तिकारी' आर्थिक व्यवस्था है। इसने हमेशा अपना स्वरूप परिवर्तित किया है, और स्वरूप परिवर्तन की इसकी क्षमता ने ही इसे सुरक्षा प्रदान किया है । कुछ परिर्वतन जैसे शेयर बाजार और स्टाक एक्सचेन्ज कम्पनियों का प्रचलन और सहकारी आर्थिक संस्थाओं का निर्माण तो मार्क्स के समय में ही प्रारम्भ हो गये थे । उसने इन पर ध्यान भी दिया है । उसने सहकारिता द्वारा उत्पन्न सम्पत्ति के नये स्वरूप को पहचानते हुय इसे 'सामाजिक सम्पत्ति' कहा है। यह भी कहा है कि यह पूँजीवादी उत्पादन पद्धति के अर्न्तगत ही पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की समापित है , लेकिन वह इसे

कोई महत्व नहीं देता है, और इसे लूट व धोखे की एक नयी व्यवस्था मानता है ।"यह विधि सम्पत्ति के नियंत्रण के बिना निजी उत्पादन है।" मार्क्स यह भी नहीं देख सका कि आने वाले समय में सम्पत्ति का स्वामित्व और उसका नियंत्रण एक दूसरे से पृथक होकर पूंजीवाद के स्वरूप में एक बड़ा परिवर्तन कर देगा । इसी तरह मार्क्स को यह समझने में भी चूक हुयी कि आगे श्रमिक और पूंजी पति के बीच एक मैनेजर आ जायेगा जिसके परिणाम स्वरूप निश्चित रूप से इनके बीच का वैमनस्य बहुत कम हो जायेगा। इसी को जेम्स बर्नहम ने 'मैनेजीरियल रीवोल्यूशन" कहा है । प्राविधि या प्रौद्योगिकी की आश्चर्य जनक सम्भावनाओं को तो मार्क्स बिल्कुल भी नहीं समझ सका । लेकिन कम्प्यूटर एवं रोबोट प्राविधि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति में क्या परिवर्तन लायेगी यह समझ पाना मार्क्स के लिये सम्भव भी नहीं था।

मार्क्स ने पूंजीवाद की आलोचना आर्थिक आधारों पर करने का दावा किया था किन्तु सच्चाई यह है कि पूंजीवाद की केवल नैतिक भर्त्सना ही कर सका है । अन्त में उसके असंतोष का सिर्फ यही कारण है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण होता है । अतः यह एक अनैतिक व्यवस्था है । मार्क्स के बाद भी पूंजीवाद की आलोचना इसी आधार पर कइयों द्वारा की गयी है । दुर्खीम नाम के एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री ने यह कहा था कि औद्योगिक पूंजीवाद में तेजी से होने वाले आर्थिक एवं प्रौद्योगिक परिवर्तन मानव समाज पर विघटनकारी प्रभाव डालते हैं; ये हमारी इच्छाओं को बढ़ा देते हैं, और अन्ततोगत्वा हमें दुख पहुँचाते हैं। दुर्खीम ने स्वयंसेवी संगठनों द्वारा पूंजीवाद को नियंत्रित किये जाने पर बल दिया था । टोनीज नाम के दूसरे विद्वान ने पूंजीवाद की आलोचना करते हुये कहा है कि यह व्यवस्था मनुष्य की प्राकृतिक इच्छा जो मनुष्यों को एक भावनात्मक सम्बन्ध के आधार पर एक दूसरे के साथ जोड़ती है को नष्ट कर दिया है, उन्हें स्वार्थी व आत्म -केन्द्रित बना दिया है । नववाम पंथ के एक ख्याति प्राप्त चिन्तक मारक्यूज ने पूंजीवाद पह यह आरोप लगाया है कि यह व्यक्तियों में न केवल झूठी आवश्यकतायें उत्पन्न करता है बल्कि उनके विवेक को भी समाप्त कर देता है जिससे वे वास्तविक व झूठी आवश्यकताओं का भेद कर सकें। यह भी कहा गया है कि पूंजीवाद अपराध और तलाक की दरों में वृद्धि करता है । इसके अलावा पर्यावरण वादी और स्त्रीवादी विचारधारा में भी पूंजीवाद की कटु आलोचना की गयी है । किन्तु सभी सामाजिक विचारों के लिये पूंजीवाद को अकेले दोषी मानना सही नहीं है । इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि अभी तक मानवीय चिन्तन के इतिहास में इस व्यवस्था का कोई विकल्प नहीं खोजा जा सका है समाजवाद के विघटन के पश्चात तो इस व्यवस्था को चुनौती देना असम्भव हो गया है ।

10.6 वर्ग, वर्गीय चेतना, और वर्ग संघर्ष

यद्यपि न तो मार्क्स और न एंजिल्स ने वर्ग की धारणा का कोई व्यवस्थित अध्ययन किया है वर्ग की संकल्पना मार्क्सवादी चिन्तन में केन्द्रीय महत्व रखती है । एक अर्थ में तो यह मार्क्स के सिद्धान्त का प्रारम्भ बिन्दु है । सन 1837 में ही मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग की पहचान एक नयी राजनीतिक शक्ति के रूप में कर लिया था जो अपनी मुक्ति के लिये संघर्षरत था । इस वर्ग की खोज ने ही उसे पूंजीवादी समाज के विकास और उसकी आर्थिक संरचना की व्याख्या करने के लिए प्रेरित किया । 'द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' में मार्क्स यह मानता है कि आदिम साम्यवादी घरानों के टूटने के पश्चात से सभी ऐतिहासिक अवस्थाओं - दास युग, सामन्ती युग और पूंजीवादी युग - में सामाजिक वर्ग रहे हैं। इसीलिये वह यह इस घोषणा पत्र में कहता है कि समूचा इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। (यहाँ समूचे इतिहास से तात्पर्य, जैसा कि बाद में एंजिल्स ने स्पष्ट किया, लिखित इतिहास से है जो साम्यवादी घरानों के टूटने के बाद प्रारम्भ होता है) । किन्तु 'द जर्मन आइडियालाजी' में मार्क्स यह लिखता है कि 'वर्ग पूंजीवादी समाज की उपज है'। 'कैपिटल' के तीसरे भाग में पुनः यह कहा गया है कि आदिम जनजातीय समाजों को छोड़ कर सभी समाज वर्गीय आधार पर विभाजित रहे हैं । इनके विभाजन का आधार उत्पादन की परिस्थितियों पर नियंत्रण रखने वाले और वास्तविक उत्पादन करने वालों के बीच का विभाजन रहा है। यहीं किसी सामाजिक व्यवस्था की गुप्त एवं छुपी हुयी नींव है। ऐसे कथनों से एक दुविधा की स्थिति अवश्य उत्पन्न होती है । क्या पूंजीवादी अवस्था के पहले वर्ग थे? या वे समाज पद व प्रतिष्ठा के आधार पर

बंटे विभिन्न सामाजिक समूहों के सोपानबद्ध संगठनों के ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

मार्क्स ने वर्ग की एक नकारात्मक और एक सकारात्मक परिभाषा दी है । 'अठारहवें ब्रूमेयर' में नकारात्मक परिभाषा देते हुये वह कहता है कि अलग -अलग आर्थिक परिस्थितियों में रहने वाले लोगों का अलग जीवन, अलग हित और अलग संस्कृति होती है । यह अलगाव उन्हें वर्गों के आधार पर विभाजित करता है, और उनके बीच संघर्ष को जन्म देता है । यदि यह अलगाव उनके बीच सामुदायिक एकता नहीं उत्पन्न करता और उन्हें राजनीतिक दृष्टि से गठित नहीं करता तब वर्गों का जन्म नहीं होता । 'द पार्वटी आफ फिलासफी' में मार्क्स वर्ग की सकारात्मक परिभाषा देते हुये कहता है कि आधुनिक आर्थिक परिस्थितियों ने काम करने वाली जनता को श्रमिकों में परिवर्तित कर दिया है । पूंजी के प्रभुत्व से श्रमिकों की परिस्थितियां और उनके हित सामान्य हो गये हैं। पूंजी से श्रमिक के सम्बन्ध की दृष्टि से यदि देखा जाय तो श्रमिक एक वर्ग है । मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रयोग इतिहास का दर्शन निर्मित करने के लिये तो किया ही है, वह इसका प्रयोग सर्वहारा वर्ग के लिये एक क्रान्तिकारी कार्य योजना देने के लिये भी करता है । किन्तु सर्वहारा वर्ग के सम्बन्ध में उसकी बहुत सी बातें गैर अनुभवात्मक हैं। वे तथ्यों पर आधारित नहीं है, और मार्क्स उसके सम्बन्ध में अतिरंजित दावे करता है । उसके लिये सर्वहारा वर्ग एक सार्वभौम वर्ग है; यह भविष्य का वर्ग है। यह उच्च चेतना एवं उत्कृष्ट विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी दरिद्रता, इसका दुख, और इसका अमानवीयकरण व्यापक मानवता की परिस्थितियों को व्यक्त करता है ।

जिस तरह राष्ट्र हेगल के लिये एक सामुदायिक इकाई है उसी तरह मार्क्स के लिये वर्ग भी एक सामुदायिक इकाई है दोनों इतिहास में इकाइयों के रूप में कार्य करते हैं, और दोनो इकाईयों के रूप में अपने विशिष्ट लक्षणों को प्रगट करते हैं । राष्ट्र राष्ट्रीय इतिहास की अनिवार्यता के अन्तर्गत अपनी वैचारिक एवं मूल्य व्यवस्था को उत्पन्न करता है ये ही चीजें वर्ग उत्पन्न करता है। सामाजिक इतिहास की अनिवार्यता के अन्तर्गत। व्यक्ति का अकेले कोई अस्तित्व नहीं है । उसका अस्तित्व उसके अपने वर्ग के सदस्य होने पर निर्भर है। उसी के अनुरूप होते हैं उसके हित, उसके पूर्वाग्रह, और उसकी दृष्टि। पूंजीवादी समाज, जिसमें विभाजन का आधार यह है कि इसमें पूंजी पति पूंजी व उत्पादन के साधनों का स्वामी है और श्रमिक केवल अपनी श्रम शक्ति का, वर्गों के परस्पर संघर्ष को सबसे तीव्र रूप में अभिव्यक्त करता है । मार्क्स मध्यम वर्ग, जिसमें सेवायें देने वाले लोग जैसे वकील व डाक्टर आदि सम्मिलित है; के अस्तित्व को स्वीकार तो करता है किन्तु इसे वह अलग से वर्ग मानने के लिये तैयार नहीं है । लेकिन मार्क्स अपनी इस चर्चा को अधूरी छोड़ देता है कि क्यों इसे वह अलग से वर्ग मानने को तैयार नहीं है ।

मार्क्स ने प्रारम्भ से ही किसी वर्ग की वस्तुगत परिस्थिति और उस परिस्थिति की मनोगतभिज्ञता में भेद किया था। दूसरे शब्दों में, वह वर्गीय सदस्यता और वर्गीय चेतना में भेद करता है। वर्गीय सदस्यता उत्पादन प्रक्रिया में अपना स्थान पहचाने पर निर्भर करती है । पूंजीपति और श्रमिक में वर्गीय चेतना का उदय राजनीतिक संघर्षों का परिणाम है। श्रमिक संगठनों के माध्यम से होने वाले श्रमिकों के सीमित संघर्ष जब क्रमशः व्यापकता प्राप्त करते है और जब श्रमिकों को इस बात की पहचान होती है कि उनके हित समान्य हैं तब सर्वहारा वर्ग में वर्गीय चेतना उत्पन्न होती है । आधुनिक उद्योगों में लगने वाले सामुहिक श्रम एवं संचार के बेहतर साधनों से श्रमिकों में एकता उत्पन्न होती है, और इस चेतना को दृढ़ता प्राप्त होती है। वर्गीय चेतना के विकास के साथ साथ वर्गीय संगठन का उदय होता है। दोनों एक दूसरे के लिये आलम्बन का कार्य करते हैं । मार्क्स इस बात को जानता था कि ऐसी परिस्थितियां आ सकती हैं जब सर्वहारा का वर्गीय हित अलग-अलग श्रमिक संगठनों के हितों से मेल न खाये इसी कारण वह वर्ग बंधुत्व पर विशेष रूप से बल देता है । उसके लिये सर्वहारा का हित सर्वोच्च है और अन्ततोगत्वा उसी के हित में अलग अलग श्रमिकों या श्रमिक समूहों का हित सम्मिलित है इसीलिये वह दुनिया के मजदूरों को एक होने का आवाहन करता है यह एकता बंधुत्व की भावना से ही आ सकती है ।

श्रमिकों की वर्गीय चेतना को राजनीतिक स्वरूप किस प्रकार दिया जायेगा इस विषय में मार्क्स बहुत स्पष्ट नहीं है उसकी अस्पष्टता के कारण ही मार्क्सवादियों में इस बात पर विवाद रहा है । जहां एक ओर लेनिन यह मानता था कि यह काम बाहर से करना पड़ेगा वहीं दूसरी ओर रोजा लुक्समबर्ग का यह

मानना था कि यह काम अन्दर से ही हो सकेगा ।लेनिन के अनुसार श्रमिकों में अपने आप जो चेतना उत्पन्न होगी वह केवल श्रमिक संगठनों की चेतना जैसी होगी, और यह उन्हें केवल अपने आर्थिक हितों को पूरा करने के लिये प्रेरित करेगी । श्रमिकों की चेतना को राजनीतिक स्वरूप देने का काम बुद्धिजीवीयों का है - कम्युनिस्ट पार्टी के बुद्धिजीवियों का। लेनिन से अलग लुक्समबर्ग का यह कहना था कि श्रमिकों में यह चेतना वर्ग संघर्ष के दौरान प्राप्त होने वाले उनके सामाजिक अनुभवों से आयेगी । बुद्धिजीवी अभिजनों द्वारा श्रमिकों का संरक्षण उनकी कार्य करने की क्षमता को कम करेगा और उन्हें निष्क्रिय बनायेगा ।

सामाजिक वर्ग अपने आवश्यकता के अनुरूप वैचारिकी की अधिसंरचना को जन्म देता है। इसी से वर्ग के सदस्यों की भावनायें, उनके भ्रम, उनका विश्वास, और उनकी मान्यतायें आदि निर्धारित होती हैं । सवाइन मार्क्स को उत्पादन की शक्तियों की तुलना हेगल की विश्व आत्मा से करते हुये कहता है कि उत्पादन की शक्तियाँ विश्व आत्मा की भांति चतुराई पूर्वक भ्रम और रहस्य का ऐसा महाजाल बुनती है जिसमें वे अपने अन्तर्रनिहित उद्देश्यों को पूरा कर सकें । हेगल में जिस तरह राष्ट्र की आत्मा एक राष्ट्रीय संस्कृति को उत्पन्न करती है उसी तरह से मार्क्स में वर्ग एक वैचारिकी को उत्पन्न करता है । जिससे उस वर्ग के सदस्यों की 'चिन्तन पद्धति और जीवन दृष्टि'' का निर्धारण होता है । मार्क्स का यह मानना है कि व्यक्तियों के सभी विचार व मान्यताएं उनके वर्ग से उत्पन्न होते हैं उन विचारों और मान्यताओं की वैधता या अवैधता का निर्धारण नहीं कर सकते । वैचारिकी अन्ततोगत्वा वर्ग संघर्ष में एक हथियार का काम करती है जिसे सभी प्रतियोगी समान शक्ति के साथ प्रयोग कर सकते हैं । अन्त में, केवल सफलता के पैमाने से ही वैचारिकी की वैधता या अवैधता निर्धारित की जा सकेगी ।

मार्क्स के चिन्तन में वर्ग और वर्ग संघर्ष की धारणा की व्याख्या की बहुत सी समस्यायें उत्पन्न करती हैं। एक तो मार्क्स ने यह गलत समझा था कि मध्यम वर्ग क्रमशः विलुप्त हो जायेगा । सच तो यह है कि यह वर्ग और फैलता ही गया । औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया ही इस वर्ग को विस्तार देने में सहायक हुयी । कृषकों व खेतिहर मजदूरों को भी मार्क्स एक वर्ग के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। एशियाई समाजों के किसान इन समाजों की खास संरचना के कारण वर्ग नहीं है, लेकिन योरूप के भी किसानों को भी एक वर्ग के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है । उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस के किसानों को, उनके राजनीतिक चेतना के अभाव के कारण, मार्क्स एक वर्ग नहीं मानता था । प्राचीन समाज यद्यपि स्वामी और दास के आधार पर विभाजित था किन्तु इनके बीच वर्ग संघर्ष था या नहीं यह मार्क्स स्पष्ट रूप से नहीं बताता । कभी वह इन समाजों में कर्ज देने वालों और कर्ज लेने वालों के बीच संघर्ष की बात करता है इसी प्रकार यह भी स्पष्ट नहीं है कि सामन्ती समाज में वर्ग संघर्ष का वास्तविक मार्ग क्या था, और क्यों सामनतवाद का पतन हुआ । मार्क्सवादियों में इस बात पर मतभेद है कि सामन्ती व्यवस्था को समाप्त करने में जमीदारों और उनके कारिन्दों में वर्ग संघर्ष की वास्तव में क्या भूमिका थी।

पूंजीवाद ने मार्क्स के समय में ही एक 'श्रमिक अभिजन' का वर्ग उत्पन्न कर दिया था। यह वर्ग क्रान्ति की अपेक्षा सुधार में विश्वास करता था। आधुनिक पूंजीवाद ने वर्गीय विभाजन को बजाय तीव्र करने के शिथिल करने का नाम किया है। कुछ समाजशास्त्रियों, जैसे राल्फ डेहरनडार्फ, ने कहा है कि अब पूंजीवादी व्यवस्था में समाज के वर्गीय ढांचे का विघटन हो गया है, और इसी के साथ वर्ग संघर्ष भी समाप्त हो गया है। डेनियल बेल के अनुसार अब श्रमिकों के लिये पूंजीपति से लड़ना ऐसे शत्रु से लड़ना है जो अखाड़े में उनके सामने है ही नहीं। उन्नतशील पूजीवाद देशों के श्रमिकों का उच्च जीवन स्तर और उनकी परिवर्तित मानसिकता को देखते हुये मारक्यूज कहता है कि श्रमिक अब केवल एक 'मिथक' है। कुछ विद्वानों के अनुसार अमेरिका का पूंजीवादी समाज कभी भी मार्क्स की वर्ग की धारणा के अनुकूल नहीं रहा । जिन देशों में समाजवादी व्यवस्थायें स्थापित हुयी थीं उन देशों की वर्गीय संरचना पर भी बहुत से विद्वानों ने अध्ययन किया है। बहुतों का यह कहना है कि इन देशों में वर्गीय विभाजन समाप्त होने के बजाय नये प्रकार का वर्गीय विभाजन उत्पन्न हुआ है इस संदर्भ में मिलोवनदिजि क्लास की पुस्तक 'द न्यू क्लास' उल्लेखनीय है । पूर्वी योरूप के बहुत से देशों में जब समाजवादी व्यवस्थायें टूटी तब इस बात का खुलासा हुआ कि इन देशों के पार्टी नेताओं और नौकरशाहो की भोग विलास की जीवन शैली वहां की साधारण जनता की जीवन शैली से कितनी व्यापक तौर पर भिन्न थी।

10.7 राज्य पर विचार

राज्य की धारणा का विश्लेषण मार्क्सवादी चिन्तन में बहुत महत्व रखता है। मार्क्स ने इस धारणा का अध्ययन योजनाबद्ध तरीके से नहीं किया है, किन्तु सन 1843 में लिखी गयी उसकी पुस्तक 'क्रिटीक आफ हेगेल्स फिलासोफी आफ द स्टेट' में इस पर विस्तार से विचार किया गया है। बाद में 'क्लास स्ट्रगल्स', 'एटीन्थ ब्रुमेयर' और 'सिविल वार इन फ्रांस' मे भी मार्क्स ने राज्य का अध्ययन किया है। उसके सहयोगी एंजिल्स ने भी 'ऐंटी डयूहरिंग' और 'ओरिजिन आफ द फैमिली' में इस विषय पर लिखा है। हेगल ने अपनी पुस्तक 'द फिलासांफी आफ राइट' में यह तर्क दिया था कि राज्य समाज के सामान्य हितों को रूपायित करता है। एक उच्च नैतिकता का प्रतिनिधि होने के कारण राज्य नागरिक समाज से अलग और श्रेष्ठ है। मार्क्स इस दृष्टिकोण को अस्वीकार करता है क्योंकि यह राज्य का एक भ्रमपूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है।

मार्क्स के लिये आधुनिक राज्य की उत्पत्ति धर्मनिरपेक्ष राजनीति के विकास के फलस्वरूप हुयी। धर्म सुधार आन्दोलन से प्रारम्भ होने वाली यह प्रक्रिया फ्रांसीसी क्रान्ति में अपनी परिणति को प्राप्त करती है। धर्म से पृथक होकर राज्य ने मनुष्य को 'राजनीतिक मुक्ति' तो प्रदान किया किन्तु वास्तविक अर्थों में मनुष्य अब भी मुक्त नहीं था। राज्य सम्पत्ति की संस्था से बंधा हुआ है, और जब तक सम्पत्ति की संस्था रहेगी तब तक 'मानव मुक्ति' नहीं प्राप्त होगी। मार्क्स यहाँ तक कहता है कि वास्तव में आधुनिक राज्य ने मनुष्य को किसी प्रकार की मुक्ति प्रदान नहीं किया है। मनुष्य को धर्म से मुक्ति के बजाय धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई है; व्यापार की आत्म केन्द्रीयता से मुक्ति नहीं मिली है, बल्कि मिली है व्यापार करने की स्वतंत्रता। चूँकि आधुनिक राज्य अपने अर्न्तविरोधों को स्वीकार करने में सक्षम नहीं है इसलिए यह स्वतंत्रता के बजाय केवल स्वतंत्रता का भ्रम उत्पन्न करता है।

आदिम साम्यवादी घरानों की अवस्था में राज्य नहीं था लेकिन किसी प्रकार की कोई राजनीतिक सत्ता थी या नहीं यह विवाद का विषय है। प्लेमेनाट्ज के अनुसार सत्ता वहाँ भी थी। जब सम्पत्ति की संस्था का उदय हुआ तब ये घराने टूटे और तभी राज्य का भी जन्म हुआ। दूसरे शब्दों में, समाज के वर्गीय विभाजन से जुड़ी हुई है राज्य की उत्पत्ति। अतः राज्य का एक वर्गीय चरित्र है। यह सम्पत्तिदानों के हाथों में शोषण का एक उपकरण है। 'द कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' में आधुनिक पूंजीवादी राज्य को परिभाषित करते हुये मार्क्स ने लिखा है कि 'आधुनिक राज्य की कार्यकारिणी बुर्जुवा वर्ग की साझा गतिविधियों का संचालन करने वाली एक समिति मात्र है' 'द सिविल वार इन फ्रांस' में भी ऐसा ही विचार प्रस्तुत करते हुये वह कहता है कि बुर्जुवा व्यवस्था में राज्य श्रम के ऊपर पूंजी का राष्ट्रीय प्रभुत्व स्थापित करता है। यह सामाजिक दासता उत्पन्न करने की एक सार्वजनिक शक्ति बन जाता है, और वर्गीय अधिनायक तत्व स्थापित करने में एक यंत्र के रूप में कार्य करता है। 'द जर्मन आइडियोलाजी' में यहाँ तक कहा गया है कि सम्पत्ति के स्वामियों द्वारा राज्य को खरीद लिया गया है। आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली वर्ग जो राज्य के माध्यम से राजनीतिक रूप से भी प्रभुत्वशाली हो जाता है, एंजिल्स के मतानुसार, राज्य का प्रयोग श्रमिक वर्ग का शोषण करने के लिये करता है। पूंजीपतियों का आर्थिक प्रभुत्व इस कारण से स्थापित होता है कि वे पूंजी एवं उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं।

राज्य के सम्बन्ध में मार्क्स व एंजिल्स का दृष्टिकोण इस बात की व्याख्या करने की समस्या उत्पन्न करता है कि क्यों व कैसे राज्य, जो एक संस्था के रूप में समाज में प्रभुत्वशाली आर्थिक वर्ग या वर्गों से पृथक है, श्रमिकों में शोषण के साधन के रूप कार्य करता है। यह व्याख्या पूंजीवादी समाज में और भी कठिन हो जाती है क्योंकि इस समाज में राज्य निश्चित रूप से समाज में कार्यरत आर्थिक शक्तियों से पृथक दिखाई पड़ता है इस सम्बन्ध में मार्क्सवादीयों ने दो प्रकार से उत्तर देने का प्रयास किया है। पहले उत्तर के अनुसार आर्थिक रूप से शक्तिशाली वर्ग राज्य पर दबाव बनाने में इसलिये ये सफल होता है कि इस वर्ग की वैचारिकी एवं राजनीतिक आदर्श वे ही हैं जो शासक दल के हैं। दूसरा उत्तर, पूंजीवादी समाज में राज्य की 'संरचनात्वादी बाध्यताओं' पर बल देते हुये यह कहता हे कि पूंजीपति वर्ग और शासक दल में विचारों की एकता हो या न हो, राज्य वैसी ही नीतियां बनाता है जिनसे की पूंजी

का एकत्रीकरण और पुनुरूत्पादन हो सके। पहले उत्तर के अनुसार राज्य पूंजीपतियों का राज्य है, और दूसरे उत्तर के अनुसार राज्य पूंजी का राज्य है । किन्तु यह दोनों उत्तर एक दूसरे के पूरक हैं ।

पूंजीपतियों के हाथों में शोषण का उपकरण मानते हुयें भी मार्क्स और एंजिल्स दोनों राज्य को 'सापेक्षिक स्वायत्तता' देते हैं। सन 1852 में फ्रांस में नेपोलियन बोनापार्ट के सत्ता हथियाने के पश्चात मार्क्स कहता है कि, राज्य सभी वर्गों का शोषक हो गया था, और एक व्यक्ति की तानाशाही स्थापित हो गयी थी। एंजिल्स भी इस बात को स्वीकार करता है कि कभी-कभी ऐसी ऐतिहासिक अवस्थायें आती हैं जिनमें दो संघर्षरत वर्ग जो समान रूप से शक्तिशाली होते हैं एक दूसरे को इस भांति संतुलित कर लेते हैं कि राज्य अपने आपको दोनों से स्वतंत्र कर लेता है । सत्रहवीं एवं अठारहवीं शताब्दियों की राजशाही, नेपोलियन प्रथम और तृतीय की शासन व्यवस्थायें इसका उदाहरण है । जर्मनी में बिस्मार्क की शासन व्यवस्था में पूंजीपति और श्रमिक एक दूसरे को संतुलित किये हुये थे, और दोनों राज्य द्वारा ठगे जा रहे थे । एशियाई देशों की तानाशाही व्यवस्थाओं को भी मार्क्स इसी बात का उदाहरण मानता है कि इन व्यवस्थाओं में राज्य सभी वर्गों का शोषक है ।

राज्य को सापेक्षिक स्वायत्तता देना इस बात के विरूद्ध नहीं है कि राज्य आर्थिक प्रभुत्व रखने वाले वर्ग के हितों एवं उद्देश्यों की पूर्ति करता है । विशेष बात यह है कि राज्य पर नियंत्रण रखने वाले लोगों और आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखने वाले लोगों में एक भागीदारी होती है । इस भागीदारी में समाज का राजनीतिक एवं आर्थिक कार्यक्षेत्र एक दूसरे से पृथक रहता है, और राज्य स्वतंत्र रूप से इस सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने और संरक्षित रखने का कार्य करता है जिस सामाजिक व्यवस्था में पूंजीपति सबसे अधिक लाभान्वित होते हैं । 'मेनिफेस्टो' में मार्क्स ने जब यह कहा कि राज्य बुर्जुवा के 'सामान्य हितों' की देख भाल करता है तब उसी वाक्य में यह अर्न्तनिहित था कि इस वर्ग में लोगों के अपने अलग अलग विशेष स्वार्थ भी हैं किन्तु राज्य केवल इनके साझा हितों को ही पूरा करता है । राज्य यह काम तभी बेहतर तरीके से कर सके गा जब उसे सापेक्षिक स्वायत्तता प्राप्त हो ।

मार्क्स और एंजिल्स के मतानुसार बुर्जुवा राज्य का एक प्रमुख काम यह है कि वह वर्ग -संघर्ष को नियंत्रित करता है और उस सामाजिक व्यवस्था को संरक्षित करता है जो पूंजीपतियों के लिये लाभप्रद है । लेकिन वे कभी कभी ये भी कहते हैं कि राज्य वर्ग संघर्ष पर पर्दा डालने का कार्य करता है। इन दोनों कथनों का एक ही अर्थ नहीं है। इसलिये वर्ग-संघर्ष के संदर्भ में राज्य की वास्तव में क्या भूमिका हैं इस बात पर एक दुविधा की स्थिति बनी रहती है। लेकिन मार्क्स और एंजिल्स ने (और बाद में लेनिन ने भी) हमेशा राज्य की अवपीड़क शक्ति पर ही बल दिया है । राज्य के माध्यम से समाज का शक्तिशाली वर्ग अपनी सम्पत्ति और अपने विशेषाधिकारों को सुरक्षित रखता है, और श्रमिक वर्ग का उत्पीड़न करता है राज्य कई प्रकार के स्वरूपों को ग्रहण कर सकता है - वह प्रजातांत्रिक हो सकता है या अधिनायकवादी - लेकिन इसका स्वरूप चाहे जो हो, सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के संदर्भ में राज्य का हमेशा एक वर्गीय चरित्र होता है और यह वर्गीय शासन को सुदृढ़ करता है ।

मार्क्सवादी चिन्तन के इतिहास में राज्य की धारणा परिवर्तित होती रही है। लेनिन के समकालीन ग्रामची के अनुसार पूंजीवादी राज्य केवल एक संगठित अवपीड़क शक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करता है बल्कि इसमें शक्ति के साथ सहमति का अंश भी सम्मिलित होता है । सोवियत संघ की स्थापना के पश्चात स्टालिन ने पूंजीवादी राज्य और समाजवादी राज्य का भेद करते हुये यह कहा कि समाजवादी राज्य को शक्तिशाली बनाये जाने की आवश्यकता है जिससे कि इसका प्रयोग समाज के समाजवादी पुर्ननिर्माण के लिये किया जा सके। लेकिन सोवियत व्यवस्था के आलोचक मार्क्सवादी इस तर्क को स्वीकार नहीं करते थे। उनके अनुसार इस तर्क का प्रयोग कर स्टालिन अपनी तानाशाही व्यवस्था को छिपाने का ही प्रयास कर रहा था। मार्क्सवादियों में राज्य के स्वरूप, उसके चरित्र, उसकी कार्य प्रणाली आदि को लेकर लम्बी बहस हुई है ।

10.8 क्रान्ति एवं साम्यवादी समाज

मार्क्स ने यह स्वीकार किया था कि सभी समाजों का ऐतिहासिक विकास क्रम एक जैसा नहीं होता है। किन्तु वह यह मानता था कि सामान्य तौर पर एक के बाद दूसरी ऐतिहासिक अवस्थायें एक

निश्चित क्रम में आती है आदिम साम्यवादी घरानों की जनजातीय अवस्था के बाद दास युग, फिर सामन्ती युग, और फिर बुर्जुवा युग यह इतिहास का क्रम है । सभी ऐतिहासिक अवस्थायें अपने आन्तरिक आर्थिक अन्तर्विरोधों के कारण ही टूटती है, लेकिन क्रान्ति एक से दूसरी अवस्था को लाने का एक विस्फोटक माध्यम है। मार्क्स और एंजिल्स ने आधुनिक योरूप की क्रान्तियों का ही अध्ययन गम्भीरता से किया है विशेष रूप से उन्होंने अपना ध्यान फ्रान्सीसी क्रान्ति पर केन्द्रित किया था। हेगल व मार्क्स दोनों यह मानते थे कि इस क्रान्ति के सामन्तशाही का अन्त किया है किन्तु जहां एक ओर हेगल के लिये इस क्रान्ति से राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होता है वहीं दूसरी ओर मार्क्स के लिये यह क्रान्ति भविष्य में घटित होने वाली दूसरी मौलिक क्रान्ति की एक भूमिका मात्र है । सामन्तशाही का अन्त मध्यम वर्ग या बुर्जुवा वर्ग को सत्तासीन करता है। सामन्ती व्यवस्था के समाप्त होने पर प्रजातांत्रिक गणराज्य की शासन व्यवस्था स्थापित होती है वह इस नये सत्तासीन वर्ग के हितों को संरक्षित करती है, और साथ में इस वर्ग के विरोधी श्रमिक वर्ग का उत्पीड़न करती है। मार्क्स के लिये फ्रांसीसी क्रान्ति केवल एक राजनीतिक क्रान्ति थी,किन्तु भविष्य में जो क्रान्ति होगी वह सामाजिक क्रान्ति होगी, और यह सामाजिक व्यवस्था में, नीति सम्पत्ति की संस्था को समाप्त कर,एक आमूल परिवर्तन करेगी ।

यह सामाजिक क्रान्ति सर्वहारा द्वारा सम्पन्न की जायेगी । सर्वहारा का क्रान्ति के वाहक के रूप में एक ऐतिहासिक दायित्व है। जिस प्रकार पूंजीपति वर्ग ने सामन्तों को सत्ता से हटाया था और अपनी सत्ता स्थापित की थी उसी प्रकार सर्वहारा वर्ग पूंजीपतियों को सत्ता से हटा कर अपनी सत्ता स्थापित करेगा । जिस प्रकार पूंजीपति वर्ग ने उदारवाद की वैचारिकी (जिसमें निजी सम्पत्ति का प्राकृतिक अधिगम प्रमुख था) का प्रयोग अपने सत्ता के औचित्य को सिद्ध करने के लिये किया था उसी प्रकार सर्वहारा भी समाजवाद के दर्शन से अपनी सत्ता का औचित्य सिद्ध करेगा । किन्तु सर्वहारा की सत्ता पूंजीपतियों की सत्ता से इस मायने में मौलिक रूप से भिन्न होगी कि अब इस सत्ता द्वारा किसी वर्ग का शोषण नहीं किया जायेगा। सर्वहारा सामाजिक व्यवस्था में सबसे निम्न स्तर पर है। इससे नीचे कोई वर्ग है ही नहीं जिसका शोषण हो सके। सर्वहारा क्रान्ति इतिहास को उसके गन्तव्य तक पहुंचायेगी । यही क्रान्ति एक ऐसे शोषण मुक्त समाज की रचना करेगी जिसमें समूची मानवता की मुक्ति होगी ।

हेगल की भांति मार्क्स भी यह मानता था कि मनुष्य कोई प्रभावशाली राजनीतिक कर्म में तभी सम्पादित कर सकता है जब वह इतिहास की सामान्य दिशा को समझता है। उसी दिशा के अनुरूप किया हुआ कर्म प्रभावशाली होता है लेकिन हेगल के लिये इतिहास की दिशा स्वयं प्रगतिशील आध्यात्मिक सिद्धान्त, जो ऐतिहासिक संस्कृतियों को उत्पन्न करता है, के द्वारा निर्धारित होती है, और मार्क्स के लिये यह स्वयं प्रगतिशील उत्पादन की शक्तियों द्वारा । हेगल के लिये ऐतिहासिक प्रगति का माध्यम राष्ट्रों या संस्कृतियों का युद्ध है। मार्क्स के लिये वर्ग संघर्ष इसका माध्यम है। हेगल और मार्क्स दोनों का सामाजिक दर्शन मनुष्य को सभ्यता की इस गौरवशाली यात्रा में भाग लेने के लिए निमंत्रित करता है; उन्हें कर्म करने या अपना योगदान करने की नैतिक प्रेरणा देता है। किन्तु हेगल के लिये नैतिक प्रेरणा का आधार राष्ट्र प्रेम है, और मार्क्स के लिये सर्वहारा का बंधुत्व। सर्वहारा को क्रान्ति सम्पन्न करने की प्रेरणा देते हुये मार्क्स कहता है कि 'तुम्हें पाने के लिये पूरा संसार है और खोने के लिये सिर्फ तुम्हारी बेड़िया' ।

मार्क्स यह मानता था कि समाजवादी क्रान्ति सबसे पहले उसी देश में होगी जिस देश में पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का आन्तरिक अर्न्तविरोध सबसे अधिक परिपक्व होगा। अतः इंग्लैण्ड में सबसे पहली समाजवादी क्रान्ति होनी चाहिए थी, किन्तु मार्क्स इंग्लैण्ड में क्रान्ति की आशा नहीं करता है। वह कहता है कि इंग्लैण्ड, अपनी प्राचीन एवं दृढ़ राजनीतिक परम्परा के कारण, क्रान्ति से बच सकता है सन 1848 में पेरिस के श्रमिकों के संघर्ष ने भी मार्क्स व एंजिल्स को प्रारम्भ में उत्साहित किया था, किन्तु इस संघर्ष की असफलता ने उन्हें यह कहने पर विवश किया कि उनका उत्साह उनकी युवावस्था की भूल थी । पूंजीवाद को उसके विकास की पहली अवस्था में ही उखाड़ फेकने का विचार अपरिपक्व है। लेकिन फिर इस विचार में संशोधन कर सन 1875 में एंजिल्स रूस में समाजवादी क्रान्ति के लिए परिस्थितियों को परिपक्व मानने लगा था। रूस उस समय केवल एक अर्धविकसित पूंजीवादी देश था, किन्तु जारशाही का कमजोर ढांचा यहाँ क्रान्ति की सम्भावना उत्पन्न करता था अतः क्रान्ति के सम्बन्ध में मार्क्स व एंजिल्स

की आशा के केन्द्र परिवर्तित होते रहे। सन 1917 में जब रूस में पहली समाजवादी क्रान्ति हुयी थी तो वह मार्क्स के तर्कों के अनुरूप नहीं थी। एशियाई देशों में तो होने वाली सर्वहारा क्रान्तियां मार्क्स की क्रान्ति की धारणा के सर्वथा प्रतिकूल थी क्योंकि मार्क्स, एशियाई उत्पादन पद्धतियों में, क्रान्ति की कोई सम्भावना मानता ही नहीं था।

क्रान्ति में हिंसा की क्या भूमिका होगी, इस प्रश्न ने मार्क्सवादियों के बीच एक लम्बी बहस को उत्पन्न किया है। बदलते हुये ऐतिहासिक संदर्भ में यह बहस और तेज हुयी है, और इस बहस से मार्क्सवादी परम्परा में दरार भी पड़ी है। सन 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने इस धारणा को जन्म दिया कि मौलिक परिवर्तन के लिये हिंसा अनिवार्य है। सन 1848 की योरोपीय क्रान्तियों में भी यही धारणा प्रभुत्वशाली थी। इन क्रान्तियों की विफलता ने मार्क्स एवं अन्य समाजवादियों को यही निष्कर्ष निकालने को बाध्य किया कि सर्वहारा की मुक्ति बिना क्रान्तिकारी हिंसा का प्रयोग किये सम्भव नहीं है मार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि पूजीवाद का समाजवाद में शान्तिपूर्ण परिवर्तन काल्पनिक समाजवाद का लक्षण है । किन्तु मार्क्स कभी कभी यह भी कहता है कि जिस राज्य में नौकरशाही और सेना का प्रभुत्व नहीं है वहां श्रमिक अपना उद्देश्य शान्पिूर्ण तरीके से प्राप्त कर सकते हैं । सामान्य तौर पर मार्क्स यही मानता है कि योरोप की मुख्य भूमि के अधिकतर देशों में क्रान्ति का उत्तोलक हिंसा ही रहेगी । कम्युनिस्ट परम्परा में क्रान्तिकारी हिंसा और आतंकवादी हिंसा में भेद किया गया है किन्तु व्यवहार में इनके बीच की विभाजन रेखा बहुत धूमिल रही है।

सर्वहारा क्रान्ति के पश्चात साम्यवाद की एक नयी साभाजिक व्यवस्था की स्थापना होगी । 'साम्यवाद' शब्द की उत्पत्ति सन 1830 के मध्य पेरिस के गुप्त क्रान्तिकारी संगठनों में हुयी थी । मार्क्स इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करता है, किन्तु ये दोनों अर्थ एक दूसरे से जुड़े हुये हैं। यह शब्द एक अर्थ में पूंजीवादी समाज में श्रमिक आन्दोलनों के लिये प्रयुक्त हुआ है; दूसरे अर्थ में, श्रमिक क्रान्ति के पश्चात स्थापित होने वाले भावी समाज के लिये प्रयुक्त हुआ है । उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक श्रमिक आन्दोलनों के संदर्भ में समाजवाद और साम्यवाद दोनो को समान अर्थों में प्रयोग किया जाता रहा । मार्क्स और एंजिल्स ने भी इनका ऐसा ही प्रयोग किया है । किन्तु सन 1914 के बाद 'तृतीय अन्तर्राष्ट्र' की स्थापना से समाजवाद और साम्यवाद का तीखा भेद किया जाने लगा। ऐसा इसलिये कि साम्यवादी पार्टियों की प्रतिस्पर्धा उन दूसरे राजनीतिक दलों से बढ़ने लगी थी जो श्रमिक आन्दोलनों का नेतृत्व कर रहे थे । अब साम्यवाद शब्द का प्रयोग पूंजीवादी सत्ता को हिंसात्मक तरीके से उखाड़ फेंकने के लिये किया जाने लगा । इसके विपरीत, पूंजीवाद में शान्तिपूर्ण एवं संवैधानिक पद्धति से सुधार लाने के प्रयास के लिये समाजवाद शब्द का प्रयोग होने लगा। यह साम्यवादी दलों का अपनी अलग पहचान बनाये रखने का एक तरीका था ।

दूसरे अर्थ में साम्यवाद शब्द का प्रयोग मार्क्स ने कई स्थानों पर किया है किन्तु बहुत ही सामान्य तरीके से क्योंकि वह 'भविष्य की पाकशाला के लिये भोजन पकाने का निर्देश' देने में कोई रूचि नहीं रखता था। 'इकोनामिक एण्ड फिलासोफिकल मैन्युस्क्रिप्टस' में कहा गया है कि साम्यवाद निजी सम्पत्ति और श्रमिकों का आत्म निर्वासन समाप्त करेगा; मनुष्य पुनः एक सामाजिक मनुष्य बन जायेगा । आगे मार्क्स व एंजिल्स ने साम्यवाद को एक निश्चित समाजशास्त्रीय अर्थ देते हुये यह कहा कि इस व्यवस्था में वर्ग और श्रम विभाजन समाप्त हो जायेगा । एक प्रामाणिक समुदाय स्थापित होगा जिसमें व्यक्ति वास्तव में अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करेंगे। 'कैपिटल' के तृतीय खण्ड में साम्यवादी समाज के आर्थिक चरित्र पर बल देते हुये यह कहा गया है कि यह आपस में साहचर्य रखने वाले उत्पादकों का समाज हैं जिसमें उत्पादन की प्रक्रिया पर इन्हीं उत्पादकों का सामूहिक नियंत्रण है ।

केवल 'क्रिटिक आफ द गोथा प्रोग्राम' में ही मार्क्स ने साम्यवादी समाज के दो चरणों में भेद उपस्थित किया है। पहला चरण वह है जो पूंजीवाद की समाप्ति के तुरन्त बाद स्थापित होता है। इसमें व्यक्ति को उसके श्रम का मूल्य दिया जायेगा जिससे वह अपने उपभोग की वस्तुओं का क्रय कर सकें। जो व्यक्ति जितना श्रम करेंगा वह उसका उतना ही मूल्य पायेगा । लेकिन दूसरे चरण में, सभी व्यक्ति अपनी क्षमता भर कार्य करेंगे और अपनी आवश्यकता के अनुरूप पायेंगे । साम्यवादी व्यवस्था के इन दो चरणों

को कभी कभी 'अपरिष्कृत साम्यवाद' और 'परिष्कृत साम्यवाद' भी कहा जाता है । लेनिन ने अपनी पुस्तक 'द स्टेट एण्ड रीवोल्यूशन' में पहले चरण को समाजवाद और दूसरे को साम्यवाद कहा है। लेकिन बाद में मार्क्सवादियों की रूचि इस बहस में नहीं दिखाई पड़ती है मार्क्स के लिये पहले से दूसरे चरण की संक्रमण कालीन अवस्था में राज्य के स्थान पर 'सर्वहारा का अधिनायकत्व' स्थापित होगा, और विभिन्न उपायों द्वारा मनुष्य समाजवाद से साम्यवाद की ओर अग्रसर होगा ।

अधिकतर बातें जो मार्क्स ने साम्यवादी समाज के बारे में कहा वे कपोल-कल्पित ही प्रतीत होती हैं । उसका यह कहना कि राज्य क्रमशः विगलित हो जायेगा; शारीरिक और मानसिक श्रम का भेद मिट जायेगा; शहर और गांव का अन्तर समाप्त हो जायेगा; और अन्त में 'मनुष्य अनिवार्यता के संसार से स्वतंत्रता के संसार में प्रवेश करेगा' उसकी कल्पनाशीलता को व्यक्त करता है न कि उसके यर्थाथवादी चिन्तन को। अपने चिन्तन में केन्द्रीय महत्व रखने वाली श्रम की धारणा के सम्बन्ध में भी मार्क्स असंगत बातें करता है। कभी वह कहता है कि साम्यवादी समाज में श्रम समाप्त हो जायेगा, कभी कहता है कि सभी श्रम मानसिक श्रम हो जायेगा, और कभी यह कहता है कि थोड़ा बहुत श्रम एक अरूचिकर अनिवार्यता के रूप में सभी को करना पड़ेगा । मार्क्स का यह कथन भी कि राजनीतिक सत्ता समाप्त हो जायेगी और उसके स्थान पर सिर्फ एक प्रशासनिक व्यवस्था रह जायेगी यर्थाथ पर आधारित कथन नहीं लगता । एक साम्यवादी समाज में बाजार होगा या नहीं, और यदि होगा तो उसका स्वरूप क्या होगा यह भी विवाद का विषय है साम्यवादी समाज में सभी को उनकी आवश्यकतानुसार प्राप्त होगा ऐसा मार्क्स ने कहा था किन्तु आवश्यकता तो पारिभाषित करना एक विकट समस्या है। बडी और छोटी आवश्यकताओं का भेद करना भी कठिन है। इसीलिये एग्नेस हेलर ने यह कहा है कि साम्यवादी समाज में आवश्यकताओं की एक नयी संरचना उत्पन्न होगी, और व्यक्ति के जीवन का आधार उत्पादक श्रम यह भौतिक उपभोग नहीं बल्कि वे गतिविधियां और मानवीय सम्बन्ध होंगे जो अपने आप में उद्देश्य हैं न कि किसी उद्देश्य को पूरा करने के साधन। कुल मिला कर, साम्यवादी समाज एक नयी प्रकार की नैतिक व्यवस्था की मांग करता है ।

10.9 मार्क्स के बाद मार्क्सवाद

सन 1883 में मार्क्स की मृत्यु के लगभग तुरन्त बाद से ही मार्क्स के विचारों को लेकर विवाद की स्थिति उत्पन्न होना प्रारम्भ हो गयी थी । जर्मनी का मार्क्सवादी नेता एडुअर्ड बर्नस्टीन जो सन 1880 में मार्क्स और एंजिल्स से लंदन में मिला था, और जिसने उनके प्रत्यक्ष प्रभाव मे (विशेषकर एंजिल्स के प्रभाव में) मार्क्सवाद का स्वीकार किया था, ने सबसे पहला विवाद उत्पन्न किया। सन 1896 से 1898 के बीच प्रकाशित अपने लेखों की एक श्रंखला में उसने मार्क्स के विचारों में व्यापक संशोधन प्रस्तुत किया। उसने मार्क्स के चिन्तन की बहुत सी बातों को अप्रासंगिक, अनावश्यक, अस्पष्ट और अवैज्ञानिक कह कर अस्वीकार कर दिया, लेकिन फिर भी वह अपने आपको मार्क्स के प्रति सर्मपित ही मानता रहा । एक नवकान्टवादी दृष्टिकोण अपनाते हुये उसने कहा कि समाजवाद अपेक्षित है, अनिवार्य नहीं । बर्नस्टीन मार्क्सवाद के अन्तर्गत संशोधनवाद के नाम से जाने जानी वाली विचारधारा का जनक हो गया । (हालांकि कुछ लोगों ने एंजिल्स को ही पहला संशोधनवादी कहा है।) बाद में संशोधनवादी शब्द उन सारे मार्क्सवादियों के लिये प्रयोग किया जाने लगा जो लेनिन व सोवियत रूस द्वारा प्रस्तुत मार्क्स वाद की आधिकारिक व्याख्या को स्वीकार नहीं करते थें । उदाहरण के लिये यदि स्टालिन द्वारा मार्शल टीटो को संशोधनवादी कहा गया तो माओ द्वारा खुश्चोव को ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से लेकर सन 1934 तक वियना में विकसित होने वाली मार्क्सवादी परम्परा आस्ट्रो-मार्क्सवाद के नाम से जानी गयी । मैक्स एडलर, कार्लरैनर आदि इस परम्परा के प्रसिद्ध नाम हैं । इस परम्परा पर नवकान्टवाद एवं वस्तुनिष्ठवाद का प्रभाव था । एडलर जो मुख्य रूप से इस परम्परा का प्रवक्ता था, ने मार्क्सवाद को एक समाजशास्त्रीय ज्ञान व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया । उसके लिये मार्क्स वाद सामाजिक जीवन के विकास की विधियों का विज्ञान है । बाद में इसी दृष्टि का प्रयोग हिल फाडिंग ने आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करने के लिये प्रयोग किया । इसी दृष्टि से रेनर ने राष्ट्रीयता

का अध्ययन किया। इस परम्परा में बीसवीं शताब्दी के पूंजीवादी समाज में बदलती हुयी वर्ग संरचना और उसके राजनीतिक परिणामों को भी समझने का प्रयास किया गया । प्रथम विश्व युद्ध के बाद बढ़ते हुये सोवियत प्रभाव ने आस्ट्रो-मार्क्सवाद का विकास अवरूद्ध कर दिया, और फिर सन 1934 में नाजीवाद की विजय ने इस परम्परा का अन्त कर दिया ।

चूंकि रूस में विश्व की पहली साम्यवादी क्रान्ति हुयी थी इसलिये पूरे संसार में साम्यवादी आन्दोलन को प्रसारित करने का पहला दावा सोवियत रूस का ही था। इस क्रान्ति के नेता (लेनिन और बाद में स्टालिन) ने मार्क्सवाद की जो व्याख्या प्रस्तुत किया वही आम तौर पर प्रामाणिक व्याख्या मानी गयी । यह व्याख्या रूढ़िवादी मार्क्सवाद की परम्परा को स्थापित करती है जिसमें मार्क्स के विचारों के प्रति सम्पूर्ण सर्मपण का आग्रह है । इस परम्परा के अनुसार मार्क्स के विचार 'वैज्ञानिक' हैं, और वे प्रत्येक स्थान व काल के लिये प्रासंगिक हैं। इस परम्परा में पूंजीवाद के साम्राज्यवादी स्वरूप की व्याख्या करने और सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति निर्मित करने पर विशेष बल दिया गया है; क्रान्ति और समाजवादी राज्य के निर्माण में पार्टी की भूमिका को सर्वोपरि मानते हुये शक्तिशाली पार्टी संगठन की अनिवार्यता स्वीकार की गयी है। सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पार्टी की सम्प्रभु शक्ति के अधीन रखी गयी है । रूढ़िवादी मार्क्सवाद की परम्परा स्टालिन के काल में विकृत हो गयी । यह पार्टी और राज्य पर एक व्यक्ति की तानाशाही में सिमट गयी । स्टालिन के व्यापक दमन और आतंक ने मार्क्सवाद के समस्त प्रजातांत्रिक तत्वों को समाप्त कर दिया, और पूरे समाज को एक अधिनायकवादी राज्य के सम्पूर्ण नियंत्रण में रख दिया । विद्वानों के सामने मार्क्सवाद का सम्बन्ध लेनिनवाद एवं स्टालिनवाद से निर्धारित करने की एक बड़ी समस्या रही है।

लेनिन एवं स्टालिन के जीवनकाल में ही मार्क्सवाद की चिन्तन परम्परा में एक दूसरी धारा विकसित होने लगी थी यह धारा बाद में पाश्चात्य मार्क्सवाद के नाम से जानी गयी। इटली में ग्रामची और हंगरी में लूकाच को इस धारा को विकसित करने का श्रेय है । पाश्चात्य मार्क्सवाद की परम्परा में मार्क्सवाद का पुर्न अध्ययन संस्कृति, वर्ग चेतना और मनोगतता के संदर्भ में किया गया। इसमें मार्क्स के चिन्तन के 'वस्तुगत' पक्ष पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना उसके मनोगत पक्ष - वस्तु पूजा, आत्म निर्वसन, वैचारिकी आदि पर दिया गया। मार्क्सवाद को वस्तुनिष्ठवाद, अपरिष्कृत भौतिकवाद और विज्ञानवाद की संकीर्ण सीमाओं से बाहर निकाल कर हेगल के साथ मार्क्स की निकटता रेखांकित की गयी । लूकाच ने तो बाद में अपने पहले के दृष्टिकोण को परिवर्तित किया और 'आत्म आलोचना' भी किया, किन्तु फिर भी उसने और ग्रामची ने मार्क्स की पुर्नव्याख्या कर मार्क्सवाद की परम्परा में एक नयी शुरूआत कर दी थी । सोवियत प्रहार का सामना करते हुये पाश्चात्य मार्क्सवादी की परम्परा आगे चल कर 'फ्रैंकफर्ट स्कूल' के साथ जुड़ जाती है ।

सन 1920-30 में जर्मनी ने फ्रैंकफर्ट नगर में फ्रैंकफर्ट शोध संस्थान से सम्बद्ध बुद्धिजीवियों द्वारा जो वैचारिक व्यवस्था प्रस्तुत की गयी उसे सामान्यतया 'आलोचनावादी सिद्धान्त' कहा जाता है, लेकिन इस सिद्धान्त का एकात्मक स्वरूप नहीं है। फ्रैकफर्ट स्कूल की विचारधारा पूंजीवाद और सोवियत मार्क्सवाद दोनों की आलोचना करते हुये मार्क्सवाद को वर्तमान विश्व के लिये प्रासंगिक बनाने का प्रयास करती है, और सामाजिक विकास का एक नया मार्ग तलाश करती है । इसी स्कूल से जुड़े नववामपंथ के एक प्रसिद्ध दार्शनिक मारक्यूज ने उन्नतशील औद्योगिक समाज की मानवीय समस्याओं का अध्ययन करते हुये यह निष्कर्ष निकाला है कि इस समाज में अदृश्य दमन चक्र ने मनुष्य के जीवन के प्रत्येक पक्ष को इस प्रकार रौंद कर रख दिया है कि मनुष्य अब एक आयामी हो गया है। मनुष्य अपनी खोई हुयी मानवता को एक समाजवादी समाज में ही प्राप्त कर सकता है, किन्तु औद्योगिक श्रमिकों से इस समाज के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती है, क्योंकि वे तो सत्ता के अंग बन चुके हैं । मारक्यूज की आशा युवकों, क्षात्रों और अमेरिकी जीवन शैली को अस्वीकार करने वाले हिप्पीयों से थी । एक समय में मारक्यूज के विचार बहुत लोकप्रिय हुये थे, किन्तु अब उन्हें स्वीकार करने वाले लोग नहीं दिखाई पड़ते हैं ।

नीरीश्वर अस्तित्ववाद की परम्परा के प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक ज्यां-पॉल सार्त्र ने अस्तित्ववादी मार्क्सवाद की विचारधारा को स्थापित किया । सन 1960 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'क्रिटीन आफ डायलेक्टिकल रीजन' में वह कहता है कि मार्क्सवाद एक दार्शनिक व्यवस्था है, और अस्तित्ववाद केवल

एक वैचारिकी । यह मार्क्सवादी दर्शन की परिधि पर स्थिति है, और उसके भीतर प्रवेश करना चाहता है । यह एक परजीवी की भांति मार्क्सवाद पर आश्रित है । लेकिन ऐसा मानते हुये भी सार्त्र अस्तित्ववाद को ही महत्व देता है । उसके अनुसार अस्तित्ववाद मार्क्सवाद को पुर्नजीवित करता है, उसका मानवीयकरण करता है, और सत्य का अन्वेषण करने के लिए उसे एक सही पद्धति देता है। सार्त्र के चिन्तन की कई संकल्पनायें जैसे व्यक्ति की स्वतंत्रता, उसका अकेलापन, उसका निरर्थकता-बोध आदि अस्तित्ववाद को मार्क्स वाद के साथ जोड़ने में बहुत सी कठिनाईयां उत्पन्न करती तो हैं, किन्तु सार्त्र अन्त तक अपने को एक सर्मपित मार्क्सवादी ही मानता रहा । अपने जीवन के अन्तिम दिनों में सार्त्र का विश्वास योरप के सर्वहारा पर से उठ गया था और वह एशिया व अफ्रीका के अभिशप्त जन समूह में आशा की किरण खोजने लगा था। सार्त्र ने किसी परम्परा को प्रारम्भ तो नहीं किया, लेकिन उसने मार्क्सवाद को एक भिन्न पहचान अवश्य दिया।

फ्रांसीसी कम्युनिस्ट एवं दार्शनिक लुई आलथुसर ने सन 1960-70 के मध्य अपनी दो पुस्तकों के माध्यम से मार्क्सवादी दर्शन के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया । आलथुसर के अध्ययन ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बुद्धिजीवियों को प्रभावित किया । इस नवीन दृष्टिकोण में मार्क्स के दर्शन की मानवतावादी एवं हेगलीय व्याख्या को चुनौती दी गयी थी । आलथुसर ने मार्क्सवाद का संरचनावादी स्वरूप उपस्थित किया। उसके मतानुसार मार्क्स का दर्शन न तो मानवतावादी है और न ऐतिहासिक। इसका उद्देश्य सामाजिक पूर्णताओं (जैसे उत्पादन पद्धति, सामाजिक निर्माण)की संरचनावादी व्याख्या करना है, और उन गहरी संरचनाओं को सामने लाना है जो सामाजिक जीवन की देखी परखी जा सकने वाली गतिविधियों को उत्पन्न करती है। आलथुसर का यह कहना है कि मार्क्स ने अपने सामाजिक सिद्धान्त मे से मनुष्य को हटा दिया है । अतः मानवीय चेतना और कर्म से न तो कोई प्रभाव उत्पन्न होता है और न कोई परिवर्तन। आलथुसर मार्क्सवाद के सम्बन्ध में पुनः उसी पुराने तनाव को उत्पन्न करता है जो मार्क्सवाद की वैज्ञानिकता और मानवीयता को लेकर पहले भी दिखाई पड़ा था आलथुसर के संरचना वादी मार्क्सवादी ने गम्भीर प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया था।

मार्क्स की रूचि एशिया व अफ्रीका के देशों की आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन करने में नहीं थी।उसने एंजिल्स के साथ मिल कर सन 1853 में ब्रिटेन की वैदेशिक नीति की आलोचना करने के सिलसिले में भारत में ब्रिटिश शासन का थोड़ा अध्ययन किया था । बाद में भी एशियाई उत्पादन पद्धति पर मार्क्स ने थोड़ा बहुत विचार किया था, किन्तु मार्क्स के चिन्तन में एशियाई उत्पादन पद्धति का केवल एक नकारात्मक महत्व है। उसने इस उत्पादन पद्धति का विश्लेषण करने के लिये इस पर विचार नहीं किया था बल्कि केवल इसलिए किया था कि वह योरुप में पूंजीवाद के विकास का अध्ययन एक तुलनात्मक ढांचे के अन्तर्गत कर सके । चूंकि एशियाई समाजों में पूंजीवाद को विकसित करने की परिस्थितियां अनुपस्थित थीं अतः इनमें समाजवादी क्रान्ति की सम्भावना भी नहीं थीं । लेकिन मार्क्स के विचारों ने एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमेरिका में भी लोगों को बहुत आकर्षित किया। यहाँ बुद्धिजीवियों और वाम पंथियों के सामने समस्या यह थी कि यहां की भिन्न परिस्थितियों में मार्क्सवाद को किस प्रकार प्रासंगिक बनाया जाय। इस समस्या का समाधान खोजते हुये मार्क्सवाद का एक नया संस्करण प्रस्तुत किया गया जिसे तीसरी दुनियां का मार्क्सवाद कहा जा सकता है । तीसरी दुनिया के मार्क्सवाद के संदर्भ में माओ, फेनन, कास्त्रों आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भारतीय वामपंथी बुद्धिजीवियों में रजनी पाम दत्त, एन. एन. राय आदि के नाम लिये जा सकते हैं ।

मार्क्स के बाद मार्क्सवाद के विकास की एक बहुत संक्षिप्त रूप रेखा जो ऊपर प्रस्तुत की गयी है उससे यह तो स्पष्ट है कि मार्क्स में चिन्तन में एक सार्वभौमिक तत्व था। भले ही उसकी दृष्टि योरप केन्द्रित रही हो, उसके चिन्तन ने राष्ट्रीय और भौगोलिक सीमाओं को लांघते हुये एक व्यापक प्रभाव उत्पन्न किया । लेकिन किसी विचारधारा की लोकप्रियता अपनी लोकप्रियता की कीमत उसी विचारधारा से ही वसूल करती है। मार्क्सवाद के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ ।

10.10 सारांश

मार्क्स के बाद मार्क्सवाद का जो विकास हुआ वह विभिन्न दिशाओं और विभिन्न रूपों में हुआ।

इनमें से मार्क्सवाद का कौन सा रूप मार्क्स के सर्वाधिक निकट है यह बता पाना कठिन है। वास्तव में, मार्क्स के चिन्तन का मूल पाठ अर्थों के अनेक संसार खोलता है। मार्क्स और एंजिल्स को भी यह मालूम नहीं रहा होगा कि उनका दर्शन बाद में अर्थो की कितनी पर्तें खोलेगा, और कितने दार्शनिक सिद्धान्तों को जन्म देगा। मार्क्स की प्रारम्भिक रचनाओं की खोज हुये अभी बहुत समय नहीं बीता है । प्लेरवानोव ने जब अपनी पुस्तक 'द मानिस्ट व्यू आफ हिस्ट्री' लिखा तब उसे ' द जर्मन आडियालोजी' का पता नहीं था, और लेनिन ने जब 'मेटिरियलिज्म एण्ड इम्पीरियो क्रिटिसिज्म' लिखा तो उसे 'इकोनोमिक एण्ड फिलोसाफिकल मैन्युस्क्रिप्टस' की जानकारी नहीं थी । यह पुस्तक पहली बार सन 1932 में प्रकाशित हुई थी । मार्क्स की रचनाओं की जानकारी बढ़ने का एक परिणाम यह हुआ कि उसके विचारों का अध्ययन करने में विद्वानों में व्यापक रूचि जागृत हुयी। लेकिन इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि मार्क्स के विचारों की ऐसी ऐसी व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी जो परस्पर विरोधी थीं। मार्क्स के भिन्न भिन्न चेहरे हमारे सामने उपस्थित हो गये । अब मार्क्स जहां एक ओर इतिहास की सबसे क्रूर सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्था के लिए उत्तरदायी माना गया, वहीं दूसरी ओर वह एक रूमानी काल्पनिक समाजवादी माना गया । कुछ के लिये वह एक संकीर्ण भौतिकवादी एवं निश्चयवादी था तो कुछ के लिये वह मानवता का संदेश वाहक। कई लोगों ने उसे आधुनिक सामाजिक विज्ञान का पिता माना तो दूसरे कई लोगों ने उसे अस्तित्ववादी विचारधारा का जनक। वैज्ञानिक समाजवाद का सिद्धान्तशास्त्री समझा जाने वाला मार्क्स, आश्चर्यजनक रूप से जेन बौद्ध सम्प्रदाय के लक्षणों को भी प्रगट करता है ।

एक प्रश्न यह है कि वर्तमान विश्व में मार्क्स के विचारों की क्या प्रासंगिकता है। बी.बी.सी. की एक भेट वार्ता में प्रो. चार्ल्स टेलर ने मार्क्स के दर्शन के सम्बन्ध में प्रश्नकर्ता के एक प्रश्न का उत्तर देते हुये कहा था कि मार्क्स के विचारों का एक 'मुक्तिदायी आयाम' है, और यही आज भी प्रासंगिक है। लेकिन वास्वत में इस उत्तर से मार्क्स की प्रासंगिकता सिद्ध नहीं होती। यहीं उत्तर हम गांधी, जिनके विचार मार्क्स के विपरीत हैं, की प्रासंगिकता के सम्बन्ध में भी दे सकते हैं। अब वर्तमान विश्व में गांधी प्रासंगिक हैं या मार्क्स ? वास्तव में, कठमुल्लेपन से दोनों में से किसी के विचारों को समझा जाय और ग्रहण किया जाय तब दोनों में से कोई प्रासंगिक नहीं हैं। किसी भी चिन्तक के विचारों को प्रासंगिक बनाने के लिये हमें उसके विचारों को अपने समय और अपनी परिस्थितियों के अनुरूप ढालना होता है। अब प्रश्न यह है कि मार्क्स के विचारों को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल किसी सीमा तक बनाया जा सकता है, और उनसे जितना लाभ प्राप्त किया जा सकता है । वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के विश्लेषण के लिये तो इन्हें प्रयोग नहीं किया जा सकता । ये व्याख्या के उपकरण नहीं हो सकते हैं । लेकिन पूंजीवाद द्वारा प्रसारित उपभोक्ता संस्कृति से उत्पन्न होने वाले सांस्कृतिक एवं नैतिक मूल्यों के ह्रास पर अंकुश लगाने के लिये इन्हें एक सीमा तक प्रयोग में लाया जा सकता है । एक सीमा तक इसलिये कि मूल्यों के संकट का निदान भौतिकवाद के दर्शन में खोजना सम्भव नहीं है। अन्ततोगत्वा हमें मनुष्य के जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को पहचानना होगा, और सामाजिक व्यवस्था की रचना इस प्रकार करनी होगी कि यह पक्ष सुदृढ़ हो सके।

10.11 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

10. Avineri, S; The Social and Political Thought of Karl Marx
2. Berlin, I; Karl Marx, His life and Environment
3. Heller, A; The Theory of Need in Marx
4. Kolako waski, L; Main currents of Marxism, Vol. I
5. Popper, K.R.; The Open Society and its Emenies, Vol. II
6. Sabine, G.H.; A History of Political Theory.
7. गणेश प्रसाद : आधुनिक राजनैतिक विचारधाराएं
8. राजैनैतिक विचारों का इतिहास : प्रभु दत्त शर्मा

10.12 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

10. मार्क्स के चिन्तन में मूल और अधिसंरचना के सम्बन्धों को स्पष्ट कीजिये ।
2. मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये ।
3. मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त क्या है ? इस सिद्धान्त की कमजोरियों को बताइये।
4. वर्ग एवं वर्गीय चेतना के सम्बन्ध में मार्क्स के विचारों को प्रस्तुत कीजिये ।
5. राज्य के सम्बन्ध में मार्क्स का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिये ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

10. युवा मार्क्स और प्रौढ़ मार्क्स के विवाद को बताइये ।
2. मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'कैपिटल' में पूंजीवाद का जो चित्र उपस्थित किया है उसे संक्षेप में प्रस्तुत कीजिये ।
3. मार्क्स के चिन्तन में वैचारिकी की धारणा को स्पष्ट कीजिये ।
4. मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त क्या है ।
5. भविष्य के साम्यवादी समाज के सम्बन्ध में मार्क्स की क्या कल्पना थी ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

10. कार्ल मार्क्स का जन्म कब हुआ था?

    (अ) जुलाई 1818 (ब) जून 1818 (स) मई 1818
2. मार्क्स किस जर्मन दार्शनिक से प्रभावित था?

    (अ) कान्ट (ब) हेगल (स) फीख्ते
3. मार्क्स की भेंट एंजिल्स से पहली बार कहाँ हुई थी ?

    (अ) फ्रांस (ब) इंग्लैण्ड (स) जर्मनी
4. मार्क्स की पुस्तक 'इकोनोमिक एण्ड फिलसोफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स' का प्रकाशन पहली बार कब हुआ था ।

    (अ) 1928 (ब) 1930 (स) 1932
5. मार्क्स ने अपनी किस पुस्तक में यह वक्तव्य दिया है : आधुनिक राज्य की कार्य कारिणी बुर्जुवा वर्ग की साझा गतिविधियों का संचालन करने वाली एक समिति मात्र है ।

    (अ) द जर्मन आडियोलाजी (ब) इकोनोमिक एण्ड फिलसोफिकल मैन्युस्क्रिप्ट्स.
    (स) द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो

10.13 प्रश्नोत्तर

10. स
2. ब
3. अ
4. स
5. स

इकाई -11 लेनिन (1870-1924)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 लेनिन - जीवन परिचय

11.3 लेनिन का मार्क्सवाद

11.4 पार्टी संगठन पर विचार

11.5 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त

11.6 पूँजीवाद का साम्राज्यवादी स्वरूप

11.7 सर्वहारा क्रान्ति की धारणा

11.8 समाजवादी पुर्ननिर्माण की समस्यायें

11.9 सारांश

11.10 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

11.11 संबंधित प्रश्न

11.12 प्रश्नोत्तर

11.0 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य आपको रूस के क्रान्तिकारी नेता लेनिन के विचारों के प्रमुख पक्षों से परिचित कराना है इस अध्याय को पढ़ने के उपरान्त आप यह जान सकेंगे कि --

- रूस को उस समय की सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों के साथ लेनिन ने किस प्रकार मार्क्सवाद का ताल मेल किया ।
- कम्युनिस्ट पार्टी के संगठनात्मक ढांचे और कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में लेनिन की क्या मान्यतायें थीं ।
- लेनिन के दार्शनिक विचार (विशेषकर उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त) क्या थे।
- पूंजीवाद का साम्राज्यवादी विकास उसे किन निष्कर्षों की ओर ले जाता है ।
- सर्वहारा क्रान्ति के सम्बन्ध में लेनिन की क्या धारणा थी और इस क्रान्ति के सम्पन्न होने के पश्चात उसके समक्ष सोवियत समाज के पुर्ननिर्माण की क्या चुनौतियाँ थीं ।

11.1 प्रस्तावना

सन 1883 में मार्क्स और फिर सन 1895 में एंजिल्स की मृत्यु के पश्चात मार्क्सवादी चिन्तन परम्परा का विकास कई धाराओं में हुआ । चूँकि रूस में पहली साम्यवादी क्रान्ति हुयी थी इसलिए विश्व में साम्यवादी आन्दोलन को प्रसारित करने का पहला दावा सोवियत रूस का ही था। इस क्रान्ति के नेता लेनिन, ट्रस्टकी और आगे चल कर स्टालिन ने मार्क्स के विचारों की जो व्याख्या प्रस्तुत की वही आम तौर पर मार्क्सवाद की प्रामाणिक व्याख्या मानी गयी । यह व्याख्या रूढ़िवादी मार्क्स वाद की परम्परा को स्थापित करती है जिसमें मार्क्स के विचारों के प्रति पूर्ण सर्मपण का आग्रह है। इस परम्परा के अनुसार मार्क्स के विचार वैज्ञानिक हैं, और वे सभी स्थान व काल के लिये प्रासंगिक हैं। इस परम्परा में पूंजीवाद के साम्राज्य वादी स्वरूप को उजागर करने और सर्वहारा क्रान्ति की रणनीति निर्मित करने पर विशेष बल दिया गया है । क्रान्ति और समाजवादी राज्य के निर्माण में पार्टी की भूमिका को सर्वोपरि माना गया है

। मार्क्सवाद की भिन्न व्याख्याओं को दोषपूर्ण सिद्ध करने के उद्देश्य से लेनिन ने मार्क्सवादी चिन्तन के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण किया, किन्तु इस विश्लेषण पर व्यवहारिक राजनीति के दबाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं ।

जारशाही के युग में रूस का बौद्धिक वातावरण पाश्चात्य योरप के बौद्धिक वातावरण से नितांत भिन्न था। ऐसा इसलिये कि रूसी अधिनायकवाद ने एक ऐसे समाज का निर्माण किया था जिसमें या तो दासता थी या विद्रोह । नागरिक या तो सत्ता का सम्पूर्ण सर्मथन करते थे या उसका सम्पूर्ण विरोध। अतः वैधानिक स्वतंत्रता की वह धारणा जो पाश्चात्य योरप के लोगों ने शताब्दियों के संघर्ष के उपरान्त स्वीकार व अंगीकार किया था रूसी जनता के लिये बिल्कुल अपरिचित थी। यहाँ पर स्वतंत्रता का अर्थ कानून की अनुपस्थिति में एक अराजक अवस्था से ही लगाया गया था । क्योंकि कानून यहाँ पर एक अधिनायक की स्वेच्छाचारी इच्छा की अभिव्यक्ति मात्र था विधि द्वारा मर्यादित स्वतंत्रता की संकल्पना का अभाव रूस में जारशाही के विरूद्ध होने वाले छिट पुट क्रान्तिकारी आन्दोलनों को या तो निरंकुशवाद की ओर धकेला था या फिर अराजकतावाद की ओर। मध्यम वर्ग और नगरीय सभ्यता का अभाव, आर्थिक व्यवस्था में व्यापार की बहुत सीमित भूमिका ने उस बौद्धिक वातावरण को रूस में पनपने ही नहीं दिया था जिसमें तर्क पर आधारित संवाद और अमूर्त विश्लेषण को प्रमुखता दी जाती है । दूसरी ओर, रूसी चर्च ने अपने को जारशाही का सेवक मान लिया था, और नागरिकों की आत्मा पर जारशाही का सम्पूर्ण वर्चस्व स्वीकार कर लिया था । इस कारण से भी रूसी समाज को वह बौद्धिक लाभ नहीं प्राप्त हो सका था जो पाश्चात्य जगत को चर्च और राज्य के लम्बे संघर्ष के परिणाम स्वरूप प्राप्त हुआ था।

निकोलस प्रथम के समय रूसी बौद्धिक जीवन का सबसे प्रमुख विषय स्लावोफिल्स और पाश्चात्यवादीयों ने बीच का विवाद था। स्लावोफिल्स बुद्धिवाद, उदारवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विरोधी थे, और वे रूसी अधिनायकवाद का दार्शनिक औचित्य खोजने में व्यस्त थे वे यह भी मानते थे कि पूर्वी चर्च ही केवल इसाई मूल्यों का अधिकृत संरक्षक है । वे एक प्रकार के रूमानी आध्यात्मवाद में विश्वास करते थे। इसके विपरीत पाश्चात्यवादी प्राकृतिक विज्ञान और उदारवादी राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास करते थे। वे जारशाही से घृणा करते थे, और उनका यह मानना था कि रूसी समाज का पिछड़ापन तभी दूर हो सकता है जब रूस भी पाश्चात्य योरप के विकास पथ का अनुसरण करे। निकोलस प्रथम की मृत्यु और क्रिमिया में पराजय के पश्चात जब रूस में सुधार का युग प्रारम्भ हुआ तब नये बौद्धिक विभाजन उत्पन्न होने लगे, या यह कहें कि पुराने विभाजन नये रूपों में प्रगट होने लगे। आधुनिकीकरण का युग प्रारम्भ हो चुका था, और इसके साथ ही इसकी सम्भावनाओं और इसके खतरों पर बहस भी शुरू हो चुकी थी । सन 1861 के बाद रूस में जो राजनीतिक आन्दोलन का विकास हुआ उसे जन आन्दोलन (पापुलिज्म) कहा जाता है। इस आन्दोलन के साथ क्रान्तिकारी और सुधारवादी दोनों जुडे.हुये थे। इसी आन्दोलन में मार्क्सवादियों ने बाद में घुसपैठ की, और उन्होंने इस आन्दोलन की कुछ बातों को स्वीकार करते हुये भी इसे अवैज्ञानिक आधारों पर टिका हुआ माना । बाद में इसके विरूद्ध सन 1890 के आस पास से मार्क्सवादी आन्दोलन का प्रसार प्रारम्भ किया गया। जन आन्दोलन के बहुत से नेता रूस के लिये पूंजीवाद को घातक मानते थे । वे सामान्य रूप से यह मानते थे कि पूंजीवाद शोषण व दरिद्रता (भौतिक एवं आध्यात्मिक) के लिये उत्तरदायी है । लेकिन वे मार्क्स की इस बात को भी नहीं मानते थे कि पूंजीवादी उत्पादन पद्धति पिछली उत्पादन पद्धतियों से श्रेष्ठ है, और सामाजिक प्रगति का रास्ता पूंजीवाद से होकर गुजरता है। इसी कारण रूसी मार्क्सवादी जन आन्दोलन के बुद्धिजीवियों को गम्भीरता से नहीं लेते थे, और उन्हें रूमानी मानते थे । प्लेरवानोव (1856-1918) को रूसी मार्क्सवाद का पिता कहा जाता है, और लेनिन की पीढ़ी के सभी मार्क्सवादी उससे प्रभावित रहे ।

11.2 लेनिन - जीवन परिचय

संसार के सभी साम्यवादी क्रान्तिकारियों में जिस व्यक्ति के व्यक्तित्व को सबसे लम्बी प्रतिछाया हमें दीख पड़ती है वह है लेनिन। केवल कुछ अराजकतावादियों को छोड़कर दुनिया के सभी क्रान्तिकारी अपने आप को लेनिनवादी होने का दावा किया करते थे। दुनिया भर के क्रान्तिकारियों ने लेनिन के चरित्र, उसके विचारों, और उसकी कार्यशैली से प्रेरणा ली है। लेनिन ने ही सर्व प्रथम कम्युनिस्ट पार्टी का एक केन्द्रीयकृत क्रान्तिकारी संगठन निर्मित किया था जिसे आदर्श मान कर दूसरे देशों में साम्यवादी

दलों का गठन हुआ । राबर्ट कांक्वेस्ट ने कहा है कि पूरे विश्व में साम्यवादी आन्दोलन का केन्द्र था रूस, और रूस के केन्द्र में थी बोल्शिविक पार्टी, और इस पार्टी का केन्द्र था लेनिन। आधुनिक रूसी इतिहास के समूचे घटनाक्रम को जिस प्रकार लेनिन ने प्रभावित किया वह सचमुच आश्चर्यचकित करने वाला है । यदि सन 1917 में क्रान्ति सम्पन्न होने के पहले लेनिन की मृत्यु हो गयी होती तो रूस में कोई क्रान्ति नहीं हुई होती, और यदि क्रान्ति के बाद सन 1918 के प्रारम्भिक महीनों में उसकी मृत्यु हो गयी होती तो रूस विश्व साम्यवाद का केन्द्र न बन पाया होता लेनिन का प्रभाव एक सिद्धान्त शास्त्री का प्रभाव नहीं था। उसने मार्क्स के विचारों को यथार्थ के धरातल पर जीवित कर दिखाया था, और इसी कारण इसका प्रभाव राजनीतिक कर्म के क्षेत्र में व्यापक रूप से पड़ा । चिन्तन के क्षेत्र में उसका प्रभाव सीमित था, किन्तु नगण्य नहीं ।

बाल्दीमीर इलिच युल्यानोव जो बाद में लेनिन के नाम से प्रसिद्ध हुआ का जन्म 22 अप्रैल 1870 को वोल्गा नदी के तट पर बसे सिमबर्क्स (जिसे बाद में युल्यानोव्सक कहा गया) नामक नगर में हुआ था, और उसकी मृत्यु 21 जनवरी 1924 को गोर्की नाम के नगर में हुयी थी। वह अपने माता पिता का दूसरा पुत्र और तीसरी संतान था। उसका पिता भौतिकी एवं गणित का अध्यापक था। बाद में प्रोन्नति प्राप्त कर वह विद्यालयों का निरीक्षक हो गया था । वह अलेक्जेण्डर द्वितीय का प्रशंसक था, और एक समर्पित लोक सेवक था। उसे विश्वास था कि शिक्षा के माध्यम से रूस की प्रगति हो सकती है । लेनिन की माँ जर्मन प्रोटेस्टेन्ट शैली में अपना परिवार चलाती थी जिसमें व्यवस्था, अनुशासन और परिश्रम पर बल दिया गया था, और जिसमें दिखावे के लिये कोई जगह नहीं थी। लेनिन जब सोलह वर्ष का था तब उसके पिता की मृत्यु हो गयी । अगले वर्ष उसके भाई व उसके चार अन्य साथियों को अलेक्जेन्डर तृतीय की हत्या की साजिश करने के आरोप में फांसी की सजा दे दी गयी। यह कह पाना कठिन है कि लगातार एक के बाद एक घटी इन दो घटनाओं ने लेनिन के ऊपर क्या संवेदनात्मक प्रभाव डाला । उसी वर्ष लेनिन ने अपनी विद्यालयी परीक्षा सर्वोच्च अंक प्राप्त करते हुये उत्तीर्ण किया। बाद में उसने कजान विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के अध्ययन के लिये प्रवेश लिया। छात्रों की एक विरोध सभा में सम्मिलित होने के कारण उसे विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। बाद में उसे शासन ने कानून की परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी थी, और लेनिन ने कुछ अवधि के लिये सेन्ट पीटर्सबर्ग में वकालत भी किया था। किन्तु क्रमशः वह एक पूर्ण कालिव क्रान्तिकारी के रूप में काम करने लगा ।

चर्नेवर्स्की, जिसे जन आन्दोलन (या पापुलिज्म) की वैचारिकी का पिता कहा जाता है, से लेनिन ने सबसे पहले क्रान्तिकारी विचारों को ग्रहण किया । चर्नेवस्की के उपन्यास 'व्हाट इज टू बी डन' जो तुर्गनेव के उपन्यास 'फादर्स एण्ड सन्स' के प्रतिउत्तर में लिखा गया था, ने लेनिन को बहुत प्रभावित किया था । इस उपन्यास के राजनीतिक विचारों ने लेनिन के दृष्टिकोण को सदा के लिये परिवर्तित कर दिया। इसी के प्रभाव में वह, सन 1887 -88 की अवधि में, मार्क्सवादी होने के पहले एक क्रान्तिकारी हो गया। लेकिन लेनिन रूस के जन आन्दोलन का आलोचक भी था। उसने सन 1893 में अपनी पहली महत्वपूर्ण कृति में इस आन्दोलन के आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों पर प्रहार किया इस समय तक वह सेन्ट पीटर्सबर्ग में मार्क्सवादी नेता के रूप में स्थापित हो चुका था। सन 1895 में उसे बन्दी बना कर साइबेरिया बहिष्कृत कर दिया गया । जेल में उसने अपनी पुस्तक 'रूस में पूंजीवाद का विकास' पूरी किया। इसी अवधि में उसने मार्क्सवाद का लेनिनवादी संस्करण भी तैयार करने का प्रयास प्रारम्भ किया । जनवरी 1900 तक, जब लेनिन को मुक्त किया गया, उसका व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से राजनीतिक हो चुका था।

जनवरी 1900 में मुक्त होने के शीघ्र बाद लेनिन जेनेवा चला गया। यहीं उसकी भेंट रूस में मार्क्सवाद के संस्थापकों प्लेखानोव और अक्सेलराड से हुयी । इसके बाद सन 1917 तक केवल बीच की दो वर्षों की अवधि (नवम्बर 1905- दिसम्बर 1907) को छोड़कर लेनिन रूस से बहिष्कृत रहा । एक गैर कानूनी समाचार पत्र -'इस्कारा ' (इस रूसी शब्द का हिन्दी में अर्थ है चिनगारी) के प्रकाशन के लेकर प्लेखानोव और लेनिन में विवाद की स्थिति उत्पन्न हो गयी। किन्तु इस समाचार पत्र पर लेनिन का ही नियंत्रण रहा। इसी के माध्यम से उसने केन्द्रीयकृत पार्टी संगठन के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रस्तुत किया। इसी समाचार पत्र में लेनिन ने 'अर्जेन्ट टास्क आफ अवर मूवमेन्ट ' नामक लेख भी प्रकाशित किया जो बाद में उसकी पुस्तक 'व्हाट इज टू बी डन' में सम्मिलित किया गया। सन 1902 में प्रकाशित यह पुस्तक लेनिनवाद को परिभाषित करती है बाद में 'इस्कारा' पर से लेनिन का नियंत्रण

समाप्त हो गया । प्लेखानोव और दूसरे क्रान्तिकारी नेताओं मरटोव व ट्राटस्की से भी उसका वैचारिक मतभेद हो गया । पार्टी पर भी जब उसका नियंत्रण समाप्त हो गया तो उसने एक नई 'केन्द्रीय समिति' का गठन कर लिया ।

पार्टी में बोल्सिविक और मेन्शिविक घटकों के बीच संघर्ष निरन्तर तीव्र होता जा रहा था। जहाँ एक ओर वोल्शिविक घटक मेल्शिविक पर यह आरोप लगा रहा था कि वे अवसरवाद और अविश्वास के शिकार हो गये हैं, वहीं दूसरी ओर मेन्शिविकोका बोल्शिविको पर यह आरोप था कि वे असहनशील हैं और इसकी मानसिकता नौकरशाहों जैसी है । इसी बीच सन 1905 में रूसी श्रमिकों के विद्रोह ने क्रान्ति का रूप ले लिया । यह क्रान्ति पार्टी के दोनों घटकों के लिए अप्रत्याशित थी। यह स्वतः स्फूर्ति क्रान्ति थी। श्रमिकों का विद्रोह जब फूट पड़ा तब बाहर से रूस पहुंचने वालों में ट्राटस्की सबसे पहला नेता था। जब शासन की ओर से सामान्य माफी नामें की घोषणा की गयी तब लेनिन रूस पहुंचा। ट्राटस्की ने इस क्रान्ति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 9 जनवरी 1905 को शीत महल के समक्ष श्रमिकों के शान्तिपूर्ण प्रदर्शन पर जब पुलिस ने गोलियाँ चलाई (इस घटना को 'काला रविवार' के नाम से पुकारा जाता है ।) तब स्थिति नियंत्रण से बाहर चली गयी । जापान से युद्ध में पराजय और किसानं विद्रोहों ने स्थिति को और भी विस्फोटक बना दिया । यद्यपि अप्रैल 1905 में लंदन में लेनिन ने एक बोल्शिविक केन्द्रीय समिति का गठन कर लिया था किन्तु जैसे जैसे क्रान्ति आगे बढ़ी पार्टी ने दोनों घटकों में फिर से एकबार समझौता हो गया । श्रमिक क्रान्ति ने नयी श्रमिक परिषदों (सोवियत) को जन्म दिया था । पहले तो लेनिन इन परिषदों पर विश्वास नहीं करता था किन्तु बाद में उसने अपने अनुयायियों को इसमें सम्मिलित होने का निर्देश दिया जिससे कि इन परिषदों पर राजनीतिक नियंत्रण स्थापित किया जा सके।

अक्टूबर 1905में जार ने एक निर्वाचित संसद के निर्माण के अलावा सुधार के कई वायदे किये जिसमें वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी सम्मिलित थी। साथ में तेजी से विद्रोह कुचलने का अभियान प्रारम्भ हुआ। वर्ष बीतते बीतते विद्रोह समाप्त हो चुका था, और जारशाही का नियंत्रण पुनः स्थापित हो चुका था। प्रथम ड्यूमा (संसद) और द्वितीय ड्यूमा के विघटन के पश्चात जब सन 1907 में तृतीय ड्यूमा का चुनाव हुआ तब लेनिन ने उसमें अपने सर्मथकों को भाग लेने का निर्देश दिया । लेनिन के इस निर्णय की कड़ी आलोचना भी हुयी; लेकिन जैसा कि उसने कहा उसकी मंशा संसदीय एवं संवैधानिक मार्ग से प्राप्त होने वाली उपलब्धियों से खोखलेपन को उजागर करना था। सन 1912 में पुनः एक बार लेनिन ने पार्टी में फूट पैदा की, लेकिन यह पार्टी की अन्तिम फूट थी। लेनिन ने अपने बोल्शिविक घटक को ही असली कम्युनिस्ट पार्टी घोषित कर दिया। सन 1914 के प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ के समय विभिन्न देशों की समाजवादी पार्टियों के आचरण ने लेनिन को बहुत आघात पहुंचाया। युद्ध और पूंजीवाद की व्याख्या करने के उद्देश्य से उसने 'इम्पीरियलिज्म, द हायस्ट स्टेज आफ कैपिटलिज्म' नामक पुस्तक लिखी । जनवरी 1917 तक भी लेनिन को यह विश्वास नहीं था कि रूस में एक समाजवादी क्रान्ति उसके जीवन काल में घटित होगी, किन्तु घटना क्रम कुछ इतनी तेजी से परिवर्तित हुआ कि मार्च बीतते बीतते रूस में जारशाही का अन्त हो गया, और आठ महीनों के पश्चात बोल्शिविक सत्ता में आ गये।

11.3 लेनिन का मार्क्सवाद

लेनिन ने मार्क्सवाद का जो संस्करण प्रस्तुत किया वह, कुछ गैर साम्यवादी लेखकों के अनुसार, रूस की इस समय की सामाजिक राजनीतिक संरचना को ध्यान में रख कर किया गया था औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश में जहां खेतिहर मजदूर बहुसंख्यक हों और जहां नागरिक अपने राजनीतिक अधिकारों से वंचित हों वहां मार्क्सवाद की क्या प्रासंगिकता है यह लेनिन के चिन्तन का विषय था। किन्तु लेनिन के उत्तराधिकारी जोजेफ स्टालिन ने अपनी पुस्तक 'फाउन्डेशन्स आफ लेनिनिज्म' मे लेनिनवाद को परिभाषित करते हुये यह लिखा है कि 'लेनिनवाद, साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्ति के युग में, मार्क्सवाद है' गैर साम्यवादी दृष्टिकोण लेनिन के मार्क्सवाद को रूस तक सीमित कर उसे संकुचित एवं सीमित बना देता है। स्टालिन, इसके विपरीत, लेनिनवाद को एक सार्वभौम स्वरूप देता है। लेनिन का मार्क्सवाद सिर्फ रूस की खास परिस्थितियों में प्रासंगिक नही था, बल्कि पूरे विश्व के लिये प्रासंगिक था । ये दो दृष्टिकोण एक दूसरे से भिन्न और यहॉ तक कि एक दूसरे के विरूद्ध प्रतीत होते हैं, किन्तु जैसा कि सबाइन ने कहा है, ये एक दूसरे से बहुत निकटता से सम्बन्धित भी है । यह सही है कि लेनिन ने रूस

को ध्यान में रख कर मार्क्सवाद पर विचार किया, किन्तु उसके निष्कर्ष, बगैर उसके ऐसा सोचें हुये, साम्राज्यवाद की गिरप्त मे फंसे उन सभी उपनिवेशो पर भी लागू होते थे जो औद्योगिक दृष्टि से पिछडे हुये थे, और जहॉ की आर्थिक व्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। ऐसी स्थिति में दोनो दृष्टिकोणों में कोई मौलिक भेद नही है ।

'द डेंवलपमेट आफ कैपिटलिज्म इन रशिया' शीर्षक से जो पुस्तक लेनिन ने रूस में सन 1899 मे प्रकाशित किया था उसका उद्देश्य यही बताना था कि रूस में कृषि पर आधारित अर्थ व्यवस्थाा किस प्रकार पूंजीवादी लक्षणो को प्रगट करती है, और किस प्रकार इसका मार्क्सवादी विश्लेषण किया जा सकता है । इस पुस्तक में यह तर्क दिया गया है कि रूस की कृषि व्यवस्था पूंजीवादी परिवर्तन के सभी लक्षणो को प्रदर्शित करती है। इसमे वर्ग विभाजन, प्रतियोगिता और खेतिहर मजदूरो का सर्वहारा में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। औद्योगिक उत्पादों के लिये राष्ट्रीय स्तर के बाजार का निर्माण भी उत्पादन और विनिमय के मध्ययुगीन स्वरूप को तेजी से समाप्त कर पूंजीवाद की स्थापना कर रहा है । उस समय उपलब्ध रूसी समाज से सम्बन्धित आंकडो का प्रयोग करते हुये लेनिन रूस मे पूंजीवाद के विकास के विभिन्न चरणो की खोज करता है, और इस निषकर्ष पर पहुँचता है कि रूसी समाज के सभी स्तरों पर अपने पारिश्रमिक पर निर्भर श्रमिक दिखाई पड़ते हैं। अतः पूजीवादी शोषण सभी स्तरो पर मौजूद है, लेकिन केवल औद्योगिक श्रमिक ही इस शोषण की सबसे मुखर अभिव्यक्ति करने मे सक्षम हैं। औद्योगिक श्रमिंको का वर्ग जब अपने स्थानीय पूर्वाग्रहो को छोड कर और अपने आर्थिक हितो से ऊपर उठ कर अपने आप को राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक रूप से संगठित कर लेगा तब यह सभी पारिश्रमिक प्राप्त करने वाले श्रमिको के साझा हितो का प्रतिनिधित्व करने लगेगा। रूसी सामाजिक व्यवस्था की यह व्याख्या रूस मे मार्क्सवाद के प्रयोग के लिये लेनिन द्वारा की गयी एक वकालत के रूप मे देखा जा सकता है । साथ मे यह पुस्तक जन आन्दोलन (पापुलिज्म) के समर्थक नेताओ पर प्रहार भी करती है। (लेनिन ने इसके पहले भी सन 1894 मे लिखी अपनी एक पुस्तक मे जन आन्दोलन के सामाजिक दर्शन की विस्तार से आलोचना प्रस्तुत की थी)। लेनिन की यह पुस्तक मार्क्सवादी चिन्तन परम्परा मे एक महत्वपूर्ण योगदान है ।

लेनिन के लिये मार्क्सवाद की हमेशा दोहरी भूमिका रही है अपनी एक भूमिका मे यह धर्म के समान पवित्र है; यह अन्तिम सत्य है । इस पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता है इस पर सम्पूर्ण विश्वास किया जाना चाहिए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हम धार्मिक आदर्शो या मूल्यो की व्यवस्था में अपनी आस्था रखते हैं। लेनिन ने अपनी नीतियों और अपने तर्कों के सर्मथन में मार्क्स ने किसी वाक्य या कथन का अक्सर उसी प्रकार उल्लेख किया है जैसे धार्मिक कट्टरपंथी अपनी बातों के समर्थन में अपने धर्मग्रन्थ से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं । अपने विरोधियो पर प्रहार करने के लिये और उनके दोषों को उजागर करने के लिये भी लेनिन ने अक्सर मार्क्स का ऐसा ही प्रयोग किया हैं। यह तो सच हैं कि मार्क्सवादी दर्शन के कुछ सामान्य सिद्धान्तों में लेनिन को अटूट विश्वास था। जैसे सर्वहारा क्रान्ति और पूंजीवाद का विघटन अनिवार्यतः है या फिर एक ऐसा साम्यवादी समाज अनिवार्यता स्थापित होगा जिसमे वे बुराईयां नहीं होंगी जिनसे पूंजीवाद ग्रस्त है। मार्क्सवाद में लेनिन का ऐसा विश्वास ही मार्क्सवाद को एक धार्मिक स्वरूप प्रदान करता हैं, और इसी कारण उसका पूरा जीवन मार्क्सवाद के प्रति पूर्ण रूप से सर्मपित था। क्रान्ति उसके लिये एक नैतिक अनिवार्यता थी, और यह एक ऐसी कसौटी प्रस्तुत करती थी जिस पर हर एक राजनीतिक कर्म की वैधता को कसा जा सकता था। लेनिन अपने जीवन भर विवादो में रहा, और मार्क्सवाद उसे इन विवादो मे हमेशा एक सुरक्षा कवच प्रदान करता रहा ।

अपनी दूसरी भूमिका मे मार्क्सवाद, लेनिन के लिये, राजनीतिक कर्म का निदेशक सिद्धान्त था। (वास्तव में, मार्क्स स्वयं अक्सर यह कहता था कि दर्शन को कर्म का निदेशन करना चाहिए।) इस भूमिका में मार्क्सवाद नियमों की एक गतिहीन व्यवस्था नहीं हो सकता, बल्कि यह गतिशील विचारों का ऐसा सम्मुच्चय होगा जिसमें पर्याप्त व्यंजना शक्ति है, और जिसका प्रयोग कर हम परिस्थितियों का विश्लेषण कर सकते हैं, सम्भावनाओं का आकलन कर सकते हैं, और सबसे कारगर रणनीति का चुनाव कर सकते हैं । लेनिन ने अपने पूरे जीवन भर मार्क्सवाद का ऐसा ही प्रयोग किया। मार्क्सवाद अपनी इस व्यवहारिक भूमिका में लेनिन के लिये लचीले सिद्धान्तों की एक व्यवस्था है जिसे परिस्थितियों या आवश्यकताओं के अनुरूप प्रयोग किया जा सकता है। यही कारण था कि लेनिन ने कभी कभी मार्क्सवाद का ऐसा गैर पारम्परिक प्रयोग किया कि उसके विरोधियों को उल्टे उसी के ऊपर यह आरोप

लगाने का अवसर प्राप्त हो गया कि वे नहीं बल्कि लेनिन स्वयं मार्क्सवाद को प्रदूषित कर रहा है । लेनिन पर यह आरोप सही हो या गलत, लेकिन इतना सच है कि उसने मार्क्सवाद की सैद्धान्तिक कठोरता को उसकी व्यवहारिक नमनशीलता के साथ आश्चर्य जनक रूप से संयुक्त किया। उसने दोनो को इस प्रकार से बांध दिया कि हमेशा यही प्रतीत हो कि उसके निष्कर्ष मार्क्स और एंजिल्स की मंशा के अनुरूप है, और वह मार्क्स की विचारधारा को आगे बढा रहा है।

पाश्चात्य मार्क्सवाद के सिद्धान्त और व्यवहार से सोवियत मार्क्सवाद के सिद्धान्त और व्यवहार तक की यात्रा लेनिन ने क्रमशः पूरा किया था। रूसी समाज की विशिष्ट समस्यायें लेनिन के सामने उपस्थित होती रही, और वह इन समस्याओं का हल निरन्तर खोजने का प्रयास करता रहा। इसी प्रयास की प्रक्रिया में लेनिन सोवियत मार्क्सवाद की रचना करता गया । सामान्य रूप से रूस के साम्यवादी नेता यह मानते थे कि जर्मनी की सोशल डिमोकेटिक पार्टी एक आदर्श साम्यवादी दल है और उसका अनुसरण किया जाना चाहिये । लेनिन और ट्राटस्की दोनों पाश्चात्य मार्क्सवाद की परम्परा के प्रति समर्पित थे, किन्तु फिर भी अनेक स्थलों पर उन्होंने इस परम्परा से हटने की विवशता का भी अनुभव किया । अतः लेनिनवाद का विकास धीरे धीरे कई चरणों में हुआ। उस समय के रूसी समाज की समस्याओं का हल खोजने के लिये बनायी जाने वाली नीतियों का मार्क्सवाद के सामान्य सिद्धान्तों के साथ बराबर ताल मेल करते हुये सोवियत मार्क्सवाद की परम्परा का विकास किया गया। नीतियों का सैद्धान्तिक आधार तो हमेशा मार्क्सवाद से प्राप्त किया गया, किन्तु नीतियों की व्यवहारिकता रूसी परिस्थितियों के अनुरूप रखी गयी । इस प्रक्रिया के अनुसरण का फल यह हुआ कि सोवियत मार्क्सवाद का जो स्वरूप आगे चल कर सामने आया वह न तो योजना बद्ध था और न उस स्वरूप को किसी एक व्यक्ति ने निर्धारित किया था। हॉ, इतना अवश्य है कि इस स्वरूप की रचना में लेनिन की भूमिका सबसे प्रमुख एवं महत्वपूर्ण थी। एक सर्मपित कान्तिकारी को उसकी छवि ने उसे एक अग्रणी भूमिका प्रदान की थी। उसकी हमेशा यह कोशिश होती थी कि प्रत्येक स्थिति में उसका की विचार लोगों द्वारा स्वीकार किया जाय।

सन 1880 के प्रारम्भिक दिनों में जब रूस में एक मार्क्सवादी समाजवादी दल का गठन हुआ तो इस दल के नेताओं को यह विश्श्वास था कि सामाजिक प्रगति के मार्क्सवादी नियम को अनदेखा करते हुये रूस में सीधे सामन्तवाद की अवस्था से साम्यवाद की अवस्था को, रूसी खेतिहर मजदूरों के माध्यम से,लाया जा सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में रूसी कृषकों को रिझाने का जो प्रयास किया गया वह असफल रहा । इसकी असफलता ने रूसी मार्क्सवादियो को यह स्वीकार करने के लिये बाध्य किया कि मार्क्स के सामाजिक विकास के नियम को तोड़ा नही जा सकता है; केवल औद्योगिक श्रमिक ही कान्ति का वाहन हो सकता है । किन्तु किसी मार्क्सवादी के लिये रूस के औद्योगिक पिछडेपन और खेतिहर मजदूरो की बड़ी संख्या को अनदेखा करना सम्भव भी नही था इसीलिए लेनिन ने बार बार यह कहा कि रूस मे समाजवादी क्रान्ति एक सर्वहारा क्रान्ति तो होगी किन्तु यह क्रान्ति तब तक सफल नही होगी जब तक इसे कृषको का समर्थन नही प्राप्त होगा । उसका यह मानना था कि कृषको की जमीन के लिये स्वाभाविक भूख को क्रान्ति के उद्देश्यो को पूरा करने के लिये प्रयोग करना होगा । अतः लेनिन का मार्क्स वाद किसानो की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करता है ।

लेनिन का मार्क्सवाद मुख्य रूप से क्रान्तिकारी मार्क्सवाद है। इसका उद्देश्य मेहनतकश जनता (औद्योगिक श्रमिक व खेतिहर मजदूर) द्वारा सत्ता हस्तगत करने और एक समाजवादी समाज का निर्माण करने की रणनीति विकसित करना है । लेकिन यह कहने का यह अर्थ नही है कि इससे मार्क्सवाद से लेनिनवाद की निरन्तरता अपने आप सिद्ध हो जाती है। इस निरन्तरता की जांच करने के लिये इस बात की जांच करनी होगी कि लेनिन ने मार्क्स की वैचारिक व्यवस्था मे जो दुविधा और रिक्तता वाले स्थान थे उन्हे जिस प्रकार पूरित किया वह मार्क्स के सिद्धान्तो की संगति मे है या नही। लेनिन के लिये सभी सैद्धान्तिक प्रश्नो का हल, जैसा कि लेजेक कोलाकोवस्की ने कहा है, केवल क्रान्ति के सन्दर्भ मे ही खोजा जाना चाहिये । उसके लिये समस्त मानवीय गतिविधियो, विचारो, मूल्यो और संस्थाओ का अर्थ वर्ग संघर्ष के सापेक्ष ही हो सकता है । लेनिन के ये विचार मार्क्स और एंजिल्स की बहुत सी कृतियो मे खोजे जा सकते है। लेकिन इसके बावजूद मार्क्स और एंजिल्स की रूचियो और विश्लेषण का एक व्यापक क्षितिज था। उनके समक्ष केवल यही प्रश्न नही था कि क्रान्ति के लिये क्या महत्वपूर्ण है और क्या नही। उनके विचारो की परिधि इतनी संकीर्ण नही थी जितना कि लेनिन ने उसे बना दिया था। उनके लिये सभी मानवीय मूल्य केवल वर्ग सापेक्ष नही थे। लेकिन दुविधा यह है कि उनके ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त मे

बहुत सी खाली जगहे ऐसी है जिन्हे उनका कोई अनुयायी उनके प्रति समर्पित रहने का दावा करते हुये अपनी इच्छा से भर सकता था।

कुछ ऐसा ही काम लेनिन ने भी किया लेनिन के लिये दार्शनिक सिद्वान्तो का महत्व केवल इतना था कि वे राजनीतिक संघर्ष मे साधनो की भांति प्रयोग किये जा सकते थे । कला, साहित्य, कानून, धर्म, सबका प्रयोग वर्ग संघर्ष के लिये किया जा सकता है। कानून यदि वर्ग संघर्ष का केवल एक हथियार है तो फिर कानून के शासन और स्वेच्छारी शासन मे कोई भेद नही है, राजनीतिक स्वतंत्रता यदि केवल वर्गीय प्रभुत्व का उपकरण है तो फिर राजनीतिक स्वतंत्रता को समाप्त कर एक अधिनायकवादी शासन व्यवस्था स्थापित करना गलत नही है। कला एवं साहित्यिक कृतियां यदि केवल वर्गीय दृष्टिकोण एवं पूर्वाग्रहो को ही व्यक्त करती है तो इन्हे प्रतिबन्धित करने मे कोई दोष नही है। लेनिन के विचारो की दिशा यही थी, लेकिन बोल्शिविक क्रान्ति के पश्चात यह अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ने लगी क्योंकि तब उसके जीवन का एक उद्देश्य पूरा हो चुका था।

लेनिन का मार्क्सवाद मार्क्सवाद का कितना सही चित्र प्रस्तुत करता है यह तो लम्बे विवाद का विषय है। लेकिन यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि उसने मार्क्स वाद मे तीन महत्वपूर्ण संशोधन किये । पहला यह कि उसने औद्योगिक श्रमिक और खेतिहर श्रमिक के गठबंधन को क्रान्ति के लिय अनिवार्य माना । दूसरा यह कि उसने राष्ट्रीयता के प्रश्न को एक अवरोध न मान कर उसे संचित ऊर्जा का स्रोत माना जिसे समाजवादी अपने उद्देश्यो के लिये प्रयोग कर सकते है । तीसरा यह कि क्रान्ति सम्पन्न करने का दायित्व श्रमिको पर नहीं छोडा जा सकता, बल्कि इस दायित्व को केवल एक मजबूती से संगठित एक साम्यवादी दल ही पूरा कर सकता है। इन सभी संशोधनों के कारण लेनिन की आलोचना न केवल सुधारवादियो और पार्टी के मेन्शिविक घटक द्वारा की गयी, बल्कि रूढ़िवादी साम्यवादियों (जैसा रोजा लुम्समबर्ग) द्वारा भी की गयी थी ।

11.4 पार्टी - संगठन पर विचार

सामाजिक प्रगति के मार्क्स के सिद्धान्त का यही निष्कर्ष हो सकता था कि रूस मे मार्क्सवादी दल हमेशा योरोप के समाजवादी आन्दोलन के हाशिये पर ही रहेगा । यदि विकास ने प्राकृतिक पथ को लांघा नही जा सकता तो फिर रूस मे पहले बुर्जुवा या मध्यम वर्गीय क्रान्ति की ही सम्भावना बनती है, और जब तक यह क्रान्ति पूरी नही हो जाती एक सफल समाजवादी क्रान्ति के लिये स्थितियाँ परिपक्व नही मानी जा सकती । अतः रूसी मार्क्सवादी दल पाश्चात्य योरुप के मार्क्सवादी दलो से बिल्कुल भिन्न स्थिति मे था। मार्क्स के लिये फ्रान्सीसी क्रान्ति ने योरुप मे मध्यम वर्गीय पूंजीवाद के वर्चस्व को स्थापित कर दिया था, किन्तु रूस मे ऐसा कुछ नही हुआ था । सन 1905 की रूसी क्रान्ति ने इस सम्भावना को अवश्य उत्पन्न किया था कि रूस मे भी मध्यमवर्गीय पूंजीवाद की स्थापना हो सकती है। मार्क्सवादियो के लिये इसी कारण से यह क्रान्ति महत्वपूर्ण थी, किन्तु इस क्रान्ति के जिस सम्भावना को उत्पन्न किया था वही मार्क्सवादीयो के समक्ष एक रणनीतिक समस्या भी उत्पन्न करती थी। क्या रूस के मार्क्सवादी दल को पहले एक मध्यमवर्गीय क्रान्ति लाने का प्रयास करना चाहिए? सन 1905 और सन 1917 मे लेनिन और ट्राटस्की दोनो इस समस्या का हल खोजने मे व्यस्त थे। सन 1917 तक रूसी मार्क्सवादी यही मानते थे कि रूस मे कोई समाजवादी क्रान्ति तब तक अस्थायी ही रहेगी जब तक उसे परिपक्व पाश्चात्य योरुप के देशो की क्रान्तियो का सहयोग नही प्राप्त होगा ।

रूसी मार्क्सवादियो के सामने एक दूसरी रणनीतिक समस्या भी थी। वह यह थी कि पार्टी का संगठन और उसकी कार्य प्रणाली कैसी होनी चाहिए। पार्टी का संगठन जमीन के ऊपर बनाया जाना चाहिए या भूमिगत और पार्टी को वैधानिक तरीके से काम करना चाहिए या अ-वैधानिक तरीके से । यहाँ पर मार्क्स और जर्मनी की समाजवादी पार्टी के अनुभवो से कोई निर्देशन प्राप्त होना सम्भव नही था। मार्क्स और एंजिल्स ने सन 1850 मे ही समस्त भूमिगत आन्दोलनो से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था । लेकिन रूस मे जारशाही के काल मे ऐसा कर पाना किसी भी मार्क्सवादी के लिये सम्भव नही था। जर्मनी की समाजवादी पार्टी ने अपना विकास उस परिस्थिति मे किया था जब जर्मनी मे श्रमिको को

मताधिकार प्राप्त हो चुका था । सन 1906 तक रूस मे यह स्थिति नही थी, और राजनीतिक सुधारो के बाद भी स्थिति बहुत स्पष्ट नही थी। पाश्चात्य योंरुप की समाजवादी पार्टियों ने यह मान लिया था कि समाजवादी क्रान्ति के पहले इन देशो मे उदारवादी राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो चुके होगे, और इस कारण ये पार्टियां जमीन के ऊपर रह कर एक जन पार्टी के रूप मे काम कर सकेगी । रूस मे यह सम्भव नही था यहां यह केवल एक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकता था। इस आदर्श का व्यवहार मे पालन कर क्रान्ति को सम्पन्न करना असम्भव सा था ।

पार्टी का संगठन और कार्य प्रणाली रूस मे मार्क्सवादियो के बीच विभाजन का एक बडा कारण थां । पार्टी ने बोल्शिविक और मेन्शिविक घटको के बीच जो लम्बा विवाद चला और जिसमे दोनो ही पक्षो ने बाल की खाल निकालने का काम किया उसके केन्द्र मे मार्क्स का कोई सिद्धान्त न था, बल्कि रूस मे पार्टी का संगठन था, और वह रणनीति जिसे क्रान्ति के उद्देश्य के लिये पार्टी द्वारा अपनाना आवश्यक था। इस सम्बन्ध मे दोनो के दृष्टिकोण भिन्न थे। बोल्शिविक दृष्टिकोण मे पार्टी भूमिगत होकर अ-वैधानिक तरीके से काम कर सकती थी । मेन्शिविक यद्यपि अवैधानिकता को अस्वीकार नही करते थे किन्तु वे यह मानते थे कि पार्टी जमीन के ऊपर रहते हुयें श्रमिको को प्रमुख रूप से वैधानिक तरीके से काम करने के लिये तैयार करेगी। दोनो के दृष्टिकोणो का यह अन्तर पार्टी के संगठन और कार्य शैली के दूसरे अनेक भेदों को उत्पन्न करता है। मेन्शिविको का दृष्टिकोण पाश्चात्य योरुप की पार्टियों के संगठन और कार्य प्रणाली के अनुकूल था। लेनिन रूस के गुप्त (क्रान्तिकारी एवं आंतकवादी) संगठनो की परम्परा से जुडा हुआ था। लेनिन मार्क्स से भी जुड़ा हुआ था, किन्तु सन 1850 तक के मार्क्स से या 'कम्युनिस्ट लीग' की अवधि तक के मार्क्स से। इसी संदर्भ मे राबर्ट काम्बेस्ट ने यह कहा है कि लेनिनवाद दुहरे अर्थो मे 'आदिम मार्क्सवाद' है। एक तो वह पहले के मार्क्स के विचारो से प्रेरणा लेता है,और दूसरा वह पिछडे योरुप पर लागू होता है।

लेनिन मे अभूतपूर्व संगठनात्मक क्षमता थी। वह प्राथमिक रूप से सिद्धान्त शास्त्री तो नही था, किन्तु सन 1902 मे उसने अपनी पहली सैद्धान्तिक कृति 'व्हाट इज टू बी डन' शीर्षक से प्रकाशित किया। इसमे पार्टी से सम्बन्धित सैद्धान्तिक मसलो पर विचार करते हुये अर्थवाद और संशोधनवाद पर भरपूर प्रहार किया गया है। अपनी इस रचना मे लेनिन ने पार्टी की जो परिभाषा प्रस्तुत की वही आगे चल कर पार्टी का संगठनात्मक सिद्धान्त बना उसने लिखा कि एक साम्यवादी दल भरोसेमन्द अनुभवी एवं कर्मठ कार्यकर्ताओ का ऐसा केन्द्रिकृत संगठन है, जो गोपनीयता के कड़े नियम से बंधा है और जिस जनता का व्यापक सर्मथन प्राप्त है। पार्टी की यह परिभाषा मार्क्स के सिद्धान्तो की संगति मे नही दिखाई पडती, और लेनिन को इसके असंगत होने की जानकारी थी। वह अपनी परिभाषा के सर्मथन मे मार्क्स का कोई कथन उदघृत नही कर सकता था । मार्क्स ने एक बार कहा था कि श्रमिक वर्ग की मुक्ति 'श्रमिक वर्ग का ही कार्य है'। उसका यह कथन पार्टी की महत्ता और भूमिका को बहुत सीमित कर देता है । इस कथन मे यह अर्न्तनिहित है कि उत्पादन के साधन ही श्रमिको मे वह आवश्यक क्रान्तिकारी चेतना उत्पन्न करते है जो किसी सामाजिक क्रान्ति को लाते है। इसी मार्क्सवादी सिद्धान्त के आधार पर मार्क्सवादियों ने अपने समाजवाद को वैज्ञानिक और दूसरो के समाजवाद को रूमानी कहा था, और यह दावा किया था कि सामाजिक क्रान्ति का घटित होना अनिवार्य होता है।क्रान्ति जोखिम पसन्द करने वाले दुस्साहसी व्यक्तियो या स्वपनिल आदर्शवादियो द्वारा बलात नही लायी जा सकती है ।

लेनिन के सामने पार्टी संगठन के प्रति अपनी दृष्टिको मार्क्सवाद के साथ सम्नवित करने की समस्या थी। यद्यपि उसने 'द कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' के एक कथन से अपनी बातों का समर्थन प्राप्त किया, किन्तु फिर भी वह बहुत कमजोर समर्थन था,और इसी कारण लेनिन की बहुत आलोचना भी हुयी । उसने अपनी बातो पर बल देने के लिये यह कहा कि आम तौर पर मार्क्सवादी मजदूर संगठनों के मार्क्सवाद और साम्यवाद दल के मार्क्सवाद मे फर्क नही कर पाते। श्रमिक वर्ग अपने प्रयास से केवल श्रमिक संगठनो की मानसिकता के स्तर तक पहुँच पाता है, इनकी चेतना श्रमिक संगठनों की चेतना होती है। उनमे क्रान्तिकारी समाजवादी चेतना बाहर से ही लायी जा सकती है । यह काम पार्टी के बुद्धिजीवियो को करना

होगा । यदि श्रमिक को उनके हाल पर छोड दिया जाय तो वे अपने नियोक्ता से कुछ सुविधाये पाने के लिये संघर्ष कर सकते है, और सरकार पर श्रम परिस्थितियो को बेहतर बनाने के लिये कानून बनाने का दबाव डाल सकते है, किन्तु वे क्रान्तिकारी चेतना से युक्त नही हो सकते है । वे अपने बृहत्तर राजनीतिक उद्‌देश्य को परिकल्पित नही कर सकते। ऐसी परिस्थिति मे एक मार्क्सवादी दल श्रमिको को मजदूर संगठनो के दायरे मे अपनी लडाई लडने के लिये छोड नही सकता, बल्कि वह उनके अन्दर क्रान्तिकारी चेतना को भरने का कार्य करेगा। मार्क्स ने पेटी बुर्जुवा के सम्बन्ध मे जो कहा था वही लेनिन मजदूर संगठनो के सम्बन्ध मे कहता है। पेटी बुर्जुवा राजनीतिक रूप से नपुसंक है, वह या तो सर्वहारा का अनुसरण करता है या पूंजीपतियो का। लेकिन लेनिन सर्वहारा पर भी वही बात लागू करता हुआ दिखाई पडता है। उसके लिये सर्वहारा वैचारिकी का निर्माण स्वयं सर्वहारा नही कर सकता । वास्तव मे, वह स्वयं अपने आप की पहचान भी नही कर सकता। केवल पार्टी ने मार्क्सवादी बुद्धिजीवियो का एक छोटा समूह उनके लिये वैचारिकी का निर्माण कर सकता है, और उन्हे उनकी पहचान दे सकता है। सबाइन ने लिखा है कि इसका व्यवहारिक निष्कर्ष यही निकलता है कि सर्वहारा को चालाकी से संचालित और प्रयोग करने की आवश्यकता है ।

सर्वहारा और वैचारिकी के प्रति लेनिन का दृष्टिकोण पार्टी के सम्बन्ध में उसके विचारो को प्रभावित करता है । चेतना और 'सहज चेतना' का भेद वह अक्सर किया करता था। जहॉ एक ओर वह चेतना में आवश्यकता से अधिक विशवास करता था,वही दूसरी ओर, 'सहज चेतना' मे आवश्यकता से अधिक अविश्वास। चेतना लेनिन के लिये वह सामान्य बौद्धिकता थी जो समझदारी और दूरदर्शिता उत्पन्न करती है,यह संगठन और योजना बनाने की क्षमता पैदा करती है,यह सम्भावनाओ का पता लगाने मे और अवसर को अपने लाभ के लिये प्रयोग करने मे मदद करती है, यह शत्रु की गतिविधियो को पहले से जान लेने मे और उसे रोकने मे सहायक होती है । राजनीति लेनिन के लिये सम्भावनाओ की कला है, और सिर्फ पार्टी ही इस कला को जानती है। पार्टी चेतना को रूपायित करती है, और इसी कारण सिर्फ पार्टी मे ही वह क्षमता है कि वह इतिहास को आगे प्रवाहमान करे यहॉ तक कि वह इतिहास की गति को रोक भी सकती है । सहज चेतना का आदर तो लेनिन करता है, क्योकि इसके बिना कोई सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं है लेकिन वह इससे भयभीत भी था, क्योकि यह अंधी होती है, इसकी उत्तेजना मस्तिष्क द्वारा ग्राह्य नही होती । यह अनिवार्यतः दिशाहीन, आदिम और अपरिष्कृत होती है । इसमें निश्चयात्मकता नहीं होती, और इसके स्मबन्ध मे कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। यह पार्टी या नेता द्वारा उत्पन्न नही की जा सकी परन्तु नेता यदि चेतना के अस्त्र में लैस है तो वह इसका प्रयोग सामाजिक परिवर्तन और प्रगति के लिये चतुराई से कर सकता है। लेनिन का यह मानना था कि जनता के पास सिर्फ सहज चेतना होती है,और पार्टी के पास चेतना। निश्चित रूप से यह पार्टी के प्रति एक कूलीन तंत्रीय दृष्टिकोण था, पार्टी के पास अपनी कोई शक्ति नही होती, लेकिन इसके पास व्यापक जन शक्तियो को संगठित करने की अदभुत क्षमता होती है। यहॉ तक कि यह समस्त मानवजाति की नियति को पालतू बना कर उसे योजना बद्ध तरीके से दिशा दे सकती है और नियंत्रित कर सकती है।

यदि पार्टी का केवल स्वतः स्फूर्त श्रमिक आन्दोलन का उपकरण मान लिया जाय तो पार्टी कभी भी समाजवादी क्रान्ति के लिये साधन नही बन सकेगी। पार्टी को नेतृत्व प्रदान करने का काम करना है। लेनिन का यह दृढ मत था कि श्रमिक वर्ग अपने आन्दोलन के माध्यम से कोई स्वतंत्र वैचारिकी नही उत्पन्न कर सकता है। वैचारिकी या तो पूंजीवादी होगी या समाजवादी । मानवजाति के इतिहास मे किसी तीसरी वैचारिकी ने कभी जन्म नही लिया है । श्रमिको का स्वतः स्फूर्त आन्दोलन अन्त मे इस आन्दोलन को बुर्जुवा वैचारिकी के अधीन कर देता है । पार्टी के सम्बन्ध मे लेनिन के विचारो की आलोचना पार्टी के अन्दर और बाहर व्यापक रूप से होती रही थी । ट्राटस्की ने इस सम्बन्ध मे कहा था कि श्रमिको का अनुसरण करना और उनकी आर्थिक मांगो की लडाई लडना पार्टी के लिए गलत है, लेकिन पार्टी को श्रमिक वर्ग से अलग करना भी मार्क्सवाद के विरूद्ध है। जहॉ तक लेनिन पर पार्टी के सम्बन्ध मे कुलीन तांत्रिक दृष्टि अपनाने का आरोप है वहॉ तक तो यह कहा जा सकता है कि यह आरोप सही नहीं है। 'द

कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो' मे मार्क्स और एंजिल्स ने भी यही विचार प्रस्तुत किया है कि श्रमिको मे वे ही वास्तव मे साम्यवादी हैं जो सबसे चेतनशील हैं। लेकिन लेनिन के तर्को से जो निष्कर्ष निकलते है वे मार्क्सवाद के दायरे से बाहर निकल जाते हैं। एक तो यह कि स्वतः स्फूर्त श्रमिक आन्दोलन समाजवादी चेतना से युक्त नही होता अतः यह बुर्जुवा चेतना से ही युक्त माना जायेगा क्योकि तीसरी कोई चेतना नही है। दूसरा यह कि श्रमिक आन्दोलन अपने सही अर्थ मे इससे पारिभाषित नही होता कि श्रमिक इसे चलाते हैं बल्कि इससे होता है कि यह आन्दोलन एक सही वैचारिकी (मार्क्सवाद) पर आधारित होता है।

स्वतः स्फूर्त चेतना और चेतना का जो भेद लेनिन ने किया वही भेद प्रजातंत्र के सम्बन्ध मे उसकी दृष्टि को निर्मित करता है पार्टी श्रमिक आन्दोलन मे कुलीन, अल्पसंख्यक क्रान्तिकारी अग्रिम टुकड़ी का काम करती है, लेकिन लेनिन ने यह नही सोचा था कि वह पार्टी के माध्यम से कुलीनो का कोई संगठन निर्मित कर रहा है । पार्टी अलग ढंग से काम अवश्य करती है किन्तु यह उनसे अलग नही है जिन्हे यह नेतृत्व प्रदान करती है। लेनिन ने कहा है कि दो तरीके हैं जिससे पार्टी का सम्बन्ध श्रमिक वर्ग से कट जाता है । इन दो तरीको को दो अपराध मान कर पत्येक साम्यवादी कार्यकर्ता को इनसे बचना चाहिए । पहला अपराध है पार्टी का श्रमिको से आगे भागना, अर्थात जब पार्टी श्रमिको को प्रचार और अन्य साधनो से मानसिक रूप से तैयार किये बिना आगे आगे चलने लगती है। दूसरा अपराध है पार्टी का श्रमिको के पीछे चलना, अर्थात श्रमिक आगे बढने को तत्पर हो किन्तु पार्टी की तैयारी न हो । प्रजातंत्र लेनिन के लिए इन दो स्थितियो के बीच का मार्ग है। पार्टी को चाहिए कि स्थितियो का सही आकलन कर वह इन दोनो गलतियो से बचे । पार्टी नेता को जनता से न तो पार्टी के उद्देश्यो के सम्बन्ध मे पूछना है और न पार्टी की कार्य प्रणाली के बारे मे। मार्क्सवाद के विज्ञान मे पारंगत नेता यह सब जानता है। उसे केवल जनता की भावनाओ को प्रचार के माध्यम से इस प्रकार आन्दोलित करना है कि जनता पार्टी के साथ चलने को तैयार हो सके।

लेनिन के अनुसार कम्युनिस्ट पार्टी के तीन-प्रमुख लक्षण है (ये ही लक्षण आगे चल कर सभी देशो मे साम्यवादी दलो के विशिष्ट लक्षण माने गये) । (1) पार्टी के पास मार्क्सवाद का ज्ञान है और द्वन्द्ववाद की अनूठी पद्धति है । यह एक ऐसा ज्ञान है जो वैज्ञानिक है, और जिसका प्रयोग कर पार्टी सामाजिक प्रगति के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी कर सकती है, और इस प्रगति की ओर ले जाने वाली रणनीति का निर्माण कर सकती है । मार्क्सवादी सिद्धान्तो का प्रयोग सही तरीके से किया जा सके इसके लिए आवश्यक है कि मार्क्सवाद की वैचारिक शुद्धता को पार्टी बनाये रखे। इस शुद्धता को बनाये रखने के लिये आवश्यकता पडने पर शक्ति का प्रयोग भी किया जा सकता है । पार्टी इस बात की मांग करती है कि पार्टी के सदस्य अपने निजी निर्णय एवं निजी हितो को संगठन के आधीन रखे । (2) कम्युनिस्ट पार्टी बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है । बौद्धिक दृष्टि से इसलिये कि इसके पास मार्क्सवाद के विज्ञान मे पारंगत बुद्धि जीवी है, और नैतिक दृष्टि से इसलिए कि यह पेशेवर समर्पित कार्यकर्ताओ का संगठन है जिनका अपना कोई हित या स्वार्थ नही है। ये क्रान्ति के प्रति पूर्णतः समर्पित है । सबाइन ने कहा है कि पार्टी के पास एक पुरोहित जैसी सत्ता है । इसकी सत्ता को कानून, नैतिकता, न्याय आदि किसी आधार से चुनौती नही दी जा सकती है लेनिन के लिये सारी नैतिकता सर्वहारा के वर्ग संघर्ष के अधीन है । (3) पार्टी बहुत कडाई से संगठित एक केन्दीकृत संगठन है । इसका ढांचा संघात्मक नही है, और इसमे स्थानीय स्तरो के संगठनो को कोई स्वायत्तता नहीं प्राप्त है। पार्टी का श्रेणीबद्ध संगठन उपर से नीचे तक आदेश और आज्ञापालन के कठोर नियम से बंधा है। अनुशासन इसका मूल मंत्र है। लेनिन प्रारम्भ से ही इस बात मे दृढ विश्वास करता था कि केन्दीयकृत संगठन द्वारा प्राप्त की गयी भौतिक एकता और मार्क्सवाद द्वारा प्राप्त की गयी वैचारिक एकता को जब तक मजबूती के साथ संयुक्त नही किया जायेगा तब तक क्रान्ति सफल नही हो सकती है ।

पार्टी के सम्बन्ध मे लेनिन के विचार सन 1917 की क्रान्ति के पहले ही स्थायित्व प्राप्त कर

चुके थे। यहॉ तक कि 'प्रजातांत्रिक केन्द्रीयतावाद' का सिद्धान्त भी लेनिन के तर्को से जन्म ले चुका था। केवल इसे एक औपचारिक स्वरूप देना बाकी था। क्रान्ति के पश्चात बोल्शिविक पार्टी ने क्रमशः अपने हाथो मे सत्ता संगठित करना प्रारम्भ कर दिया । सन 1920 मे कम्युनिस्ट पार्टी की जो परिभाषा सोवियत रूस की ओर से जारी की गयी वह अपने मौलिक सिद्धान्तो मे वही थी जो सन 1902 मे लेनिन ने दी थी। सन 1921 तक आते आते सोवियत रूस मे लगभग सभी राजनीतिक विरोध पक्ष को समाप्त कर दिया गया, और सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी श्रमिको और किसानो की अकेले रहनुमाई करने का दावा करने लगी। जो भी पार्टी से अलग विचार रखता था उसे प्रतिक्रियावादी और प्रतिक्रान्तिकारी कहा जाने लगा । पार्टी सरकार की शक्ति का अकेला केन्द्र बन गयी। लेमिन ने स्वयं यह कहा कि सोवियत गणतंत्र मे कोई भी महत्वपूर्ण संगठनात्मक और राजनीतिक निर्णय राज्य की संस्थाओ द्वारा अकेले नही लिया जाता, बल्कि यह पार्टी की केन्द्रीय समिति के निर्देशन मे लिया जाता है । पार्टी द्वारा राज्य की सभी संस्थाओ और सभी जन-संगठनो पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिये लेनिन ने धोखा, फरेब, बल प्रयोग आदि सभी तरीको को उचित माना। अन्त मे स्टालिन के समय मे सन 1936 के संविधान ने लेनिन के पार्टी सम्बन्धी विचारों को अन्तिम, स्थायी और औपचारिक स्वरूप प्रदान कर दिया ।

प्रारम्भ से ही लेनिन ऐसे सभी गठबन्धनों और समझौतो के विरूद्ध था जो पार्टी के एकीकृत ढांचे के लिये कोई खतरा उत्पन्न करते थे । सन 1902 मे ही उसके ये विचार बन चुके थे, किन्तु परिस्थितिवश उसने व्यवहार मे कुछ समझौते भी किये । इन समझौतो के बावजूद उसने कभी पार्टी के केन्द्रीकृत ढांचे के सिद्धान्त को सैद्धान्तिक दृष्टि से छोडा नही। अपने ऊपर लगाये जाने वाले आरोपो से बचने के लिये उसने पार्टी के संगठन के सम्बन्ध मे 'प्रजातांत्रिक केन्द्रीयतावाद' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया, किन्तु इसमे, जैसा कि राबर्ट कांक्वेस्ट ने कहा है, केन्द्रीयता प्राथमिक थी और प्रजा तंत्र गौण। ऐसा इसलिये कि पार्टी की केन्द्रीय समिति को स्थानीय स्तरो पर प्रतिनिधि नामित करने का अधिकार था। प्रजातांत्रिक केन्दीयतावाद के सम्बन्ध मे सन 1919 मे आठवीं पार्टी कांग्रेस ने लेनिन ने पहला महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया । पार्टी मे प्रस्तुत लेनिन द्वारा तैयार किये गये प्रस्ताव मे यह कहा गया था कि कठोर केन्द्रीयता और कड़ा अनुशासन पार्टी की सम्पूर्ण अनिवार्यता है। पार्टी के उच्च संगठनो के सभी निर्णय निम्न संगठनो के लिये बाध्यकारी हैं । ऊपर के निर्णय से असहमति हो तो भी पहले उसका क्रियान्वयन करना है, और बाद मे ही उसके विरूद्ध ऊपर अपील की जा सकती है। लेनिन ने पार्टी के लिये सैन्य अनुशासन को अनिवार्य बताया। इसी सिद्धान्त को सन 1921 मे कोमिन्र्टन ने की दूसरी कांग्रेस मे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लागू करते हुये कहा गया कि प्रजातांत्रिक केन्द्रीयतावाद का मुख्य सिद्धान्त यह है कि ऊपरी संगठन के सदस्य निम्न संगठन के सदस्यो द्वारा निर्वाचित किये जायेगे, उच्च संगठन के सभी निर्देश निम्न संगठनो के लिये अनिवार्यतः बाध्यकारी होगे, और पार्टी का एक मजबूत केन्द्र होगा जिसकी सत्ता को बगैर कोई प्रश्न किये सभी पार्टी सदस्य स्वीकार करेंगे ।

पार्टी के प्रजातांत्रिक होने का अर्थ सिर्फ इतना था कि दल के अन्दर विभिन्न मंचो पर दल की उन नीतियो के सम्बन्ध मे पार्टी कार्यकर्ताओ को विचार विमर्श की स्वतंत्रता प्राप्त है जिन नीतियो पर दल ने अभी अपना अन्तिम निर्णय नही दिया है । एक बार अन्तिम निर्णय हो जाने पर फिर किसी असहमति की कोई गुंजाइश नही है । इसका यह भी अर्थ था कि नीतियो के उद्देश्यो के सम्बन्ध मे कोई चर्चा नही की जा सकती थी । केवल उन नीतियो के क्रियान्वयन के सम्बन्ध मे चर्चा हो सकती थी।ऐसी चर्चायें नीतियो के सम्बन्ध मे गॅम्भीर मतभेदो का समाधान नहीं दे सकतीं । लेकिन फिर भी लेनिन के जीवन काल मे पार्टी के अन्दर काफी हद तक स्वतंत्र विचार विमर्श होता रहा, और वे लोग भी जो लेनिन से गम्भीर मतभेद रखते थे पार्टी मे उच्च व उत्तरदायी पदो पर नियुक्त थे । लेनिन का तरीका चतुराई और अपने व्यक्तित्व की शक्ति से पार्टी पर अपना नियंत्रण रखने का था । वह आतंक और शक्ति का प्रयोग से बचने का प्रयास करता था, और यदि शक्ति का प्रयोग बहुत आवश्यक भी हुआ तो कम से कम वह पार्टी के सदस्यो पर इसका प्रयोग नही करता था। लेकिन सन 1921 से स्वतंत्र विचार विमर्श पर कुछ प्रतिबन्ध लगना प्रारम्भ हो गये थे क्योकि विचारो की स्वतंत्र आलोचना के नाम पर अक्सर असहमति

के स्वर काफी तीखे होने लगे थे। पार्टी की केन्द्रीय समिति की अनुशासनात्मक शक्ति को और व्यापक किया गया और पार्टी के अन्दर घटको के निर्माण को प्रतिबन्धित कर दिया गया ।

लेनिन ने प्रजातांत्रिक केन्द्रीयतावाद के सिद्धान्त की आलोचना मरटोव, ट्राटस्की, रोजालक्सब्रर्ग आदि सभी के द्वारा की गयी थी । ट्राटस्की ने पार्टी के भविष्य के बारे मे बहुत सही कहा कि पार्टी का संगठन पार्टी का स्थान ले लेगा, और केन्द्रीय समिति संगठन का स्थान ले लेगी, और अन्त में एक अधिनायक केन्द्रीय समिति का स्थान ले लेगा । लुक्समबर्ग ने इस सिद्धान्त को 'अति केन्द्रीय तावाद' का सिद्धान्त मानते हुये कहा कि यह पार्टी की केन्द्रीय समिति को पार्टी का केन्द्र बना देता है, और पार्टी के दूसरे सभी संगठनो की प्रासंगिकता समाप्त कर देता है । ट्राटस्की की भविष्यवाणी से स्टालिन के समय मे बिल्कुल सही सिद्ध हुयी । लेकिन स्टालिन की तानाशाही के लिये जमीन स्वयं लेनिन ने ही तैयार की थी । सन 1918 मे उसने कहा कि सोवियत प्रजातंत्र और व्यक्तियो द्वारा अधिनायकवादी शक्ति के प्रयोग मे परस्पर कोई अन्तर्विरोध नही है; सन 1920 मे उसने यह कहा कि कभी कभी वर्ग की इच्छा को एक अधिनायक बेहतर तरीके से अभिव्यक्त कर सकता है, और सन 1921 मे उसने बुखारिन को डांट पिलाते हुये यह कहा कि वह यह नही समझाता कि औपचारिक प्रजातंत्र को हमेशा क्रान्ति की आवश्यकताओ के अधीन होना चाहिए। यह सच है कि मृत्यु के निकट पहुच रहे लेनिन को स्टालिन मे अनेक बुराईयां दिखाई दी थी,और वह उसकी कार्य प्रणाली से क्षुब्ध हो कर उसकी शान्ति को नियंत्रित करने के पक्ष मे था, किन्तु स्टालिन द्वारा सोवियत निरंकुश संरचना का निर्माण करने में लेनिन ने अनजाने मे एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी ।

11.5 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त

'अनुभवात्मक आलोचनावाद' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से जर्मनी और आस्ट्रिया के बहुत से दार्शनिको एवं भौतिकशास्त्रियो के विचारो के सम्बन्ध मे किया जाता है । इनमे से प्रमुख है - अर्नेस्टमारव और रिचर्ड अविनेरीयस । इन दोनो ने स्वतंत्र रूप से कार्य किया और उनके निष्कर्ष भी अलग अलग थे। इन्होने अपने विचार भी अलग अलग शब्दावलियो मे व्यक्त किया था, किन्तु इनकी चिन्तन शैली एक ही मार्ग का अनुसरण करती है। रूसी दार्शनिको के एक बडे वर्ग ने अनुभवात्मक आलोचनावाद को मार्क्स पर लागू करने का प्रयास किया, और थोडे समय तक इनके विचारो का काफी प्रभाव भी रहा । इन दार्शनिको का यह प्रयास था कि एक ऐसी दार्शनिक व्यवस्था प्रस्तुत की जाए जो मार्क्स के सामाजिक सिद्धान्त और क्रान्तिकारी रणनीति की संगति मे हो । अनुभवात्मक आलोचनावाद का तत्व दर्शन विरोध और उसकी वैचारिकता ने इन्हे आकर्षित किया था, क्योकि ये दोनो ही लक्षण मार्क्सवाद के साथ अच्छी तरह मेल खाते थे। अतः इनके अनुसार अनुभवात्मक आलोचनावाद को मार्क्सवाद पर लागू किया जा सकता था।

रूस मे बोगदानोव, लूनाचारस्की और बजारोव आदि बोन्शिविक बुद्धिजीवी अनुभवात्मक आलोचनावाद मे विश्वास करते थे। इनमे से सबसे प्रतिभाशाली था बोगदानोव। वहं पेशे से एक डाक्टर होते हुये भी एक कुशल संगठनकर्ता और सिद्धान्तशास्त्री था। प्रारम्भ मे वह लेनिन का प्रमुख सहयोगी था, किन्तु बाद मे ड्यूमा के चुनाव मे बोल्शिविकों की भागीदारी के प्रश्न पर उसका लेनिन के साथ मतभेद हो गया । सन 1909 मे बोगदानोव और उसके बहुत से साथियो को पहले 'बोल्शिविक केन्द्र' और बाद मे केन्द्रीय समिति से निष्कासित कर दिया गया । बोगदानोव के अनुसार मारव का दर्शन मार्क्सवाद का समर्थन करता है। बोगदानोव और दूसरे बहुत से अनुभवात्मक आलोचनावादी यद्यपि मार्क्स मे विश्वास करते थे। किन्तु वे एंजिल्स और प्लेखानोव के विचारो को स्वीकार नही करते थे सन 1906 मे बोगदानोव की पुस्तक 'इम्पीरियोमानिज्म' को लेनिन ने पढ़ा था, और इस पुस्तक मे प्रस्तुत विचारो से लेनिन को बहुत अप्रसन्नता हुई थी, किन्तु जब बोगदानोव की पुस्तक 'एसेज अन द फिलासफी आफ मार्क्स' प्रकाशित हुयी तो इसे पढ़कर लेनिन बहुत अधिक चिढ गया था। बोगदानोव से वैचारिक मतभेद हो जाने के पश्चात अब लेनिन मारव के दर्शन की आलोचना करने के लिये स्वतंत्र था। उसने सन 1904 मे मारव और अविनेरियस को पढा था, और उनके विचारो के सम्बन्ध मे नोट्स बना लिये थे।

लेकिन राजनीतिक परिस्थितियो की प्रतिकूलता के कारण इन्हे प्रकाशित नही किया था। इन्ही नोट्स को बाद मे विस्तार देकर लेनिन ने अपनी पुस्तक 'मेटीरियलिज्म एण्ड इम्पीरियोक्रिटिसिज्म' में सन 1909 मे प्रकाशित किया ।

लेनिन एक दार्शनिक ही नही था, किन्तु द्वन्द्ववाद की धारणा उसके लिये बहुत आकर्षक थी। उसने मार्क्स के चिन्तन मे ही इस धारणा का अध्ययन नही किया था, बल्कि इस धारणा की व्यापक समझदारी के लिये उसने हेगल के विचारो का भी अध्ययन किया था । वह चिन्तन और यथार्थ या ज्ञान और कर्म के सम्बन्धों के दार्शनिक रहस्य से चमत्कृत था, और यह मानता था कि द्वन्द्ववाद की सहायता से इस रहस्य को समझा जा सकता है । मार्क्सवाद मे उसकी आस्था का एक प्रमुख कारण यही था कि सबसे पहले मार्क्स ने द्वन्द्ववाद को उसके सही अर्थो मे प्रस्तुत किया था। अपनी एक नोटबुक मे उसने लिखा है कि द्वन्द्ववाद सभी वस्तुओ का दूसरी सभी वस्तुओ से जीवित सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला सार्वभौमिक और बहुआयामी विचार है । सभी वस्तुओ से लेनिन का तात्पर्य साम..जेक इतिहास में घटने वाली घटनाये है जिसमे कोई घटना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पिछली और भावी घटनाओं से सम्बन्धित होती है, और जिसमे सहयोगी और विरोधी शक्तियाँ मिल कर घटनाओ की एक लम्बी व दुरूह श्रंखला का निर्माण करती हैं। लेकिन इस श्रंखला में एक कड़ी ऐसी है जिसे खोल दिया जाय तो समूची श्रंखला खुल जाती है चिन्तन, जो यथार्थ को 'प्रत्यावर्तित' करता है, का उद्देश्य इसी कड़ी की खोज करना है । चिन्तन अपने आप मे केवल एक 'परछाई' या 'शब्द' है, लेकिन चिन्तन की अर्मूतता जब जीवन मे प्रवेश करती है तब वहॉ वह कुछ नवीन और अनूठा उत्पन्न करती है । जीवन मे नित्य नवीनता है और इसी कारण नूतन सम्भावनाये हैं जिनके बारे मे कोई ठोस भविष्यवाणी नही की जा सकती है जीवन को समझने के लिये हम यांत्रिक नियमो का प्रयोग नही कर सकते है द्वन्द्ववाद जीवन की गति को समझने का एक उपकरण है यह भूत को वर्तमान से जोडकर हमे भविष्य की घटनाओ की जानकारी देता है।

'मेटीरियलिज्म एण्ड इम्पीरियोक्रिटिसिज्म' को किसी ने गम्भीर दार्शनिक कृति के रूप में स्वीकार नही किया है। दार्शनिक दृष्टि से इसका कोई महत्व भी नही है यह पुस्तक एक तो ऐंजिल्स के विचार और प्लेखानोव द्वारा की गयी मार्क्सवाद की व्याख्या की रक्षा करने के उदेश्य से लिखी गयी थी, और दूसरे पार्टी मे उन लोगो पर वैचारिक प्रहार करने के लिए जो अनुभवात्मक आलोचनावाद मे विश्वास करते थे ऐसे लोगो की बातो को लेनिन ने जान बूझ कर तोड मरोड. कर प्रस्तुत किया था। उसके लिये महत्वपूर्ण था पार्टी की वैचारिक शुद्धता, न कि अपने विरोधियो के मतो की ईमानदार प्रस्तुति (वास्तव मे, वह मानता था कि विरोधी की आलोचना का उद्देश्य यही होना चाहिए कि लोगो मे उसके प्रति संदेह और घृणा उत्पन्न कर दी जाय, आलोचना का उद्देश्य उनकी गलतियो को बताना नहीं है बल्कि उसे सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर देना है) बोगदानोव आदि लेनिन के लिये मार्क्सवाद से भटक गये थे, और बुर्जुवा दुश्मन के हाथो मे खेल रहे थे । इन लोगो ने मार्क्स को बजाय हेगल के माध्यम से देखने के कान्ट के चश्मे मे देखना प्रारम्भ कर दिया था । लेनिन का यह कहना तो ठीक था कि कोई व्यक्ति मार्क्सवादी और कान्टवादी दोनो एक साथ नही हो सकता है, किन्तु उसने अपनी पुस्तक मे मार्क्स और काण्ट के दर्शन का कोई तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत नही किया है। ऐसा अध्ययन करने के लिये उसके पास पर्याप्त दार्शनिक क्षमता नही थी ;

लेनिन ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में माख के वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठ वाद पर प्रहार किया है। उसके अनुसार माख का विचार नवकाण्टवाद का प्रमुख उदाहरण था। लेनिन ने अपने तर्कों को मुख्य रूप से एंजिल्स की दो रचनाओं - 'एंटीड्यूहरिंग ' और 'फायरवाख'- से लिया था, किन्तु जैसा कि सबाइन ने कहा है तर्क का उसका तरीका एंजिल्स से अलग था। 'जब कि एंजिल्स अपने विरोधियो के सिद्धान्तो पर प्रहार करता था, वह अपने विरोधियो के चरित्र पर। माख के लिये लेनिन ने कहा कि 'वैज्ञानिक माख का दर्शन विज्ञान के लिये वही काम करता है जो जुडास द्वारा क्राइस्ट का लिया हुआ चुम्बन (यहॉ यह बता देना उचित हो गा कि जुडास ने ईसा मसीह को धोखा दिया था) लेनिन ने एंजिल्स से इस बेतुके विचार को प्राप्त किया था कि केवल दो ही दार्शनिक विचारधाराये होती है - एक भौतिकवादी विचारधारा और

लेनिन (1870-1924)

दूसरी आदर्शवादी विचारधारा। भौतिकवाद लेनिन के लिये वह दार्शनिक विचारधारा है जिसके अनुसार भौतिक पदार्थो का वस्तुगत अस्तित्व होता है; यह हमारे जानने पर निर्भर नही करता । लेकिन उसने इस बात को इतने अलग अलग तरीको से कहा कि उनके अलग अलग निष्कर्ष निकलते है। कभी यह कहा कि भौतिक पदार्थो का ज्ञान संवेगो से होता है, कभी यह संवेग हमारे मस्तिष्क मे वस्तुओं की प्रतिछाया उत्पन्न करते है; और कभी यह कि हम प्रत्यक्ष रूप से पदार्थो का अनुभव कर लेते हैं। विचार पदार्थो को, लेनिन के लिये, 'प्रत्यावर्तित' करते हैं। लेनिन कहीं वह यह भी कहता है कि विचार पदार्थो की प्रतिछाया होते हैं। कहीं प्रतिछाया की जगह 'चित्र' शब्द का प्रयोग भी किया गया है । स्पष्ट है कि लेनिन को इस बात का ज्ञान नही था कि इन शब्दो के अलग अलग अर्थ है, इसलिए इनके अलग अलग निष्कर्ष भी निकलेगे। भौतिकवाद के सम्बन्ध मे लेनिन के समस्त कथन, जैसा कि जार्ज लिचथियम ने कहा है, अठारहवी शताब्दी के भौतिकवाद को सिर्फ फिर से प्रस्तुत भर करते हैं ।

आदर्शवाद को लेनिन मनोगतवाद से जोडता है । उसके लिये मनोगतवाद वस्तुगत यथार्थ को स्वीकार नही करता है । यह झूठा है इसलिये कि विज्ञान वस्तुगत अस्तित्व को अनुभवात्मक धरातल पर सिद्ध कर सकता है । आदर्शवाद झूठा तो है किन्तु अनुपयोगी नही । आदर्शवाद और पुरोहितवाद को एक ही अर्थ मे लेते हुये लेनिन कहता है कि जिस तरह पुरोहितवादी विचारधारा धर्म का महाजाल बुनती है और शोषितो मे यह भ्रम उत्पन्न करती है कि उनकी दरिद्रता का कारण उनका भाग्य है। और साथ मे शोषकवर्ग की सत्ता को मजबूती देती है । उसी तरह आदर्शवादी विचारधारा भी बुर्जुवा व्यवस्था का समर्थन करती है; उनकी सत्ता का दार्शनिक औचित्य प्रस्तुत करती है । चूंकी केवल दो ही दार्शनिक धारायें हैं; और माख का वस्तुनिष्ठ वाद लेनिन के लिये भौतिकवाद है नही तो यह केवल एक प्रछन्न आदर्शवाद ही हो सकता है । लेनिन के शब्दो मे 'यह एक गैर जिम्मेदार किस्म का आदर्शवाद है जो विज्ञान के आवरण मे पुरोहितवाद को छिपाये हुये है' माख का वस्तुनिष्ठवाद भौतिक जगत की सत्ता पर प्रश्न चिन्ह लगा देता है, यदि इसका अस्तित्व है भी तो यह ज्ञेय नहीं है । लेनिन के लिए विचारधाराये इतिहास द्वारा निर्मित होती है । माख का वस्तुनिष्ठवाद गैर ऐतिहासिक है। यह शब्दो का एक जाल है जिसका उद्देश्य धार्मिक आध्यात्मवाद को प्रतिष्ठित करना है ।

लेनिन के समय मे कुछ महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी धार्मिक प्रश्नो - जैसे जीवन का अर्थ, उसका उद्देश्य आदि मे रूचि लेने लगे थे । ये प्रश्न मार्क्स के लिये कोई महत्व नही रखते थे। ऐसे क्रान्तिकारियो को भी लेनिन अपनी आलोचना के निशाने पर रखता है। खास कर उनकी वह विशेष रूप से आलोचना करता है जो धर्म और मार्क्सवाद को जोडने का प्रयास कर रहे थे। बोगदानोव से लेनिन का मतभेद, धार्मिक संवेदनाओ के प्रश्न पर, आगे चलकर उसका मौक्सिमगोर्की के साथ भी मतभेद उत्पन्न करता है। मार्क्स ने धर्म को 'जनता की अफीम' तो माना था, किन्तु जब इस वाक्य को उसके पूरे कथन के साथ देखा जाता है तो यह वाक्य हमारी संवेदना को स्पर्श भी करता है। उसने कहा था कि 'धर्म शोषितों की आह है,यह एक हृदयहीन दुनिया का हृदय है, यह आत्मविहीन सड़न की आत्मा है। यह जनता की अफीम है।' लेनिन मार्क्स से सिर्फ इतना लेता है कि यह 'जनता की अफीम' है । उसके लिये धर्म और ईशवर का विचार एकखतरनाक प्रकार की नीचता है, यह निकृष्टतम प्रकार का छूत है। उसके लिये चाहे जितने भी उदूदेश्य से ईश्वर की चर्चा की जाय यह चर्चा सिर्फ प्रतिक्रियावाद का समर्थन ही करती है।

लेनिन के तर्क आदर्शवाद और भौतिकवाद की विचारधाराओ पर कोई प्रकाश नही डालते, किन्तु उसके बौद्धिक दृष्टिकोण को अवश्य स्पष्ट करते हैं, आदर्शवाद से वह घृणा तो करता था किन्तु इससे उसे कोई भय नही था क्योकि यह एक पहचाना हुआ शत्रु था । इसका स्वरूप और इसका उद्देश्य लेनिन के लिये स्पष्ट था। किन्तु माख का वस्तुनिष्ठवाद जो अनुभवात्मक और गैर सत्तावादी था और जो तत्व दर्शन सम्बन्धी विवादो मे कोई रूचि नहीं रखता था लेनिन के लिये नैतिक दृष्टि से अनुचित था। यह लेनिन के मन मे एक नैतिक विकर्षण उत्पन्न करता था। लेनिन के लिये यह भौतिकवाद नही एक प्रकार का आत्मवाद है जो यह मानता है कि ज्ञान केवल आत्मा का हो सकता है । माख और उसके विज्ञानवाद के प्रति लेनिन का यह दृष्टिकोण विज्ञान और द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध मे मार्क्स के विचारो मे भारी परिवर्तन

कर देता है । मार्क्स के लिये द्वन्द्ववाद इतिहास और सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन की एक विशिष्ट पद्धति है इन्हे तर्क की साधारण पद्धतियो से नही समझा जा सकता क्योकि इनके साथ प्रगति का आयाम जुडा है। मार्क्स ने यांत्रिक भौतिकवाद को हटाने के उद्देश्य से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया था। केवल यह कहा था कि यांत्रिक भौतिकवाद का प्रयोग इतिहास और समाज के अध्ययन मे नही किया जा सकता। मार्क्स के बाद जब भौतिकशास्त्र न्यूटन के भौतिकशास्त्र से आगे विकसित हुआ तो पदार्थ की नयी धारणा के साथ नयी सम्भावनायें भी उत्पन्न हुयी। लेनिन वास्तव मे इस बात से चिन्तित था कि इन नयी सम्भावनाओ का गलत प्रयोग कर एक प्रकार के 'धार्मिक रहस्यवाद' का सिद्धान्त गढ़ा जा सकता है। इसी को ध्यान मे रखते हुयें उसने द्वन्द्ववाद और विज्ञान का वह सम्बन्ध निर्धारित किया जो मार्क्स के चिन्तन मे नही था। अब द्वन्द्ववाद इतिहास और समाज के अध्ययन की केवल एक विशिष्ट पद्धति नही रह गया बल्कि यह समूची भौतिक प्रकृति की व्याख्या करने वाला एक सार्वभौम सिद्धान्त हो गया। यह सभी विज्ञानो पर लागू होता है और सभी रहस्यो को खोल सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इसे एक ऐसी सत्ताधारी स्थिति मे रख देती है कि जो भी अब इसकी सत्ता मे विश्वास नही रखता वह सिर्फ एक विधर्मी है ।

लेनिन का यह विश्वास था कि विचारो का प्रयोग हथियार की तरह होता है उसने मार्क्सवाद की वैचारिक व्यवस्था को सर्वहारा के वर्ग संघर्ष मे एक धारदार हथियार के रूप मे स्वीकार किया है वैचारिक निष्पक्षता उसके लिये न ही सम्भव है और न इसका कोई महत्व है। उसने लिखा है कि अर्थशास्त्र के प्रोफेसर पूंजीवाद के विक्रेता हैं और दर्शन शास्त्र के प्रोफेसर धर्मशास्त्र के। दर्शन स्वतः शोषण का एक परिष्कृत उपकरण है। समाज का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त अधिक से अधिक समाज के आर्थिक एवं ऐतिहासिक विकास का एक सामान्य खाका प्रस्तुत कर सकता है, और यह बता सकता है कि विकास के कारक क्या हैं। दर्शन, अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र मे वैज्ञानिक निष्पक्षता निहित स्वार्थ को छिपाने का केवल एक आवरण है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के ढांचे के अन्तर्गत सामाजिक विज्ञान के दो सिद्धान्त सम्भव है।एक मध्यम वर्ग या पूंजीपति वर्ग के हितो को पूरित करता है, और दूसरा सर्वहारा के हितो को । कोई समाज वैज्ञानिक या तो मध्यम वर्ग का समर्थक होता है या सर्वहारा वर्ग का । इस प्रकार वह किसी एक सामाजिक वर्ग का हिमायती हैं वह स्वतंत्र नही है लेनिन ने यह कहा था कि जो सामाजिक विज्ञान सर्वहारा का सर्मथन करता है वह श्रेष्ठ है लेकिन इस कारण से नही कि यह अधिक निश्चयात्मक है या अनुभवात्मक दृष्टि से अधिक भरोसेमन्द है। इसकी श्रेष्ठता का कारण यह है कि यह भविष्य के वेग का प्रतिनिधित्व करता है, यह सर्वहारा, जो भविष्य का विजेता वर्ग है का समर्थन करता है। पूंजीवादी मध्यम वर्ग एक ऐसा युद्ध लड रहा है जो वह पहले ही हार चुका है। यह पूंजीवाद का विघटन रोक नही सकता है, केवल कुछ समय के लिये भविष्य की साम्यवादी व्यवस्था का आना टालमर कर सकता है । इस वर्ग का सामाजिक विज्ञान गतिहीन, प्रतिगामी और सड़ांध से भरा है ।

चूँकि लेनिन ने अपनी पुस्तक को विज्ञान के सिद्धान्त तक सीमित रखा है अतः इसमे सहित्य व कला के सम्बन्ध मे उसने बहुत कम लिखा है । लेकिन इसमे कोई सन्देह नही है कि साहित्य और कला का उसके लिये अलग से कोई महत्व नही था। इन्हें क्रान्ति के उद्देश्यो को पूरा करना चाहिए । सन 1905 मे ही उसने यह कहा था कि 'साहित्य को महान समाजवादी प्रजातांत्रिक मशीन का पहिया और पेच होना चाहिए' । वह रूसी साहित्य का प्रशंसक तो था और रचनाकारो का सम्मान भी करता था किन्तु क्रान्ति के लिये इस साहित्य की कोई उपयोगिता वह स्वीकार नही करता था। अच्छे संगीत भी लेनिन को पसंद थे, किन्तु सभी कट्टरपंथियो की भांति वह अपने उद्देश्य के लिये सभी चीजो - नैतिकता, न्याय, कानून, मित्रता - की बलि चढा देने मे कोई संकोच नही करता था। लेनिन की पुस्तक जब सन 1909 मे प्रकाशित हुयी तब शायद ही किसी ने इस पर ध्यान दिया हो, एक दो लोगो, जैसे ल्यूबोव अक्सेलराड ने इस पर टिप्पणी किया । इस पुस्तक को उस समय रूस से निर्वासित कुछ साम्यवादियो की पार्टी के आन्तरिक कलह की उपज के अलावा और किसी रूप मे नही स्वीकार किया गया था लेकिन लेनिन की मृत्यु के पश्चात इस पुस्तक को एक गम्भीर दार्शनिक रचना मानते हुये विश्वविद्यालयों में दर्शन के पाठ्यक्रम का अनिवार्य अंग बना दिया गया था। इसी क्रम मे टिप्पणी करते

हुये जार्ज लिचथीयम ने कहा है कि रूस मे दर्शन शास्त्र के विद्यार्थियों की एक पूरी पीढी को इस पुस्तक ने अज्ञानता के अंधकार में रखा ।

11.6 पूंजीवाद का साम्राज्यवादी स्वरूप

साम्राज्यवाद शब्द का प्रयोग कई अर्थो मे किया गया है। राजनीतिक प्रभुत्व,आर्थिक शोषण, क्षेत्रीय विस्तार इत्यादि बहुत से अर्थो को यह शब्द प्रगट करता है। मार्क्सवादियों ने विशेष रूप से साम्राज्यवाद का अध्ययन किया है। सभी मार्क्सवादी इस बात पर सहमत है कि साम्राज्यवाद का प्रमुख कारण पूंजीवाद है, और वे सभी इसकी व्याख्या निजी पूंजी के आर्थिक हितो के संदर्भ मे करते है। उनके लिये साम्राज्यवाद एकाधिकारवादी पूंजीवाद के युग मे विश्व स्तर पर पूंजी के सचंयन की प्रक्रिया से सम्बन्धित है, और साम्राज्यवाद का सिद्धान्त विश्व बाजार के संदर्भ मे इस संचयन का शोध करता है। मार्क्स के चिन्तन मे साम्राज्यवाद का कोई सिद्धान्त नही है। उसने वह नही सोचा था कि आने वाले समय मे बडी पूंजीवादी शक्तियां एशिया व अफीका के देशो मे अपने विस्तार के लिये प्रतियोगिता करेगी । किन्तु मार्क्स का यह कथन कि 'पूंजीवादी उत्पादन का वास्तविक अवरोध स्वतः पूंजी है' साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्रारम्भ-बिन्दु माना जा सकता है। मार्क्स के लिए प्रतियोगिता और खुले द्वार की आर्थिक नीति ही पूंजीवाद के यथार्थ स्वरूप को प्रस्तुत करती है एकाधिकारवाद पूंजीवाद को विकृत करता है। साम्राज्यवादी प्रभुत्व के अर्न्तगत अविकसित देशो का आर्थिक विकास अवरूद्ध हो जाता है। यह पूंजीवाद के विश्वव्यापी विकास मे बाधा उत्पन्न करता है । अतः पूंजी के निवेश को और उत्पादो के निर्यातकों को जिस बाजार की आवश्यकता है उसी बाजार का विकास साम्राज्यवाद अवरूद्ध कर देता है । पूंजीवाद के साम्राज्यवादी विस्तार मे यह एक अर्न्तविरोध की स्थिति है जिसे मार्क्स ने पहचाना तो था किन्तु अपनी बाद की रचनाओ मे उसने इस पर ध्यान नही दिया था। भारतवर्ष मे ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध मे उसने यदा कदा जो कथन दिये उसी से साम्राज्यवाद का आन्तरिक अर्न्तविरोध स्पष्ट होता है । उसने कहा था कि ब्रिटेन भारत मे दुहरी भूमिका निभा रहा था - एक विध्वंसात्मक और दूसरी सृजनात्मक। पहली भूमिका के अन्तर्गत ब्रिटेन भारत मे एशियाई सामाजिक संरचना, हस्त एवं शिल्प कला को नष्ट कर रहा है, लूट व शोषण का राज स्थापित कर रहा है, किन्तु दूसरी के अन्तर्गत वह भारत के माध्यम से एशिया मे पाश्चात्य भौतिक समाज की आधारशिला स्थापित कर रहा है जो एशिया को इतिहास की मुख्य धारा से जोडेगा।

रूढिवादी मार्क्सवाद के अर्न्तगत साम्राज्यवाद के सम्बन्ध मे लेनिन के विचार साम्राज्यवादी सिद्धान्त का आधार प्रस्तुत करते हैं। हालांकि लेनिन के विचार दूसरो की तुलना मे मौलिक नही थे किन्तु उसके ही विचारो को प्रमुखता प्राप्त हुयी है। उस की रचना 'इम्पीरियलिजम, द हायस्ट स्टेज आफ कैपिटलिज्म' साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त मे एक महत्वपूर्ण योगदान है। किन्तु सन 1916 मे इस पुस्तक के प्रकाशन के लगभग दो दशको पहले लिखे अपने दो लम्बे निबन्धो - 'आन द सो काल्ड मार्केट क्युशचन' और 'कैरैक्टराइजेशन आफ इकोनोमिक रोमैन्टिसिज्म' मे भी लेनिन ने इस सम्बन्ध मे अपने विचारो को स्पष्ट किया था । इन निबन्धो मे वह मार्क्स के संचय के सिद्धान्त की रक्षा करता है, पूंजीवादी बाजार के सिद्धान्त को विकसित करता है और रूमानी समाजवादियो की आलोचना करने के उद्देश्य से पूंजीवाद के विकासवादी स्वभाव को प्रस्तुत करता है। लेनिन ने 'इम्पीरियलिज्म' शीर्षक से जो उपर्युक्त पुस्तक लिखा था उसके दो उद्देश्य थे - एक तो मार्क्स द्वारा किये गये पूंजीवाद के विश्लेषण को विस्तार देना, और दूसरा द्वितीय अंर्तराष्ट्र के नेताओ पर प्रहार करना ।

मार्क्स के अनुसार ज्यो ज्यो पूंजीवाद परिपक्व होता जायेगा। त्यों त्यों औद्योगिक श्रमिक के जीवन स्तर मे गिरावट आयेगी, उनकी दरिद्रता बढेगी । श्रमिक वर्ग का तेजी से बढता शोषण क्रान्ति को अनिवार्य बना देगा । किन्तु पाश्चात्य देशो मे ऐसा नही हुआ। जो श्रमिक वर्ग मार्क्स के लिये क्रान्तिकारी वर्ग था वह कान्ति सम्पन्न करने की कोई क्षमता पदर्शित नही कर रहा था। अतः लेनिन के सामने श्रमिक वर्ग की क्रान्तिकारिता सिद्ध करने की समस्या थी । उसे यह पदर्शित करना था कि मार्क्स ने पूंजीवाद की

कार्य प्रणाली को समझने मे कोई भूल नही की है, उसका पूंजी संचयन का सिद्धान्त निर्दोष है, और औद्योगिक श्रमिक विश्वव्यापी पूंजीवाद के विस्तार मे समय समय पर उत्पन्न होने वाली उल्टी धाराओ के बीच फंस कर अस्थायी तौर पर अपनी क्रान्तिकारी क्षमता को प्रदर्शित नही कर पा रहा है। उसे उसके नेताओ ने गुमराह भी कर दिया है । अतः न तो मार्क्स गलत था और न श्रमिकों मे कोई दोष था। इम्पीरियलिज्म का दूसरा उद्देश्य था समाजवादी नेताओ पर प्रहार । 28 जुलाई 1914 को आस्ट्रिया ने सार्विया के साथ युद्ध की घोषणा कर दी, और एक सप्ताह के अन्दर समूचा योरोप युद्ध मे घिर गया । यह युद्ध बाद मे उपनिवेशो मे भी फैल गया। यह था प्रथम विश्व युद्ध। इस युद्ध ने पाश्चात्य देशों के समाजवादियों में एक विभाजन की स्थिति उत्पन्न कर दिया। लेनिन इस बात से चकित था कि लगभग सभी देशो की समाजवादी पार्टियो ने युद्ध मे अपनी सरकारो का सर्मथन किया था। केवल मुट्ठी भर मार्क्सवादी,जैसे लिबकनेख्त और लुक्सम्बर्ग, लेनिन के साथ रह गये थे। लेनिन जर्मनी की सोशल डिमोक्रेटिक पार्टी को वैचारिक रूप से सबसे अधिक गम्भीर और प्रौढ़ मानता था, किन्तु इस पार्टी ने लेनिन को सबसे अधिक निराश किया था। जबकि लेनिन को यह समाचार मिला कि इस पार्टी ने युद्ध बजट के प्रस्ताव पर सरकार के सर्मथन मे मतदान किया था तब पहले उसने इसका विश्वास ही नही किया। बाद मे लेनिन ने लगभग पूर्ण रूप से योरुपीय समाजवाद से अपने को अलग कर लिया था ।

वास्तव में, लेनिन ने पाश्चात्य समाजवाद को समझने मे भूल कर दी थी। वह उसके कान्तिकारी चेहरे को देख कर यह नही समझ सका कि जर्मनी का औद्योगिक श्रमिक उस समाज के साथ, जिसे वह अपने पक्ष मे सुधारने का प्रयास कर रहा था, समायोजित भी हो चुका था, वह उस समाज का एक हिस्सा था। जर्मनी की सोशल डिमोक्रेटिक पार्टी इस यथार्थ से अपने को अलग नही कर सकती थी। दूसरी ओर, इस पार्टी के लिये रूस मे अपने समाजवादी साथियो की बाध्यताओ को समझ पाना बहुत आसान नही था । यह पार्टी इस बात को नही समझ सकी कि रूस की भिन्न परिस्थितियो मे मार्क्सवाद उसी रूप में लागू नही किया जा सकता जिस रूप मे इसे पश्चिमी योरुप के देशो मे किया जा सकता है। योरुप के सभी देशो मे रूस अब भी सबसे पिछडा और सबसे अधिनायकवादी देश था । कृषको की स्थिति मे थोडा सुधार अवश्य हुआ था किन्तु वे अब भी बडी दरिद्रता की स्थिति मे थे, औद्योगिक उत्पादन बढा तो था किन्तु औद्योगिक श्रमिको का पारिश्रमिक अब भी अपर्याप्त था और वे ऐसे नियमो मे बंधे हुये थे जो पाश्चात्य देशो मे कभी सहन नही किये जा सकते थं, बुद्धिजीवी वर्ग का एक हिस्सा रूस मे शासनतंत्र के उदारवादी विकास की आशा करता था किन्तु आम तौर पर यह वर्ग शासन से असंतुष्ट था, और सबके केन्द्र मे थी जारशाही, हालांकि इस जारशाही का अधिनायक स्वतः अधिनायकवादी चरित्र का नही था। उसकी पत्नी जो एक दृढ़ इच्छा शक्ति की स्त्री थी रास पुतिन नाम के एक रहस्यमय व्यक्ति (जिसके बारे मे यह कहना मुशिकल है कि वह साधु था या शैतान) की इच्छाओ के अधीन थी क्योकि उसे ऐसा विश्वास था कि रक्त स्राव की जान लेवा बीमारी से उसके बेटे की रक्षा सिर्फ वही व्यक्ति कर सकता था। लेनिन के सामने रूस के इस चित्र की एक एक रेखाये स्पष्ट थी इसी कारण वह रूसी स्थिति का सिर्फ अपना विश्लेषण ही सही मानता था इसी विश्लेषण के आधार पर उसकी यह मान्यता था कि इस युद्ध मे जारशाही और रूसी सैना की पराजय सर्वहारा के हित मे होगी । उसका यह नारा था कि 'साम्राज्यवादी युद्ध को नागरिक युद्ध मे बदल दो' ।

साम्राज्यवाद का अध्ययन लेनिन के पहले काउत्सकी, हिलफर्डिंग, बुखारिन और लुक्सम्बर्ग जैसे मार्क्सवादियो ने भी किया था। एक गैर मार्क्सवादी अर्थशास्त्री हाबसन ने साम्राज्यवाद की आलोचना उदारवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत की थी। काउत्सकी का विश्लेषण यद्यपि मार्क्सवादी चिन्तन की परम्परा मे सबसे से अधिक परिष्कृत था, लेकिन लेनिन ने इसका भरपूर विरोध किया था। साम्राज्यवाद के सम्बन्ध मे काउत्सकी और लेनिन के विचारो मे बहुत सी समानतायें थी, किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ होने के बाद काउत्सकी ने अपने विचारो में संशोधन कर लिया था, और इसी कारण लेनिन के लिये वह अब एक विधर्मी हो गया था। काउत्सकी अब यह सम्भावना देखने लगा था कि विश्व में एक 'अति साम्राज्यवाद' की स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसके अन्तर्गत विकसित पूंजीवादी देश पूरी दुनिया को आपस मे

:क अर्न्तराष्ट्रीय कारटेल के माध्यम से शान्तिपूर्ण तरीके से बांट लेगे। लेनिन के लिये यह असम्भव था। :सके अलावा काउत्सकी ने केवल औद्योगिक पूंजी को अपने विश्लेषण का आधार बनाया था। उसने वेत्तीय पूंजी को अनदेखा कर दिया था। हिल फार्डिग हालांकि राजनीतिक रूप से काउत्सकी से जुडा :आ था किन्तु वह लेनिन को स्वीकार था, क्योकि उसने साम्राज्यवाद और वित्तीय पूंजी मे एक सम्बन्ध स्थापित किया था। लेनिन हिलफार्डिंग के इस कथन का समर्थन करता था कि 'वित्तीय पूंजी को स्वतंत्रता :ही आधिपत्य चाहिये'। हिलफार्डिग का यह मत था कि एकाधिकार वाद के कारण राष्ट्रो मे साम्राज्यवादी :त्रुता उत्पन्न होती है । राष्ट्रीयता के आधार पर गठित एकाधिकारवादी शक्तियॉ अपने संरक्षित बाजार ो विस्तार देने के उद्देश्य से साम्राज्यवादी नीतियो का अनुसरण करती हैं, किन्तु युद्ध केवल एक :म्भावना है, यह अनिवार्य नही है। बुखारिन के लिये क्रान्ति की सम्भावनाओ और विश्व अर्थव्यवस्था े टेडे मेढ़े विकास मे एक सीधा सम्बन्ध था। साम्राज्यवाद उसके लिये उत्पादन की अराजकता को राज्य ी निर्देशन शक्ति के माध्यम से नियंत्रित करने का प्रयास करता है। लेकिन फिर भी अर्न्तविरोध समाप्त :ही होते, और विश्व स्तर पर यह तीखी प्रतियोगिता युद्ध को जन्म देती है । हाबसन का अध्ययन भी :निन ने किया था, और उसके विचारो से प्रभावित हुआ था। सन 1902 मे हाबसन ने साम्राज्यवाद का ो तथ्यात्मक विश्लेषण किया था उसी ने लेनिन को साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को निर्मित करने के लिये रित किया था। लेकिन जिस प्रकार लेनिन हिलफार्डिग के सभी निष्कर्षों को स्वीकार नही करता उसी कार वह हाबसन की इस बात को भी स्वीकार नही करता कि उपभोग के स्तर का उत्पादन के स्तर । नीचे रहना साम्राज्यवाद का मूल कारण है। अपने देश मे निवेश की सम्भावना का अभाव दूसरे देशो ो अपने आधिपत्य मे रखने के लिये विकसित देशो को प्रेरित करता है । लेनिन ने हाबसन के उपभोग ; निम्न स्तर के कारण को अस्वीकार करते हुये हिलफर्डिग के वित्तीय पूंजी के कारण को साम्राज्यवाद ो प्रेरक शक्ति के रूप मे स्वीकार किया था। लुक्समबर्ग से लेनिन ने अधिक कुछ नही लिया था, क्योकि ाम्राज्यवाद के प्रति लुकम्सम्बर्ग की दृष्टि अविकसित देशो को अधिक महत्व देती थी, और एक प्रकार ; 'साम्राज्यवादी अर्थवाद' के सिद्धान्त को प्रकारान्तर से स्थापित करती थी।

लेनिन ने साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को एक ओर हाबसन और दूसरी ओर हिलफर्डिग व बुखारिन ; विश्लेषण को संयुक्त करके निर्मित किया । 'इम्पीरियलिज्म' में लेनिन ने साम्राज्यवाद के पांच प्रमुख क्षणो की एक सूची प्रस्तुत की । ये लक्षण हैं - (1) उत्पादन और पूंजी का ऐसा विकास और न्द्रीयकरण होता है जिससे एकाधिकार वाद का जन्म होता है, और यही आर्थिक जीवन मे निर्णायक मिका निभाता है, (2) बैक पूंजी और औद्योगिक पूंजी का विलय वित्तीय पूंजी को जन्म देता है, और लस्वरूप एक वित्तीय तंत्र की स्थापना होती है; (3) उत्पादित वस्तु के साथ पूंजी का निर्यात भी होता , किन्तु पूंजी के निर्यात की प्रमुखता होती है; (4) पूंजी का अर्न्तराष्ट्रीय एकाधिकारवाद दुनिया को भाजित करता है, और पूंजीवादी शक्तियो के बीच दुनियां उनके प्रभाव क्षेत्र के अनुरूप बंट जाती (5) उन्नत पूंजीवादी शक्तियो द्वारा दुनियां को पूरी तौर पर भौगोलिक रूप से विभाजित कर दिया ाता है जिससे भविष्य मे पुर्नविभाजन के लिये नये संघर्ष होते हैं। इन सभी लक्षणो मे पूंजी के निर्यात : सबसे अधिक बल दिया है, और बहुधा मार्क्सवादियो ने इसे साम्राज्यवाद का अकेला लक्षण माना । किन्तु पूंजी के निर्यात का अर्थ दुविधा पूर्ण है, क्योकि उत्पाद, अपने परिपथ मे, पूंजी का रूप लेता ।

उपर्युक्त पांच लक्षणों के अन्तर्गत लेनिन ने साम्राज्यवाद की आर्थिक कार्य प्रणाली का विश्लेषण :तुत किया। जैसे जैसे औद्योगिक इकाइयॉ आकार मे बडी होती जाती है वैसे वैसे ये एकाधिकारवादी ती जाती है, और एक समय ऐसा आता है जब एकाधिकारवाद पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का नियंत्रक हो ता है । व्यापारिक गतिविधियॉं न्यास और कारटेल के अन्तर्गत गठित होने लगती है। राष्ट्रीय स्तर : पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा धूमिल पड जाती है, और उद्योगो पर वस्तुओ के उत्पादकों का नियंत्रण समाप्त जाता है । इनके स्थान पर निवेशको और बैक स्वामियो का नियंत्रण स्थापित होता है । औद्योगिक व्यापारिक पूंजी का बैक पूंजी के साथ विलय एक वित्तीय तंत्र को उत्पन्न करता है जो आर्थिक

व्यवस्था मे निर्णायक भूमिका निभाने लगता है। राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक अन्तर्विरोधो के शिथिल पडने से पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की अराजकता तो एक सीमा तक नियंत्रित हो जाती है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यही अराजकता प्रगट होने लगती है। निरन्तर ऊँचीदर का मुनाफा प्राप्त करने की होड मे लगे पूंजीवादी देश इस मुनाफे को प्रात्प करने के लिये अविकसित देशो मे पूंजी निवेश करते हैं। और वहाँ के सस्ते कच्चे माल और सस्ते श्रम का लाभ प्राप्त करते हैं। अपने उत्पादो के लिये बाजार खोजने और उसे अपने कब्जे मे बनाये रखने की होड़ से राष्ट्रों या पूंजीवादी राष्ट्र गुटों के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न होती है। राष्ट्रीय स्तर पर राज्य की नियंत्रक शक्ति और एक मध्यस्थ की उसकी भूमिका के नाते, एक प्रकार के राजकीय समाजवाद की स्थापना होती है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति स्वामित्व और लूट के लिये युद्ध मे परिवर्तित हो जाती है । सन 1914 के युद्ध के प्रति लेनिन की यही दृष्टि थी। उसके लिये यह युद्ध जर्मन पूंजीपतियो तथा उनके सहयोगियो और अंग्रेज पूँजीपतियों तथा उनके सहयोगियों के बीच अफ्रीका के कब्जे के लिये लडा जा रहा था। लेनिन के लिये एकाधिकारवादी एवं वित्तीय पूंजीवाद का जन्म तार्किक रूप से स्वतंत्र प्रतियोगिता पर आधारित पूंजीवाद से होता है,राजनीतिक साम्राज्यवाद एकाधिकार वादी पूंजीवाद की तार्किक उपज है, और युद्ध राजनीतिक साम्राज्यवाद की तार्किक परिणति है। अतः साम्राज्यवाद पूंजीवाद की 'उच्च अवस्था' है, किन्तु यह एक संक्रमणकालीन अवस्था है। नयी अवस्था साम्यवाद की अवस्था है और यह अनिवार्य है।

पूंजी का निर्यात, लेनिन के अनुसार, अविकसित देशो मे औद्योगीकरण की प्रकिया तेज कर रहा है,और इस प्रकार पूंजीवाद का विश्वव्यापी विस्तार कर रहा है । किन्तु पूंजीवाद का मौलिक स्वभाव परिवर्तित नही हो सकता है । इसका अर्न्तनिहित अर्न्तविरोध केवल अपना रूप बदल सकता है । साम्राज्यवादी शासक दलों और श्रमिको दोनो ने अपने को प्रतियोगी राष्ट्रीय समूहो मे गठित कर लिया है,और अपने अपने स्वार्थो की लडाई मे लगे हुये हैं। इन्होने राष्ट्रीय एकाधिकारवाद की स्थापना कर कृत्रिम तरीके से स्वतंत्र प्रतियोगिता को अवरूद्ध कर दिया है, किन्तु यह अवरोध पूंजीवाद के स्वभाव के प्रतिकूल है । पूंजीवादी उत्पादन शक्तियॉ पुनः शक्तिशाली होकर उभरेगी, और उन कृत्रिम अवरोधो को नष्ट कर देगी । एक राष्ट्रीय एकाधिकारवादी शक्ति को दूसरी राष्ट्रीय एकाधिकार वादी शक्ति से संघर्ष करना पडेगा । सबाइन के अनुसार लेनिन का अध्ययन उसे मुख्यतः दो निष्कर्षो की ओर ले जाता है - (1) पूंजीवादी अर्थव्यवस्था आर्थिक मंदी को कभी नियंत्रित या समाप्त नही कर पायेगी, और पूंजीवाद निरन्तर आर्थिक दुष्चक्र मे फंसता चला जायेगा, (2) साम्राज्यवादी देश युद्ध से कभी बच नही पायेगे । सन 1914 का युद्ध भविष्य के युद्धो की लम्बी श्रंखला की पहली कड़ी है। कुल मिला कर, लेनिन यह कहना चाहता है कि पूंजीवाद दरिद्रता और युद्ध दोनो के लिये उत्तरदायी है। लेनिन ने दोनो ही निष्कर्ष गलत थे ।

साम्राज्यवाद लेनिन के लिये जीवनी शक्ति से च्युत, सड़ा हुआ परजीवी है। इसका परजीवी स्वरूप और इसकी सडाधता दो आपस मे संयुक्त रूपो में प्रगट होती हैं । मुट्ठी भर प्रगतिशील पूंजीवाद देश पूरी दुनियां को लूट रहे हैं, और यह लूट पूंजी ने निर्यात के माध्यम से हो रही है । पूंजी का निर्यात ऊंचे दर का अतिरिक्त मुनाफा उत्पन्न करता है जिसका एक हिस्सा पूंजीपति अपने देश के श्रमिक नेताओ और श्रमिक कुलीनतंत्र के प्रतिष्ठित लोगो मे वितरित कर उनका समर्थन प्राप्त कर लेता है । लेकिन पूंजीवाद एक अंधी गली में प्रवेश कर चुका है । यह आन्तरिक रूप से मृत्यु को प्राप्त कर चुका है। औपनिवेशिक शोषण के माध्यम से यह अपनी मृत्यु को टालने का प्रयास तो कर रहा है, किन्तु यह अधिक दिनो तक टाल नहीं सकेगा । लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त आगे चल कर उपनिवेशो की शोषित जनता को सर्वहारा वर्ग मे सम्मिलित कर लेता है , हालांकि मार्क्स के लिये सर्वहारा का जन्म केवल पूंजीवादी उत्पादन पद्धति द्वारा ही होता है । लेनिन ने मार्क्स के प्रसिद्ध नारे मे महत्वपूर्ण संशोधन करते हुये कहा कि 'सभी देशो के सर्वहारा, और शोषित राष्ट्रों एक हो'। उसने कहा कि परिवर्तित परिस्थितियो मे यही नारा प्रासंगिक है। यह उपनिवेशो के शोषित जन समूहो को साम्यवाद से जोडने की एक रणनीति थी । सन 1920. तक आते-आते लेनिन ने वह सामान्य सूत्र प्राप्त कर लिया था जिससे वह साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के साथ उपनिवेशो के मुक्ति संग्राम को जोड सकता था। किन्तु, जैसा कि जार्ज लिचथीयम

ने कहा है, वह इस बात को नही समझ सका कि पचास वर्षो बाद उसके नारो का प्रयोग सोवियत रूस मे उसके उत्तराधिकारियो के विरूद्ध चीन द्वारा किया जायेगा। लेनिन के विचारो के आधार पर ही साम्यवादी चीन के शासको के मन मे यह प्रश्न उठना नितान्त स्वाभाविक था कि क्या सोवियत रूस को भी एक साम्राज्यवादी शक्ति नही समझा जाना चाहिये । माओ ने सोवियत साम्राज्यवाद को 'सामाजिक साम्राज्यवाद' का नाम दिया।

साम्राज्यवाद के सम्बन्ध मे लेनिन के अधिकतर विचारों में कोई मौलिकता नही थी। उसने स्वयं भी इसे स्वीकार किया है । उसने गलत तथ्यो के आधार पर गलत निष्कर्ष निकाले हैं। उसने यह कहा था कि अपने देश में पूंजीपतियो की गिरती हुयी मुनाफे की दर उन्हे उन अविकसित देशो मे पूंजी निर्यात के लिये बाध्य करती है जहॉ पूंजी कम है, जमीन की कीमत कम है, कच्चा माल सस्ता है और श्रम भी सस्ते दाम मे उपलब्ध है। अतः यहॉ मुनाफे की दर ऊंची है। लेकिन उपनिवेशो ने आर्थिक विकास का यह चित्र सही नही है ।सन 1914 के पहले और बाद मे भी ब्रिटिश पूंजी निवेश की मात्रा औद्योगिक दृष्टि से विकसित पश्चिमी योरुप, उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैड मे कही अधिक थी। एशिया व अफ्रीका के देशो मे यह निवेश बहुत सीमित था । अतः यह नही कहा जा सकता कि अंग्रेज निवेशको ने औपनिवेशिक शोषण से ऊंचे मुनाफे प्राप्त किये । उदाहरण के लिये रैंड खानो से प्राप्त होने वाली वार्षिक मुनाफे की दर 4.1 प्रतिशत से अधिक नही थी। सन 1880 के बाद अफ्रीका पर कब्जे के लिये जो होड़ प्रारम्भ हुआ वह अमेरिका, जर्मनी, रूस और फ्रांस के प्रतियोगिता मे उतरने से उत्पन्न होने वाले खतरे के प्रति एक राजनीतक प्रतिकिया थी। लेनिन यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि जर्मनी के अफ्रीका मे औपनिवेश विस्तार के पीछे जर्मन बैंकों का हाथ था। किन्तु यह भी तथ्य नही है। रार्बट कांक्वेस्ट ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया है कि वास्तव मे बर्लिन के पांच बडे बैंकों ने जर्मन सरकार को युद्ध के पहले एक गुप्त ज्ञापन दिया जिसमे सरकार से अफ्रीका मे विस्तार न करने की अपील की गयी थी। जो दुस्साहसी निवेशक इस विस्तार के पक्ष मे थे वे दरअसल जर्मन पूंजीवाद द्वारा पसंद नहीं किये जाते थे। इसके अलावा लेनिन का यह कहना भी गलत था कि पूंजीपति उपनिवेशो से जो अतिरिक्त मुनाफा प्राप्त करता है । उसका एक हिस्सा अपने देश के श्रमिको को देकर उन्हे संतुष्ट करता है। सन 1914 के आस पास ही ब्रिटेन के उद्योगो मे श्रमिक अधिक अशान्त एवं उग्र अवस्था मे थे। तर्क के आधार पर भी यह बात ग्रहण करने योग्य नही लगती कि उपनिवेशो के दरिद्र किसानो, जिनके पास क्रय करने की क्षमता थी ही नहीं, से साम्राज्यवादी देशो ने ऊंचे दर का मुनाफा प्राप्त किया ।

सन 1916 के आस पास दुनिया का ऐसा कोई विभाजन बडे अन्तर्राष्ट्रीय न्यासों में नही हुआ था जिसकी चर्चा लेनिन ने की थी, क्योकि उस समय तक पूर्वी यूरोप के वंश परम्परा पर आधारित प्राचीन साम्राज्यो का अस्तित्व बना हुआ था । हॉ, लेनिन की बात सन 1920 और 30 के दशकों में सही मानी जा सकती है । इस अवधि मे बडे औद्योगिक प्रतिष्ठानो ने एकाधिकारवादी एवं अर्धएकाधिकारवादी संगठनो का रूप ले लिया था, और आपस मे विश्व बाजार को बाटने का समझौता कर लिया था। चूंकि इन बड़े प्रतिष्ठानो को अपनी सरकारो का समर्थन प्राप्त था अतः आम तौर पर आर्थिक व राजनीतिक हितो के क्षेत्र एक दूसरे से संयुक्त हो गये थे। सन 1930 से ब्रिटेन ने भी बाध्य होकर संरक्षणवादी नीति अपना लिया था, और अपने को शुल्कदीवार के पीछे समेट लिया था। किन्तु समस्या यह है कि इससे किसी सामान्य सिद्धान्त का वियोजन नही किया जा सकता है। संरक्षणवादी नीति बीमार उद्योगो के लिये भी लाभ प्रद होती है, और उन नये उद्योगो के लिये भी जो कार्यकुशल और प्रगतिशील है किन्तु जिन्हे विकास के लिये प्रतियोगिता से बचाव की आवश्यकता है । विभिन्न देशो ने विभिन्न समयो मे इस नीति का अनुसरण किया है। यदि थियोडोर रूजबेल्ट के अमेरिका ने संरक्षणवादी नीति का अनुसरण किया है, तो फ्रैकलिन रूजवेल्ट के अमेरिका ने खुले द्वार की नीति का, क्योकि अब अमेरिका को संरक्षण की आवश्यकता नहीं थी लेकिन अब ब्रिटेन का प्रधान मंत्री विंस्टन चर्चिल, जो एक समय मे स्वतंत्र प्रतियोगिता का घोर समर्थक था, ब्रिटेन के लिये संरक्षण की आवश्यकता को अनुभव कर रहा था।

लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की आलोचना करते हुये रेमां एरां ने 'द लेनिनिस्ट मिथ आफ

इम्पीरियलिज्म' मे लिखा है कि साम्राज्यवादी विस्तार के पीछे किसी अधिग्रहित किये गये भौगोलिक क्षेत्र का आर्थिक शोषण प्राथमिक कारण नही होता, बल्कि महत्वपूर्ण होता है किसी राष्ट्र की आधिपत्य की इच्छा । वह फान्स द्वारा अल्जीरिया का अधिग्रहण इसके उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करता है जहॉ फ्रान्स का आर्थिक हित अधिग्रहण के पश्चात उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार एक विद्वान प्रो. टेलर का यह मानना है कि साम्राज्यवाद का आर्थिक कारण नही होता। इसका कारण पुराने सामंती समाजो की उस मानसिकता मे खोजा जाना चाहिए जो युद्ध और योद्धाओ को समाज मे सम्मानजनक स्थान देती है। यद्यपि ये समाज अब नहीं हैं किन्तु इस समाज की मानसिकता अभी भी जीवित है ' अर्थशास्त्री शुम्पीटर ने भी यह कहा है कि 'पूंजीवाद स्वभाव से साम्राज्यवाद का विरोधी हैं,और पूंजीवादी जगत मे शेष रह गये गैर पूंजीवादी कारण साम्राज्यवाद के लिये उत्तरदायी हैं। यहॉ तक कि बाद में मार्क्सवादी नेताओ और अर्थशास्त्रियों ने भी लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त को गम्भीरता से नही लिया था। सोवियत अर्थशास्त्री वर्गा ने यह कहा था कि इन्डोनेशिया को खोने के पश्चात निदरलैण्ड आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न हुआ था। इटली की कम्युनिस्ट पार्टी के नेता तोगलियाती ने पार्टी मे साम्राज्यवाद के विषय पर किसी चर्चा को एक बार यह कर कर टाल दिया था कि यह सिद्धान्त जनता के लिये है,अर्थशास्त्रियों के लिये नही । अतः यह कहा जा सकता है कि लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त कभी एक अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त नही था, बल्कि यह केवल साम्यवादी रणनीति का एक आयाम था और उसी दृष्टि से यह महत्वपूर्ण था।

11.7 सर्वहारा क्रान्ति की धारणा

मार्क्सवादी परम्परा मे यह सिद्धान्त निर्विवाद रूप से सभी मार्क्सवादीयो द्वारा स्वीकार किया गया था कि प्रत्येक समाज का विकास प्रगति के लिये एक कठोर नियम के अनुसार होता है; कोई भी समाज इस नियम का उल्लंघन नही कर सकता है। सभी समाजो को सामन्ती अवस्था से पूंजीवादी अवस्था और फिर समाजवादी अवस्था तक की यात्रा करना अनिवार्य है। मार्क्सवादी इसी नियम के आधार पर मार्क्सवाद को एक वैज्ञानिक चिन्तन मानते थे, और काल्पनिक समाजवाद से मार्क्सवाद को पृथक करते थे। हालांकि प्रगति के इस 'प्राकृतिक नियम' को बदला नहीं जा सकता, क्रान्ति विकास की इस प्रक्रिया मे तेजी अवश्य ला सकती है। नये समाज के जन्म लेने मे जो प्रसव पीडा की अवधि है उसे क्रान्ति कम कर सकती है। पाश्चात्य योरुप के समाजवादियों ने विकास के इस नियम का अनुपालन किस प्रकार किया जा सकता है इसका हल खोज लिया था। ये सरकार के बाहर रहते हुये सरकार के उदारवादी राजनीतिक सुधारो का सर्मथन करते थे। किन्तु रूस मे यह रणनीति लागू नही हो सकती थी । रूस मे संसदीय संस्थाओ का अभाव था, मध्यम वर्ग राजनीतिक सत्ता के हाशिये पर था, और अधिनायकवादी जारशाही का सर्वत्र वर्चस्व था। ऐसी स्थिति मे रूस मे पहले एक पूंजीवादी समाज और उसकी राजनीतिक संस्थाओ को स्थापित करना आवश्यक था। ऐसी स्थिति मे रूसी मार्क्सवादी क्या पहले एक बुर्जुवा कान्ति को सम्पन्न करने मे सहायता दें? सन 1905 की क्रान्ति ने इस सम्भावना को उत्पन्न तो किया था, किन्तु वह अधूरी बुर्जुवा क्रान्ति हो कर रह गयी थी। मार्क्स के स्थापित सिद्धान्तो से रूसी साम्यवादियो को कोई सहायता नही मिल सकती थी । मार्क्स के लिये तो योरोप में फ्रान्सीसी क्रान्ति ने सामन्तवाद का अन्त कर पूजीवाद का युग प्रारम्भ कर दिया था लेकिन रूस में ऐसा कुछ नहीं हुआ था ।

रूस में दो क्रान्तियों की समस्या का हल दो तरह से निकालने का प्रयास किया जा रहा था। एक हल मेन्शिविक घटक का था, और दूसरा वोल्शिविक घटक का । मेन्शिविक यह मानते थे कि रूस में समाज वाद बिना पूंजीवादी उद्योगों के विकसित हुये सम्भव नहीं है। जब पूंजीवाद विकसित होगा तभी सर्वहारा वर्ग बहुसंख्यक वर्ग बनेगा । इस बुर्जुआ क्रान्ति से जो उदारवादी शासन व्यवस्था स्थापित होगी उसमें साम्यवादी दल वाम पंथी विरोध पक्ष की भूमिका निभायेगा, और परिस्थितियों के परिपक्व होने पर सत्ता पर अपना अधिकार कर लेगा । यह मेन्शिविक सोच पाश्चात्य समाजवाद की रणनीति का अनुसरण करती थी। इसमें यह मान लिया गया था कि रूस के मध्यम वर्ग में क्रान्ति कारी क्षमता है, और इसका यह निष्कर्ष था कि मार्क्सवादियों को उदारवादी मध्यम वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टियों के साथ मिल कर काम करना चाहिये । हालांकि यह हल रूढ़िवादी मार्क्सवाद की परम्परा के अनुकूल था किन्तु

पार्टी की रणनीति के रूप में ये प्रेरणादायक नहीं था। इसमें मार्क्स वादियों को अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करना पड़ सकता था, और यह हल किसानों की भूमि के सम्बन्ध में कोई रचनात्मक कार्यक्रम भी प्रस्तुत नहीं करता था। हालांकि ट्राटस्की मेन्शिविको के साथ था किन्तु इस मेन्शिविक सोच पर उसने भरपूर प्रहार किया। उसने कहा कि रूस और अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद दोनों को संयुक्त कर विश्लेषण किये जाने की आवश्यकता है, और यह विश्लेषण इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि रूस में यह क्रान्ति मध्यम वर्ग की क्रान्ति के रूप में प्रारम्भ तो होगी (क्योंकि यहां पहले सामन्तवाद के अवशेषों को समाप्त करना आवश्यक है), परन्तु यह क्रान्ति बिना रूके हुये पूजीवाद को नष्ट करने के लिये जारी रहेगी । यही ट्राटस्की का 'अनवरत क्रान्ति' का सिद्धान्त है जो बुर्जुआ और समाजवादी क्रान्तियों को एक दूसरे से जोड़ देता है । उसने इसे 'संयुक्त विकास का सिद्धान्त' कहा। लेनिन ने ट्रटस्की के अनवरत क्रान्ति के सिद्धान्त को बहुत महत्व तो नहीं दिया, किन्तु वह उसी के निष्कर्षों को स्वीकार करता है। उसके और ट्राटस्की के निष्कर्षों में केवल कुछ बिन्दुओं पर रणनीतिक अन्तर है, सैद्धान्तिक अन्तर नहीं । डेविड मैक्लीलन ने इस बिन्दु पर ट्राटस्की और लेनिन की तुलना करते हुये कहा है कि बाद में इन दोनों के मतभेदों को लेनिन समर्थक सटालिन वादियों ने इस उद्देश्य से अधिक उभार दिया था कि ट्राटस्की की 'धोखेबाजी'सिद्ध की जा सके।

लेनिन के क्रान्ति सम्बन्धी विचार मार्क्सवाद की रूढ़िवादी परम्परा, जिसे उसने पलेखानोव से प्राप्त किया था, के द्वारा निर्मित हुये हैं। उसने अपनी पुस्तक 'द डेवलपमेन्ट आफ कैपिटलिज्म इन रशिया' में रूस की आर्थिक व्यवस्था का विश्लेषण करते हुये यह कहा था कि रूस में पूंजीवाद की आर्थिक व्यवस्था के लक्षण उत्पन्न हो चुके हैं, किन्तु वह यह नहीं मानता था कि रूस में निकट भविष्य में किसी समाजवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने की आशा है। वह अक्सर एक 'विजयी साम्यवादी क्रान्ति' की चर्चा तो करता था किन्तु वह रूस की परिस्थितियों में इसकी आशा नहीं करता था। सन 1916 मे साम्राज्यवाद के उसके अध्ययन ने क्रान्ति के सम्बन्ध में उसके दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन किया, और निकट भविष्य में वह एक समाजवादी क्रान्ति की आशा करने लगा था। अब वह यह मानने लगा था कि यह सोचना कि बुर्जुवा क्रान्ति के पूर्ण होने के बाद ही समाजवादी क्रान्ति हो सकती है । 'जीवित मार्क्सवाद' को मृत शब्दों में विघटित करना है, उसने कहा कि यह पुराना दृष्टिकोण है कि सर्वहारा का अधिनायकवाद हमेशा बुर्जुवा क्रान्ति के बाद ही स्थापित होगा । रूस में परिस्थितियों ने अब एक ऐसा मोड़ ले लिया है जिसका पहले कोई उदाहरण नहीं मिलता - अब दोनो क्रान्तियां एक साथ तालाबन्द हो गयी हैं । पार्टी और पार्टी के नेता को हमेशा अवसर का लाभ उठाने के लिये तैयार रहना चाहिए । अप्रैल 1917 तक उसे विश्वास हो गया था कि यह अवसर आ गया है,और वह किसी भी समय सत्ता पर कब्जे के लिये तैयार था।

रूसी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये लेनिन ने हमेशा यह स्वीकार किया था कि रूसी किसान को साथ लिये बिना क्रान्ति की आशा नहीं की जा सकती है। रणनीतिक दृष्टि ये यह महत्वपूर्ण था कि औद्योगिक श्रमिक व किसानों का एक अस्थायी संयुक्त मोर्चा बनाया जाय। सन 1905 में लेनिन को यह विश्वास था कि क्रान्ति किसान विद्रोह से भी प्रारम्भ हो सकती है । लेकिन इस विद्रोह को औद्योगिक सर्वहारा का नेतृत्व देकर एक मध्यम वर्गीय क्रान्ति सम्पन्न की जा सकती है। उसने अपने कार्यक्रम को 'सर्वहारा और किसानों का क्रान्तिकारी-प्रजातांत्रिक अधिनायकवाद' कहा। उसने कहा कि पार्टी को बड़े जमीदारों और सामन्तों की जमीन छीनने में किसानों की मदद करनी चाहिये, लेकिन इसके साथ ही पार्टी को आगे बढ़ते हुये सर्वहारा के नेतृत्व में एक प्रजातांत्रिक गणराज्य की स्थापना करने का प्रयास भी करना चाहिये । लेनिन ने कभी किसानों को जमीन का स्वामी बनाये जाने का सर्मथन नहीं किया। उसकी नीति जमीन का राष्ट्रीयकरण करने की थी जिसके अन्तर्गत किसान जमीन के किरायेदार हो सकेंगे । यह नीति सहकारी कृषि व्यवस्था की दिशा में जाने के लिये सहायक होगी।किसानों का समर्थन लेनिन ने केवल उनकी क्रान्तिकारी उर्जा का प्रयोग करने के लिए किया था। उसने हमेशा यही माना कि औद्योगिक श्रमिकों और किसानों का संयुक्त मोर्चा कभी स्थायी नहीं होगा, और इसीलिये उसने अपनी योजना को 'अन्तरकालीन क्रान्तिकारी सरकार' का नाम दिया था। वह यह मानता था कि आगे चल कर रूसी सर्वहारा और पाश्चात्य योरोप के सर्वहारा का ही स्थायी मोर्चा बनेगा। सन 1905 के अपने इस विचार को लेनिन

ने सन 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने तक भी परिवर्तित नहीं किया था।

ज्यों-ज्यों लेनिन के लिये रूस में क्रान्ति की आशा बलवती होती गयी त्यों -त्यों बुर्जुवा प्रजातंत्र के प्रति उसका दृष्टिकोण भी परिवर्तित होता गया । मार्क्स यह मानता था कि बुर्जुआ प्रजातांत्रिक व्यवस्था के बाद ही समाजवाद का आगमन होगा। उसके विचारों में यह भी निहित था कि समाजवाद की व्यवस्था में बुर्जुवा समाज की नागरिक स्वतंत्रतायें और राजनीतिक अधिकार सुरक्षित रहेंगे, और अधिक पूर्णता के साथ लागू होंगे। मार्क्सवादी सिद्धान्त शास्त्री काउत्सकी का भी यह मानना था कि समाजवादी व्यवस्था में उद्योगों के सामाजिक संगठन के साथ समाज का प्रजातांत्रिक संगठन भी सम्मिलित होगा। लेनिन पहले तो यह मानता था कि वास्तविक स्वतंत्रता का मार्ग बुर्जुवा स्वतंत्रता से होकर गुजरता है। लेकिन शीघ्र ही उसने प्रजातंत्र के प्रति अपना दृष्टिकोण परिवर्तित कर लिया था। वास्तव में, प्रजातांत्रिक मूल्य उसके लिये कभी भी नैतिक मूल्य नहीं थे, ये केवल यांत्रिक मूल्य थे। लेनिन की मूल्य व्यवस्था में, जैसा कि सबाइन ने कहा है, केवल एक निर्पेक्ष मूल्य था और वह था क्रान्ति। शेष सभी मूल्यों को सुविधानुसार अपनाया या छोड़ा जा सकता था। अतः लेनिन जब बुर्जुवा प्रजातंत्र को 'अनिवार्य अवस्था' कहता है तब वह इसलिये नहीं कहता कि इसमें कोई नैतिक अनिवार्यता है बल्कि इसलिये कि यह एक कार्य कारण जैसी अनिवार्यता है, लेकिन जिसे अनुकूल परिस्थितियों में लांघ कर आगे बढ़ा जा सकता है । उसने अपनी जो रचना 'इम्पीरियालिज्म' नामक शीर्षक में प्रकाशित की थी उसी में उसने प्रजातांत्रिक स्वतंत्रताओ को झूठी और फरेब से भरी हुयी कहा था। बांद में यही विचार दुहराते हुये उसने कहा कि सभी पूंजीवादी सरकारें क्रूर एवं बर्बर दमन के दम पर टिकी होती हैं। इनमें संवैधानिक स्वतंत्रताओं की जो व्यवस्था होती है वह श्रमिकों और साधारण जनता के लिये नहीं होती है। ये स्वतंत्रतायें वास्तव में सम्पत्तिवानों के विशेषाधिकार है। सन् 1917 के बाद से बुर्जुवा प्रजातंत्र के प्रति लेनिन का यही दृष्टिकोण अधिक से अधिक स्पष्ट होता गया ।

सर्वहारा के क्रान्ति के पश्चात स्थापित होने वाले राज्य का स्वरूप क्या होगा इस बात पर लेनिन ने अपनी कृति 'स्टेट एण्ड रीवोल्यूशन' में विचार किया है । इसे लिखना तो लेनिन ने क्रान्ति कि पहले प्रारम्भ किया था, किन्तु बीच में रोक कर इसे क्रान्ति के पश्चात पूरा किया, और सन 1918 में इसका प्रकाशन हुआ । लेनिन और बुखारिन के बीच सन 1916 में इस बात पर मतभेद हुआ था कि क्रान्ति के पश्चात राज्य रहेगा या विगलित हो जायेगा । बुखारिन यह मानता था कि यह विगलित हो जायेगा, किन्तु लेनिन का यह कहना था कि राज्य उस अवधि तक बना रहेगा जब तक कि पुराने समाज के शोषक वर्ग के कुछ तत्व जो अवशेष के रूप में बच गये हैं पूरी तौर पर समाप्त नहीं हो जाते । अपने विचारों को सिद्ध करने के उद्देश्य से उसने 'स्टेट एण्ड रीवोल्यूशन' की रचना की थी। लेकिन आश्चर्य यह है कि लेनिन अपने विचारों को परिवर्तित करते हुये बुखारिन के ही तर्कों को स्वीकार कर लेता है। इस रचना में राज्य विरोधी विचारों को प्रस्तुत किया गया है। उनमें बुखारिन के विचारों की तीव्र गंध आती है । दूसरी आश्चर्य की बात यह है कि लेनिन की अन्य रचनाओं की भांति यह पुस्तक पार्टी के किसी रणनीतिक उद्देश्य को पूरा करने के लिये नहीं लिखी गयी थी। यह मार्क्स के समाज के सिद्धान्त के सर्वाधिक काल्पनिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक में सर्वहारा क्रान्ति के प्रति एक आदर्शवादी एवं अर्ध अराजकतावादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है। इसमें यह कहा गया है कि क्रान्ति के तुरन्त बाद व्यापक प्रजातांत्रिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ होगी, और राज्य विगलित होना प्रारम्भ हो जायेगा। इस पुस्तक को जहाँ एक ओर कोलिटि ने महत्वपूर्ण मानते हुये यह कहा है कि यह राजनीतिक चिन्तन के लिये लेनिन का सबसे बड़ा योगदान है, वहीं दूसरी ओर डा. कार्लविट्फोंजेल ने इसे लेनिन की समस्त रचनाओं में इसे सबसे अधिक पाखण्डपूर्ण माना है क्योंकि इसमें राज्य का अध्ययन एशियाई समाजों के सम्बन्ध में मार्क्स के विचारों को अनदेखा करते हुये किया गया है।

राज्य को परिभाषित करते हुये लेनिन ने लिखा है कि 'राज्य शक्ति का एक विशिष्ट संगठन है, यह एक वर्ग को दबाने के लिये हिंसा का एक संगठन है।' अतः राज्य लेनिन के लिये संगठित हिंसा है। यह बात उन राज्यों के लिये भी सही है जहां संसदीय प्रजातंत्र की व्यवस्था प्रचलित है।अतः क्रान्ति का उद्देश्य राज्य को कुचल देना है। किन्तु क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद भी कुछ समय के लिये 'बुर्जुवा

राज्य बिना बुर्जुवा वर्ग के' बना रहेगा । यह कहने के साथ ही लेनिन यह भी कहता है कि एक सफल क्रान्ति के बाद से राज्य विगलित होना प्रारम्भ हो जाता है, और सर्वहारा के अधिनायकत्व को, जिसे व्यापक जन समर्थन प्राप्त होता है,अपनी इच्छाओं को कार्य -रूप देने के लिये किसी खास मशीनरी या बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती । लेनिन सर्वहारा राज्य को 'हथियार बन्द और शासक सर्वहारा' भी कहता हैं। राज्य के विगलित होने का यह अर्थ हुआ कि सर्वहारा राज्य भी विगलित हो जायेग। लेनिन इस बात को स्वीकार करता है कि अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण शक्ति जनता के हाथों में चली जायेगी । मार्क्स के इस विचार से लेनिन सहमत प्रतीत होता है कि राज्य का स्थान वस्तुओं की प्रशासकीय व्यवस्था ले लेगी। सर्वहारा के अधिनायकत्व का विचार भी मार्क्स का ही है, किन्तु लेनिन इस अधिनायकत्व के संस्थागत स्वरूप की चर्चा नहीं करता है। उसके लिये सर्वहारा के अधिनायकत्व के दो निश्चित उद्देश्य थे :(1) यह शोषक वर्ग को अपने मजबूत नियंत्रण में रखेगा, (2) यह नयी आर्थिक एवं सामाजिक संरचना को संगठित करेगा, किन्तु दूसरा उद्देश्य मुख्य रूप से पार्टी का उद्देश्य है क्योंकि पार्टी ही शोषित जनता की शिक्षक और निर्देशक है अतः सर्वहारा का अधिनायकत्व परोक्ष रूप से पार्टी का अधिनायकत्व होगा, हालांकि यह बात उपर्युक्त पुस्तक में लेनिन ने स्पष्ट रूप से कहा नहीं ।

पेरिस कम्यून के सम्बन्ध में मार्क्स के विचारों को लेनिन सर्वहारा राज्य के माडल के रूप मे स्वीकार करता है। मार्क्स के लिये पेरिस कम्यून गैर संसदीय प्रजातंत्र का उदाहरण था । इसमें सरकार का संचालन 'हथियार बन्द जनता' के द्वारा होता है जो नौकरशाही, पुलिस व सेना पर आश्रित नहीं होती । यह संसद की भांति केवल बात करने वाली दुकानें नहीं होती, बल्कि कार्य करने वाली परिषदें होती है। इनके अधिकारी निर्वाचित किये जाते है,और उन्हें वापस बुलाया जा सकता है । इन अधिकारियों को केवल उतना ही वेतन मिलता है जितना श्रमिकों को और इनके कोई विशेषाधिकार नहीं होते। ये परिषदें कानून बनाती भी हैं और उन्हें लागू भी करती हैं। मार्क्स के इन्हीं विचारों को विस्तार देते हुये लेनिन कहता है कि राज्य के विकल्प के रूप में कम्यून की व्यवस्था भावी समाज की व्यवस्था होगी। इनमें केन्द्रीयकरण तो होगा किन्तु यह स्वेच्छा से होगा। इसमें बिना नौकर शाहों के जनता सभी काम स्वयं करेंगी। यह एक प्रकार का आदिम प्रजातंत्र होगा जिसका यह नियम होगा कि सभी दूसरे सबके लिये कार्य करेंगे, और समान वेतन पायेंगे । औद्योगिक समाज के संगठन और कार्य-पद्धति का इतना सरलीकृत रूप लेनिन ने अपनी इस रचना में प्रस्तुत किया है कि वह बिल्कुल हास्यास्पद लगता है। लेकिन उसकी यह रचना साम्यवादी विचारधारा में एक स्थायी तत्व को जोड़ती भी है । मार्क्स ने 'क्रिटिक आफ द गोथा प्रोग्राम' में कहा था कि साम्यवादी समाज का विकास दो चरणों में होगा, लेकिन अन्य किसी स्थान पर उसने ऐसा विचार प्रस्तुत नहीं किया था। लेनिन ने मार्क्स के इस विचार को स्थायी स्वरूप देते हुये कहा कि पूंजीवाद की समाप्ति से न केवल उत्पादन में विस्तार होगा, बल्कि मानव स्वभाव में परिवर्तन भी आयेगा। वह आत्म-केन्द्रित न होकर सामाजिक होगा, और भविष्य के साम्यवादी समाज के लिये मानसिक तौर पर तैयार रहेगा। यही समाज पूरी मानवता को सम्पूर्ण न्याय और समानता प्रदान करेगा। इसी समाज में सब अपनी क्षमता भर कार्य करेंगे और आवश्यकता भर पायेंगे ।

'स्टेट और रिवोल्यूशन' में जो आशावाद दीख पड़ता था वह क्रान्ति के पश्चात समाप्त हो गया। आन्तरिक व बाह्य समस्याओं से घिरा सोवियत रूस उस दिशा में नहीं जा सका जिस दिशा में इसके जाने की आशा की गयी थी। मार्च 1918 में पार्टी की सातवीं कांग्रेस में जब बुखारिन ने लेनिन से पूछा कि राज्य कब विगलित होगा? तो लेनिन ने यह उत्तर दिया कि अभी इसका समय नहीं आया है, और इस बारे में कोई घोषणा करना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को विकृत करना होगा। इसके बाद से क्रमशः सर्वहारा का अधिनायकत्व पार्टी के अधिनायकत्व में परिवर्तित होने लगा। डेविड मैक्लीलन ने कहा है कि तीन प्रमुख कारणों से यह परिवर्तन हुआः (1) पार्टी ने यह पाया कि उसके हाथों में शक्ति अनायास आ गयी है, (2) नौकरशाही का विस्तार, (3) श्रमिकों को प्रभावशाली आवाज का अभाव। सन 1919 तक पार्टी और राज्य का अन्तर मिट गया, और पार्टी का वर्चस्व पूरे राजनीतिक प्रशासन पर स्थापित हो गया। संविधान सभा का विघटन, श्रमिक संगठनों पर पाबन्दी, विरोध पक्ष का दमन आदि एक के बाद एक ऐसे कदम उठाये गये जिससे एक अधिनायकवादी राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ बड़े पैमाने

पर राष्ट्रीयकरण ने नौकरशाही में विस्तार किया जिसकी मानसिकता लगभग वही थी जो जारशाही के समय की नौकरशाही में थी।

11.8 समाजवादी पुनर्निर्माण की समस्यायें

सत्ता में आने के पहले तक लेनिन के सामने केवल क्रान्ति की रणनीति तय करने की समस्या थी लेकिन 7 नवम्बर 1917 के बाद सरकार चलाने का उत्तरदायित्व उसे निभाना था, और यह काम उसके लिये बिल्कुल नया था। अपने उद्देश्य के बारे में तो वह किसी दुविधा में नहीं था। उसे एक समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करना था, किन्तु इस व्यवस्था को लागू कैसे किया जाय यह उसे अभी पता नहीं था। पार्टी के पास इस सम्बन्ध में कोई राजनीतिक कार्यक्रम नहीं था, नीतियां नहीं केवल नारे थे। पार्टी के समक्ष सबसे पहली समस्या थी रूस में बढ़ती हुयी जर्मन सेना को रोकना ब्रेस्ट-लिटोवस्क में जर्मनी के साथ इस सम्बन्ध में जब शान्ति वार्ता प्रारम्भ हुई तब उसी के साथ पार्टी के अन्द एक नया संघर्ष भी प्रारम्भ हो गया। पार्टी का बहुसंख्यक हिस्सा जर्मनी के साथ क्रान्तिकारी युद्ध किये जाने के पक्ष में था। लेनिन, जो किसी भी कीमत पर शान्ति चाहता था, पार्टी में अल्पमत में था। उसके त्याग पत्र देने की धमकी के बाद पार्टी उसके पक्ष में हुयीं, और जर्मनी के साथ रूस की शान्तिसंधि हुयी। किन्तु इस संधि ने बोल्शिविकों और गैरबोल्शिविकों दोनों में व्यग्रता और क्रोध उत्पन्न किया। इस संधि के फलस्वरूप रूस का बहुत बड़ा भौगोलिक क्षेत्र उसके हाथों से निकल जाने वाला था, और शक्ति की दृष्टि से वह दुनिया में दूसरे दर्जे का राज्य बनने वाला था। लोगों में लेनिन की सरकार के विरूद्ध व्यापक क्रोध था, किन्तु लेनिन ने इस संधि को इस आधार पर उचित बताया कि इसने सरकार के तुरन्त पतन को रोक दिया है।

दूसरी समस्या जो लेनिन के समक्ष थी वह थी किसानों की समस्या। लेनिन यह मानता था कि रूस में औद्योगिक श्रमिकों और किसानों का एक अस्थायी संयुक्त मोर्चा बनेगा। मई 1918 में उसने यह मान लिया कि अब रूस में समाजवाद की ओर आगे बढ़ने की पहल करने का समय आ गया है। पूरे देश में 'गरीब किसानों की समितियां' बनायी गयीं। इन समितियों में पार्टी कार्यकर्ताओं को इस उद्देश्य से भेजा जाने लगा कि ये किसानों को संगठित करेंगे, समाजवाद के बारे में उन्हें शिक्षित करेंगे। और उन्हें पार्टी के पक्ष में लाने का प्रयास करेंगे। लेनिन यह नहीं समझ सका कि जमीन के लिये किसान की भूख मिटा पाना एक अत्यंत कठिन काम है। समाजवादी उत्पादन और वितरण की जो प्रणाली वह लागू कर रहा था उससे किसानों में व्यापक आक्रोश उत्पन्न हुआ। सरकारी आंाकड़ों के अनुसार सन 1918 में दो सौ पैंतालिस किसान विद्रोह हुये, और सन 1919 के पहले सात महीनों में निन्यानवे ऐसे विद्रोह हुये। अक्टूबर 1921 के अपने एक भाषण में लेनिन ने अपनी भूल स्वीकार भी किया। सन 1921 में 'नयी आर्थिक नीति' के लागू होने तक किसान विद्रोह होते रहे।

आर्थिक व्यवस्था के पुर्नगठन के सम्बन्ध में उठाये गये पहले कुछ कदम बहुत उग्र नहीं थे। क्रान्ति के पश्चात पहले दो महीनों तक बैंकों को स्वतंत्र रूप से कार्य करने दिया गया। बाद में इनका राष्ट्रीयकरण तभी किया गया जब इन्होंने सरकार को धन देने से मना कर दिया। जून 1918 तक भारी उद्योगों और रेलवे का राष्ट्रीयकरण भी नहीं किया गया था। तेज औद्योगीकरण की आवश्यकता का अनुभव करते हुये लेनिन ने कहा था कि व्यापक औद्योगीकरण के बिना रूस एक समाजवादी देश तो क्या एक सभ्य देश भी नहीं बन पायेगा। उद्योगों में केन्द्रीकरण और कार्य -अनुशासन के कड़े नियम बनाये गये; श्रम कानून अधिक से अधिक कठोर होते गये। लेनिन ने कहा कि सामाजिक न्याय का प्रश्न हमेशा उत्पादन के हितों के अधीन रहेगा। उसके सहयोगी ट्राटस्की ने तो यहाँ तक कह दिया था कि बलात श्रम समाजवादी समाज का आधार है। लेनिन सोवियत आर्थिक व्यवस्था को अक्सर 'राजकीय पूँजीवाद' कहता था, किन्तु बाद में उसके स्थान पर वह 'सोवियत समाज' शब्द का प्रयोग करने लगा। यह शब्द कोई निश्चित अर्थ नहीं देता है। अपने एक प्रसिद्ध कथन में उसने कहा कि पूरे देश में विद्युतीकरण के साथ सोवियत शासन ही साम्यवाद है इस कथन में कोई मार्क्सवादी तत्व नहीं है।

राष्ट्रीयता के प्रश्न पर विचार लेनिन ने सत्ता में आने के पहले और बाद में भी किया था। पहले उसने राष्ट्रों के आत्म-निर्णय का समर्थन किया था, किन्तु कुछ शर्तों के साथ। पोलैण्ड की स्वतंत्रता का प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण था और इस पर बहुत से समाजवादियों ने विचार किया था स्वतः मार्क्स ने पोलिश स्वतंत्रता का सर्मथन किया था, किन्तु लेनिन ने पालिश सोशलिस्ट पार्टी की स्वतंत्रता की मांग का विरोध किया। लेनिन को राष्ट्रीय संवेदनाओं और आकांक्षाओं की मजबूत पकड़ का अहसास था, और वह इन्हें सर्वहारा के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये साधन के तौर पर प्रयोग किये जाने की बात कहता था। लेकिन राष्ट्रीयता का प्रश्न पार्टी के हितों के ऊपर नहीं हो सकता था। उसके लिये प्रमुख थी सर्वहारा क्रान्ति, न कि राष्ट्रीय स्वाधीनता और राष्ट्र प्रेम। सत्ता में आने के बाद राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रति लेनिन का उत्साह दिन प्रतिदिन कम होता गया। उसने ब्रेस्ट- लिटोवस्क शांति के सम्बन्ध में लिखे अपने पर्चे में यह कहा कि कोई मार्क्सवादी मार्क्सवाद के सिद्धान्तों का त्याग किये बिना यह नहीं कह सकता कि राष्ट्रीयता का प्रश्न समाजवाद के प्रश्न से महत्वपूर्ण है। रूस की बोल्शिविक पार्टी जब एक बार रूस में बसने वाले सभी राष्ट्र समूहों के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित हो गयी तब रूस में राष्ट्रीय स्वायत्तता की कोई गुंजाइश नहीं रह गयी। जार्जिया के विद्रोह को कुचलने के लिये स्टालिन और पार्टी के अन्य नेताओं के द्वारा जो बर्बर तरीका अपनाया गया था उसका लेनिन ने विरोध नहीं किया। हाँ, अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उसने यह अवश्य स्वीकार किया था कि स्टालिन ने आवश्यकता से अधिक बल प्रयोग किया था।

सन 1918 से 'लाल आतंक' धीरे धीरे पूरे रूस में फैलने लगा था। पहले तो यह आतंक केवल 'वर्ग शत्रुओं' की ओर निर्देशित था, किन्तु बाद में यह पार्टी ने शत्रुओं की ओर भी निर्देशित किया जाने लगा। सन 1905 से ही लेनिन आतंक का औचित्य सिद्ध करने लगा था। सन 1908 में उसने कहा कि एक वास्तविक राष्ट्रव्यापी आतंक पूरे देश को पुर्नजीवित कर देता है। लेनिन के ऐसे ही अनेक कथन उपलब्ध हैं। 20 दिसम्बर 1917 को चेका नाम का एक गुप्त पुलिस संगठन बनाया गया। इस संगठन ने बाद में कई नामों को ग्रहण किया किन्तु गुप्त पुलिस हमेशा प्रशासन का एक एक अनिवार्य अंग रही। पहले इस संगठन को मृत्यु दण्ड देने का अधिकार नहीं था, किन्तु बाद में इस अधिकार को इसने हस्तगत कर लिया। लेनिन स्वतः आतंक का अभियान तेज किये जाने के पक्ष में था। उसने निजी रूप से जार और उसके चौदह वर्षीय पुत्र को मृत्य दण्ड देने का निर्णय लिया था। न केवल इन दोनों को मृत्यु दंण्ड दिया गया बल्कि जार के चिकित्सक, उसकी नर्स, और यहाँ तक कि उसके कुत्ते को भी मृत्यु दण्ड दिया गया। जब 30 अगस्त 1918 को फैनी कपलान नामक एक क्रान्तिकारी महिला ने लेनिन की हत्या का प्रयास किया तब इस घटना के बहाने आतंक को और तेज कर दिया गया। पार्टी के एक बड़े हिस्से द्वारा आतंक के विरोध में आवाजें उठाई जाने लगीं, और चेका की शक्तियों को नियंत्रित करने की बात कही जाने लगी।

लाल आतंक, टाईफ़स और अकाल ने रूस की जनता के एक बड़े हिस्से को निगल लिया था। बोल्शिविक नीतियों का परिणाम अर्थ व्यवस्था के लिये घातक था, और पार्टी की कार्य-पद्धति से औद्योगिक श्रमिक भी रूष्ट थे। लेनिन ने यह स्वीकार किया कि पार्टी जनता को समझाने में असफल रही है। किन्तु क्रमशः रूस में एक दलीय शासन व्यवस्था होती गयी, और क्रमशः समूचे शासन तंत्र पर पार्टी का वर्चस्व स्थापित हो गया। सरकार और पार्टी का भेद समाप्त हो गया। इसी बीच कोमिन्टर्न के माध्यम से सोवियत रूस विश्व साम्यवादी आन्दोलन पर अपना नियंत्रण कंसने की तैयारी करने लगा। सन 1920 में लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध इक्कीस शर्तों की सूची प्रस्तुत किया। इन शर्तों का मतलब यही निकलता था कि सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को रूस की पार्टी की कार्बन प्रतिलिपि होना होगा, और सभी पार्टीयां प्रत्यक्ष रूप से मास्को स्थित कोमिन्टर्न ने नियंत्रण में कार्य करेंगी। सैद्धान्तिक रूप से सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी का नियंत्रण इन पार्टियों पर नहीं था क्योंकि सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी भी कोमिन्टर्न के अधीन थी, किन्तु व्यावहारिक रूप से दूसरे देशों की पार्टियां सोवियत पार्टी के अधीन हो गयी। यह प्रजातांत्रिक केन्द्रीयत्ववाद के सिद्धान्त को विश्व स्तर पर लागू करना था। इससे लेनिन का राजनीतिक व्यक्तित्व समूचे विश्व के साम्यवादी आन्दोलन पर हावी हो गया।

सन 1917 की क्रान्ति के पश्चात लेनिन के पास केवल एक ही संस्था ऐसी थी जिसका प्रयोग समाजवादी पुनर्निमाण के लिये किया जा सकता था। वह थी पार्टी। पार्टी ने ही क्रान्ति सम्पन्न किया था, और पार्टी को ही एक सरकार का निर्माण करना था। लेकिन पार्टी का कोई वैधानिक अस्तित्व नहीं था,और इसकी संगठनात्मक क्षमता इतनी प्रभावी नहीं थी जितना कि पार्टी में लेनिन का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। पार्टी की कार्य शैली को हमेशा लेनिन के व्यक्तित्व ने प्रभावित किया था। सन 1917 के बाद दो महत्वपूर्ण प्रश्न लेनिन के सामने थे । (1) राजनीतिक शक्ति पर पार्टी का एकाधिकार कैसे स्थापित किया जाय, (2) पार्टी के शीर्ष नेतृत्व का पार्टी पर एकाधिकार कैसे स्थापित किया जाय। पार्टी और सरकार का भेद मिटाने का फल यह हुआ कि पार्टी का सिद्धान्त ही सरकार का सिद्धान्त बन गया । सर्वहारा के अग्रणी दस्ते के रूप में पार्टी की भूमिका सरकार की भूमिका को सीमित एवं संकुचित कर देती है। यह सरकार, जैसा कि सबाइन ने लिखा है, जनता के लिये तो है, लेकिन जनता द्वारा गठित नहीं है । जनता का इस पर कोई नियंत्रण नहीं है। पार्टी का कुलीन वर्ग ही शासन का विज्ञान जानता है अतः वही शासन का उद्देश्य निर्धारित करता है, और उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये शासन का संचालन करता है।

26 मई 1922 को लेनिन को पहला पक्षाघात हुआ, और उसके बाद केवल थोड़ी अवधि के लिये ही वह राजनीति में सक्रिय भागीदारी कर सका। अब वह अपनी और पार्टी की गलतियों पर विचार करने लगा था उसने कहा था कि पार्टी में अवसरवादी और असभ्य लोगों का प्रवेश हो गया है; सोवियत राज्य में नौकरशाही विकृतियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, पार्टी की विभिन्न समितियों मे वरिष्ठ नेताओं के अन्दर स्वार्थ एवं अहंकार की भावना आ गयी है, और वे अपनी जिम्मेदारियों को नहीं समझते हैं। उसने यहाँ तक कहा कि 'हम लोगों के पास वह पर्याप्त सभ्यता नहीं है कि हम सीधे समाजवाद की अवस्था में जा सकें'। इन दिनों में लेनिन ने सोवियत शासन और पार्टी में अनेक बुराइयाँ तो देखी, और पार्टी के बौद्धिक पतन और अनावश्यक दमनात्मक कार्रवाई से वह चिन्तित भी हुआ, लेकिन फिर भी उसने एक दलीय शासन व्यवस्था पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया। उसने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि ये सारी बुराइयाँ इसी कारण सोवियत राज्य और पार्टी में प्रवेश कर गयी हैं कि यहाँ की राजनीतिक व्यवस्था में विरोध पक्ष का कोई अस्तित्व नहीं था, और सरकार और दल को एक दूसरे से संयुक्त कर दिया गया था। दूसरे शब्दों में, वह पाश्चात्य प्रजातांत्रिक व्यवस्था को लाभों को नहीं देख सका । 9मई 1923 को उसे दूसरा पक्षाघात हुआ जिसने उसे लगभग निष्क्रिय कर दिया । 21 जनवरी 1924 को उसकी मृत्यु हो गयी ।

11.9 सारांश

लेनिन के व्यक्तित्व और चिन्तन का मूल्यांकन दो दृष्टियों से किया जा सकता है। एक व्यक्ति के रूप में वह ईमानदार, क्रान्ति के प्रति समर्पित, श्रेष्ठ संगठनकर्ता था। उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं था, और सत्ता पाने के बाद भी वह कभी सत्ता के मद में नहीं रहा । उसने सादगी भरा जीवन व्यतीत किया,और क्रान्ति के नायक के रूप में लोगों द्वारा स्थापित किये जाने से वह हमेशा बचता रहा । उसकी इच्छा के विरूद्ध, उसकी मृत्यु के पश्चात, उसे सोवियत रूस में क्रान्ति का महानायक बना दिया गया था। एक दार्शनिक अथवा सिद्धान्त शास्त्री तो वह नहीं था किन्तु रूढ़िवादी मार्क्सवाद की चिन्तन परम्परा में उसने योगदान अवश्य किया । सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उसने मार्क्सवाद को तीसरी दुनिया के पिछड़े हुये देशों के लिये प्रासंगिक बनाया । एक संगठन कर्ता के रूप में उसनें एक अनुशासित एवं केन्द्रीकृत पार्टी का संगठन निर्मित किया और इस पार्टी के माध्यम से, विषम परिस्थितियों और अवरोधों को जहाँ तक सम्भव था अपने वश में करते हुये, उसने इतने बड़े देश में एक समाजवादी राज्य की स्थापना करने का सफल प्रयास किया। उसका व्यक्तित्व सारी दुनिया के क्रान्तिकारियों के लिये आर्दश था, और उसने पार्टी का जो संगठन निर्मित किया वह दुनिया के सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए एक माडल के रूप में स्वीकार किया गया। नील हार्डिंग ने उसकी प्रसंशा करने हुये उसे एक 'असाधारण व्यक्ति कहा है । उसके पास एक दृढ संकल्प शक्ति के साथ परिस्थितियों का आकलन

करने की व्यवहारिक बुद्धि भी थी। सही मायनों में वह विश्व साम्यवादी आन्दोलन का पिता था। उसकी लेखन शैली तो अच्छी नहीं थी किन्तु उसकी कृतियों में एक बड़ी प्रोपेगेण्डा शक्ति थी जिसने पार्टी के कार्यकर्ताओं और श्रमिकों को बहुत दूर तक प्रभावित किया था ।

दूसरी दृष्टि से जब हम लेनिन को देखते हैं तब हम यह पाते हैं कि वह स्वभाव से एक असहनशील व्यक्ति था जिनसे उसका वैचारिक विरोध होता था वह केवल उनके विचारों का खण्डन नहीं करता था, बल्कि उन्हें झूठा, मक्कार और धोखेबाज सिद्ध करने का प्रयास करता था। व्यक्तियों के सम्बन्ध में वह अपनी निजी पसंद या नापसंद का खयाल नहीं करता था। किसी व्यक्ति के विचार यदि उसकी दृष्टि में क्रान्ति के अनुकूल नहीं थे तो फिर उस व्यक्ति का केवल विचार ही नहीं बल्कि उसका चरित्र भी उसके लिये घृणास्पद था। वह अपने विरोधियों के लिये कठोर से कठोर शब्दों का प्रयोग करने से नहीं चूकता था। दूसरों से उसकी मित्रता या शत्रुता का हमेशा एक राजनीतिक संदर्भ होता था। उसने हमेशा लोगों को पक्ष और विपक्ष में बांटा; निष्पक्ष कोई नहीं हो सकता। लेनिन की मृत्यु के पश्चात सोवियत रूस में स्टालिन की सर्वाधिकारवादी व्यवस्था के लिये लेनिन को कितना उत्तरदायी माना जाय विद्वानों के बीच एक लम्बी बहस का विषय रहा है, यह सही है कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में लेनिन शासन और पार्टी से असंतुष्ट था, स्टालिन भी उसे भरोसे लायक नहीं लगता था, लेकिन स्टालिन के सर्वाधिकारवादी शासन के लिये वह अवश्य उत्तरदायी था। कोलोकावस्की ने कहा है कि लेनिन के विचार एवं कार्य -पद्धति ने स्टालिन के लिये दरवाजा खोला था, और स्टालिन की सभी बर्बरताओं के समर्थन के लिये लेनिन का कोई न कोई सिद्धान्त प्रयोग किया जा सकता है । स्टालिन का शासन लेनिन के शासन का प्राकृतिक विकास था। लेनिन ने अपनी मृत्यु के पश्चात पार्टी का जो ढांचा छोड़ा था उसका नेता स्टालिन जैसा ही कोई तानाशाह हो सकता था। स्टालिन की तानाशाही जारशाही की तानाशाही से कहीं अधिक कठोर एवं दमनकारी थी। अतः यह कहा जा सकता है कि अधिकारों और स्वतंत्रताओं की दृष्टि से रूसी जनता क्रान्ति के बाद भी उसी स्थिति में थी जिस स्थिति में वह क्रान्ति के पहले थी। सोवियत शासन के पतन के बाद ही दरअसल रूसी जनता को दासता से मुक्ति प्राप्त हुयी है ।

11.10 संदर्भ ग्रन्थ

1.	डा. के. एल. कमल, समाजवादी चिन्तन	
11.	प्रभुदत्त शर्मा :	राजनैतिक चिन्तन का इतिहास
3.	Conquest, R.;	Lenin
4.	Harding, N.;	Lenin's Political Thought (2 Vols)
5.	Kolakowaski,L.;	Main Currents of Marxism (vol.2)
6.	Lane, D.;	Leninism: A Sociological Interpretation
7.	Lichtheim, G.;	Imperialism
8.	McLellam, D.;	Marxism after Marx: An Introduction
9.	Meyer, A.G. ;	Leninism
10.	Sabine, G.H.;	A History of Political Theory

11.11 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

1. कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन और कार्य शैली के सम्बन्ध में लेनिन के विचारों को बताइये।
11. लेनिन द्वारा किये गये साम्राज्यवाद के विश्लेषण पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिये।
3. राज्य के प्रति लेनिन का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिये ।
4. लेनिन की क्रान्ति की धारणा को प्रस्तुत कीजिये ।
5. मार्क्सवाद के प्रति लेनिन की क्या दृष्टि थी ।

लघु उत्तरीय प्रश्न -

1. लेनिन के समय रूस की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियां कैसी थीं ?
11. क्या लेनिन को स्टालिन के निरंकुश शासन के लिये उत्तरदायी माना जा सकता है?
3. लेनिन के प्रजातांत्रिक केन्द्रीयतावाद के सिद्धान्त को समझाइये ?
4. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सम्बन्ध में लेनिन के विचारों को प्रस्तुत कीजिये ?
5. सर्वहारा के अधिनायकत्व के सम्बन्ध में लेनिन का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिये ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

1. लेनिन का जन्म किस नगर में हुआ था ?
   (अ) मास्को (ब) गोर्की (स) सिमबर्क्स
11. जेनेवा में लेनिन किस समाचार पत्र को प्रकाशित करता था ?
   (अ) इजवेस्ता (ब) इस्कारा (स) प्रावदा
3. लेनिन ने अपनी पार्टी को किस ड्यूमा में भाग लेने का निर्देश दिया ?
   (अ) तीसरी (ब) दूसरी (स) पहली
4. किसके विचारों का खण्डन करने के लिये लेनिन ने 'मेटीरियलिज्म एण्ड इम्पीरियोक्रीटिज्म' पुस्तक लिखा था?
   (अ) बुखारिन (ब) ट्राटस्की (स) बोगदानोव
5. लेनिन ने किसे सड़ा हुआ परजीवी कहा ?
   (अ) सामन्तवाद (ब) साम्राज्यवाद (स) पूंजीवाद

11.12 प्रश्नोत्तर

1. (स)
11. (ब)
3. (अ)
4. (स)
5. (ब)

इकाई -12 माओ (1893-1976)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 जीवन परिचय
12.3 पार्टी और क्रान्तिकारी रणनीति
12.4 दार्शनिक विचार
12.5 चीन में समाजवादी पुर्ननिर्माण
12.6 माओ, सोवियत रूस और अमेरिका
12.7 सांस्कृतिक क्रान्ति
12.8 माओ के बाद चीन
12.9 सारांश
12.10 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें
12.11 संबंधित प्रश्न
12.12 प्रश्नोत्तर

12.0 उद्देश्य

इस अध्याय के माध्यम से हम आपको चीनी क्रान्ति के नेता माओ के विचारों के विभिन्न आयामों से परिचित करायें गे इस अध्याय का अध्ययन कर लेने के बाद आपको यह जानकारी मिलेगी कि --

- चीन की किन परिस्थितियों में माओ ने वहाँ एक साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाया।
- पार्टी संगठन, किसानों और गुरिल्ला युद्ध के बारे में माओ के क्या विचार थे ।
- माओ के दार्शनिक विचार क्या थे, और उसने मार्क्सवाद का किस प्रकार विकास किया।
- सत्ता में आने के पश्चात माओ ने किस प्रकार अपने विचारों को कार्य रूप दिया ।
- सोवियत रूस और अमेरिका की नीतियों ने माओं के विचारों को किस प्रकार परिवर्तित किया।
- सांस्कृतिक क्रान्ति के पीछे माओ का क्या उद्देश्य था, और माओ के बाद चीन की समाजवादी व्यवस्था किस दिशा में अग्रसर हुई ?

12.1 प्रस्तावना

जब से चीन में ईसा से दो शताब्दी पूर्व पहले एकीकृत साम्राज्य की स्थापना हुयी थी तब से लेकर शताब्दियों तक चीनी समाज में, राजवंशों में होने वाले परिवर्तनों के बावजूद, एक आश्चर्यजनक स्थायित्व बना हुआ था। बाहरी दुनिया से चीन का कोई सम्पर्क नहीं था। अतः बाहर के प्रभाव से अछूते चीन ने अपनी एक स्वतंत्र सभ्यता को विकसित कर लिया था जो आत्मोन्मुखी थी, और जिसमें नवीनीकरण की सम्भावनायें बहुत सीमित थीं । चीनी समाज एक आत्म-निर्भर समाज था जिसका प्रमुख कारण था, उपजाऊ जमीन की प्रचुरता। सुदृढ़ कृषि एवं ग्रामीण हस्तशिल्प चीनी अर्थव्यवस्था के आधार थे, और कन्फ्यूशियस की दार्शनिक-धार्मिक विचारधारा चीनी साम्राज्य की अधिकृत वैचारिक व्यवस्था थी। यह विचारधारा समाज के एक श्रेणीबद्ध संगठन को अपनी स्वीकृति प्रदान करती थी,और सभी प्रकार के परिवर्तनों को अनुचित और पतन की ओर ले जाने वाला मानती थी। किन्तु सत्रहवीं शताब्दी में स्थापित होने वाले मांच साम्राज्य

के लिये उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ होने वाले पाश्चात्य हस्तक्षेप को रोक पाना सम्भव नहीं हो सका। सन 1840 के अफीम युद्ध से प्रारम्भ होने वाले घटनाक्रम से लेकर सन 1895 में जापान से पराजित होने तक और फिर सन 1900 में बाक्सर विद्रोह के दमन तक ने इस बात को अच्छी तरह प्रदर्शित कर दिया कि पश्चिम से आने वाले आर्थिक एवं सामरिक दबाव को रोक पाने में चीन एकदम असहाय था।

चीन में पाश्चात्य जगत के प्रवेश को लेकर चीनी जनमत विभाजित था कुछ यह मानते थे कि पाश्चात्य संस्कृति को पूरी तौर पर अपना लेने में ही देश का कल्याण हो सकता है; कुछ का विचार यह था कि केवल पाश्चात्य प्रविधि को ही अपनाने की आवश्यकता है, और इस प्राविधि के साथ चीनी संस्कृति और चीनी समाज की संस्थाओं को बनाये रखा जा सकता है, दूसरे कुछ लोग ऐसे थे जो पाश्चात्य जगत से किसी चीज को लेने के लिये तैयार नहीं थे। जब सन 1912 में चीन में एक गणतंत्र की घोषणा हुयी तो यह कहा जा सकता है कि एक सीमा तक आधुनिकता के समर्थकों की विजय हुयी। पश्चिम के देशों ने अपने लिये अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये चीन से व्यापारिक सम्बन्ध बनाये रखा, किन्तु यह आशा कि एक पाश्चात्य शैली का प्रजातंत्र चीन में सफल हो सकेगा निर्मूल सिद्ध हुयी। सन यात-सेन, जिसे चीनी राष्ट्रवादी क्रान्ति का जनक कहा जाता है,ने सन 1911 में साम्राज्यवादी सरकार पर विजय प्राप्त करने के पश्चात अपनी पार्टी को मितांग के माध्यम से एक ऐसी सरकार बनाने का प्रयास किया जो व्यवहार में कुशलतापूर्वक कार्य कर सके। किन्तु चीन में अब कोई सम्राट नहीं था जो चीनी समाज में एकता स्थापित करता। पूरा देश बहुत सारे योद्धा सरदारों में विभाजित हो चुका था जो अपने अपने भौगोलिक क्षेत्रों पर अपना नियंत्रण रखते थे, और अपने अपने क्षेत्रों की स्वायत्तता बनाये रखने के लिये एक दूसरे से हमेशा युद्ध किया करते थे। ऐसे ही एक योद्धा सरदार की शक्ति पर सन यात-सेन भी आश्रित था इस योद्धा सरदार का समर्थन सन को केवल कुछ अवधि तक के लिये ही प्राप्त हो सका था। योद्धा सरदारों की अस्थायी सेनाओं ने किसानों को त्रस्त कर रखा था, गावों की अर्थव्यवस्था के संतुलन को बिगाड़ दिया था, और साम्राज्यवादी सरकार की नौकरशाही व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया था। सन 1915 से सन 1925 की घोर सामाजिक राजनीतिक अव्यवस्था के माहौल में माओत्से-तुंग (बाद में माओ जे-दोंग) ने अपने राजनीतिक विचारों को स्वरूप देना प्रारम्भ किया।

12.2 जीवन परिचय

माओ का जन्म 26 दिसम्बर 1893 में हुनान प्रान्त के एक गांव में हुआ था। यद्यपि माओ एक कृषक परिवार का था किन्तु आर्थिक दृष्टि से उसकी पारिवारिक स्थिति ठीक थी। उसका पिता अपने परिश्रम और अपनी व्यापारिक गतिविधियों से एक मध्यम वर्गीय किसान की श्रेणी में आता था, और बाद में वह अपने अनाज के कारोबार से एक उच्च वर्गीय किसान हो गया था। वह थोड़ा बहुत पढ़ा लिखा था और उसके पास इतनी आर्थिक सामर्थ्य थी कि वह माओ को पढ़ने के लिये विद्यालय भेज सकता था। आठ वर्ष की आयु में माओ को शिक्षा ग्रहण करने के लिये एक विद्यालय में भर्ती कराया गया जहाँ पर चीनी समाज के उच्च वर्ग को पारम्परिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। यह शिक्षा प्रणाली कन्फ्यूशियस की विचारधारा पर आधारित थी कि जिसमें विभिन्न स्तर की परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर चीन का कुलीन वर्ग विभिन्न प्रशासनिक पदों को ग्रहण करता था, और समाज को नेतृत्व प्रदान करता था। तेरह साल की उम्र में माओ के पिता ने उसे विद्यालय से बाहर निकाल लिया और अपने साथ काम पर लगा लिया। किन्तु माओ जब सोलह वर्ष का हुआ तब अपने पिता की इच्छा के विरूद्ध उसने फिर से एक विद्यालय में प्रवेश लेकर अपनी आगे की पढ़ाई प्रारम्भ किया। चीन में सन 1905 में कन्फ्यूशियस शिक्षा प्रणाली को समाप्त कर पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के आधार पर गठित विद्यालयों की स्थापना हो चुकी थी, और माओ ने जिस विद्यालय में प्रवेश लिया वह ऐसी ही शिक्षा देता था। अतः माओ को पारम्परिक चीनी और पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली दोनो का लाभ प्राप्त हुआ था। प्रसिद्ध चीनी उपन्यासों और चीनी इतिहास की बहुत सी पुस्तकों का अध्ययन उसने किया था चीनी सैन्य वीरता, जो बाद में विकसित होने वाले चीनी राष्ट्रवाद से जुड़ गयी, का माओ अंत तक प्रशंसक रहा।

सन 1911 में अठारह वर्ष की आयु में माओ ने चांगशानामक नगर में एक विद्यालय में प्रवेश लिया। यह क्रान्ति का वर्ष था, और क्रान्ति के समाचार ने माओ के भी मन में वही उत्साह उत्पन्न किया था जो इसने अन्य युवा छात्रों के मन में किया था । माओ ने एक सीमित रूप में इस क्रान्ति में भागीदारी किया, और फिर एक स्थानीय सैनिक नेता की सेना में सैनिक के रूप में काम करने लगा। लेकिन दो वर्षों बाद ही वह अपनी पढ़ाई पूरी करने के लिये वापस अपने विद्यालय लौट आया। यही पर अपने कुछ अध्यापकों के माध्यम से माओ का पाश्चात्य दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारों से परिचय हुआ । इस अवधि में माओ ने बहुत सी पाश्चात्य दार्शनिक एवं राजनीतिक कृतियों का चीनी अनुवाद पढ़ा। स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात वह पेकिंग (अब बेईजिंग) विश्वविद्यालय गया, और वहाँ पर वह उपग्रंथालयी के पद पर नियुक्त हो गया । यहीं पर मार्क्सवाद से उसका प्रथम परिचय हुआ, और उसने इतिहास के प्रोफेसर लीता-चाओ द्वारा स्थापित मार्क्सवादी अध्ययन केन्द्र की सदस्यता ग्रहण कर लिया । इतिहास का यह प्रोफेसर मार्क्सवादी तो था किन्तु वह चीन की राष्ट्रीय संस्कृति और परम्परा को त्याग देने के पक्ष में नहीं था। सम्भवतः यह लीता-चाओ का ही प्रभाव था कि माओ ने भी अन्त तक मार्क्सवाद के साथ चीनी राष्ट्र वाद का ताल मेल बनाये रखा । मार्च 1919 में माओ पेकिंग से हुनान लौट गया । यहाँ पर उसने 'मे फोर्थ मूवमेन्ट' में भाग लिया यह आन्दोलन प्रथम विश्व युद्ध के बाद वार्साय संधि से चीन को होने वाली हानियों के कारण प्रारम्भ हुआ था चूंकि चीन की हानि से जापान को लाभ था, अतः यह आन्दोलन जापान के विरूद्ध केन्द्रित था। लेकिन साथ ही साथ यह पाश्चात्य देशों के भी विरूद्ध था क्योंकि इन देशों ने चीन पर संधि के लिये अनुचित दबाव बनाया था । इस आन्दोलन के माध्यम से चीनी राष्ट्रवाद की बड़े पैमाने पर सशक्त अभिव्यक्ति हुयी थी ।

हुनान में माओं की गतिविधियों पर प्रशासन की नजर थी, और वह कभी भी बन्दी बनाया जा सकता था। अतः दिसम्बर 1919 में माओ हुनान छोड़कर पेकिंग वापस आ गया। यहाँ पर उसने मार्क्सवादी साहित्य का चीनी अनुवाद पढ़ना प्रारम्भ किया । हालांकि उसने मार्क्सवाद का व्यापक अध्ययन नहीं किया था, किन्तु अब वह एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी हो गया था। चीनी इतिहास के प्रति एक भौतिकवादी और राजनीति के प्रति एक जनप्रिय दृष्टि माओ के विचारों में स्थिर हो चुकी थी, और अन्त तक ये बनी रही। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशों के लिये लेनिन द्वारा प्रस्तुत रणनीति थी- 'राष्ट्रीय मुक्ति का युद्ध', और इस रणनीति का प्रयोग समस्त एशियाई देशों में सबसे पहले चीन में हुआ । यह रणनीति लेनिन ने साम्राज्यवाद के सिद्धान्त के अनुकूल थी, और इसके अन्तर्गत उपनिवेशों के राष्ट्रवादी बुर्जुवा वर्ग के साथ कम्युनिस्ट राष्ट्रीय मुक्ति के लिये युद्ध में सहयोग कर सकते थे। इस रणनीति का अनुसरण करते हुये जुलाई 1921 में कोमिन्टर्न के निर्देशों पर चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हुआ, और चीन के राष्ट्रवादी आन्दोलन के साथ इस पार्टी का एक संयुक्त मोर्चा बनाया गया। सन 1923 में 'सन जोजेफ' समझौते के माध्यम से सन यात-सेन को सोवियत सहायता प्राप्त होने लगी। राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों का संयुक्त मोर्चा कम्युनिस्ट घुसपैठ और अन्त में पूर्ण कम्युनिस्ट नियंत्रण की आदर्श स्थिति उत्पन्न करता था, लेकिन चीनी कम्युनिस्टों को इसमें विशेष सफलता नहीं मिल पायी और सन 1927 में उन्हें कोमितांग से बहिष्कृत कर दिया गया । अब चीनी कम्युनिस्टों ने अपनी अलग लाल सेना गठित की जिसने चीनी क्रान्ति में सक्रिय भूमिका निभाई और जो बाद में 'पीपुल्स लिबरेशन आर्मी' के नाम से जानी गयी। कोमिंतांग ने माओ को किसानों को संगठित करने और उनके विद्रोह को संचालित करने का उत्तरदायित्व दिया था, किन्तु यह काम उसे पूरी स्वतंत्रता के साथ करने की आज्ञा नहीं थी। सैनिकों के प्रशिक्षण के लिये सोवियत सहायता से बनाई गयी व्हामपोआ अकादमी पर नियंत्रण के लिये जब चियांग काई-शेक और कम्युनिस्टों के बीच संघर्ष प्रारम्भ हुआ तब चीनी राष्ट्रवादियों और सोवियत रूस में दरार उत्पन्न होने लगी, और अन्त में चीनी कम्युनिस्ट को मितांग से अलग हो गये । चियांग काई शेक नें सन 1927 में नानकिंग में अपने नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सरकार गठित करने की घोषणा कर दी । सन 1927 से लेकर सन 1949 तक जब तक कि यह राष्ट्रवादी सरकार चीन की मुख्य भूमि पर कम्युनिस्टों द्वारा पराजित नहीं हो गयी चीन में गृह- युद्ध और चीन- जापान युद्ध के पहले की अवधि में चीन तेजी के साथ एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में विकसित

भी हुआ ।

राष्ट्रवादियों से अलग होने के पश्चात कम्युनिस्टों ने अपनी सेना गठित करने के उद्देश्य से दो विद्रोह संगठित किये । हालांकि ये दोनों विद्रोह असफल हुये किन्तु आगे चलकर लाल सेना के गठन में ये महत्वपूर्ण सिद्ध हुये । इसके बाद भी चीन के कई प्रान्तों में विद्रोह संगठित किये गये, किन्तु लगभग सभी असफल रहे । माओ को हुनान में कृषक विद्रोह संगठित करने का दायित्व सौंपा गया था। हुनान में कृषक आन्दोलन पर अपनी जो रिपोर्ट माओ ने जारी किया उसमें उसने किसानों के क्रान्तिकारी चरित्र के बारे में अतिरंजित दावे किये, और यह कहा कि इनके पास एक ऐसी तूफानी शक्ति है जो किसी दूसरी शक्ति द्वारा सीमित नहीं की जा सकती । इस रिपोर्ट को पार्टी ने स्वीकार किया था, किन्तु विद्रोह की असफलता के बाद पार्टी ने माओ को प्रान्तीय समिति से निष्कासित कर दिया । अपने प्रतिद्वन्दी चू तेह की गलतियों का लाभ उठाते हुये माओ ने फिर से पार्टी में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लिया। सन 1928 में कोमिंटर्न ने चीन के प्रश्न पर एक प्रस्ताव पारित करते हुये चीन में किसान क्रान्ति के लिये गुरिल्ला युद्ध को एक महत्वपूर्ण रणनीति के रूप में स्वीकार किया ।माओ इस रणनीति का जनक बना । सन 1933 में जर्मनी में हिटलर का सत्ता में आना और जर्मनी व जापान की मित्रता ने चीन के राजनीतिक परिदृश्य को भी प्रभावित किया । माओ ने अब तक सेना और पार्टी में अपना एक प्रभुत्वशाली स्थान बना लिया था। अपने प्रभुत्व को और विस्तार देने के उद्देश्य से उसने सन 1935 में अपने हजारों अनुयायियों के साथ 'लम्बी यात्रा' (लांग मार्च) प्रारम्भ किया । यह लम्बी यात्रा चीनी साम्यवाद के इतिहास में बड़ी महत्वपूर्ण घटना मानी गयी है । दुर्गम मार्गों से होती हुयी बहुत कठिन इस यात्रा में हजारों रास्ते में ही बीमारी, भूख और थकान से मर गये । लेकिन इस यात्रा ने माओ को कम्युनिस्ट जगत में प्रतिष्ठित कर दिया। वह अब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के वैचारिक नेता के रूप में स्थापित हो चुका था। धीरे धीरे वह पार्टी से अपने प्रतिद्वन्दियों को हटाने लगा ।

द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होने पर माल्टा समझौते के आधार पर सोवियत रूस ने चीन की राष्ट्रवादी सरकार से मित्रता व सहयोग की संधि किया । सोवियत नीति से माओ को हानि और लाभ दोनो था। हानि यह थी कि अपनी मूल मांगों को छोड़ कर उसे चियांग काई-शेक के साथ समझौता करना पड़ा। इस समझौते के अन्तर्गत भविष्य में गठित होने वाली राष्ट्रीय सरकार में कम्युनिस्टों की बहुत सीमित भूमिका होने वाली थी । लेकिन लाभ यह था कि सोवियत संरक्षण में उसे मंचूरिया में प्रवेश कर अपनी पार्टी की सामरिक-राजनीतिक स्थिति मजबूत करने का अवसर मिल रहा था। जापान के सर्मपण के बाद उसके द्वारा खाली किये गये क्षेत्रों में अपना-अपना नियंत्रण स्थापित करने की होड़ में पुनः राष्ट्रवादियों और कम्युनिस्टों में संघर्ष छिड़ गये। उत्तरी चीन और मंचूरिया में कुछ बड़ी लड़ाइयों में राष्ट्रवादी सरकार की पराजय हुयी। अमेरिका चियांग काई-शेक के साथ था, किन्तु उसे यह भ्रम था कि चियांग काई-शेक को सहायता की आवश्यकता नहीं है, और राष्ट्रवादी अपनी रक्षा करने में समर्थ है। जब अमेरिकी सहायता पहुँची तब बहुत देर हो चुकी थी। सन 1948 के अंत में मंचूरिया पर कम्युनिस्टों का नियंत्रण हो चुका था। इसके बाद से राष्ट्रवादी सरकार की सामरिक शक्ति का पतन होता गया। मुद्रा स्फीति, भ्रष्टाचार, अपव्यय ने सरकार की नैतिक प्रतिष्ठा को काफी हद तक ठेस पहुँचाया। छात्रों , बुद्धिजीवियों, व्यापारियों, और यहाँ तक कि प्रशासनिक अधिकारियों के बीच भी सरकार की लोकप्रियता समाप्त होने लगी थी किसी लोकप्रिय जन आन्दोलन के माध्यम से नहीं बल्कि एक उच्च कोटि की सामरिक रणनीति और एक लौह इच्छा शक्ति के बल पर माओ ने अन्त में राष्ट्रवादी सरकार को चीन की मुख्य भूमि से खदेड़ कर उसे ताइवान के द्वीप में सिमट जाने के लिये बाध्य कर दिया। अक्टूबर 1949 को पेंकिंग में तीनानमेन के पास स्थिति शाही महल के मुख्य द्वार पर बनाये गये मंच से सैनिकों और जनता की भारी भीड़ को सम्बोधित करते हुये माओ ने चीन में एक जनवादी गणतंत्र की स्थापना की घोषणा किया । तेईस वर्षो के कठिन युद्ध के पश्चात अन्ततोगत्वा माओ को अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुयी। अब ताइवान को छोड़कर पूरे चीन में कम्युनिस्ट शासन था, और माओ पार्टी और देश का अकेला नेता था।

12.3 पार्टी और क्रान्तिकारी रणनीति

माओ का यह मानना था कि 'यदि क्रान्ति करनी हो तो उसके लिये एक क्रान्तिकारी पार्टी का होना अनिवार्य है', इस पार्टी का निर्माण मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त के आधार पर होगा, और इसकी कार्य करने की शैली मार्क्सवादी-लेनिनवदी शैली होगी । पार्टी नेतृत्व प्रदान करने वाली केन्द्रीय शक्ति है; यह 'चीनी जनता के नेतृत्व का केन्द्र है।'पार्टी का अनुशासनबद्ध होना अनिवार्य है, और यह आत्म-आलोचना के तरीके का प्रयोग करते हुये व्यापक जनसमूह के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करती है। पार्टी माओ के अनुसार सिद्धान्त को व्यवहार के साथ संयुक्त करती है। इसके पास वह आवश्यक ऐतिहासिक समझ होती है जो क्रान्ति के सफल बनाती है । पार्टी का कार्य क्रान्ति के लिये रणनीति को निर्धारित करना है । यह कार्य वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के अपने अनूठे ज्ञान के आधार पर करती है, और यह ज्ञान उसे आलोचना एवं आत्म आलोचना के माध्यम से मार्क्सवाद का अध्ययन करने से प्राप्त होता है । माओ ने एक स्थान पर कहा है कि 'एक क्रान्तिकारी पार्टी की नीति उसकी सभी व्यवहारिक कार्यवाही का प्रस्थान बिन्दु होती है, तथा इसकी अभिव्यक्ति उस पार्टी की कार्यवाहियों की प्रक्रिया और उनके अन्तिम परिणाम में होती है।' पार्टी का वर्चस्व स्थापित करते हुये माओ ने दूसरे स्थान पर यह भी कहा है कि पार्टी आम कार्य दिशा व आम नीति तो निर्धारित करती ही है, साथ में यह कार्य की विभिन्न विशेष कार्य दिशायें और विशेष नीतियाँ भी निर्धारित करती हैं ।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि सन 1930 के दशकों में स्टालिनवाद का जो प्रभाव विश्व की लगभग सभी कम्युनिस्ट पार्टियों पर था वही प्रभाव चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के संगठनात्मक ढांचे पर भी था। यह प्रभाव उस स्थिति में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है जब हम यह देखते हैं कि चीनी सर्वहारा से अलग कटी हुयी चीन की कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा का प्रतिनिधित्व करने की नहीं बल्कि उसे आदेश देने की अपनी भूमिका को हमेशा प्राथमिक मानती रही है। पार्टी का यह नौकरशाही अधिनायकवाद पार्टी के श्रेणीबद्ध के संगठन में माओ की सर्वोच्च स्थिति से और बल प्राप्त करता था। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में आन्तरिक प्रजातंत्र की परम्परा कभी उस प्रकार से नहीं रही जिस प्रकार यह बोल्शिविको में स्टालिन के पहले तक थी। लेकिन इसके बावजूद, जैसा कि डेविड मैक्लीलन ने कहा है, चीनी पार्टी का एकीकृत ढांचा नहीं था, और न ही माओ एक अधिनायक था। अनेक अवसरों पर पार्टी के आन्तरिक विभाजन प्रगट हुये हैं, और पार्टी में माओ के बहुत से क्रान्तिकारी साथी अपने दम पर प्रतिष्ठित एवं सम्मानित स्थान रखते थे। माओ को कभी कभी एक नेता के विरूद्ध दूसरे नेता को खड़ा कर अपना काम निकालना होता था। सन 1950 के दशकों में माओ ने पार्टी पर अपनी पकड़ मजबूत करना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु 'आगे की ओर लम्बी छलांग' (ग्रेट लीप फारवर्ड), जिस अभियान से माओ नीजि तौर पर जुड़ा हुआ था, की असफलता ने एक बार फिर पार्टी में माओ की स्थिति को कमजोर कर दिया था। दिसम्बर 1958 में उसने सरकार के राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया, और पार्टी गतिविधियों में उसकी रूचि भी सीमित हो गयी। लेकिन पार्टी ने हमेशा माओ के विचारों को ही मार्क्सवाद -लेनिनवाद की प्रामाणिक व्याख्या के रूप में स्वीकार किया, और इसी कारण माओ का वर्चस्व पार्टी पर हमेशा बना रहा। पार्टी में उसकी सत्ता यदि कभी कमजोर भी हुयी तो केवल कुछ अवधि के लिये ।

व्यापक जन समूह के साथ पार्टी को जोड़े रखने की बात माओ अक्सर कहा करता था। किन्तु वास्तविकता हमेशा यही रही कि निर्णय लेने का अधिकार पार्टी के शीर्ष नेतृत्व में ही केन्द्रित रहा है। राज्य के विभिन्न अंगों (जैसे राष्ट्रीय जन कांग्रेस) के पास भी कोई वास्तविक शक्ति कभी नहीं रही। सभी प्रमुख निर्णय पार्टी के पोलित ब्यूरो की स्थायी समिति द्वारा लिये जाते रहे हैं। पोलित ब्यूरो के सदस्यों का चुनाव यद्यपि केन्द्रीय समिति द्वारा होता है लेकिन केन्द्रीय समिति की बैठक बहुत कम बुलाई जाती है। उदाहरण के लिये सितम्बर 1962 से अगस्त 1966 की अवधि में इसकी एक भी बैठक नहीं हुयी थी। दरअसल यह समिति आम तौर पर उन निर्णयों पर अपनी मुहर लगाने के लिये बैठक करती है । जो पोलित ब्यूरो द्वारा पहले ही लिये जा चूके हैं, और उन्हें अमल में लाया जा रहा है। पार्टी भी समस्त गतिविधियों पर

रहस्य का एक मोटा पर्दा पड़ा होता है, और कोई बात सार्वजनिक नहीं की जाती है। कृषि एवं उद्योग के सम्बन्ध में सभी आर्थिक निर्णय पार्टी ही लेती है। किसानों और औद्योगिक श्रमिकों की इसमें कोई वास्तविक भागीदारी नहीं होती है । पार्टी के शीर्ष नेतृत्व को भी कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी यह कहना कठिन है क्योंकि इस पर हमेशा माओ का व्यक्तित्व हावी रहा । माओ नें एक बार कहा था कि पार्टी की नौकरशाही को सीमा में रखने के लिये उसने अपने व्यक्तित्व के लिये व्यक्ति पूजा को एक प्रतिरोधी शक्ति के रूप में विकसित किया था, किन्तु व्यक्ति पूजा को जिस सीमा तक ले जाया गया उसमें माओ का अधिनायकवादी और करिशमाई व्यक्तित्व ही उभर कर सामने आया, और पार्टी और जनता के सम्बन्ध में पार्टी पित्र सत्तात्मक रूप स्थापित हुआ कनफ्यूशियसवाद और ताओवाद की परम्परा के प्रभाव में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी भी यही मानती रही कि जनता सामान्य रूप से सदगुणी तो है किन्तु उसकी अज्ञानता के कारण उसे एक कुशल नेतृत्व की आवश्यकता है। पार्टी का पित्रसत्तात्मक रूप केवल दो अवसरों पर धूमिल होता हुआ दिखाई पड़ा था - एक जब माओ ने 'सौ फूल खिलने दो' का अभियान चलाया था, और दूसरा जब उसने सांस्कृतिक क्रान्ति का श्रीगणेश किया था।

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी नें प्रारम्भ से ही लेनिन के प्रजातंत्रिक केन्द्रीयतावाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया था। पार्टी के अन्दर सदस्यों को बहस की स्वतंत्रता दी गयी थी, किन्तु एक बार जब कोई निर्णय ले लिया जाता था तब उसे स्वीकार करने के लिये सभी बाध्य थे। सभी पार्टी सदस्यों की राय तो ली जाती थी किन्तु पार्टी के निचले अंग ऊपरी अंगों के अधीन रहते थे, और यह अधनता बहुत कठोर होती थी। माओ ने कई अवसरों पर प्रजातांत्रिक केन्द्रीयतावाद का समर्थन किया था, किन्तु पार्टी को जो लम्बे समय तक सैनिक संघर्ष करना पड़ा उससे पार्टी का स्वाभाविक झुकाव केन्द्रीयतावाद की ओर से हो गया था, न कि प्रजातंत्र की ओर एक स्थान पर माओ ने कहा था कि केन्द्रीयतावाद का पहला अर्थ सही विचारों की केन्द्रीयता है, किन्तु इस कथन में यही अर्थ निहित है कि यह पार्टी ही तय करेगी कि सही विचार क्या है। फरवरी 1957 के अपने एक सम्बोधन में उसने कहा था कि जनता के बीच के अर्न्तविरोध तथा जनता और शत्रु के अर्न्तविरोध 'की सही पहचान की जानी चाहिये। पहले अर्न्तविरोध का हल प्रजातांत्रिक केन्द्रीयतावाद के द्वारा होता है, और दूसरे का अधिनायकवाद या शाक्ति द्वारा। जनता के लिये स्वतंत्रता और प्रजातंत्र तो है किन्तु यह स्वतंत्रता नेतृत्व के अर्न्तगत है, और यह प्रजातंत्र केन्द्रीयकृत निर्देशन के अन्तर्गत। वह प्रजातंत्र को केवल एक साधन मानता था, साध्य नहीं। अपने इसी सम्बोधन में उसने कहा था कि 'मार्क्सवाद हमें यह सिखाता है कि प्रजातंत्र अधिसंरचना का भाग है, यह राजनीति के क्षेत्र में आता है। यह आर्थिक हितों की सेवा करने के लिए है'। जनता के बीच वैचारिक मतभेदों को हल करने के लिये माओ ने छः सूत्र दिये थे किन्तु इन सभी सूत्रों में अन्ततोगत्वा प्रमुख बात यही थी कि जनता का वही मत सही है जो कम्युनिस्ट पार्टी की अग्रणी भूमिका को स्वीकार करता है और पार्टी को मजबूत बनाता है। सन 1942 में भी उसने अपने एक भाषण में स्पष्ट रूप से कहा था कि पार्टी को जितना प्रजातंत्र की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक उसे केन्द्रीयतावाद की आवश्यकता है। माओ के लिये सही नेतृत्व का अर्थ था- 'जनता से जनता तक'। इसे स्पष्ट करते हुये वह कहता है कि पार्टी को जनता से विचार लेकर उस पर चिन्तन करना चाहिए, और फिर उन्हें एक योजनाबद्ध रूप देकर जनता में वापस जाना चाहिये, और विचारों को उनके बीच तब तक प्रचारित करना चाहिये जब तक जनता इन्हें अपना विचार मान कर स्वीकार नहीं कर लेती । 'जनता से जनता तक' जाने की प्रक्रिया बार बार दुहराई जानी चाहिए। लेजेक कोलाकोवस्की ने इस संदर्भ में लिखा है कि माओ की इस जनवादी नीति ने पाश्चात्य जगत में बहुत से प्रशंसकों को जन्म दिया था, किन्तु इससे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि चीन में जनता' का शासन था यह जनता को वैचारिक रूप से पालतू बनाने का एक साधन मात्र था।

सन 1926 में हुनान लौटने के पहले सभी कट्टर मार्क्सवादियों की भांति माओ भी यह मानता था कि कम्युनिस्ट पार्टी की प्रमुख शक्ति औद्योगिक श्रमिक है। अपने एक लेख 'चीनी समाज में वर्गो का विश्लेषण ' में उसने लिखा है कि 'हमारी क्रान्ति की अग्रणी शक्ति औद्योगिक श्रमिक है' किन्तु सितम्बर 1926 के आते-आते माओ के विचारों में परिवर्तन हो चुका था अब वह इस बात को पूरी तौर पर मान

चुका था कि क्रान्ति में केन्द्रीय भूमिका चीन के किसानों की होगी । सबाइन ने इस संदर्भ में टिप्पणी करते हुये यह लिखा है कि 'जब कि लेनिन ने अर्धविकसित औद्योगिक देशों में किसानों की महत्ता को स्वीकार किया था, माओ ने सर्वप्रथम उन्हें क्रान्तिकारी रणनीति में केन्द्रीय स्थान दिया।' हुनान में किसानों के बीच काम करते हुये माओ को जो अनुभव हुआ था उसी से उसके विचारों में परिवर्तन हुआ था। जिन किसानों के बीच वह काम करता था वे जमीन के किरायेदार थे, और अधिकतर बहुत गरीब थे। उनके भूखंण्ड बहुत छोटे थे, और भूस्वामी पैदावार का पचास प्रतिशत हिस्सा स्वयं ले लिया करते थे । मंहगाई और योद्धा सरदारों द्वारा उनके ऊपर भारी कर लगाये जाने से वे निरन्तर कर्ज में रहते थे। दिवालिया हो जाने वाले किसानों को योद्धा सरदारों की सेना में काम करना होता था। माओ को इन किसानों में स्पष्ट राजनीतिक चेतना दिखाई पड़ी, और उसने इनमे संचित क्रान्तिकारी ऊर्जा को पहचाना सन 1927 को हुनान में किसान आन्दोलन की अपनी रिपोर्ट में उसने लिखा है कि हुनान का किसान आन्दोलन एक प्रलयकारी घटना है जो सभी बाधाओं को ध्वस्त करते हुये मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेगी। विपन्न किसानों के भारी जनसमूह के आगे कोई शक्ति टिक नहीं पायेगी। इन विपन्न किसानों का नेतृत्व स्वीकार करना एक अनिवार्यता है। इनके बिना कोई क्रान्ति सम्पन्न नहीं की जा सकती है। इन किसानों की भूमिका को अस्वीकार करने का अर्थ है क्रान्ति को अस्वीकार करना। इन पर प्रहार करने का अर्थ है क्रान्ति पर प्रहार करना । किसानों को क्रान्ति की अग्रिम टुकड़ी मानकर माओ ने भले ही कट्टर मार्क्सवाद से अपने को थोड़ा पीछे खींच लिया था, लेकिन इस सच्चाई को झुठलाया नहीं जा सकता कि उस समय के चीनी समाज में कृषक ही क्रान्ति का वाहक हो सकता था। यहाँ पर माओ को चीनी इतिहास से भी प्रेरणा प्राप्त हुयी थी। चीन के सामन्तवादी समाज में विकास एवं परिवर्तन हमेशा भीषण किसान युद्धों के माध्यम से ही हुआ था। इनमें नवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों में होने वाले किसान विद्रोह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

सन 1927 की रिपोर्ट में भूमि सुधार के सम्बन्ध में कोई विशेष कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं किया गया था किन्तु दूसरे दस्तावेजों में इस सम्बन्ध में माओ के कुछ उग्र विचार संकलित हैं, बाद में सन 1929 में माओ ने अपने विचारों में परिवर्तन कर केवल बड़े जमींदारों की भूमि अधिग्रहीत किये जाने की नीति को अपना लिया था। ये जमीनें परिवार के आकार के अनुपात में पुनः विभाजित कर दी जाती थीं । फरवरी 1930 के बाद तो माओ ने धनी किसानों को भी अपनी जमीन अपने पास रखने का अधिकार दे दिया थ। इस अवधि में माओ ने सामाजिक व आर्थिक सुधार इस उद्देश्य से क्रियान्वित करने का प्रयास किया जिससे कि लाल सेना विकसित एवं शक्तिशाली हो सके। इस बात को अच्छी तरह जानते हुये भी कि क्रान्ति का रूसी माडल चीन में लागू नहीं हो पायेगा, माओ ने सोवियत रूस के दबाव में लाल सेना को प्रमुख नगरीय क्षेत्रों पर आक्रमण करने के लिये निर्देशित किया। इन अभियानों की असफलता के लिये मास्को द्वारा चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के सदस्य ली ली-सान को उत्तरदायी ठहराया गया, और उसे 'अर्धट्राटस्कीवाद' का शिकार बताया गया । पार्टी पर मास्को का नियंत्रण था, और पार्टी लाइन मास्कों द्वारा निर्धारित की जाती थी। सर्वहारा की प्रभुता और सामरिक प्रश्नों पर इस समय पार्टी की जो नीति थी उस नीति के साथ माओं का मतभेद था। माओ चीन की ऐतिहासिक परम्पराओं से शिक्षा ग्रहण कर कम्युनिस्ट पार्टी को बलशाली बनाने के पक्ष में था। इन परम्पराओं में सामरिक कला से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री थी।

इसी अवधि में माओ अपनी क्रान्तिकारी रणनीति को विकसित करने का प्रयास कर रहा था। यह रणनीति थी छापामार युद्ध या गुरिल्ला युद्ध की, और यही मार्क्सवादी परम्परा में माओ का सर्वाधिक मौलिक योगदान है। माओ के समक्ष सामरिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली शत्रु को चुनौती थी। ऐसे शत्रु को पारम्परिक युद्ध में नहीं हराया जा सकता था। उस पर विजय प्राप्त करने के लिये एक दूसरी शैली के युद्ध की आवश्यकता थी। यह था गुरिल्ला युद्ध । माओ का यह मानना था कि गुरिल्ला दस्तों को इस प्रकार संगठित किया जा सकता है कि स्थानीय क्षेत्रों में ताकतवर शत्रु पर भी शक्तिशाली प्रहार किया जा सके । जब भी अवसर अपने पक्ष में हो गुरिल्ला नियमित सेना के साथ मिल कर युद्ध कर सकते हैं । छापामार दस्तों को शत्रु पर पीछे से प्रहार करना चाहिये, और उनके संचार साधनों को नष्ट कर देना

चाहिये । गुरिल्ला युद्ध में एक आवश्यक बात यह भी है कि हमेशा गुरिल्लाओं को अपने लिए एक सुरक्षित स्थान रखना चाहिए जिससे प्रतिकूल परिस्थितियों में वे वहां लौट सकें। ये स्थान ऐसे होने चाहिये जहाँ शत्रु असानी से न पहुँच सके। ये स्थान पहाड़ों या जंगलों में होने चाहिए। इन स्थानों पर रहते हुये गुरिल्लाओं को स्थानीय जनता के साथ मिल कर रहना चाहिए। उनके खेतों में काम करना चाहिए, खेतों में पैदावार बढ़ाने के लिये उन्हें शिक्षित करना चाहिये, और सामाजिक सुधार के कार्य करने चाहिये। माओ ने कहा कि कम्युनिस्टों को शीघ्र विजय की आशा नहीं करनी चाहिए, और उन्हें दीर्घकालीन युद्ध के लिये तैयार रहना चाहिये । उसके अनुसार इस युद्ध की तीन अवस्थायें होंगी। पहली अवस्था में गतिशील छापामार युद्ध होगा; दूसरी में एक गतिरोध की स्थिति आयेगी; और तीसरी में नियमित युद्ध लड़ा जायेगा। युद्ध की इसी रणनीति का प्रयोग माओ ने जापानी साम्राज्य वादियों के विरूद्ध और बाद में गृह युद्ध में भी प्रयोग किया था।

माओ ने एक बार यह कहा था कि 'क्रान्तिकारी युद्ध आम जनता का युद्ध होता है। आम जनता को गोलबन्द करके और उस पर भरोसा करके ही हम यह युद्ध चला सकते हैं। यह युद्ध गुरिल्ला पद्धति से लड़ा जाता है। छापामार युद्ध की कला को विकसित करते हुये माओ कहता है कि इस युद्ध में जब शत्रु आगे बढ़ता है तब हम पीछे हटते हैं,जब शत्रु थमा होता है तब हम उसे परेशान करते हैं, और जब वह थका होता है तब हम उस पर हमला करते हैं, और जब वह पीछे लौटता है तब हम उसका पीछा करते हैं हम स्थायित्व वाले क्षेत्रों में वेगों की तरह आगे बढ़ने की नीति अपनाते हैं। जब शक्तिशाली शत्रु हमारा पीछा करता है तब हम चक्र में घूमने की नीति का अनुसरण करते हैं । माओ ने कहा कि हमें जाल फेंकने जैसा काम करना चाहिये। हम दूर तक जाल फेंकते हैं जनता का विश्वास जीतने के लिये, और जाल समेट लेते हैं दुश्मन से लड़ने के लिये। आगे दूसरे अवसर पर छापा मार युद्ध के सम्बन्ध में माओं कहता है कि दुश्मन की अलग थलग पड़ी सेना पर पहले प्रहार करना चाहिए, और बाद में उसकी केन्द्रित व शक्तिशाली टुकड़ी पर आक्रमण करना चाहिए। पहले छोटे नगरों एवं देहातों पर कब्जा किया जाना चाहिए, बाद में बड़े नगरों पर। लेकिन किसी स्थान को हमेशा अपने कब्जे में बनाये रखने का उद्देश्य नहीं होना चाहिये बल्कि दुश्मन की ताकत को समूल नष्ट कर देने का उद्देश्य होना चाहिये । शत्रु को अपने व्यूह में इस तरह घेर लेना चाहिए कि वह निकल न सके,और फिर उस पर घातक प्रहार कर उसका विनाश कर देना चाहिये। शत्रु के विनाश का सबसे अनुकूल अवसर तब होता है जब शत्रु पीछे की ओर लौट रहा होता है।

गुरिल्ला युद्ध के द्वारा, माओ यह कहता था कि, गावों की ओर से शहरों को घेर लिया जायेगा उसका यह मानना था प्रतिक्रियावादी एवं साम्राज्यवादी शक्तियां अधिकांशतः शहरों में जमी हुयी है और यदि शत्रु अधिक बलवान है तो उससे वहां पहले युद्ध करना एक कठिन काम है। अतः क्रान्तिकारियों को देहात के क्षेत्रों में पहले युद्ध करना चाहिये। पिछड़े ग्रामीण क्षेत्रों को मजबूत आधार क्षेत्रों में संगठित करना चाहिये,और राजनीतिक आर्थिक दृष्टि से गावों को प्रगतिशील बनाना चाहिये जिससे गाँवों की ओर से शहरों पर कब्जा जमायी हुयी शोषक शक्तियों पर प्रहार किया जा सके। चीनी भू क्षेत्र का व्यापक फैलाव और नगरों और गांवों का लगभग सम्पूर्ण विभाजन, माओ के लिये, उन आदर्श परिस्थितियों को उत्पन्न करता है जिनमें गाँवों में क्रान्तिकारी युद्ध को प्रारम्भ किया जा सकता है। गुरिल्ला युद्ध की रणनीति, माओ के अनुसार, भौतिक परिस्थितियों के आधार पर तैयार की जाती है, किन्तु भौतिक परिस्थितियों की सीमाओं में रहते हुये एक रणनीतिज्ञ 'राग रंग और ओजस्विता व भव्यता से परिपूर्ण अनेक नाटकों का निर्देशन कर सकता है'। युद्ध में विजय जितनी बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करती है उतनी ही यह 'युद्ध संचालन की मनोगत क्षमता' पर भी निर्भर करती है। गुरिल्ला योद्धा और नियमित लाल सेना का सैनिक एक दूसरे के लिये दायें और बायें हाथों की तरह हैं। ये एक दूसरे के पूरक हैं। इनकी सम्मिलित कार्रवाई क्रान्तिकारी युद्ध में कम्युनिस्टों की विजय सुनिश्चित करती है, और शत्रु की सम्पूर्ण पराजय ।

बहुत कम कम्युनिस्ट नेताओं ने युद्ध और सैन्य शक्ति को इतना महत्व दिया है जितना कि माओ ने दिया है वह यहाँ तक कहता है कि 'संसार को बंदूक से परिवर्तित किया जा सकता है', जो भी राज्य

की राजनीतिक स्तर पर कब्जा करना चाहता है उसके पास एक शक्तिशाली सेना होनी चाहिये', सभी कम्युनिस्टों को इस सच्चाई को समझ लेना चाहिये कि राजनीतिक सत्ता का जन्म बन्दूक की नली से होता है । ऐसी स्थिति में पार्टी और सेना का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न पर विचार करते हुये यद्यपि माओ यह कहता है कि 'पार्टी बन्दूक को निर्देशित करती है', बन्दूक को पार्टी को निर्देशित करने की आज्ञा कभी नहीं दी जा सकती, लेकिन इसके बावजूद वह यह भी मानता है कि बन्दूकों से पार्टी का संगठन खड़ा किया जा सकता है। वह आगे यहाँ तक कहता है कि बन्दूकों से हम विद्यालय स्थापित कर सकते हैं, संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं, और जन आन्दोलन का विकास कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में यही कहा जा सकता है कि माओ के लिये पार्टी की सम्प्रभुता तो है किन्तु यह सम्प्रभु शक्ति जन सेना के बिना नपुंसक है। पार्टी की सम्प्रभुशक्ति जन सेना के माध्यम से प्रगट होती है। पार्टी और सेना दोनो अन्ततोगत्वा जनता की सेवा के लिये हैं। जब पार्टी व्यापक जन समूह के साथ अपने को जोड़ लेती है तब वह असीमित शक्ति की स्वामिनी हो जाती है, और जब सेना जनता के साथ एकरूप हो जाती है तब वह अपराजेय हो जाती है। माओ को हमेशा यह विश्वास रहा कि चीनी जनता की चेतना को नैतिक अपीलों द्वारा परिष्कृत कर सही मार्ग पर लाया जा सकता है। इसीलिये चीन में पार्टी या सेना द्वारा कभी उस प्रकार की शक्ति व आतंक का प्रयोग जनता पर नहीं किया गया जिस प्रकार सोवियत रूस में किया गया ।

12.4 दार्शनिक विचार

माओ एक दार्शनिक नहीं था। वह एक क्रान्तिकारी योद्धा था, किन्तु फिर भी उसने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी को एक दार्शनिक आधार देने का प्रयास किया । सन 1937 में उसने येनान में पार्टी के सैनिक विद्यालय में दो भाषण दिये थे- एक 'व्यवहार के बारे में' और दूसरा 'अर्न्तविरोध के बारे में'। उसके ये दोनों भाषण सामान्य तौर पर उसकी दार्शनिक कृतियों के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। चीनी सिद्धान्त शास्त्रियों ने व्यवहार के सम्बन्ध में माओं के विचारों को मार्क्स के सत्य के सिद्धान्त में एक अनूठा योगदान माना है। माओ अपनी पहली कृति में कहता है कि मार्क्सवादी दृष्टि से मनुष्य की समस्त गतिविधियों में सबसे प्रमुख है उत्पादन की गतिविधि, और इसी गतिविधि से उसकी अन्य गतिविधियों का निर्धारण होता है। उत्पादन की पद्धति और सामाजिक संघर्ष से मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है। विशेषकर, वर्ग संघर्ष, अपने सभी स्वरूपों में, मनुष्य के ज्ञान की विकास प्रक्रिया को प्रभावित करता है। एक वर्गीय समाज में चिन्तन के सभी स्वरूप वर्ग द्वारा निर्धारित होते हैं । जैसा कि माओ ने स्वयं कहा है 'वर्ग समाज में प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी वर्ग के सदस्य के रूप में ही जीवन व्यतीत करता है, तथा प्रत्येक प्रकार के विचार पर, बिना किसी अपवाद के किसी वर्ग की छाप होती है' वह यहां पर लूकाच, ग्रामची और बाद में लेनिन के विचारों को ही आगे बढ़ा रहा था। सिद्धान्त व्यवहार पर आधारित होता है। सिद्धान्त व्यवहार का सेवक है। मार्क्स के चिन्तन में सिद्धान्त एवं व्यवहार की जो एकता स्वीकार की गयी है वही माओ भी स्वीकार करता है, किन्तु व्यवहार को वरीयता देते हुये। मार्क्सवादी चिन्तन में सिद्धान्त का महत्व, जैसा कि माओ ने कहा है, इसी कारण से है कि वह व्यवहार का निर्देशन कर सकता है। मार्क्सवादियों को बदलती हुयी परिस्थितियों के साथ अपने ज्ञान का बराबर ताल मेल करते रहना चाहिये, नहीं तो वे या तो दक्षिण पंथी अवसरवाद के शिकार हो जायेंगे या फिर वे वामपंथी मुहावरों के जाल में फंस जायेंगे ।

माओ के अनुसार मनुष्य अपनी इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य संसार को ग्रहण करता है, और फिर संकल्पनाएं निर्मित करता है जिनके द्वारा वह वस्तुओं के सार को समझता है । सार का अनुभव मनुष्य अपनी इन्द्रियों से नहीं प्राप्त कर सकता । किसी वस्तु के सार का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उस वस्तु को व्यवहार के क्षेत्र में लाना होता है। व्यवहार जब उस पर प्रतिक्रिया करता है तब हमें उस वस्तु का यथार्थ में ज्ञान होता है। जैसे यदि हमें समाज को समझना है तो हमें उस समाज में होने वाले वर्ग संघर्ष में भागीदारी करनी होगी । चीनी लोगों ने साम्राज्यवाद के विरूद्ध अपने संघर्ष को पहले अपने 'सतही,

एंद्रिक ज्ञान' के आधार पर प्रारम्भ किया था, किन्तु बाद की अवस्था में उन्हें साम्राज्यवाद के आन्तरिक अर्न्तविरोधों का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त हुआ, और इसी कारण वे इसके विरूद्ध अब प्रभावशाली संघर्ष करने में सक्षम हो सके हैं डेविड मैकलिलन ने कहा है कि माओ ने व्यवहार के बारे में अपने जो विचार प्रस्तुत किये हैं उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने मार्क्स की रचना 'थीसिस आन फायरबाख' के साथ एक अपरिष्कृत, विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक पद्धति को जोड़ दिया है, और जिसका फल यह हुआ है कि मार्क्सवाद से उसका अन्तर्निहित तत्व दर्शन छिन गया है । मार्क्सवाद का यह रूप पुस्तकीय ज्ञान के सम्बन्ध में माओ के दृष्टिकोण के साथ समन्वित हो जाता है। अधिक पुस्तकें पढ़ना माओ के लिये अच्छी बात नहीं थी। ज्ञान पुस्तकों से नहीं, व्यवहार से प्राप्त होता है।सामाजिक व्यवहार ही सत्य की कसौटी को उत्पन्न करता है। ए.ए.कोहेन ने माओ की रचना 'व्यवहार के बारे में' टिप्पणी करते हुये लिखा है कि यह रचना न तो किसी वास्तविक नवीन विचार को प्रस्तुत करती है और न व्यवहार के द्वन्द्ववादी-भौतिकवादी सिद्धान्त में किसी प्रकार का सर्जनात्मक योगदान करती है। कोहेन की बात सही है, क्योंकि माओं में कोई दार्शनिक प्रतिभा नहीं थी। वास्तव में, माओ व्यवहार की जिस शैली का अनुसरण कर रहा था उसी का मार्क्सवादी औचित्य वह चीनी जनता के सामने प्रस्तुत कर रहा था।

अपने दूसरे निबन्ध 'अन्तर्विरोध के बारे में' माओ अपनी बात प्रचलित दार्शनिक विचारधाराओं को दो भागों में बांटते हुये प्रारम्भ करता है। उसके अनुसार एक विचारधारा की विश्व दृष्टि तात्विक एवं निकृष्ट विकासवादी' है जो वस्तुओं को 'अलग थलग, गतिहीन एवं एकागी' मानती है। यह दृष्टि बहुत ही सतही तरीके से वस्तुओं के विकास के कारणों को वस्तुओं में नहीं बल्कि वस्तुओं के बाहर खोजती है। यह दृष्टि यह मानती है कि वस्तुओं में गतिशीलता उनके अन्दर से नहीं उत्पन्न होती है, बल्कि गति उन पर बाहर से आरोपित की जाती है। दूसरी विश्व दृष्टि है मार्क्सवादी दृष्टि । मार्क्सवाद यह मानता है कि सभी वस्तुओं में आन्तरिक अर्न्तविरोध होता है, और यही वस्तुओं में परिवर्तन का कारण होता है। बाह्य कारणों से केवल परिवर्तन की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, जब कि आन्तरिक कारण परिवर्तन के आधार हैं । भौतिकवादी द्वन्द्ववाद की विश्व दृष्टि के अनुसार किसी बस्तु के विकास की सम्यक जानकारी प्राप्त करने के लिये हमें उस वस्तु का आन्तरिक रूप से अध्ययन करना चाहिये, और उस वस्तु का दूसरी वस्तुओं से सम्बन्ध ज्ञात करना चाहिये । दूसरे शब्दों में, उस वस्तु के विक्रास को हमें वस्तुओं के आन्तरिक व अनिवार्य स्व-गति के माध्यम से समझना चाहिये। गति की अवस्था में सभी वस्तुयें एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं, और वे अपने आस पास की वस्तुओं पर प्रतिक्रिया करती हैं। माओ की विश्व दृष्टि में अर्न्तविरोध का केन्द्रीय स्थान है। अर्न्तविरोध विश्व व्यापी है, और यह वस्तुओं के विकास में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक बना रहता है। यहाँ पर माओ डेबोरिन के विचारों की आलोचना कर रहा था जो यह मानता था कि वस्तुओं के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में नहीं बल्कि बाद की किसी अवस्था में अर्न्तविरोध उत्पन्न होता है।

अन्तर्विरोध विश्वव्यापी है, किन्तु माओ के लिये महत्वपूर्ण था अर्न्तविरोध के विभिन्न विशेष रूप। भेद को ही अर्न्तविरोध मानते हुये वह कहता है कि यथार्थ के विभिन्न क्षेत्रों के अलग-अलग अर्न्तविरोध होते हैं, और इन अर्न्तविरोधों का अध्ययन अलग-अलग विज्ञान का विषय है। हमें सभी अर्न्तविरोधों के विशिष्ट लक्षणों का अध्ययन करना चाहिये। इसी से हमें समग्रता का ज्ञान होगा। अलग अलग अर्न्तविरोधों को हल करने के लिये अलग-अलग पद्धतियां प्रयोग की जाती हैं। कठमुल्ले लोगों का दोष यही है कि वे एक अपरिवर्तनशील सूत्र का प्रयोग सभी अर्न्तविरोधों को हल करने के लिये स्वेच्छाचारी तरीके से करते हैं । माओ कहता है कि 'रूस में फरवरी क्रान्ति और अक्टूबर क्रान्ति ने जिन अर्न्तविरोधों का हल प्राप्त किया वे मौलिक रूप से अलग अलग अर्न्तविरोध थे'। ऐसा भी होता है कि कोई चीज आगे चल कर अपने विरोधी लक्षणों को ग्रहण कर लें। जैसे कोमिनतांग पहले एक क्रान्तिकारी संगठन था, बाद में यह प्रति क्रान्तिकारी हो गया । कोई वस्तु अपनी विरोधी वस्तु को जन्म दे सकती है। जैसे युद्ध शान्ति को और शान्ति युद्ध को। जीवन के बिना मृत्यु नहीं है और मृत्यु के बिना जीवन नहीं। सर्वहारा जो पहले शासित था, क्रान्ति के माध्यम से, शासक हो जाता है। विरोधों का संघर्ष एक प्रक्रिया को दूसरी प्रक्रिया में परिवर्तित

कर देता है, और यह संघर्ष सार्वभौम होता है।

माओ प्रधान एवं गौण अर्न्तविरोधों में भेद करता है। साथ में वह किसी अर्न्तविरोध के प्रधान पहलू और गौड़ पहलुओं में भी भेद करता है । उसने लिखा है कि 'यदि किसी प्रक्रिया में अनेक अर्न्तविरोध मौजूद हों तो उनमें अवश्य एक ही प्रधान अर्न्तविरोध होता है जो एक प्रमुख और निर्णायक भूमिका अदा करता है जब कि बाकी तमाम अर्न्तविरोध गौड़ और अधिनस्थ होते हैं। इसलिये किसी ऐसी जटिल प्रक्रिया का अध्ययन करते समय जिसमे दो या दो से ज्यादा अर्न्तविरोध मौजूद हों, हमें उसके प्रधान अर्न्तविरोध को खोज निकालने की भरसक कोशिश करनी चाहिये । जहाँ एक बार हमने उसके प्रधान अर्न्तविरोध का पता लगा लिया, तो तमाम समस्याओं को आसानी से हल किया जा सकेगा'। पुनः 'दो विरोधी पहलुओं में से एक अवश्य प्रधान होता है और दूसरा अप्रधान। प्रधान पहलू वह होता है जो किसी अर्न्तविरोध में प्रमुख भूमिका अदा करता है। किसी वस्तु के स्वरूप का निर्णय मुख्यतया अर्न्तविरोध का प्रधान पहलू ही करता है, वह पहलू जिसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया हो । लेकिन यह स्थिति हमेशा एक जैसी नहीं रहती, अर्न्तविरोध के प्रधान और अप्रधान पहलू एक दूसरे में बदल जाते हैं तथा उसी के अनुसार वस्तु का स्वरूप भी बदल जाता है।' अर्न्तविरोध पर अपने इन विचारों से माओ पार्टी की इस नीति का औचित्य प्रस्तुत करता है कि जापानी साम्राज्यवादियों से युद्ध प्राथमिक है कोमिनतांग में गौड़ क्योंकि चीनी जनता और जापानी साम्राज्यवादी एक दूसरे के प्रमुख अर्न्तविरोधी हैं। जब कि चीनी जनता का कोमिनतांग के साथ जो अर्न्तविरोध है वह गौड़ है सन 1957 में माओ ने शत्रुतापूर्ण और गैर शत्रुतापूर्ण अर्न्तविरोधों का भेद किया । यह भी हो सकता है कि किसी अर्न्तविरोध का एक पहलू शत्रुतापूर्ण हो और दूसरा गैर शत्रुतापूर्ण । अपने निबन्ध 'जनता के बीच के अर्न्तविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में' उसने लिखा है कि 'हमारे और दुश्मन के बीच के अर्न्तविरोध शत्रुतापूर्ण अर्न्तविरोध होते हैं। जनता की पांतों के अन्दर,मेहनतकश जनता के बीच के अर्न्तविरोध अशत्रुतापूर्ण होते हैं जब कि शोषितवर्ग और शोषक वर्ग के बीच के अर्न्तविरोधों का जहां एक पहलू शत्रुतापूर्ण होता है वहीं दूसरा पहलू अशत्रुतापूर्ण भी होता है'।

सन 1964 में माओ ने अपने कुछ पार्टी साथियों, जिनमें माओं के खुफिया संगठन का अध्यक्ष कांगशेंग भी था, के समक्ष मार्क्सवादी दर्शन के सम्बन्ध में अपने विचारों को अनौपचारिक तरीके से रखा था। यहाँ पर वह मार्क्सवादी दर्शन को अपनी इस नीति के साथ संयुक्त करता है कि पार्टी कार्यकर्ताओं और विद्यार्थियों को ग्रामीण क्षेत्रों में काम करने के लिये भेजा जाना चाहिये, और भविष्य में होने वाले विकास को वह डारविनवाद में अपने विश्वास के साथ सम्नवित करता है। लेनिन सन 1964 की इस दार्शनिक चर्चा की प्रमुख बात यह है कि इसमें हेगल व मार्क्स के द्वन्द्ववाद के तीन नियमों को एक नियम में विघटित कर दिया गया है वास्तव में, इस ओर संकेत सन 1937 के निबन्ध 'अर्न्तविरोध के बारे में ' में ही माओ ने दे दिया था। इसमें उसने यह कहा था कि विरोधों की एकता का नियम 'चिन्तन का मौलिक नियम' है। यह कह कर द्वन्द्ववाद के तीनों नियमों में इस नियम को वरीयता प्रदान कर दी गयी थी। सन 1964 में माओ स्पष्ट तौर पर एक ही नियम को स्वीकार करता है। वह कहता है कि निषेध के निषेध के नियम का कोई अस्तित्व नहीं है और मात्रा का गुण में और गुण का मात्रा में परिवर्तित होने का नियम विरोधों की एकता के नियम का केवल एक विशेष हिस्सा है गुण का मात्रा में परिवर्तन गुण और मात्रा के विरोध की एकता है। निश्चयात्मकता और निषेध विकास की सभी अवस्थाओं में हमेशा बने रहते हैं । सामंती समाज यदि दास समाज का निषेध था तो यह पूंजीवादी समाज के निश्चित आगमन का सूचक भी था। इसी भांति पूंजीवादी समाज यदि सामन्ती समाज का निषेध है तो यह समाजवादी समाज की अनिवार्यता को भी प्रगट करता है। कुछ लेखकों ने माओ के इन विचारों पर ताओवाद के यिन और यांग के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का प्रभाव माना है। कुछ दूसरे लेखकों ने स्टालिन का प्रभाव यहाँ पर देखा है। स्टुअर्ट आर. स्क्रम का यह कहना है कि द्वन्द्ववाद के सम्बन्ध में माओ के ये विचार इतिहास के प्रति उसकी इस दृष्टि के साथ संगति में है कि ऐतिहासिक विकास एक दुविधा पूर्ण एवं समस्याग्रस्त प्रक्रिया है। अर्न्तविरोधों के सम्बन्ध में माओं के विचारों की आलोचना करते हुये कोलाकोवस्की ने लिखा है कि माओ बहुत सतही

और बचकाने तरीके से लेनिनवादी-स्टालिनवादी मार्क्सवाद की साधारण व सामान्य बातों को दुहराता है। कोहेन का भी यह कहना है कि माओ के प्रशंसक चीनी बुद्धिजीवियों का यह दावा कि माओ अपने इस निबन्ध के द्वारा द्वंद्वात्मक-भौतिकवाद के सिद्धान्त में मौलिक योगदान किया है एक नकली दावा है। इसमें अर्न्तविरोधों की लम्बी चर्चा तो है और तकनीकी शब्दावली का प्रयोग कर अमूर्त विचारों को प्रस्तुत किया गया है किन्तु इसमें कोई गम्भीर दार्शनिक चर्चा नहीं है, बचकाने विचारों को गम्भीरता से प्रस्तुत भर किया गया है।

माओ का ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त अधिसंरचना के तत्वों, जैसे राजनीति और संस्कृति को विशेष रूप से महत्व प्रदान करता है। उसने अर्न्तविरोध पर लिखे गये अपने निबन्ध में लिखा है कि यद्यपि आर्थिक आधार प्रमुख एवं निर्णायक भूमिका निभाता है, किन्तु कभी कभी ऐसी भी परिस्थितियाँ आती हैं कि अधिसंरचना और सिद्धान्त प्रमुख एवं निर्णायक हो जाते हैं। राजनीति और संस्कृति परिवर्तन के प्रमुख माध्यम बन जाती हैं । माओ के ये विचार सन 1958 के 'आगे की ओर लम्बी छलांग' नामक अभियान और सन 1966 की 'सांस्कृतिक क्रान्ति' में प्रमुख रूप से दिखाई पड़ते हैं। डेविड मैक्लीलन ने कहा है कि अधिसंरचना की जो प्रमुखता माओ से बताया वह बीसवीं शताब्दी के मार्क्सवाद की विभिन्न परम्पराओं में भी दिखाई पड़ती है । ग्रामची को 'अधिसंरचना को सिद्धान्त शास्त्री' कहा ही जाता है। स्टालिन ने भी अपनी सन 1938 एवं 1950 की रचनाओं में अधिसंरचना को महत्व दिया था। पारम्परिक रूप से चीनीलोग नैतिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण पर बल दिया करते थे। इन्हीं दृष्टिकोणों के आधार पर वे समाज को परिभाषित करते थे। वे मानते थे कि कोई समाज अपने विशिष्ट लक्षणों को नैतिकता और राजनीति के आधार पर ही प्रगट करता है। माओ ने जन आन्दोलनों में वैचारिकी की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुये स्टालिन की पुस्तक 'इकोनामिक प्रावलम्स आफ सोशलिज्म इन यू.एस.एस.आर.' की आलोचना करते हुये लिखा था कि सोवियत लोग सिर्फ उत्पादन के सम्बन्धों को महत्व देते हैं। वे अधिसंरचना, राजनीति और जनता की भूमिका पर ध्यान नहीं देते। वह यह मानता था कि आर्थिक विकास की गति से समाजवादी दृष्टिकोण जो प्रखर कर तेज किया जा सकता है समाजवादी दृष्टिकोण की प्रखरता एक वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करती है जो विकास में तेजी लाती है। अतः अधिसंरचना का विकास मूल संरचना के विकास के लिये परिस्थितियां उत्पन्न करता है। क्रान्ति की प्रक्रिया का मनोगत पक्ष माओ के लिये विशेष रूप से महत्वपूर्ण इसलिये था कि इसी के माध्यम से शताब्दियों तक निष्क्रिय जीवन जीने वाले व्यापक चीनी जनसमूह को जागृत किया जा सकता था। माओ के चिन्तन में वैचारिकी का नैतिक पक्ष स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आता है। कनफ्यूशियसवाद में नैतिकता और राजनीति को एक दूसरे से संयुक्त किया गया है। यही माओ ने भी किया है। फर्क यह है कि वह मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग करते हुये ऐसा करता है। माओ ने सार्वजनिक जीवन में हमेशा शुचिता त्याग, परिश्रम और ईमानदारी पर बल दिया ।

सन 1942 में येनान की कला साहित्य गोष्ठी में भाषण करते हुये माओ ने कला एवं साहित्य पर अपने विचारों को प्रस्तुत किया । उसने यह कहा कि कला एवं साहित्य सामाजिक वर्ग की सेवा करते हैं, वर्गीय दृष्टिकोण इनका स्वरूप निर्धारित करता है। कला स्वतंत्र नहीं होती है, कला के लिये कला सिर्फ एक भ्रामक मुहावरा है। क्रान्तिकारियों की ऐसी कला एवं साहित्य के विकास को प्रोत्साहित करना चाहिये जिनसे क्रान्ति का उद्देश्य पूरा होता हो। उन्हें ऐसी कला एवं साहित्य का सर्मथन करना चाहिये जो आज जनता के जीवन के साथ संयुक्त हों। माओ ने अपने उपर्युक्त भाषण में यह कहा था कि 'हमारा समूचा कला-साहित्य विशाल जनसमुदाय के लिये है, तथा सबसे पहले मजदूरों, किसानों और सैनिकों के लिये है। इसका सृजन मजदूरों, किसानों और सैनिकों के लिये किया जाता है, तथा यह उन्हीं के इस्तेमाल के लिये होता है'। कला और साहित्य को क्रान्ति के हथियार के रूप में काम करना चाहिए। उन्हें जनता को इस प्रकार संगठित करना चाहिए कि जनता शक्तिशाली तरीके से शत्रु पर प्रहार करने योग्य बन सके। जनवादी साहित्य जनता को समाज में व्याप्त उन अंधेरी शक्तियों से सजग करता है जो जनता को भ्रमित करती है, और उनके कल्यांण में बाधायें उत्पन्न करती हैं। माओ कलाकारों और साहित्यकारों को मानवता

के प्रति प्रेम से भी सावधान रहने की सलाह देता है। वह कहता है कि वर्ग के आधार पर विभाजित समाज में समूची मानवता के प्रति प्रेम एक झूठी भावना है। इस भावना को उस सामाजिक वर्ग ने अपने लाभ के लिये गढ़ा है जो सम्पत्तिवान है।

12.5 चीन में समाजवादी पुनर्निमाण

सन 1949 में चीन में जब कम्युनिस्ट शासन स्थापित हुआ तब वहाँ आर्थिक दुर्व्यवस्था व्याप्त थी। ऊंचे स्तर की मुद्रा स्फीति और औद्योगिक उत्पादन में भारी गिरावट के कारण चीन की आर्थिक व्यवस्था बहुत खराब स्थिति में थी। संचार के साधन लगभग पूरी तौर पर ध्वस्त हो चुके थे और शहरों में अकाल की काली छाया मंडरा रही थी। लेकिन चीन की यह स्थिति साम्यवादी शासकों के लिये एक मायने में लाभप्रद भी थी । चीनी जनता अपने नये शासकों के साथ थी और उन्हें सुधार के लिये पर्याप्त समय देने को तैयार थी। पार्टी के पास अनुशासित और प्रशासनिक दृष्टि से अनुभवी कार्यकर्ताओं की लम्बी कतार थी जो स्थिति को तेजी से सुधार सकते थे। इसके अलावा चीन को सोवियत रूस जैसे मजबूत राष्ट्र का सहयोग व सर्मथन भी प्राप्त था । नयी सरकार ने कई नये आर्थिक सुधार के कार्यक्रमों को तेजी के साथ लागू किया । सुधार के हर कदम के साथ माओवाद का स्वरूप भी स्पष्ट आकार लेने लगा सरकार ने करों की एकीकृत प्रणाली लागू किया,और करों का उचित वितरण किया। इसने एक संतुलित बजट प्रस्तुत किया, और उद्योग एवं कृषि के प्रति एक संयत नीति अपनाया । उन बड़े पूंजीवादी उद्योगों का जो कोमिनतांग से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थे राष्ट्रीयकरण किया गया। किन्तु राष्ट्रीय बुर्जुवा वर्ग जिनके व्यापार एवं उद्योग छोटे थे उन्हें राष्ट्रीयकरण की नीति से पृथक रखा गया, और उन्हें, लेनिन की नीति का अनुसरण करते हुये, प्रोत्साहित भी किया गया। वास्तव में, माओ ने क्रान्ति के विजयी होने के पहले से ही राष्ट्रीय बुर्जुवा को अपने साथ मिला कर रखने की नीति अपना लिया था । सन 1940 में उसने चीन की भावी सरकार के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा था कि यह 'सर्वहारा की अगुवाई में सभी साम्राज्यवाद विरोधी और सामन्तवाद विरोधी जनता के संयुक्त अधिनायकवाद के अन्तर्गत एक प्रजातांत्रिक गणतांत्रिक सरकार' होगी। विजय जब साफ दिखने लगी थी तब माओ ने इस सरकार में राष्ट्रीय बुर्जुवा को भी सम्मिलित कर लिया था। उसने उन्हें प्रभुत्वशाली भूमिका तो नहीं प्रदान किया किन्तु इनके राष्ट्रीय महत्व को स्वीकार करते हुये कहा कि 'नगरीय एवं ग्रामीण पूंजीवाद के जो तत्व राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और जनता के लिये लाभप्रद हैं उनका उपयोग किया जाना चाहिये'। रूढ़िवादी मार्क्सवाद की दृष्टि से तो मेहनतकश जनता और राष्ट्रीय बुर्जुवा एक दूसरे के शत्रु हैं, अथवा इनमें एक शत्रुतापूर्ण अर्न्तविरोध है, किन्तु चीनी परिस्थितियों में इनके बीच गैर शत्रुतापूर्ण अर्न्तविरोध हैं सबाइन ने कहा है कि माओ के ये विचार सिद्धान्त और व्यवहार दोनो दृष्टियों से मार्क्सवाद के अनुकूल हैं ।

आर्थिक सुधार के अनेक कार्यक्रमों में सबसे प्रमुख था जून 1950 का भूमि कानून । इस कानून को दो तीन वर्षों की अवधि में लागू किया गया, और इसके अन्तर्गत भूमि के सम्बन्ध में जो नीति अपनायी गयी वह गृह युद्ध की अवधि में कम्युनिस्ट नियंत्रण वाले क्षेत्रों में अपनाई गयी नीति से कहीं अधिक संयमित थी। यह नीति सभी चीनी नागरिकों को सोलह वर्ष की आयु में सीमित भूमि पर निजी स्वामित्व का अधिकार प्रदान करती थी। पार्टी कार्यकर्ताओं के निर्देशन में भूमि सुधार को लागू किया गया और इस काम में किसान संघों, जो पार्टी ने गॉवों में संगठित किया था, से सहायता ली गयी । भूमि का पुर्नवितरण बड़े जमीदारों और धार्मिक संस्थाओं की कब्जे वाली भूमि को छीन कर किया गया। इस नीति में समानता के सिद्धान्त का पूरी तौर पर पालन नहीं किया गया था क्योंकि बड़े किसानों की उनकी भूमि का संरक्षण प्राप्त था। किन्तु बड़े किसानों को अपनी भूमि को और बढ़ाने की आज्ञा नहीं थी। यह भूमि सुधार, जैसा कि डेविड मैक्लीलन ने कहा है, लेनिन और स्टालिन की इस दृष्टि की संगति में था कि कृषि के यंत्रीकरण के पहले भूमि का सामूहीकरण आवश्यक है । माओ ने इस नीति को अनुमोदित किया था, किन्तु लिउशाओ-ची इस नीति का प्रमुख प्रवक्ता था। उसने इस नीति की व्याख्या करते हुये कहा था कि केवल तभी जब व्यापक यंत्रीकरण और ग्रामीण क्षेत्रों में समाजवादी सुधार के लिये परिस्थितियां परिपक्व हों धनी किसान की

आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता समाप्त हो सकती है। इस भूमि सुधार को विवाह से सम्बन्धित एक नये कानून द्वारा पुष्ट करने का प्रयास किया गया था। इस वैवाहिक कानून के द्वारा अपने जीवन साथी का स्वतंत्र चुनाव करना विवाह का मौलिक आधार माना गया,और इस प्रकार व्यक्ति पर परिवार का सामन्ती नियंत्रण समाप्त किया गया। इस कानून ने संतान पर पिता की और पत्नी पर पति की सत्ता को समाप्त किया।

पुनर्निर्माण का उपर्युक्त दौर जब समाप्त हुआ तब चीन में पहली पंचवर्षीय योजना (1953-57) प्रारम्भ की गयी। इस योजना की अवधि में चीन में समाजवाद की दिशा में तेज प्रगति हुयी। उद्योगों में पहले राष्ट्रीय बुर्जुवा के मुनाफे को नियंत्रित किया गया और बाद में उन्हें मुआवजा देकर उनके उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित कर लिया गया। बहुत से ऐसे उद्योगों में उनके स्वामियों को उन्हीं के उद्योग में मैनेजर के पद पर नियुक्त कर दिया गया। सन 1956 के अन्त तक उद्योगों पर लगभग पूरी तौर से राज्य का नियंत्रण स्थापित हो गया था। पहली पंचवर्षीय योजना सबसे अधिक उद्योगों में सफल हुयी बहुत से भारी उद्योगों में उत्पादन बढ़कर लगभग दो गुना हो गया। सोवियत सरकार ने भी उद्योगों की स्थापना और उनके संचालन में बहुत सहायता दी। हजारों सोवियत इंजीनियर उन दिनों चीन में काम कर रहे थे और चीनी युवकों को सोवियत रूस में तकनीकी प्रशिक्षण भी प्रदान किया जा रहा था। कृषि के क्षेत्र में सहकारिता और सामूहीकरण का अभियान विशेष रूप से इसलिये प्रारम्भ किया गया कि पूंजीवादी दिशा में कृषि व्यवस्था का बढ़ना रोका जा सके । माओ ने भी कहा कि ग्रामीण क्षेत्रों में धनी किसानों की संख्या में चिन्तनीय वृद्धि हो रही है। सन 1952 में किसानों को परस्पर सहायता देने के उद्देश्य से टीमें गठित की गयी । तत्पश्चात 'अर्ध समाजवादी' सहकारी समितियों का गठन किया गया जिनके माध्यम से जमीन देने और पूंजी लगाने वाले व्यक्तिगत परिवार को उसी अनुपात में कृषि आय का वितरण किया गया। आय का वितरण करते हुयें श्रम के अनुपात को भी ध्यान में रखा गया । पूर्ण रूप से भी समाजवादी समितियों का गठन किया गया जिनमें जमीन पूंजी और श्रम का सामूहीकरण करते हुये आय को किये गये कार्य के अनुपात में बाटा गया सन 1956 के अन्त तक सभी चीनी किसान सहकारी समितियों के अन्तर्गत कर दिये गये, और उनका बहुसंख्यक हिस्सा समाजवादी सहकारी समितियों के अर्न्तगत आ गया था। चीनी सरकार ने इस उद्देश्य को प्राप्त करने की जो अवधि निर्धारित की थी उससे दस वर्षों पूर्व ही यह उद्देश्य पूरा कर लिया गया था। हालाँकि इस तेज गति ने व्यवहार में कुछ समस्याओं को उत्पन्न किया, किन्तु तेज गति से इसे पूरा करने के पीछे दो उद्देश्य थे । एक यह कि, कृषि उत्पादन को बढ़ाना औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के लिये आवश्यक था; दूसरा यह कि, चीन की तेजी से बढ़ती जनसंख्या के लिये अनाज उपलब्ध कराना जरूरी था। प्रथम पंचवर्षीय योजना के माध्यम से चीन सफलतापूर्वक योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था के सोवियत माडल की ओर अग्रसर हो रहा था ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना यद्यपि सफल थी, किन्तु इसकी अवधि बीतने के साथ ही वृद्धि दर में पुनः गिरावट आने लगी। उधर सन 1953 में स्टालिन की मृत्यु के पश्चात ख्रुश्चेव द्वारा चलाये जा रहे गैरस्टालिनीकरण के अभियान ने भी माओ के मन में भविष्य में सोवियत सहायता के प्रति शंका उत्पन्न कर दिया था। सन 1958 में द्वितीय पंचवर्षीय योजना को दर किनार करते हुये माओ ने दुस्साहस से भरा एक कदम उठाया। यह था 'आगे की ओर लम्बी छलांग'। माओं ने देशी संसाधनों के बल पर चीन में औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन को तूफानी गति से आगे बढ़ाने का संकल्प कर लिया था। माओ को अपने नेतृत्व की चमत्कारी शक्ति और चीनी जनता की अपार श्रम शक्ति में पूरा भरोसा था। साथ में यही एक रास्ता था चीन को सोवियत नियंत्रण से मुक्त करने का। माओ ने लम्बी छलांग के अभियान को प्रारम्भ कर पार्टी की आर्थिक नीति को तोड़ दिया। एक अर्ध सैनिक तरीके से चीनी जनता को संगठित कर पूरे चीन में व्यापक सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक परिवर्तन कर अपनी कल्पना के साम्यवादी आदर्श को माओ इस छलांग के द्वारा प्राप्त करने जा रहा था । मई 1958 में आठवीं पार्टी कांग्रेस में माओ की ओर इसे लिउशाओ-ची के द्वारा 'आगे की ओर लम्बी छलांग' के अभियान की घोषणा की गयी । इस अभियान का सबसे उग्र पहलू था पूरे चीन में कम्यून प्रणाली की स्थापना । इन कम्यूनों में अर्ध सैनिक

आधार पर मानव श्रम को संगठित कर कार्य पर लगाने की योजना बनायी गयी । न केवल निजी श्रम को समाप्त किया गया बल्कि निजी या पारिवारिक जीवन को भी समाप्त कर दिया गया । सभी कम्यूनों में एक साथ रहने और एक सामूहिक भोजनालय से अपना भोजन प्राप्त करने के लिये बाध्य थे। कम्यून के सदस्यों को कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में काम करने के साथ-साथ सैनिक प्रशिक्षण भी लेना पड़ता था। वास्तव में, कम्यून के सदस्यों का पूरा जीवन सैनिक संगठन के आधार पर गठित कर दिया गया था। आर्थिक विकास के योजनाबद्ध सोवियत माडल को छोड़कर विकेन्द्रीकरण का मार्ग अपनाया गया। भारी उद्योगों के स्थान पर लघु उद्योगों को प्राथमिकता दी गयी। इसका सबसे सनसनीखेज पहलू था गाँव गाँव में इस्पात की लघु भट्टियाँ बैठाया जाना, और अनपढ़ किसानों द्वारा इस्पात तैयार किया जाना । एक अनुमान के अनुसार छः लाख ऐसी भट्टियाँ लगायी गयी थीं ।

कुछ समय तक तो झूठे आंकड़ों के बल पर लम्बी छलांग की उपलब्धियों को पार्टी नेतृत्व प्रचारित करता रहा, किन्तु शीघ्र ही इस अभियान की भयावह असफलता सबके सामने प्रगट हो गयी। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों और सोवियत सलाहकारों ने इस अभियान की असफलता की भविष्यवाणी पहले ही कर दी थी । सन 1959 आते आते पूरे चीन में आर्थिक दुर्व्यवस्था व्याप्त हो गयी थी । खेती की आदिम पद्धति, सिंचाई की गलत व्यवस्था और जमीन की उर्वरा शक्ति के क्षय होने के कारण कृषि उत्पादन घट कर बहुत निम्न स्तर पर आ गया था। खाद्य पदार्थों की कमी के कारण अनाज पर नियंत्रण लगाया जाने लगा, और अन्त में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। औद्योगिक उत्पादन में भी गम्भीर गिरावट दर्ज की गयी । बहुत से उद्योग बन्द हो गये,और ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले मजदूरों को शहरों में काम न होने के कारण वापस अपने गाँव लौटना पड़ा। सोवियत रूस द्वारा अपने वैज्ञानिकों को वापस बुला लेने के कारण स्थिति और भी खराब हो गयी । लम्बी छलांग के पीछे माओ का विचार यह था कि वैचारिकी की शक्ति से लैस किसान कोई भी उपलब्धि कर सकता है। बुर्जुवा तकनीकी ज्ञान से नहीं बल्कि अदम्य उत्साह से कृषि एवं उद्योग दोनों में सफलता प्राप्त की जा सकती है। लेकिन माओ को शीघ्र ही अपनी भूल का अहसास हो गया था। जुलाई-अगस्त 1959 में लुशान मे होने वाले पार्टी सम्मेलन में माओ ने आत्म आलोचना करते हुये कहा कि उसे आर्थिक नियोजन का ज्ञान नहीं था,वह यह नहीं समझ सका कि कोयले और लोहे को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना पड़ता है, वे अपने आप चल कर नहीं जाते। उसने स्वीकार किया कि लम्बी छलांग ने चीन को भयावह दिशा में ढकेल दिया है । परन्तु उसने कहा कि गलतियाँ सभी करते हैं, और हमें अपनी गलतियों से सबक लेना चाहिए। माओ ने चीनी गणतंत्र के अपने चेयरमैन के पद से त्याग पत्र दे दिया, किन्तु वह पार्टी की केन्द्रीय समिति के चेयरमैन के पद पर बना रहा। अब से वह चेयरमैन माओ के नाम से पुकारा जाने लगा। पार्टी में उसकी स्थिति अब भी मजबूत थी ।

माओ ने जब कार्य पालिका के सर्वोच्च पद को छोड़ा तो उसी के प्रस्ताव पर उसके सबसे घनिष्ठ सहयोगी लिउ शाओ-ची ने इस पद को ग्रहण किया । माओ ने कहा कि वास्तविक प्रशासन की 'पहली पंक्ति' का कार्य छोड़कर अब वह नीति निर्धारण की 'दूसरी पंक्ति' का कार्य करेगा लिउ शाओ-ची और तेंग हिसाओ-पिंग ने माओ की लम्बी छलांग की नीति का पूर्ण रूप से त्याग करते हुये चीन की आर्थिक व्यवस्था को फिर से सही रास्ते पर लाने का प्रयास प्रारम्भ किया। उनकी आर्थिक नीति कृषि एवं उद्योग में उत्पादन का न्यूनतम स्तर प्राप्त करने की ओर निर्देशित थी। उन्होंने किसानों को नीजि उत्पादन करने की स्वतंत्रता प्रदान किया जिससे उत्पादन को बढ़ाकर अकाल की चुनौती से निपटा जा सके। नीजि क्षेत्र में होने वाले कृषि उत्पादों के लिये एक सीमा तक स्वतंत्र बाजार की व्यवस्था भी स्वीकार की गयी । सन 196, 1962 व 1963 में गेहूँ और अन्य अनाजों का बड़े पैमाने पर कनाडा और दूसरे देशों से आयात किया गया । जनवरी 1960 से चीनी कम्युनिस्ट पार्टी का सर्वोच्च लक्ष्य था कृषि उत्पादन में वृद्धि, और कृषि को' देश के आर्थिक विकास की केन्द्रीय कड़ी' के रूप में स्वीकार किया गया। सन 1965 में जाकर चीन में कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन सन 1957, लम्बी छलांग के एक वर्ष पहले, के स्तर पर पहुँच सका। लिउ शाओ-ची को आर्थिक क्षेत्र में तो सफलता प्राप्त हुयी लेकिन अर्न्तराष्ट्रीय कम्युंनिस्ट राजनीति के क्षेत्र में वह चीन को प्रतिष्ठित नहीं कर सका। माओ और ख्रुश्चेव के बीच अब

दरार बहुत गहरी हो चुकी थी, और चीन और सोवियत रूस दोनो अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन पर अपना नियंत्रण स्थापित करने की होड़ में लगे हुये थे सोवियत रूस अपनी सामरिक व आर्थिक सार्मथ्य के बल पर बेहतर स्थिति में था ।

12.6 माओ, सोवियत रूस और अमेरिका

माओ का सम्बन्ध सोवियत रूस से हमेशा से समस्याग्रस्त रहा । सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी पूरे विश्व में अकेली पार्टी थी जिसने क्रान्ति को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया था। ऐसी दशा में चीन के लिये सोवियत माडल को आदर्श के रूप में अपनाना स्वाभाविक था। लेकिन इसके साथ ही सोवियत क्रान्ति का स्वरूप चीनी परिस्थितियों के साथ मेल नहीं खाता था। इसलिये माओ निरन्तर इस बात का प्रयास करता रहा कि लोमिन्टर्न के विरूद्ध वह अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखे। सन 1920 और सन 1930 के दशकों में कोमिन्टर्न के कई निर्देश चीनी क्रान्ति के लिये घातक सिद्ध हुये थे, और माओ इनका भुक्तभोगी था। कोमिन्टर्न माओ की अपेक्षा दूसरे चीनी नेताओं पर अधिक भरोसा करता था। लेकिन इन सबके बावजूद रूस में स्टालिन के शासनकाल तक माओ और सोवियत रूस का सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण था। बहुत से बिन्दुओं पर मतभेद होते हुये भी, स्टालिन ने हमेशा माओ को एक सर्मपित एवं कार्यकुशल नेता के रूप में स्वीकार किया था। वह माओ और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी पर अपनी निगरानी तो रखता था,किन्तु ऐसी निगरानी सोवियत रूस द्वारा सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टीयों पर रखी जाती थी। स्टालिन ने माओ को सत्ता प्राप्त करने में सहायता की और क्रान्ति के पश्चात चीन के पुर्ननिर्माण में पूरा सहयोग किया । दूसरी ओर, माओ ने भी हमेशा स्टालिन की सराहना की और जब कभी कोई विषय सोवियत रूस के लिये विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता था तब वह सोवियत रूस द्वारा निर्देशित लाइन को स्वीकार करता था। कई बार माओ ने मास्को से आने वाले निर्देशों को अस्वीकार तो किया, लेकिन स्टालिन का खुला विरोध उसने कभी नहीं किया। स्टालिन की व्यक्ति पूजा की परम्परा का विकास करने में उसने भरपूर सहयोग किया। उसने कहा कि स्टालिन ने कई भोंडी गलतियां की थी, किन्तु इसमें संदेह नहीं है कि वह एक महान मार्क्सवादी लेनिनवादी था।

सन 1950 में चीन और सोवियत रूस के बीच मित्रता, सहबंध एवं परस्पर सहयोग के लिये जो संधि हुयी उसके द्वारा चीन को सोवियत रूस का नैतिक समर्थन प्राप्त होने के साथ साथ आर्थिक एवं तकनीकी सहायता भी प्राप्त हुयी । बहुत से क्षेत्रों - जैसे तेल एवं इलेक्ट्रानिक्स - मे तो रूसी सहायता से ही कार्य प्रारम्भ किया जा सका । इस संधि के माध्यम से सोवियत रूस चीन की सामरिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सभी प्रकार की सहायता करने के लिये वचन बद्ध था। चीनी सेना का आधुनिकीकरण करने में और उसे आधुनिक अस्त्रों से लैस करने में सोवियत रूस ने मदद की। सन 1953 में चीन ने जब अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना को प्रारम्भ किया, हालांकि तब तक स्टालिन की मृत्यु हो चुकी थी, तब सोवियत रूस से सितम्बर 1953 के एक समझौते के अन्तर्गत एक सौ इकतालिस बड़े उद्योगों को बैठाने के लिये चीन ने अलग से सोवियत सामान और तकनीकी सलाह प्राप्त किया । सोवियत रूस पर अपनी निर्भरता को समझते हुये ही माओ ने सोवियत सर्मथक चीनीं नेता काओ कांग को योजना आयोग का प्रथम अध्यक्ष नियुक्त किया था । सन 1954 से माओ सोवियत रूस से स्वतंत्र अपना मार्ग सुनिश्चित करने लगा था, किन्तु फिर भी उसने चीन और सोवियत रूस के सहयोग को तोड़ने वाली किसी नीति को नहीं अपनाया । सन 1954 के चीन के संविधान की प्रस्तावना में ही चीन और सोवियत रूस की 'अविनाशी संधि' का उल्लेख कर दिया गया था। लेकिन सन 1953 में स्टालिन की मृत्यु के पश्चात सोवियत नेता अपनी वरिष्ठता एवं सत्ता का दावा करने की स्थिति में नहीं रह गये थे, और इस कारण सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का दूसरी कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ सम्बन्ध में परिवर्तन तो होना ही था, किन्तु जैसा कि फ्रैन्ज माईकेल ने कहा है, इससे सोवियत रूस और चीन के आपसी सम्बन्धों में इतनी कटुता का आना अनिवार्य नहीं था। माओ को सबसे बड़ा आघात ख्रश्चोव के स्टालिन विरोधी अभियान से लगा, और तभी से दोनों देशों के बीच सम्बन्ध लगातार खराब होते चले गये ।

फरवरी 1956 में खुश्चोव ने सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस को सम्बोधित करते हुये स्टालिन की व्यक्ति-पूजा की कड़ी आलोचना की, और कहा कि स्टालिन बीमार मानसिकता का एक निरंकुश तानाशाह था जो पार्टी के बहुत से नेताओं की हत्या के लिये जिम्मेदार था। उसने हजारों निर्दोष लोगों की भी हत्या करवाई थी, और उसने सोवियत जनता का बहुत क्रूर तरीके से दमन किया था। उसकी नीतियों के कारण सोवियत राष्ट्र में बहुत सी कमियां और कमजोरियाँ उत्पन्न हुयी थीं।खुश्चोव के उपर्युक्त भाषण का प्रभाव चीन और दूसरे कम्युनिस्ट देशों पर पड़ना स्वाभाविक था। उसके भाषण की बहुत सी बातों को माओ के ऊपर भी लागू किया जा सकता था। उसे भी अपनी व्यक्ति-पूजा कराने का दोषी माना जा सकता था। इसी बात को ध्यान में रखते हुये माओ ने कहा कि मार्क्सवाद-लेनिन वाद पार्टी में नेता की अहम भूमिका को स्वीकार करता है। लेकिन की बीसवीं कांग्रेस के कुछ ही महीनों बाद चीन में स्टालिन विरोधी अभियान के प्रभाव को रोकने के लिये माओ ने स्वतः 'प्रजातांत्रिक आलोचना' की छूट दे दी । इस नयी नीति को 'सौ फूल खिलने दो और सौ विचार पनपने दो' का नाम दिया गया। माओ ने कहा कि गलत विचारों को हम प्रतिबन्धित कर सकते हैं, किन्तु प्रतिबन्ध के बाद भी ये विचार मौजूद रहते हैं। अतः विचार-विमर्श और आलोचना का माध्यम अपना कर सही विचारों को सामने लाना चाहिये । किन्तु शीघ्र ही यह नयी नीति सरकार के नियंत्रण से बाहर निकल गयी। चारो ओर से पार्टी की आलोचना का एक प्रबल वेग उमड़ पड़ा, और पार्टी के शीर्ष नेतृत्व को इसमें अपने लिये स्पष्ट खतरा दिखाई पड़ने लगा। शीघ्र ही माओ ने 'सुगंधित फूलों' और 'जहरीले खरपातों' का भेद कर यह कहा कि इस नीति से हमें पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का सर्मथन करने वाले पार्टी के अन्दर और बाहर जनता के शत्रुओं को पहचान करने का अवसर मिला है। ऐसे 'जहरीले खर-पातों' को पार्टी और अन्य स्थानों से हटाने का एक बड़ा अभियान सन 1957 में प्रारम्भ किया गया। कुछ को मृत्यु दंड दिया गया, तो कुछ बन्दी बनाये गये। कुछ को उनके पदों से मुक्त कर दिया गया, और कुछ को शारीरिक श्रम का दंण्ड देते हुये खेतों में काम करने के लिये भेजा गया।सन 1957 में ही माओ सोवियत रूस की यात्रा पर गया, और वहाँ उसने खुश्चोव के समक्ष यह मांग रखी कि अन्तर्राष्ट्रीय कम्यनिस्ट आन्दोलन की नीति के निर्धारण में उसे सहभागी बनाया जाय। ख्रुश्चोव ने जब माओ की मांग को अनसुना कर दिया तभी माओं ने यह समझ लिया था कि कम्युनिस्ट जगत में उसकी स्थिति तभी मजबूत हो सकती है जब वह सोवियत नेतृत्व को चुनौती दे।

यह मानते हुये कि 'पूर्व की हवा पश्चिम की हवा पर हावी है' माओ पाश्चात्य जगत को कम्युनिस्टों द्वारा कड़ी चुनौती दिये जाने के पक्ष में था, किन्तु खुश्चोव ने अब पाश्चात्य जगत के साथ 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' की नीति अपना लिया था। सितम्बर 1959 में कैम्प डेविड में खुश्चोव और आइजनहावर की भेट के बाद सोवियत रूस और चीन के बीच टकराव अनिवार्य हो गया । अब चीन को रूस से ताईवान और अन्य मसलों पर समर्थन की कोई आशा नहीं थी। भारत और चीन के बीच सीमा विवाद ने रूस की चीन के प्रति नीति को और स्पष्ट कर दिया। अब चीन को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अकेला पड़ जाने का पूरा खतरा दीख रहा था। सन 1958 से चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर जो गुप्त रूप से सत्ता संघर्ष चल रहा था वह इसी विषय पर केन्द्रित था कि चीन को सोवियत माडल अपनाना चाहिये या उससे भिन्न माडल। कोलाकोवस्की ने कहा है लिउ शाओ-ची और अन्य सोवियत समर्थक चीन को सोवियत रूस के अधीन रखे जाने का सर्मथन नहीं करते थे, बल्कि वे समाजवाद के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये सोवियत माडल को अधिक उपयोगी मानते थे। सन 1959 के अन्त से माओ की जो व्यक्ति-पूजा प्रारम्भ हुयी उससे यह स्पष्ट हो गया कि पार्टी में सोवियत समर्थकों का वर्चस्व नही है। सन 1960 से लगातार माओ सोवियत रूस पर प्रहार करता रहा। उसके लिये रूस अब एक 'नव संशोधन वादी' देश था उसकी अमेरिका के साथ 'शान्ति की राणनीति 'साम्राज्यवाद के असली चेहरे पर पर्दा डालने का बहाना था, यहाँ तक कि रूस स्वयं एक 'सामाजिक साम्राज्यवादी' शाक्ति में परिवर्तित हो गया था। सोवियत रूस माओ के ऊपर यह आरोप लगा रहा था कि वह रूस और अमेरिका के बीच परमाणु युद्ध को भड़का कर चीन के लिये लाभ प्राप्त करना चाहता है, लेकिन वह यह नहीं समझता है कि ऐसा युद्ध समूची मानवता के

लिये विनाशकारी होगा। सेवियत रूस पर प्रहार करने के साथ-साथ माओ पार्टी पर अपनी पकड़ को मजबूत करता जा रहा था। उसने पार्टी पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिये 'पीपुल्स लिबरेशन आर्मी' को पार्टी पर प्रहार करने के लिये एक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया । इस प्रकार उसने इस कम्युनिस्ट सिद्धान्त का भी परित्याग कर दिया कि पार्टी सर्वोपरि है, और यह कभी गलती नहीं करती। अब यदि पार्टी और माओ के बीच कोई मतभेद था तो माओ सही था न कि पार्टी। माओ के सम्पूर्ण वर्चस्व को स्थापित करने में जिस चीनी नेता ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई वह था लिन पिआओ। उसने माओ के विभिन्न चुने हुये कथनों को संग्रहित कर 'छोटी लाल किताब' नामक एक पुस्तक का प्रकाशन किया। चीन में इस पुस्तक की लाखों प्रतियां प्रकाशित की गयी, और यह पुस्तक, न सिर्फ चीन में बल्कि चीन के बाहर भी विभिन्न माओवादी समूहों द्वारा क्रान्ति की बाइबिल के रूपमें स्वीकार की गयी ।

माओ ने सोवियत रूस को 'सामाजिक साम्राज्यवादी' कह कर साम्राज्यवाद पर मार्क्सवादी चिन्तन परम्परा में एक नया आयाम जोड़ दिया। चेकोस्लोवाकिया में सोवियत हस्तक्षेप के बाद से माओ ने ऐसा कहना प्रारम्भ किया था एक तरह से देखा जाय तो यह मौलिक रूप से लेनिन का ही सिद्धान्त था जो स्टालिन से होते हुये माओ तक आया था। लेनिन ने 4 मार्च 1923 को प्रावदा में प्रकाशित अपने एक लेख में यह निष्कर्ष निकाला था कि अन्ततोगत्वा रूस और एशिया के उत्पीड़ित देशों को मिल कर प्रति क्रान्तिकारी एवं साम्राज्यवादी पश्चिमी जगत से संघर्ष करना पड़ेगा। लेनिन के साम्राज्यवाद ने सिद्धान्त के साथ, जैसा कि जार्ज लिचथीयम ने कहा है, यह निष्कर्ष तार्किक रूप से संयुक्त था। इसी निष्कर्ष को स्टालिन भी स्वीकार करता था, और यही निष्कर्ष, पुनः लिचथीयम के शब्दों में,'माओवाद के सिद्धान्त एवं व्यवहार में प्रवेश करता है'। किन्तु माओ ने जब सोवियत रूस को साम्राज्यवादी बता कर उसे अमेरिका के साथ जोड़ दिया तब वह यह स्पष्ट करना चाहता था कि अब एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के उत्पीड़ित राष्ट्रों को चीन के नेतृत्व में साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष करना पड़ेगा, और न सिर्फ अमेरिकी साम्राज्यवाद से बल्कि साथ में सोवियत साम्राज्यवाद से भी माओ के शब्दों में चीन ' विश्व क्रान्ति का तूफानी केन्द्र' होगा, और साम्राज्यवाद के विरूद्ध युद्ध को तीसरी दुनिया के हथियार बन्द किसान नेतृत्व प्रदान करेंगे। अमेरिका के प्रति सोवियत रूस की परिवर्तित नीति तो सोवियत रूस को साम्राज्यवादी कहने के लिये बाध्य करती है, लेकिन चीन और सोवियत रूस के बीच जो औद्योगिक विकास का बहुत बड़ा अन्तर था वह भी माओ और अन्य चीनी शासकों के मन में सोवियत इरादों के प्रति शंका उत्पन्न करता था। यदि, जैसा कि लेनिन ने कहा था,असमान औद्योगिक प्रगति साम्राज्यवाद एवं औपनिवेशिक शोषण का भौतिक आधार है तब, माओ के लिये, सोवियत रूस को साम्राज्यवादी क्यों नहीं कहा जा सकता है? यद्यपि माओ ने स्टालिन के बाद के रूस पर सामाजिक साम्राज्यवादी होने का आरोप लगाया था, लेकिन माओ के साम्राज्य वाद के सिद्धान्त को वास्तव में स्टालिन युग से प्रारम्भ होना चाहिये।

चीन के लिये हमेशा से अमेरिका सबसे प्रमुख साम्राज्यवादी देश था। ताईवान को अमरीका द्वारा दी जाने वाली सामरिक एवं आर्थिक सहायता के कारण अमेरिका माओ का सबसे बड़ा शत्रु था। एक बार उसने सैन्य बल के प्रयोग से ताईवान पर कब्जा करने का प्रयास भी किया था, लेकिन अमेरिकी हस्तक्षेप के कारण वह सफल नहीं हो सका था। माओ ने कई अवसरों पर अमेरिकी साम्राज्यवाद की कटु आलोचना की थी। 8 सितम्बर 1958 के अपने एक भाषण मे माओ ने कहा कि, 'अमेरिका दुनिया भर के अनेक देशों में सैकड़ों फौजी अड्डे स्थापित कर चुका है। ...... ये सब अमेरिकी साम्राज्यवाद के गले में पड़े हुये अनेक फन्दों की तरह हैं। ये फन्दे किसी और ने नहीं बल्कि खुद अमेरिकियों ने ही बनाये हैं ..... अमेरिकी हमलावर जितने अधिक समय तब इन जगहों पर रहेंगे उतने ही अधिक ये फन्दे उनके गले में कसते जायेंगे'। 12 जनवरी 1964 को पनामा की जनता के संघर्ष को अपना समर्थन देते हुये माओ ने कहा कि, 'हर जगह मनमाने ढंग से जुल्म ढाने के कारण अमेरिकी साम्राज्यवाद ने अपने को समूची दुनिया की जनता का दुश्मन बना लिया है,और अपने को अधिकाधिक अलगाव की स्थिति में डाल लिया है। उन लोगों को, जो गुलाम नहीं बनना चाहते, अमेरिकी साम्राज्यवादियों के परमाणु बमों और उदजन बमों

से कदापि नहीं डराया जा सकता। अमेरिकी हमलावरों के खिलाफ समूची दुनिया की जनता का प्रचण्ड ज्वार एक अदम्य शक्ति है। अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसके गुर्गों के खिलाफ समूची दुनिया की जनता के संघर्षों में निस्सन्देह और अधिक महान विजय प्राप्त होगी'। अमेरिका के पास पारमणिविक हथियार होने के बावजूद माओ के लिये वह सभी प्रतिक्रियावादियों एवं साम्राज्यवादियों की भांति केवल एक 'कागजी बाघ' था ये बाध देखने में तो डरावने लगते हैं लेकिन वास्तव में डरपोक और कायर होते हैं। जिस प्रकार जर्मनी में नाजियों का और रूस में जारशाही का पतन हो गया उसी प्रकार अमेरिकी साम्राज्यवादियों का भी पतन अनिवार्यतः हो जायेगा।

ऐसे वक्तव्य देने के बाद अभी अधिक समय नहीं बीता था कि अमेरिका के प्रति माओ के विचारों में आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगा । इडगर स्नो ने 10 दिसम्बर 1970 को माओ के साथ हुयी अपनी एक वार्ता में यह उल्लेख किया है कि माओ ने उससे यह कहा था कि चीन को अमेरिका से विकास की नीति को सीखना चाहिये; अमेरिका ने अपने पचास राज्यों में जो उत्तरदायित्व एवं सम्पत्ति का समुचित वितरण किया है वही विकास का सही मार्ग है; एक केन्द्रीय सरकार सभी कार्यों को नहीं कर सकती है। इसी वार्ता मे माओ ने यह भी कहा कि वह राष्ट्रपति निक्सन जैसे व्यक्तियों को उन 'सामाजिक प्रजातांत्रिक' व्यक्तियों से अधिक पसंद करता है जिनकी कथनी और करनी में व्यापक अन्तर होता है। माओ निश्चित रूप से अपनी और दूसरे चीनी शासकों की सोच में होने वाले परिवर्तन को व्यक्त कर रहा था, और इस परिवर्तन के पीछे महत्वपूर्ण राजनीतिक कारण थे। अमेरिका से मित्रता करने के पीछे चीन के कई उद्देश्य थे - (1) सोवियत रूस को कमजोर करना; (2) एशिया में अमेरिकी-रूसी गठजोड़ के खतरे को कम करना; (3) चीन को अन्तर्राष्ट्रीय जगत से जोड़ना दूसरी ओर, रूस और चीन के बीच की दरार ने विश्व साम्यवाद के एकीकृत ढांचे को खण्डित कर दिया था, और ऐसी स्थिति में अमेरिका को अब विश्व साम्यवादी आन्दोलन से वह राजनीतिक खतरा नहीं दीख रहा था, जो पहले था। अमेरिका के लिये भी चीन से सम्बन्ध सुधारने में कोई कठिनाई नहीं थी। चीन का साम्यवादी शासन विश्व पर अमेरिकी वर्चस्व के लिये बाधक तो था, और यह व्यापार एवं पूंजी की स्वतंत्र गति में भी बाधक था, लेकिन इनके बावजूद भी राज्य नियंत्रित आर्थिक व्यवस्था वाला देश चीन अमेरिका का व्यापारिक साथी हो सकता था। चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में, जहां अमेरिका ने मुख्य रूप से पूंजी निवेश कर रखा था, अमेरिका के वर्चस्व को कमजोर करने नहीं जा रहा था। दूसरे शब्दों में यह सम्बन्ध मुक्त व्यापार के साम्राज्यवाद के आर्थिक स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डाल सकता था।

चीन और अमेरिका दोनों देशों द्वारा विश्व की राजनीतिक-आर्थिक परिस्थितियों का पुर्नआकलन करने का परिणाम यह हुआ कि जुलाई 1971 में अमेरिकी राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की वैदेशिक नीति के प्रमुख सलाहकार एवं 'नेशनल सिक्योरिटी स्टाफ' के अध्यक्ष डा. हेनरी किसिंजर ने गुप्त रूप से पेकिंग का दौरा किया । वहाँ पर माओ और चीनी प्रधान मंत्री चाउ एन-लाई से वार्ता के पश्चात जब वह वापस अमेरिका लौटा तब उसके पास राष्ट्रपति निक्सन के लिये चीन आने के लिये चाउ एन-लाई का निमंत्रण था। (माओ ने चीन के लिये जिस नये रास्ते का चुनाव किया था उसे एक सफल वैदेशिक नीति का रूप देना चाउ एन-लाई का उत्तरदायित्व था)। निक्सन फरवरी 1972 में चीन की यात्रा पर गया। अब अमेरिका के लिये चीन और रूस से, शक्ति संतुलन के नियम के आधार पर अलग अलग सम्बन्ध बना कर विश्व साम्यवाद से निबटना आसान हो गया था। निक्सन की यात्रा से चीन को जो तुरन्त लाभ प्राप्त हुआ था, वह उसका संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश । इस प्रकार चीन अब एक विश्व समुदाय का एक प्रतिष्ठित सदस्य हो गया। निक्सन की चीन यात्रा के अन्त में 'शंघाई कम्युनीक' नाम से जो संयुक्त वक्तव्य जारी किया गया था उसे इस प्रकार से लिपिबद्ध किया गया था कि उन विषयों पर जिन पर दोनों देशों में सहमति नहीं हो सकी थी दोनों देश अपने अलग अलग दृष्टिकोणों को प्रस्तुत कर सकते थे। ताईवान के मसले पर जहाँ एक ओर चीन ने यह कहा कि दो नहीं बल्कि केवल एक चीन है, और ताईवान की मुक्ति चीन का आन्तरिक मसला है, वहीं दूसरी ओर, अमेरिका ने ताईवान के प्रति अपने उत्तर दायित्व को बिना शिथिल किये हुये यह विश्वास व्यक्त किया कि ताईवान का मसला शान्तिपूर्वक हल हो जायेगा, और वह परिस्थितियों

के सामान्य होने पर ताईवान से अपनी सेना हटा लेगा । सन 1972 के बाद से चीन और अमेरिका के सम्बन्धों में निरन्तर सुधार होता गया अब स्थिति यह है कि अमेरिका यद्यपि चीन में प्रजातंत्र और मानवाधिकारों की खराब स्थिति पर कभी-कभी प्रतिकूल टिप्पणियां कर दिया करता है, लेकिन एशिया में वह चीन को एक मजबूत व भरोसेमन्द व्यापारिक साथी मानता है। वह चीन को 'मोस्ट फेवर्ड नेशन' की श्रेणी में रखता है।

12.7 सांस्कृतिक क्रान्ति

चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर चलने वाले सत्ता संघर्ष की सबसे भयावह अभिव्यक्ति सांस्कृतिक क्रान्ति में हुयी । अपने आपको पार्टी के ऊपर स्थापित करने के माओ के प्रयास ने पार्टी के अन्य नेताओं में भय की स्थिति उत्पन्न कर दिया था। इस प्रयास को असफल करने के उद्देश्य से सन 1962 में लीउ शाओ-ची ने 'अच्छे कम्युनिस्ट कैसे बने? नामक पुस्तक का प्रकाशन किया। इस पुस्तक में यद्यपि माओ पर सीधे प्रहार नहीं किया गया था, लेकिन परोक्ष रूप से माओ की अधिनायकवादी प्रवृत्ति की आलोचना अवश्य की गयी थी । इसके पश्चात कई ऐसे लेख प्रकाशित हुये जिनमें माओ का नाम लिये बिना उसका मजाक बनाया गया था, और उस पर व्यंग किये गये थे। इसी क्रम में 'हायजुई को पद मुक्त किया गया' नाम्मक नाटक बूहान द्वारा लिखा गया, जिसमें बीते समय की एक ऐतिहासिक घटना को अप्रत्यक्ष रूप से माओ के साथ जोड़ते हुये मिंग वंश के एक सम्राट की भांति माओ के भी मूर्ख व आलसी होने का संकेत किया गया । शीघ्र चीनी साहित्य एवं पत्रकारिता, आपेरा एवं बैले के क्षेत्रों में पार्टी का सत्ता संघर्ष प्रगट होने लगा । बूहान के नाटक के साथ ही सन 1965 में माओ ने सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, लेकिन पूरी तौर पर यह क्रान्ति अगस्त 1966 से प्रारम्भ की गयी । अगस्त 1966 में पार्टी की केन्द्रीय समिति के प्लेनम की बैठक मे माओ और लिन के सर्मथकों की विजय हुयी, और यह निर्णय लिया गया कि पार्टी से अलग जनता को व्यापक रूप से संगठित करने का कार्य किया जाय। पार्टी के भीरत सत्तासीन लोग जो पूंजीवादी रास्ता अपना रहे थे उन पर प्रहार करना इसका उद्देश्य था। माओ ने पार्टी के विरूद्ध सेना का प्रयोग करने का भी निर्णय ले लिया था। माओ के आलोचकों द्वारा उसकी शारीरिक शक्ति व क्षमता के बारे में जो शंकायें व्यक्त की जा रही थीं उन्हे विराम देने के लिये माओ ने 16 जुलाई 1966 को यांगसी नदी में लम्बी तैराकी किया । उसके इस तथाकथित शौर्य को पूरे चीन में इस भांति प्रचारित किया गया कि अन्त में वह हास्यास्पद दिखने लगा । लेकिन यहीं से माओं एक धर्म गुरू की भाँति स्थापित भी हुआ । अब से चीन में हर नयी खोज, नया अविष्कार माओ के विचारों के कारण ही सम्भव होगा । हर संकट का समाधान माओं मंत्र में खोजा जायेगा। अब माओ सूर्य में चमकेगा, वह धरती पर होगा, वह स्वर्ग में होगा। वह समूचे ब्रहमांण्ड में व्याप्त होगा ।

माओ ने पार्टी में अपने विरोधीयों से निबटने के लिये पार्टी के बाहर जिस संगठन को खड़ा किया उसे 'लाल रक्षक' के नाम से जाना गया । ये स्कूलों एवं महाविद्यालय के छात्र थे जिन्हें 'पीपुल्स लिबरेशन आर्मी 'की सहायता से संगठित किया गया था। धीरे धीरे करके इसमें लाखों छात्र सम्मिलित हो गये। माओ ने इनका प्रयोग विश्वविद्यालयों की बुर्जुवा शिक्षा व्यवस्था और बुर्जुवा मानसिकता वाले शिक्षकों पर प्रहार करने के लिये पहले किया। फिर इनका उपयोग पार्टी और प्रशासन में बैठे हुये उन प्रतिक्रियावादियों के लिये किया गया जो चीन में फिर से पूंजीवाद लाना चाहते थे। नवम्बर 1966 से यह स्पष्ट हो गया कि लिउ शाओ-ची और तेंग हिसयाओ पेंग ही दो मुख्य अपराधी हैं। लिउ और तेंग और उनके समर्थकों के विरोध में व्यापक जनसभाओं व प्रदर्शनों का आयोजन किया गया।इनका केन्द्र आम तौर पर पेकिंग था जहाँ पर लाल रक्षक बाहर से पीपुल्स लिबरेशन आर्मी द्वारा लाये जाते थे। सेना ही उनके लिये मुफ्त रहने और भोजन का प्रबन्ध करती थी। बाद में यह आन्दोलन अन्य स्थानों पर भी फैल गया। जैसे-जैसे यह आन्दोलन फैला इसका रूप हिंसात्मक होता गया। खूनी संघर्ष करने के साथ-साथ लाल रक्षको ने एतिहासिक महत्ता की बहुत सी ईमारतों को 'सामन्तवाद का अवशेष' मान कर गिरा दिया, और 'बुर्जुवा शिक्षा' देने वाली हजारों पुस्तकों को आग के हवाले कर दिया। इन सब कार्रवाइयों को माओ

का पूरा समर्थन प्राप्त था। 9 जनवरी 1967 को माओ ने 'सत्ता पर कब्जा करो' का नारा दिया। इस नारे को रेडियो और समाचार पत्रों के माध्यम से व्यापक रूप से प्रचारित किया गया। सरकार पर नियंत्रण करना लाल रक्षकों के बस का नहीं था। अतः 21 जनवरी 1967 को 'पीपुल्स लिबरेशन आर्मी' को लाल रक्षकों की सहायता करने का निर्देश दिया गया । किन्तु केवल पांच दिनों बाद यह निर्देश वापस ले लिया गया क्योंकि इसके राजनीतिक परिणाम घातक हो सकते थे। लाल रक्षक सेना में भी प्रवेश कर गये थे, और यह स्थिति सैन्य अनुशासन के लिये बिल्कुल ठीक नहीं थी। अतः माओ को यह कहना पड़ा कि सेना के अधिकारीयों पर कोई प्रहार नहीं किया जायेगा ।

मार्च 1966 से माओ ने सन 1871 के पेरिस कम्यून के माड़ल पर चीन में कम्यून प्रणाली लागू करने का मन बना लिया था। इस प्रणाली में जनता ही वास्तविक शासक होगी । वह अपने प्रतिनिधियों को चुनेगी, और उन्हें वापस बुलाने का अधिकार भी रखेगी। बिना किसी नौकरशाही व्यवस्था के जनता स्वयं शासन करेगी। कम्यून प्रणाली सर्वहारा क्रान्ति के सम्बन्ध में माओ के आदर्शों को व्यक्त करती है। इस प्रणाली के माध्यम से नेता और जनता से सम्बन्ध को माओ एक ठोस रूप देना चाहता था। वास्तव में, वह अपने अजराजकतावादी विचारों को एंक संस्थापगत रूप देने का प्रयास कर रहा था। 'सत्ता पर कब्जा करो' का नारा दिये जाने के कुछ ही दिनों पहले 'लाल झंडा' नामक समाचार पत्र में चीन में कम्यून प्रणाली गठित किये जाने की आवश्यकता पर बल देते हुये एक लेख प्रकाशित किया गया था। लेकिन कम्यून का विचार, जैसा कि फ्रैंन्ज माइकेल ने कहा है, माओ की अधिनायकवादी मनोवृत्ति के प्रतिकूल था। उसके लिये जनता तभी तक सही थी जब तक वह उसकी अनुयायी थी। जनता को स्वयं निर्णय लेने या कार्य करने की आज्ञा नहीं थी। निर्णय लेना नेता (माओ) का काम था, और उसी निर्णय के अनुसार जनता को कार्य करना था। कम्यून प्रणाली, वास्तव में, माओ के लिये पार्टी को अप्रासंगिक बना देने का उपाय भर था। कई स्थानों पर कम्यून व्यवस्था को लागू करने का प्रयास किया गया, किन्तु आम तौर पर किसानों और श्रमिकों ने इस व्यवस्था का विरोध किया। अन्त में माओ ने कम्यून प्रणाली का विचार त्याग दिया।

लाल रक्षकों की हिंसात्मक गतिविधियों से चीन में राजनीतिक एवं सामाजिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न होती जा रही थी। इन लोगों ने अब विदेशी दूतावासों को भी अपने प्रहार का निशाना बना लिया था। ब्रिटेन और सोवियत रूस के दूतावासों में विशेष रूप से बहुत उपद्रव किये गये कई देशों ने अपने अपने राजनयिकों को चीन से वापस बुला लिया। ऐसे समय में प्रधानमंत्री चाउ एन-लाई ने स्थिति को सम्भालने का काम किया। वास्तव में,चाउ एन-लाई सांस्कृतिक क्रान्ति के अभियान में माओ के साथ तो था किन्तु उसने इस क्रान्ति को संयमित रखने के लिये समय-समय पर आवश्यक उपाय भी किये। लाल रक्षकों का संगठन जो पहले पार्टी और मुक्ति सेना के नियंत्रण में था क्रमशः नियंत्रण के बाहर होता गया। तब स्थिति और भी विकट हो गयी जब लाल रक्षकों के अनेकानेक संगठन उत्पन्न हो गये,और माओवाद की अपने तरीके से व्याख्या करते हुये आपस में ही भिड़ने लगे। अब समय आ गया था लाल रक्षकों के आन्दोलन को खत्म करने का। वास्तव में, कम्यून प्रणाली की असफलता ने ही माओ को यह मानने के लिये बाध्य कर दिया था कि वह अपने स्वपनिल आर्दशों को प्राप्त नहीं कर सकता है। उसने पार्टी में अपने विरोधियों को समाप्त करने में सफलता तो प्राप्त कर ली थी - लिउ और तेंग दोनों ने अपनी 'गलतियाँ'स्वीकार कर ली थी और वे पार्टी से हटा दिये गये थे - किन्तु वह पार्टी से अलग अपने नेतृत्व में किसी जनसंगठन को निर्मित नहीं कर सका था। यदि माओ अपने इस कार्य में सफल हो गया होता तो उसने साम्यवादी चिन्तन के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त को खत्म कर दिया होता कि पार्टी ही क्रान्ति सम्पन्न कर सकती है और समाजवाद के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकती है। अब फिर से सत्ता को स्थापित किये जाने की आवश्यकता को माओ ने भली भाँति समझ लिया था।

सत्ता की पुर्नस्थापना करने का काम सेना को सौंपा गया। माओ के लिये सेना वैचारिक शुद्धता का सबसे आदर्श रूप प्रस्तुत करती थी। उसके लिये सेना सबसे अधिक भरोसेमन्द थी, और वह यह नहीं चाहता था कि 'पीपुल्स लिबरेशन आर्मी' और लाल रक्षकों में बढ़ता हुआ संघर्ष सेना में उसकी लोकप्रियता

को खतरे में डाल दे। लाल रक्षकों से माओ ने अपने उद्देश्य को पूरा कर लिया था। वे इतने अनुशासित भी नहीं थे कि माओ आगे उन्हें कोई उत्तरदायित्व सौंपता। सन1968 के मध्य में लाल रक्षकों के संगठन को विघटित कर दिया गया। विद्यार्थियों को अपने घरों और अपने विद्यालयों में लौट जाने को कहा गया। उन्हें यह भी आदेश दिया गया कि वे खेतों और उद्योगों में जायें,और किसानों,श्रमिकों और सेना से काम करने के तरीके सीखें। इसके साथ ही पार्टी कार्यकर्ताओं को भी शारीरिक श्रम करने और फिर से अध्ययन करने के लिये निर्देशित किया गया । उनके लिये पूरे चीन में 'द मेसेबिन केडर स्कूल्स' की स्थापना की गयी । ये स्कूल वास्तव में ऐसे शिविर थे जहाँ बलात श्रम कराया जाता था। सांस्कृतिक क्रान्ति की समाप्ति के पश्चात सन 1969 में पार्टी की नवीं कांग्रेस बुलाई गयी, और इसके बाद से पुनः प्रशासन पर पार्टी का वर्चस्व स्थापित हुआ। दो सौ उन्यासी सदस्यों वाली एक नयी केन्द्रीय समिति का गठन किया गया जिसमें केवल तिरपन ऐसे सदस्य थे जो पहले की केन्द्रीय समितियों में काम कर चुके थे। इस नयी केन्द्रीय समिति के चालीस प्रतिशत सदस्य सेना से थे,और इसमें लाल रक्षकों का प्रतिनिधित्व बहुत कम था। पार्टी ने लिन पिआओ को माओं के उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकार कर लिया था,लेकिन पार्टी को माओ के मन की बात का पता नहीं था। सांस्कृतिक क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में ही माओ ने लिन को सत्ता से हटाने का निर्णय ले लिया था। अपने को माओ का उत्तराधिकारी बनाने के उतावलेपन में लिन ने माओ से बिना पूछे हुये कुछ ऐसे कदम उठा लिये थे जिनसे माओ के मन में संदेह उत्पन्न हो गया था। सन 1971 में लिन की मृत्यु आज भी एक रहस्य है। प्रशासन की ओर से यह कहा गया कि सोवियत रूस भागते हुये उसकी मृत्यु मंगोलिया में एक विमान दुर्घटना में हो गयी। लेकिन वह विमान दुर्घटनाग्रस्त हुआ था या उसे मार गिराया गया था, इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि उस विमान में लिन था या नहीं ।

कोलाकोवस्की ने कहा है कि माओ के चिन्तन का एक प्रमुख लक्षण है अनवरत क्रान्ति का सिद्धान्त। सन 1967 में, सांस्कृतिक क्रान्ति की अवधि में, उसने कहा था कि यह भविष्य में होने वाली क्रान्तियों की पहली कड़ी है। उसने चेतावनी देते हुये कहा था कि किसी को भी यह नहीं समझना चाहिये दो, तीन या चार क्रान्तियों के पश्चात सभी कुछ ठीक हो जायेगा, और फिर क्रान्तिकारी की आवश्यकता नहीं पड़ेगी । माओ सम्भवतः यह सोचता था कि सामाजिक स्थायित्व नये सामाजिक वर्ग और उसके विशेषाधिकारों को उत्पन्न करता है। जब किसी सामाजिक व्यवस्था में किसी वर्ग के अपने निहित स्वार्थ होतें हैं तब उस सामाजिक व्यवस्था में समरसता की स्थिति नहीं उत्पन्न हो सकती। इसके लिये आवश्यक है कि समय समय पर व्यापक जन आन्दोलन चलाये जायें जिससे कि इन वर्गो और इनके स्वार्थों को नष्ट किया जा सके। माओं यह मानता था कि सामाजिक अर्न्तविरोध सनातन होते हैं, ये एक बार समाप्त किये जाते हैं तो फिर से उभर जाते हैं। अतः इनके विरूद्ध संघर्ष को हमेशा चलाने की आवश्यकता है। माओ का लिउ शाओ-ची पर एक आरोप यह भी था कि वह यह मानता था कि भविष्य के समाजवादी समाज में एक ऐसी समरसता होगी जो कभी समाप्त नहीं होगी। माओ के ये विचार पारम्परिक मार्क्सवाद के भी विरूद्ध हैं, क्योंकि मार्क्स ने भी यही कहा था कि साम्यवाद की अवस्था एक सनातन समरसत्ता की अवस्था होगी, और फिर किसी क्रान्ति की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। माओ के लिये प्रत्येक वस्तु का एक प्रारम्भ होता है और उसका एक अन्त होता है-' साम्यवादी समाज भी परिवर्तित होगा'। इसका प्रारम्भ होगा तो इसका अन्त भी होगा । अतः चीन में साम्यवाद हमेशा बना रहेगा इसकी कोई गारन्टी नहीं है।

12.8 माओ के बाद चीन

माओ के उत्तराधिकारी के रूप में लिन पिआओ का नाम हटाने के लिये पार्टी की दूसरी कांग्रेस 24 अगस्त 1973 को बुलाई गयी। यह बैठक गुप्त रूप से केवल चार दिनों तक चली, और इसकी समाप्ति के पश्चात चाउ एन -लाई ने माओ और सांस्कृतिक क्रान्ति की अतिशय प्रशंसा करते हुये अपना वक्तव्य दिया। लिन के बाद चाउ को माओ का उत्तराधिकारी होना चाहिये था, किन्तु ऐसा हुआ नहीं, और जनवरी 1976 में चाउ एन-लाई की कैंसर की बीमारी से मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात माओ

ने न तो कोई वक्तव्य जारी किया और न वह प्रार्थना सभा में सम्मिलित हुआ। इसी से स्पष्ट होता है कि वह चाउ को पसंद नहीं करता था। किन्तु चाउ ने अपनी मृत्यु के पहले तेंग हिसयाओ पेंग को पार्टी और प्रशासन में फिर से वापस लिये जाने के लिये माओ को राजी कर लिया था। लेकिन माओ ने तेंग को महत्व न देते हुये चाउ एन-लाई की मृत्यु के पश्चात हुआ कुआ-फेंग को कार्यकारी प्रधानमंत्री नियुक्त किया। यह व्यक्ति माओ का बहुत विश्वासपात्र था, और सन 1974 में कांग शेंग की मृत्यु के पश्चात माओ ने इसे गुप्त पुलिस संगठन का अध्यक्ष नियुक्त किया था तेंग के विरूद्ध चीनी समाचार पत्रों में आलोचना का अभियान प्रारम्भ हो चुका था माओ का स्वास्थ्य अब ठीक नहीं रहता था,और वह अपनी मृत्यु के पहले इस बात से आश्वस्त होना चाहता था कि उसकी मृत्यु के बाद हुआ कुआ-फेंग के नेतृत्व में उसके समर्थकों का वर्चस्व पार्टी और प्रशासन में बना रहेगा। 4 अप्रैल 1976 को चीन में एक अनहोनी घटना घट गयी। साम्यवादी चीन में देवता के समकक्ष समझे जाने वाले माओ के विरूद्ध तिनानमेन सम्वायर में छात्रों का एक व्यापक प्रदर्शन हुआ। प्रशासन ने बड़ी कठिनाई से इस पर नियंत्रण प्राप्त किया। इस प्रदर्शन के पीछे कारण यह था कि तिनानमेन स्कापर में जो फूल चाउ-एन लाई की स्मृति में रखे गये थे उन्हें पुलिस द्वारा हटा दिया गया था। तेंग चाउ एन लाई का प्रशंसक था, और उसे ही इस प्रदर्शन को आयोजित करने के लिये उत्तरदायी मानते हुये उसे उसके पद से हटा दिया गया ।

9 सितम्बर 1976 को माओ की मृत्यु हो गयी, और इसके तुरन्त बाद चीन में सत्ता के लिये संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस संघर्ष में हुआ कुओ-फेंग विजयी हुआ उसने माओ की मृत्यु के एक महीने के भीतर उस 'चांडाल चौकड़ी' को बन्दी बना लिया जो सर्वहारा क्रान्ति के समय से हमेशा माओ के साथ थी और चीनी राजनीति में एक प्रमुख भूमिका निभा रही थीं। इस चौकड़ी में चियांग चिंग नामक माओ की तीसरी पत्नी भी थी। इस स्त्री से माओ की भेंट सन 1937 में येनान में हुयी थी, और तभी से वह माओ के साथ थी। नाटकों में छोटे-छोटे काम करने वाली इस अभिनेत्री की राजनीतिक आकांक्षायें बहुत बड़ी थीं । सत्ता हस्तगत करने के पश्चात हुआ ने तिनानमेन में एक बहुत बड़ा मकबरा बनवाया - लेनिन के मकबरे से भी अधिक बड़ा - जहां माओ के मृत शरीर को रखा गया। पार्टी की केन्द्रीय समिति की एक गुप्त बैठक के बाद तेंग को पुनः पार्टी व प्रशासन में पुर्नस्थापित किया गया, और उसे उसके सभी पुराने पद दिये गये। पार्टी की ग्यारहवीं कांग्रेस ने चीन के नये नेतृत्व को अपनी स्वीकृति प्रदान की, और एक नयी केन्द्रीय समिति, एक नया पोलित ब्यूरो और इस पोलित ब्यूरो की एक नयी स्थायी समिति भी चुनी गयी। पार्टी के लिये एक नया संविधान बनाया जाना भी तय किया गया। चीन में जिन तीन व्यक्तियों का शासन स्थापित हुआ वे थे - हुआ कुओ-फेंग, येह चिन यिंग और तेंग हिसयाओ पेंग। इस नये नेतृत्व ने यद्यपि अपनी नीतियों में माओ के विचारों का हमेशा अनुसरण करने का दावा किया, किन्तु सच्चाई यह थी कि इसने चाउ एन लाई की आर्थिक नीतियों का अनुसरण किया। सांस्कृतिक क्रान्ति को अन्तिम रूप से समाप्त घोषित किया गया। वास्तव में, माओ का युग अब समाप्त हो चुका था ।

एक दशक के बीतते-बीतते चीन में आर्थिक व्यवस्था के बन्द दरवाजे लगभग पूरी तौर पर खोल दिये गये, हालांकि राजनीतिक व्यवस्था को अभी भी बन्द ही रखा गया। पहले जहाँ हर स्थान पर माओ के चित्र लगे हुये दिखाई पड़ते थे अब धीरे-धीरे हर जगह से वे गायब हो गये। न तो उद्योगों में,न पार्टी कार्यालयों में, न प्रशासनिक भवनों में, और न ही लोगों के घरों में माओ के चित्र अब दिखाई पड़ते थे। केवल एक बड़ा चित्र तिनानमेन सक्वायर में छोड़ दिया गया था। सम्भवतः चीन के नये शासक अभी दुनिया को यह संदेश नहीं देना चाहते थे कि चीन में माओवादी क्रान्ति का युग अब पूरी तौर पर समाप्त हो गया है, और शायद इसलिये भी कि पार्टी में बचे खुचे कट्टर माओ वादियों की भावनाओं को तिरस्कृत करना कोई बुद्धिमानी नहीं थी। लेकिन चीनी नेतृत्व के लिये अब भी माओ के विचारों को पूरी तौर पर छोड़ देना आसान नहीं था। माओवाद से ही चीन की राजनीतिक वैचारिकी को अब भी अपना आधार प्राप्त होता था। बिना माओवाद का औचित्य स्वीकार किये हुये कम्युनिस्ट पार्टी के शासन का औचित्य नहीं सिद्ध किया जा सकता था। इसी लिये तेंग हिसयाओ पेंग अक्सर अपनी व्यवहार वादी एवं यर्थार्थवादी नीतियों के समर्थन में माओ के विचारों का ही उपयोग करता रहा। माओ के विचार पार्टी के साथ इस प्रकार घुल

मिल गये थे कि, जैसा कि आरविल शेल ने कहा है, उन्हें छोड़ना पार्टी के लिये आत्मघाती होता। तेंग ने कहा भी था कि 'हमें कामरेड माओ की गलतियों का आकलन करते हुये सीमा का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये'। दूसरे स्थान पर उसने यह भी कहा कि माओ का मूल्यांकन करते हुये हमें वहीं सूत्र अपनाना चाहिये जो स्वयं माओं ने स्टालिन का आकलन करते हुये अपनाया था। माओ के अनुसार स्टालिन सत्तर प्रतिशत सही और तीस प्रतिशत गलत था। माओ सत्तर प्रतिशत सही हो या सत्तर प्रतिशत गलत वर्तमान चीन में अब इस बात की कोई सम्भावना नहीं दीखती कि चीन अब कभी माओवाद की ओर वापस लौटेगा। चीन की नयी पीढ़ी के लिये माओ अब बीते इतिहास का व्यक्ति है, और वर्तमान में उसके विचारों की कोई प्रासंगिकता नहीं हे।

12.9 सारांश

इस बात में संदेह नहीं किया जा सकता कि माओ एक महान क्रान्तिकारी था। उसका व्यक्तित्व करिशमाई था, और जन आन्दोलनों को संगठित करने की उसमें अदभुत क्षमता थी। उसे इस बात की भी पैनी समझ थी कि किस प्रकार अपने आप को आन्दोलनों के केन्द्र में रखा जाता है। उसने चीन में अपने लाखों अनुयायियों की एक मजबूत कतार पैदा की थी चीन के बाहर भी माओ वाद का अच्छा खासा प्रभाव रहा ।दुनिया भर के तमाम युवकों एवं क्रान्तिकारियों ने उसे मुक्ति के मसीहा के रूप में देखा था। उसकी दार्शनिक एवं बौद्धिक क्षमता बहस का विषय हो सकती है किन्तु इस बात में कोई बहस नहीं है उसके पास एक लौह इच्छा शक्ति थी । उसने हमेशा अपने आप में विश्वास किया वह अपनी इस शक्ति की बहुत अच्छी तरह पहचानता था कि वह लाखों चीनी जनता को अपनी इच्छानुसार जब चाहे तब किसी भी दिशा में मोड़ सकता है। पार्टी में होने वाले अनेक सत्ता संघर्षों में विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से उसने हमेशा चीनी जनता का प्रयोग किया, और इस बात को सिद्ध कर दिया था कि नेता वही सफल होता है जिसके साथ व्यापक जनमत होता है। एक मार्क्सवादी होते हुये वह यह तो मानता था कि इतिहास क्रान्ति और प्रगति की परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है, लेकिन वह यह भी मानता था कि इतिहास की गति को बदला जा सकता है, इतिहास का निर्माण किया जा सकता है। अपनी इस भूमिका में वह केवल एक नेता नहीं, बल्कि एक द्रष्टा भी था। वह एक धर्म गुरू था जिसने व्यक्ति-पूजा के सिद्धान्त को अन्तिम ऊंचाइयों तक पहुंचा दिया था।

माओ को किसान नेता कहा गया है, लेकिन वह साधारण अर्थों में एक किसान नेता नहीं था। वह कृषि क्रान्ति पर आधारित साम्यवाद का अविष्कारक था। यद्यपि लेनिन ने रूसी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये औद्योगिक श्रमिकों एवं किसानों का संयुक्त मोर्चा बनाये जाने की बात कही थी, किन्तु माओ वह सबसे पहला मार्क्सवादी था जिसने किसानों को क्रान्तिकारी रणनीति में सर्वोपरि स्थान प्रदान किया। यह कहा जा सकता है कि ऐसा करके वह पारम्परिक मार्क्सवाद से अलग हो जाता है, किन्तु यदि मार्क्सवाद, जैसा कि मार्क्सवादी दावा करते हैं, एक जीवित सिद्धान्त है तो फिर माओ के ऊपर गैर मार्क्सवादी मार्ग अपनाने का आरोप लगाना बहुत सही नहीं माना जा सकता है। विशेष परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्सवाद को ढाल कर ही इसे जीवित रखा जा सकता है वरना यह मृत सिद्धान्तों का भारी बोझ बन कर रह जायेगा। कोलाकोवस्की ने यह ठीक कहा है कि, 'माओवाद अपने अन्तिम रूप में एक उग्र स्वप्निल कृषक व्यवस्था है'। माओ ने अपनी उग्र कृषकप्रियता के साथ उसमें उतना ही उग्र राष्ट्रवाद जोड़कर एक ऐसी वैचारिकी उत्पन्न किया जो तीसरी दुनिया के पिछड़े औद्योगिकि देशों के लिये बहुत प्रासंगिक प्रतीत हुयी। इन देशों में मार्क्सवादी अर्थ में किसी वर्ग संघर्ष का इतिहास नहीं था,और इन देशों के बेहद गरीब किसान समाज की जींवन शैली पाश्चात्य देशों और सोवियत रूस दोनों में भिन्न थी। इनके लिये औद्योगिकरण अनजानी चुनौतियों को उत्पन्न करता था, और उन चुनौतियों से निबटने के लिये उन्हें यह आवश्यक प्रतीत होता था कि एक पार्टी के एक नेता पर भावनात्मक रूप से आश्रित बने रहे ।

युद्ध माओ के मार्क्सवाद का एक प्रमुख पहलू था उसने बहुत पहले यह समझ लिया था कि क्रान्ति एक सैनिक कार्रवाई है। क्रान्ति का उद्देश्य पारम्परिक और गैर पारम्परिक दोनों प्रकार के युद्धों से

पूरा किया जाता है। गैर पारम्परिक युद्ध की आवश्यकता प्रमुख रूप से तब होती है जब शत्रु शक्तिशाली होता है। इस युद्ध को गुरिल्ला युद्ध कहते हैं, और माओ इस युद्ध का जनक था। अपने कई सैनिक लेखों में उसने इस युद्ध की रणनीति के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से लिखा है तीसरी दुनिया के माओवादियों में माओ की गुरिल्ला युद्ध प्रणाली का एक मिथकीय आकर्षण बहुत दिनों तक बना रहा। माओ ने सेना की महत्ता को न केवल शत्रु के सम्बन्ध में स्वीकार किया बल्कि पार्टी के अन्दर होने वाले सत्ता संघर्षों में भी उसने सेना का प्रयोग किया। लेकिन वह एक चालाक कम्युनिस्ट की भांति यह जानता था कि सेना के प्रयोग के लिये वैचारिकी का अनुमोदन आवश्यक होता है। इससे सैनिक कार्रवाई को वैधता प्राप्त हो जाती है। चूंकी वैचारिकी का अनुमोदन अपने पक्ष में देने के लिये यह आवश्यक था कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद की उसकी व्याख्या को ही प्रामाणिक माना जाय अतः माओ ने हमेशा विचारधारा पर अपना वर्चस्व बनाये रखा। किसी दूसरे नेंता को उसने पार्टी की विचारधारा निर्धारित करने का अधिकार कभी नहीं दिया। पार्टी लाईन को तय करने का अधिकार माओ ने अपने येनान के दिनों में प्राप्त कर लिया था, और इस अधिकार को उसने हमेशा अपने पास रखा। इसी अधिकार के फलस्वरूप वह अपने विरोधियों पर यह आरोप सफलतापूर्वक लगा सकता था कि वे पार्टी लाईन का उल्लंघन कर रहे हैं, या मार्क्सवाद लेनिनवाद के मार्ग से भटक रहे हैं ।

माओवाद का एक नैतिक व रूमानी पक्ष भी है। यह त्याग, सर्मपण, आचरण की शुद्धता एवं मितव्ययिता के आदर्शो को स्वीकार करता है, सामूहिक जीवन को वरीयता देता है। इन्हीं कारणों से मैक्लीलन और लिचथियम दोनों यहां पर माओं कि विचारों में रूसो की छवि देखते हैं । माओ के लिये पूंजीवाद को हटाकर राजकीय पूंजीवाद स्थापित करना और बुर्जुवा वर्ग को हटा कर पार्टी की विशेषाधिकार प्राप्त नौकरशाही को स्थापित करना समाजवाद नहीं है। समाजवाद अन्ततोगत्वा सामाजिक मनोविज्ञान को परिवर्तित करता है। इस परिवर्तन का सबसे प्रमुख साधन है इच्छा-शक्ति चीन को भी इसी शक्ति का प्रयोग कर शुद्ध करना था, और चूंकि यह शुद्धता एक साधारण एवं सामुहिक कृषक समाज में अधिक आसानी से बनाये रखी जा सकती है अतः माओवाद का ऐसे ही समाज के प्रति हमेशा से एक रूमानी लगाव रहा। इस लगाव में मार्क्सवाद कहीं नहीं दिखाई पड़ता, और सम्भवतः माओ को यह मालूम भी नहीं था कि उसके आदिम विचारों का मार्क्स वाद से कोई लेन-देना नहीं है। माओवाद मार्क्सवादी शब्दावली का तो प्रयोग करता है, किन्तु यह मार्क्सवादी विश्लेषण का प्रयोग नहीं करता ।

12.10 संदर्भ ग्रन्थ/ उपयोगी पुस्तकें

1. गणेश प्रसाद; आधुनिक राजनैतिक विचारधाराएं
2. डा.के.एल.कमल; समाजवादी चिन्तन
12. Cohen, A.A.; The Communism of Mao Tse-Tung
4. Kolakowaski,L.; Main Currents of Marxism (Vol. 3)
5. Mclellan,D.; Marxism After Marx
6. Michael, F.; Mao and the Perpetual Revolution
7. Sabine, G.H.; A History of Political Theory

12.11 संबंधित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. माओ की गुरिल्ला युद्ध प्रणाली को बताइये।
2. अर्न्तविरोध के सम्बन्ध में माओ के विचारों की व्याख्या कीजिये ।
3. खश्चोव के शासनकाल में चीन व सोवियत रूस के आपसी सम्बन्धों का एक संक्षिप्त

ऐतिहासिक सर्वेक्षण कीजिये ।

4. माओ की सांस्कृतिक क्रान्ति पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिये ।
5. माओवाद के प्रमुख लक्षणों को रेखांकित कीजिये ।

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. व्यवहार के सम्बन्ध में माओ के विचारों को स्पष्ट कीजिये ।
2. माओ का ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त समझाइये ।
3. माओ का 'आगे की ओर लम्बी छलांग' नामक अभियान क्या था?
4. सोवियत रूस के सम्बन्ध में माओ के विचारों को ध्यान में रखते हुये उसके साम्राज्यवाद के सिद्धान्त की चर्चा कीजिये ।
5. माओ का अनवरत क्रान्ति का सिद्धान्त क्या है।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. माओ का जन्म कब हुआ था -

   (अ) 24 दिसम्बर 1894 (ब) 26 दिसम्बर 1893 (स) 26 सितम्बर 1893
2. बेईजिंग में जिस मार्क्सवादी अध्ययन केन्द्र की सदस्यता माओ ने ग्रहण किया उसे किस प्रोफेसर ने स्थापित किया ?

   (अ) लीता चाओ (ब) चू तेह (स) हू शिह
3. कहां के किसान आन्दोलन के सम्बन्ध में माओ ने सन 1927 में अपनी रिपोर्ट तैयार की थी?

   (अ) हुनान (ब) येनान (स) होपेह
4. द्वन्द्ववाद के तीन नियमों से किस नियम को माओ स्वीकार करता है?

   (अ) विरोधों की एकता का नियम (ब) मात्रा का गुण और गुण का मात्रा में परिवर्तन का नियम (स) निषेध के निषेध का नियम
5. खश्चोव के शासन काल में माओ ने सोवियत रूस पर किस प्रकार का साम्राज्य वादी होने का आरोप लगाया था?

   (अ) साम्यवादी साम्राज्यवाद (ब) समाजवादी साम्राज्यवादी (स) सामाजिक साम्राज्यवादी

12.12 प्रश्नोत्तर

1. ब
2. अ
3. अ
4. अ
5. स

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

MAPS - 07
पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास बेन्थम से माओ तक

खण्ड
05
विकासवादी तथा क्रान्तिकारी समाजवाद के सिद्धान्त

इकाई-13 5
फेबियनवाद (FABIANISM)

इकाई-14 17
श्रेणी समाजवाद (GUILD SOCIALISM)

इकाई-15 34
श्रमिक संघवाद (SYNDICALISM)

इकाई-16 51
अराजकतावाद (ANARCHISM)

खण्ड 5 का परिचय : विकासवादी तथा क्रान्तिकारी समाजवाद के सिद्धान्त

औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् पूँजीवाद का जिस प्रकार विकास हुआ उसने समाज को दो परस्पर विरोधी वर्गों, पूँजीपति और श्रमिक, में विभाजित कर दिया- एक वह जिसका उत्पादन के समस्त साधनों पर स्वामित्व था और दूसरा वह जो अपना श्रम बेचकर दैनिक आवश्कताओं को पूरा करने के लिए प्रयासरत था। पूँजीवाद के विकास के परिणास्वरूप समाज में आर्थिक असमानता बढ़ती गई और समाज का बहुमत पूँजीपतियों के शोषण का शिकार बन गया। इस आर्थिक शोषण का अन्त करने के लिए समाजवाद का उदय हुआ। समाजवाद का अन्तिम लक्ष्य शोषण-मुक्त समाज की स्थापना करना है और इसके लिए वह पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना चाहता है, लेकिन इस लक्ष्य की प्राप्ति कैसे की जाए इस विषय पर समाजवादियों में मतभेद पाया जाता है। पूँजीवाद का अन्त करने के लिए किन साधनों को अपनाया जाए, उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त करके उन्हें किसके स्वामित्व और नियंत्रण में दिया जाए; उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करने के बाद भावी समाज का स्वरूप क्या होगा, समाजवादी व्यवस्था में राज्य की स्थिति क्या होगी, ऐसे अनेक प्रश्नों को लेकर विचारकों में मतभेद है। यही कारण है कि समाजवाद की कोई सर्वमान्य और सर्वव्यापी परिभाषा नहीं दी जा सकती। यहाँ तक कि समाजवाद की 600 से अधिक परिभाषाएँ पाई जाती हैं। समाजवाद के अर्थ को लेकर इतनी विभिन्नताएँ होने के बाद भी सभी विचारक इसके लक्ष्य के विषय में एकमत हैं, और वह है व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण का अन्त करना और आर्थिक समानता स्थापित करना। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की समाजवादी विचारधाराएँ विकसित हुई हैं जिन्हें पुख्य रूप से दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

1. क्रान्तिकारी समाजवाद

2. विकासवादी समाजवाद

पहली श्रेणी की प्रतिनिधि विचारधारा मार्क्सवादी समाजवाद (साम्यवाद) है जो हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा पूँजीवाद को नष्ट करके एक राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है। इस विचारधारा से प्रेरित होकर यूरोप में कुछ ऐसी समाजवादी विचारधाराएँ विकसित हुई जिन्होंने पूँजीवाद का अन्त करने के लिए मार्क्सवादी साधनों को अपनाने की बात तो स्वीकार की लेकिन मार्क्सवाद की अन्य मान्यताओं का खण्डन करके साम्यवाद से भिन्न नई सामाजिक व्यवस्था का विचार प्रस्तुत किया। इस श्रेणी में श्रमिक संघवाद और अराजकतावाद जैसी विचारधाराओं को सम्मिलित किया जा सकता है।

दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे समाजवादी दार्शनिक या विचारधाराएं हैं जो पूँजीवाद को क्रमिक परिवर्तनों, सांविधानिक और शान्तिपूर्ण साधनों तथा राज्य की सहायता से समाप्त करना चाहते हैं। इसके अन्तर्गत राज्य-समाजवाद, फेबियनवाद और श्रेणी समाजवाद को सम्मिलित किया जाता है।

प्रस्तुत खण्ड में समाजवाद की इन दो श्रेणियों-विकासवादी समाजवाद और क्रान्तिकारी समाजवाद, के अन्तर्गत आने वाली चार विचारधाराओं फेबियनवाद, श्रेणी समाजवाद, श्रमिक संघवाद तथा अराजकतावाद का विवेचन किया जाएगा।

इकाई 13 - फेबियनवाद (FABIANISM)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 फेबियनवाद का उद्‌भव तथा विकास

13.3 फेबियानवाद के लक्ष्य

13.4 फेबियनवाद के मूल सिद्धान्त

13.5 फेबियनवाद के साधन

13.6 फेबियनवाद की आलोचना

13.7 सारांश

13.8 उपयोगी पुस्तकें

13.9 संबंधित प्रश्न

13.10 प्रश्नोत्तर

13.0 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य फेबियनवाद, की उत्पत्ति, और विकास का विवेचन करना है तथा उसके मूल सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना है। इस इकाई के अध्ययन करके आप :

- फेबियनवाद के उद्‌भव और विकास की विवेचना कर सकेंगे,
- फेबियनवाद के मूल सिद्धान्तों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- फेबियनवाद को स्थापित करने के साधनों का विवरण कर सकेंगे,

  तथा
- फेबियनवाद की दुर्बलताओं का परीक्षण कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

फेबियनवाद, विकासवादी समाजवाद का ही एक रूप है जो संवैधानिक तरीकों और राज्य की सहायता से वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना चाहता है। पूँजीवादी व्यवस्था में व्याप्त आर्थिक शोषण का अन्त करने के लिए मार्क्स ने यह विचार प्रस्तुत किया था कि पूँजीवाद और राज्य दोनों ही को हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा खत्म कर देना चाहिए, तभी आर्थिक समानता स्थापित की जा सकती है।

मार्क्स ने अपने जीवन के लगभग तीस वर्ष इंग्लैण्ड में गुजारे। इंग्लैण्डवासियों ने मार्क्स का स्वागत किया, वे उसके विचारों से प्रभावित भी हुए किन्तु वे मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों को स्वीकार न कर सके। राज्य और पूँजीवाद को समाप्त करने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति के साधन को अपनाया जाए यह बात ब्रिटेनवासियों के स्वभाव के अनुकूल नहीं थी। लोकतंत्र और वैयक्तिक स्वतंत्रता में आस्था रखने के कारण इंग्लैण्ड के लोग किसी ऐसी विचारधारा का समर्थन नहीं कर सकते थे जो हिंसात्मक क्रान्ति पर आधारित हो। संभवतः यही कारण है कि इंग्लैण्ड का संविधान क्रमिक विकास का परिणाम है। ब्रिटिश सांविधानिक व्यवस्था की विभिन्न संस्थाएँ धीरे-धीरे अस्तित्व में आई हैं और वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना किसी एक तिथि या समय पर नहीं हुई है। संविधान का विकसित स्वरूप इस दावे की पुष्टि करता है कि इंग्लैण्ड के लोग किसी व्यवस्था को तत्काल बदलने या समाप्त करने के विचार को पसंद नहीं करते। साम्यवादी दर्शन के अलोकप्रिय होने का एक व्यावहारिक कारण यह भी था कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (1865 से 1885 के बीच) में इंग्लैण्ड में श्रमिकों की स्थिति में काफी सुधार हो चुके थे। उन्हें अपनी यूनियन बनाने, वोट देने तथा सभा करने आदि के अधिकार प्रदान किए जा चुके थे। अतएव मज़दूर वर्ग में बहुत ज्यादा असंतोष की स्थिति नहीं थी। इन परिस्थितियों में हिंसा का अस्त्र लिए हुए, लोक़तंत्र विरोधी और राज्य-विरोधी साम्यवादी दर्शन इंग्लैण्ड के लोगों को बहुत आकृष्ट न कर सका।"

13.2 फेबियनवाद का उद्भव तथा विकास

मार्क्सवाद के विकल्प की तलाश में इंग्लैण्ड के बुद्धिजीवी प्रयासरत रहे और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में समाजवादी विचारधारा के प्रचार और प्रसार के लिए अनेक आन्दोलन हुए और अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई। जिनमें सोशल डेमोक्रेटिक फैड्रेशन, सोशलिस्ट लीग, इंडिपेन्डेन्ट लेबर पार्टी तथा फेबियन सोसाइटी के नाम उल्लेखनीय हैं। फेबियन सोसायटी की स्थापना 1884 में एक क्लब या गोष्ठी-केन्द्र के रूप में की गई। इसका मूल उद्देश्य समाजवाद का प्रचार करना और इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारों पर समाजवादी कार्यक्रम को अपनाने के लिए दबाव डालना था। इस सोसायटी ने जिन प्रतिभाशाली विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट किया उनमें जार्ज बर्नाडशा, सिडनी वेब, ग्राहम वालाज़, एनी बेसेन्ट पैथिक लारेंस, एच0 जी0 वेल्स, रैम्जे मैकडानल्ड, जी0 डी0 एच0 कोल, जे0 कैम्पबेल तथा हेराल्ड जे0 लास्की के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सोसायटी की शाखें विभिन्न नगरों में तथा विश्वविद्यालयों में भी खोली गईं।

फेबियन सोसाइटी ने जिस समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन किया उसे फेबियनवाद का नाम दिया गया। फेबियनवाद का मूल आधार है क्रमिक विकास। वह वर्तमान व्यवस्था में हिंसा अथवा क्रान्ति के द्वारा तत्काल परिवर्तन लाने में विश्वास नहीं करता। शत्रु को धीरे-धीरे नुकसान पहुँचाकर आसानी से पराजित किया जाए, फेबियनवाद ने यह प्रविधि (Technique) रोम के इतिहास से सीखी। जब प्राचीन रोम पर कार्थेज का आक्रमण हुआ तो रोम के एक सेनापति क्विंटस फेबियस ने दुश्मन का मुकाबला करने के लिए यह रणनीति बनाई कि दुश्मन से तत्काल टक्कर लेने या युद्ध करने के बजाए उसको धीरे-धीरे नुकसान पहुँचाकर उसे कमजोर

और असफल कर दिया जाए। उदाहरण के लिए दुश्मन की रसद (Supply) रोक कर, पुलों तथा सड़कों को तोड़कर या इस तरह के दूसरे तरीकों से दुश्मन को धीरे-धीरे और कमजोर कर दिया जाए और फिर उस पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया जाए। फेबियस का कहना था कि "हमें उचित समय की प्रतीक्षा करते हुए शनैः-शनैः ही आगे बढ़ना चाहिए, उचित समय आने पर पूरे वेग और शक्ति से प्रहार करना चाहिए। इस तरीके को फेबियन तकनीक कहा गया। इंग्लैण्ड के कुछ बुद्धिजीवियों ने भी पूँजीवाद नामक शत्रु का अन्त करने के लिए इसी 'क्रमिक प्रहार' की नीति को अपनाने का सुझाव दिया और यह कहा कि पूँजीवाद का अन्त और समाजवाद की स्थापना क्रमिक परिवर्तनों और संवैधानिक साधनों से किया जाना चाहिए। इस विचारधारा के प्रर्वतकों ने जो संस्था बनाई उसका नाम भी जनरल फेबियस के नाम पर फेबियन सोसायटी और उनके द्वारा प्रतिपादित राजनैतिक विचारधारा का नाम फेबियनवाद पड़ा।

13.3 फेबियनवाद के लक्ष्य

1884 में जार्ज बर्नाडशा द्वारा तैयार किए गए फेबियन सोसाइटी के घोषणापत्र में कहा गया था कि "समाज की माँग है कि पूँजी और भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो। समाज की माँग है कि औद्योगिक पूँजी समाज को हस्तान्तरित कर दी जाए। फेबियनवाद का विश्वास है कि यदि औद्योगिक पूँजी और उत्पादन के समस्त साधनों पर संपूर्ण समाज का अधिकार हो जाए तो धीरे-धीरे पूँजीपति वर्ग स्वयं समाप्त हो जाएगा।

1887 में सोसायटी ने अपने आधार की घोषणा में निम्नलिखित उद्देश्य बताए थे :-

13. भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होना चाहिए।
2. औद्योगिक पूँजी (Industrial Capital) अथवा उद्योगों का संचालन व्यक्तिगत हाथों से समाज के हाथों में हस्तान्तरित कर दिया जाए।
3. स्वाम्यनिष्कासित (Expropated) भूपतियों तथा पूँजीपतियों को कुछ सहायता दी जा सकती है किन्तु मुआवजा नहीं।
4. भूमि और पूँजी पर जो धन किराये और सूद के रूप में मिले उसका लाभ श्रमिकों को मिलना चाहिए।
5. भूमि तथा औद्योगिक संपत्ति के राष्ट्रीयकरण होने से हर व्यक्ति को अपने विकास के लिए समान अवसर तथा स्वतंत्रता प्राप्त होगी।
6. स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए नागरिकता के अधिकार समान होने चाहिए।
7. इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रचार द्वारा जनता को समाजवाद के पक्ष में लाया जाए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि साम्यवाद की तरह फेबियन समाजवाद भी पूँजीवाद का अन्त करना चाहता है लेकिन वह इसके लिए हिंसात्मक साधनों को अपनाने के बजाए संवैधानिक तरीकों को अपनाना चाहता है, वह प्रजातंत्र में अटूट विश्वास रखता है। सिडनी वेब का कहना है कि 'समाजवाद प्रजातंत्र का ही आर्थिक दृष्टकोण है।

13.4 फेबियनवाद के मूल सिद्धान्त

फेबियनवादी चिंतकों ने जो विचार व्यक्त किए हैं उनके आधार पर फेबियवाद के निम्न सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है-

13. पूँजीवाद का विरोध :-

साम्यवाद की तरह फेबियनवाद भी पूँजीवादी व्यवस्था का विनाश कर देना चाहता है और इसके लिए वह उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करना चाहता है। 1848 में जॉर्ज बर्नाडशा द्वारा तैयार किए गए फेबियन समाजवाद के घोषणा पत्र में कहा गया था कि ''हम यथाशीघ्र भूमि और औद्योगिक पूँजी पर से व्यक्तियों या वर्ग विशेष का स्वामित्व हटाना चाहते हैं। तदोपरान्त हम भूमि और पूँजी को समाज के अधिकार में देने के पक्ष में हैं।'' फेबियनवाद का विश्वास है कि यदि पूँजी और उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का अधिकार हो जाएगा और उत्पादन का लाभ श्रमिकों को मिलने लगेगा तो पूँजीवाद खुद ही धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगा। इस समाज में कोई व्यक्ति दूसरे का शोषण न कर सकेगा और किसी की स्वतंत्रता का अपरहण नहीं होगा। फेबियनवाद पूँजीपतियों से उनकी छीनी गई संपत्ति के बदले में उन्हें कुछ आर्थिक सहायता देने का भी सुझाव देता है, ताकि वे भी अच्छे नागरिकों की तरह जीवन गुज़ार सकें।

राज्य कानून बना कर धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण स्थापित करेगा। फेबियनवाद के अनुसार बड़े-बड़े उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व होगा और स्थानीय उद्योगों का संचालन स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं के हाथों में होगा। इस प्रकार धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो जाएगा। फेबियनवाद का विश्वास है कि उपर्युक्त साधनों के द्वारा पूँजीवादी का विनाश और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है।

फेबियनवाद उत्पादन के साधनों को मज़दूरों को नहीं बल्कि संपूर्ण समाज को सौपना चाहता है लेकिन यह हस्तांतरण धीरे-धीरे किया जाएगा। एक समय में समाज को उन्हीं उद्योगों को हस्तानान्तरित किया जाना चाहिए। जिनका प्रबंधन समाज आसानी के साथ कर सके। राज्य समाज की प्रतिनिधि संस्था के रूप में इनका नियमन करेगा। उद्योगों के साथ ही फेबियनवाद बड़े-बड़े भूपतियों से, जो मज़दूरी पर खेती कराते हैं, भूमि लेकर भूमिहीनों में वितरित कर देना चाहता है। इस प्रकार औद्योगिक पूँजी और भूमि-पूँजी दोनों ही पर समाज का स्वामित्व स्थापित हो जाएगा।

फेबियनवाद की मान्यता है कि केवल उत्पादन के मुख्य साधनों का ही राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए रेल, तार, मुद्रा जैसे बड़े-बडे उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए। स्थानीय महत्व के विषय, जैसे भूमि पर स्थानीय प्रशासकीय निकायों का स्वामित्व तथा नियंत्रण होना चाहिए।

2. राज्य में अटूट आस्था :-

साम्यवाद, राज्य को पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना, उनके हितों का रक्षक और मजदूरों के शोषण का एक प्रबल यंत्र मानता है। इसलिए वह क्रान्तिकारी साधनों से राज्य के अस्तित्व को मिटा कर एक राज्य-विहीन समाज की स्थापना करना चाहता है। फेबियनवाद राज्य को एक सकारात्मक अच्छाई मानते हुए उसे सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है। उसकी मान्यता है कि "राज्य जनता की प्रतिनिधि, संरक्षक, अभिभावक, व्यवसायी, प्रबंधकर्ता, सचिव, यहाँ तक कि उसका साहूकार भी है।" अतः फेबियनवाद राज्य को बनाए रखने के पक्ष में हैं और उसे समाजवाद की स्थापना का एक साधन मानता है। फेबियनवादी राजनैतिक व्यवस्था में इस प्रकार परिवर्तन करना चाहते हैं जिसमें मताधिकार का विस्तार किया जाए तथा अधिक प्रशिक्षित सिविल सर्विस और सबके लिए समान शिक्षा का अवसर उपलब्ध हो। उनका कहना है कि राज्य ही एकमात्र संगठन है जो संपूर्ण समाज के कल्याण के लिए कार्य करता है। राज्य शोषण का यंत्र नहीं वरन् समाजवाद की स्थापना का एक प्रबल उपकरण है। राज्य कानून के द्वारा पूँजीवाद को निर्जीव बना सकता है। समाजवादी व्यवस्था राज्य का अन्त करके नहीं वरन् राज्य की सहायता से ही स्थापित हो सकती है।

सिडनी वेब का कहना है कि आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में राज्य का नियंत्रण बढ़ रहा है। व्यापार, शिक्षा, वाणिज्य, स्वास्थ्य, डाक, तार आदि को राज्य संचालित अथवा नियमित करता हैं। इससे स्पष्ट हैं कि राज्य ने एक कल्याणकारी संस्था का रूप धारण कर लिया है और दिनों-दिन उसका कार्यक्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है। जो समाजवाद के विकास का द्योतक है। वेब ने बताया कि इंग्लैण्ड का लगभग एक-तिहाई उत्पादन संयुक्त संपत्ति उद्योगों द्वारा होता है जो व्यक्तिगत स्वामित्व और पूँजीवाद के क्रमिक पतन का प्रतीक है। फेबियनवाद का यह भी मानना है कि सरकार द्वारा चलाए जाने वाले उद्योगों के मुकाबले में व्यक्तिगत उद्योग बहुत दिनों तक न ठहर सकेंगे और वह स्वयं समाप्त हो जाएगा। धीरे-धीरे इन सब पर राज्य का स्वामित्व स्थापित हो जाएगा। इस प्रकार सिडनी वेब यह सिद्ध करना चाहता है कि समाजवाद एक स्वभाविक प्रक्रिया है जिसके लाने के लिए किसी क्रान्ति की ज़रूरत नहीं हैं।

3. वर्ग-संघर्ष सिद्धान्त का खण्डन -

मार्क्स ने समस्त सामाजिक परिवर्तनों का मूल कारण उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन बताया था। उसने अपने द्वन्दात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के द्वारा सामाजिक विकास की व्याख्या की और यह बताया कि अब तक अस्तित्व में आए सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मार्क्स का कहना था कि आदिम समाज से लेकर वर्तमान पूँजीवादी समाज तक हर काल में समाज में दो परस्पर विरोधी वर्ग रहे हैं जिनके पारस्परिक टकराव के कारण ही एक नई सामाजिक व्यवस्था अस्तित्व में आई है। इस सिद्धान्त को मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम दिया है। फ़ेबियनवाद वर्ग संघर्ष के इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता उसका कहना है कि सामन्तवाद से पूँजीवाद में परिवर्तन वर्ग संघर्ष का परिणाम नहीं है बल्कि यह परिवर्तन समाज की अर्थव्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों का परिणाम है।

4. जनतांत्रिक व्यवस्था में पूर्ण विश्वास -

समाजवाद स्थापित करने के लिए फेबियनवाद जनतांत्रिक व्यवस्था को एक प्रबल साधन मानता है। सिडनी वेब ने ऐतिहासिक आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यूरोप में विगत शताब्दी में जनतंत्र का तेजी से विकास हुआ है। उनका कहना है कि "इतिहास लोकतंत्र की अदम्य प्रगति और समाजवाद की प्रायः निरन्तर प्रगति को अबाध प्रकट करता है।" सिडनी वेब ने यह तर्क दिया कि पिछले 100 वर्षों में इंग्लैण्ड में मताधिकार का निरन्तर विस्तार हुआ है और वर्तमान में प्रत्येक वयस्क स्त्री और पुरुष मतदान में भाग लेता है। दूसरी ओर राजतंत्र का धीरे-धीरे ह्रास हुआ यहाँ तक कि राजा को 'स्वर्ण शून्य' की संज्ञा दी गई है। यह तथ्य इस बात को इंगित करता है कि इंग्लैण्ड में जनतंत्र की अनवरत प्रगति हो रही है और समाजवादी विचारधारा तेज़ी से आगे बढ़ रही है। सिडनी वेब के अनुसार इतिहास से निम्न बातें सिद्ध होती हैं :-

13. महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन लोकतांत्रिक पद्धति के द्वारा ही किए जा सकते हैं। वास्तव में ऐसे परिवर्तन तभी संभव हैं जब मनुष्य उन्हें दिल से स्वीकार करें। इसका अर्थ यह है कि ताकत का इस्तेमाल करके कोई चिरस्थाई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।
2. सामाजिक परिवर्तन धीरे-धीरे किए जाने चाहिए ताकि उनसे कोई अव्यवस्था उत्पन्न न हो।
3. परिवर्तन जनसाधारण की दृष्टि में नैतिक होना चाहिए।
4. परिवर्तन शान्तिपूर्ण और संवैधानिक ढंग से किया जाना चाहिए।

सिडनी वेब के उपर्युक्त विचारों से भी स्पष्ट है कि फेबियनवाद सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए मार्क्स द्वारा बताए गए हिंसात्मक क्रान्ति के साधन का विरोध करता है। मार्क्स के दर्शन के विपरीत वह जनसम्प्रभुता और नागरिक स्वतंत्रताओं का समर्थन करता है और समाजवाद को बल के द्वारा नहीं, इच्छा के द्वारा धीरे-धीरे स्थापित करना चाहता है।

5. क्रमिक परिवर्तन का समर्थन -

जहाँ एक ओर मार्क्सवाद हिंसक क्रान्ति के द्वारा पूंजीवाद का तत्काल अन्त कर देने का नारा देता है वहीं दूसरी ओर फेबियनवाद संवैधानिक और जनतांत्रिक तरीकों से धीरे-धीरे पूँजीवाद के खत्म करने और समाजवाद को शनैः-शनैः स्थापित करने में विश्वास करता है। फेबियनवाद का मूल आधार है 'क्रमिक विकास' (Gradualism) अर्थात् एकाएक परिवर्तन के स्थान पर धीरे-धीरे परिवर्तन लाने की नीति। उसका कहना है कि किसी भी प्रकार के परिवर्तन लाने के लिए उसके अनुकूल जनमत का निर्माण करना आवश्यक है और जनमत निर्माण में अवश्य ही समय लगता है। फेबियनवादी कहते हैं कि समाजवाद की स्थापना जन-शिक्षा के द्वारा और संवैधानिक तरीकों को अपना कर की जानी चाहिए। चूंकि जनतंत्र का मूल आधार जन-इच्छा है,

इसलिए समाजवाद की स्थापना जनसमर्थन के बिना नहीं हो सकती।

6. विकेन्द्रीकरण का समर्थन -

सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण निरंकुशतावाद को जन्म देता है और इससे स्थानीय समस्याओं का समुचित निराकरण भी नहीं हो पाता। इसी दृष्टि से फेबियनवाद स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं के क्षेत्राधिकार को विस्तृत करना चाहता है। उसका कहना है कि स्थानीय स्तर पर उद्योग-धन्धों का संचालन और नियंत्रण स्थानीय शासन इकाईयों के द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप किया जाना चाहिए। इंग्लैण्ड की लेबर पार्टी जिसे फेबियन विचारधारा की व्यावहारिक शाखा कहा जाता है, ने 1920में 'Labour and the New Social order' नामक अपने प्रकाशन में यह माँग की थी कि जनतांत्रिक ढंग से चुनी गई स्थानीय संस्थाओं के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत किया जाना चाहिए। स्थानीय महत्व के विषय जैसे गैस, जल, बिजली, सफाई, शिक्षा मनोरंजन की व्यवस्था इत्यादि का प्रबन्ध स्थानीय शासन की इकाईयों के द्वारा किया जाना चाहिए।

13.5 फेबियनवाद के साधन

जैसा पहले बताया जा चुका है कि साम्यवाद हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके उसके स्थान पर समाजवादी व्यवस्था कायम करना चाहता है। इसके विपरीत फेबियनवाद लोकतांत्रिक और शान्तिपूर्ण साधनों से समाजवाद लाना चाहता है, वह त्वरित या तुरन्त परिवर्तन में विश्वास नहीं करता। वह राज्य को जनता की एक प्रतिनिधि संस्था का रूप देकर उसके माध्यम से सामाजिक परिवर्तन लाने का रास्ता अपनाना चाहता है। स्वाभाविक रूप से इस प्रक्रिया में मध्यम वर्ग की भूमिका महत्वपूर्ण होगी। समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिए फेबियनवाद निम्नांकित साधनों का उल्लेख करता है :-

13. समाजावादी दर्शन का प्रचार

जैसा प्रारम्भ में उल्लेख किया जा चुका है, फेबियन सोसायटी की स्थापना इंग्लैण्ड के मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवियों के द्वारा की गई थी जिसका उद्देश्य समाज की आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं पर विचार करना था। इन बुद्धिजीवियों ने अपने लेखों, व्याख्यानों और वाद-विवाद के द्वारा समाजवाद का प्रचार किया। अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए फेबियनवादियों ने 'फेबियन निबन्ध' (Fabian Essays) प्रकाशित किए तथा 'फेबियन ट्रेक्ट्स (Fabin Tracts) की एक श्रृंखला निकाली। उनके द्वारा समाजवाद की शिक्षा के लिए 'समर स्कूलों' (Summer Schools) का आयोजन किया गया तथा राजनैतिक दलों में फेबियन कोष्ठों (Fabian cells) का गठन किया गया।

फ़ेबियनवाद का कहना है कि सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए व्यक्ति के हृदय और विचारों में परिवर्तन लाना पहला कदम है। अतः समाजवाद स्थापित करने के लिए जनता के बीच समाजवादी विचारधारा का समुचित रूप से प्रचार-प्रसार किया जाना चाहिए। चूँकि

फेबियनवाद लोकतांत्रिक ढंग से समाजवाद लाना चाहता है। अतः समाजवाद के पक्ष में जनमत-निर्माण करना इसकी पूर्व-दशा है। अतएव समाजवादी विचारधारा के प्रति जनता में आस्था उत्पन्न की जानी चाहिए। इसके लिए समाजवादी साहित्य का प्रकाशन, व्याख्यान और संगोष्ठियाँ तथा अनुसन्धान - संस्थाओं के माध्यम से समाजवादी दर्शन का अच्छी तरह प्रचार करना होगा।

2. राजनैतिक दलों का गठन

जनतंत्रीय शासन व्यवस्था में जनमत-निर्माण तथा शासन-संचालन के लिए राजनैतिक दल अपरिहार्य होते हैं। अतः समाजवाद की स्थापना के लिए इस विचारधारा में आस्था रखने वालों के पृथक राजनैतिक दल होना चाहिए जो चुनाव में भाग लेकर संसद में पहुंच सकें और राजनैतिक सत्ता में भागीदार बन सकें। इंग्लैण्ड में लेबर पार्टी का निर्माण इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए किया गया था।

3. सामाजिक - हित संबंधी विधान

संसद में समाजवादी विचारधारा में विश्वास रखने वाले सदस्यों द्वारा तथा जनता के द्वारा सरकार पर ऐसे कानूनों को बनाने के लिए दबाव डाला जाना चाहिए जिससे श्रमिकों की स्थिति में सुधार हो, पूँजीवादी कमजोर पड़ें और फलस्वरूप समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में सहायता मिले। उदाहरण के लिए पूँजीपतियों की अनर्जित आय पर कर लगाना; मजदूरों के काम के घण्टे और न्यूनतम मजदूरी को निर्धारित करना, कोई दुर्घटना होने पर आर्थिक सहायता अथवा क्षतिपूर्ति देने की व्यवस्था करना इत्यादि। इस तरह के कानूनों से राज्य धीरे-धीरे समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में निश्चय ही सफल होगा और वर्तमान व्यवस्था में प्रयोग किए जाने वाले शोषण के साधनों को कुचल देगा।

4. उत्पादन के साधनों पर सामाजिक नियंत्रण

फेबियनवादी मार्क्स के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं कि किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगे श्रम से निर्धारित होता है। उनका विश्वास है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी सामाजिक उपयोगिता से निर्धारित होता है। उनका कहना था कि भूमि तथा दूसरी वस्तुओं का मूल्य समाजकृत है। इस मूल्य पर भूपतियों और उद्योगपतियों का अधिकार न होकर पूरे समाज का अधिकार होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि धीरे-धीरे भूमि तथा औद्योगिक संपत्ति का सामाजीकरण कर दिया जाए और राज्य को अधिक से अधिक प्रतिनिधात्मक बना कर उसका नियंत्रण स्थापित किया जाए।

13.6 फेबियनवाद की आलोचना

फेबियनवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसका प्रतिपादन इंग्लैण्ड की सामाजिक परिस्थितियों और ब्रिटेनवासियों के स्वभाव को दृष्टि में रखकर किया गया। संभवतः यही कारण है कि फेबियनवाद अन्य देशों में लोकप्रिय न हो सका। फेबियनवाद का कोई क्रमबद्ध दर्शन नहीं है, इसमें अनेक अस्पष्टताएँ और विरोधाभास पाया जाता है। बार्कर का कहना है कि "फेबियन

समाज समाजवादी संगठन का सबसे कम स्पष्ट तथा अनिश्चित सिद्धान्त है।

फेबियन समाजवाद पूँजीवादी को नष्ट करना चाहता है किन्तु वह उसकी कोई व्यावहारिक योजना प्रस्तुत नहीं करता। वह पूँजीपतियों से भी सहानुभूति व्यक्त करता है और उनकी संपत्ति छीने जाने पर उन्हें कुछ आर्थिक सहायता भी देने का सुझाव देता है।

फेबियवाद लोकतात्रिक सरकार के माध्यम से पूँजीवाद का विनाश करने की बात करता है लेकिन वह भूल जाता है कि चुनाव में धन की प्रभावशाली भूमिका होती है। अतः इस बात की संभावना बनी रहती है कि पूँजीपति अपने धन के ज़ोर पर बड़ी संख्या में अपने समर्थकों को संसद का सदस्य निर्वाचित करा दें और ऐसे कानून न बनने दें जो उनके हितों के विपरीत हों।

समाजवाद की स्थापना के लिए फेबियनवाद ज़रूरत से ज्यादा राज्य पर निर्भर दिखाई देता है और राज्य को एक आदर्श संस्था के रूप में प्रस्तुत करता है। जबकि सत्य यह है कि राज्य ने प्रायः निरंकुशता का प्रदर्शन किया है और शोषणकर्ताओं का पक्ष लिया है।

उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित होने के बाद उत्पादन और वितरण की क्या प्रणाली अपनाई जाएगी, इसकी भी कोई स्पष्ट रूपरेखा फेबियनवाद प्रस्तुत नहीं करता। संक्षेप में यह संदेहजनक है कि मात्र संवैधानिक साधनों का प्रयोग करके फेबियनवादी पूँजीवाद का अन्त और समाजवाद की स्थापना करने में सफल हो सकेंगे।

फेबियनवाद में उपर्युक्त दुर्बलताएँ होते हुए भी इसने एक आन्दोलन के रूप में ब्रिटेन की जनता में समाजवाद के प्रति जागरूकता उत्पन्न की और मार्क्सवादी दर्शन को इंग्लैण्ड की परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित करके जनतंत्रीय समाजवाद का एक विकल्प प्रस्तुत किया। फेबियनवाद ने इग्लैण्ड में श्रमिक आन्दोलन को सबलता प्रदान की और लेबर पार्टी का प्रेरणा स्रोत बना रहा। अनेक फेबियनवादी लेबर पार्टी के टिकट पर चुनाव लड़ कर संसद में भी पहुँचे। 1925 में फेबियन सोसायटी के पाँच सदस्य लेबर पार्टी की सरकार के सदस्य थे। फेबियनवाद ने पूँजीवाद का विनाश करने के लिए केवल मज़दूर वर्ग का ही आवाह्न नहीं किया। उसने समाज के मध्यमवर्ग को, जो साम्यवाद में उपेक्षित रहा, समाजवादी आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी के लिए प्रोत्साहित किया। श्रमिकों की आर्थिक व सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए फेबियवादियों ने अनेक योजनाएँ तैयार की जिन्हें लेबर पार्टी ने सत्ता में आने पर कार्यान्वित किया। कोकर के अनुसार, "फेबियन सोसायटी ने सैद्धान्तिक क्षेत्र में उतना योगदान नहीं दिया जितना व्यावहारिक क्षेत्र में। जिस प्रतिभा और बुद्धिमत्ता के साथ उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक एवं सामाजिक संस्थाओं से संबंधित तथ्य एकत्र कर उनकी व्याख्या की है उसी के कारण ब्रिटेन की राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारें शनैः-शनैः और सावधानी के साथ समाजवाद के उदारवादी रूप को व्यवहार में ला सकी हैं।"

13.7 सारांश

फ़ेबियन समाजवाद का प्रादुर्भाव इंग्लैण्ड में 19वीं शताब्दी के अन्त में हुआ। इस विचारधारा का प्रतिपादन मार्क्सवादी दर्शन के एक विकल्प के रूप में किया गया। समाजवाद की

तरह फ़ेबियनवाद भी पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करना चाहता है लेकिन वह इसके लिए हिंसा या क्रान्ति का सहारा नहीं लेना चाहता। उसका विश्वास है कि समाजवाद का क्रमिक विकास हो रहा है और पूँजीवाद का अन्त संवैधानिक तरीकों से किया जाना चाहिए। मार्क्स राज्य को शोषण का एक यंत्र मान कर उसके अस्तित्व को ही मिटा देना चाहता है। इसके विपरीत फ़ेबियनवाद राज्य को एक आवश्यक और आदर्श संस्था मानते हुए उसी के माध्यम से समाजवाद को स्थापित करने की योजना प्रस्तुत करता है। पूँजीवाद का अन्त करने के लिए वह उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना चाहता है। उसका कहना है कि राष्ट्रीय महत्व के उत्पादन-साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए जबकि स्थानीय महत्व के साधन जैसे भूमि, आदि पर स्थानीय प्रशासकीय निकायों का स्वामित्व होना चाहिए।

फ़ेबियनवाद ने समाजवाद को जनतांत्रिक आधार प्रदान किया। वह जनतंत्रात्मक सरकार को समाजवाद की स्थापना और विकास के लिए अनिवार्य समझता है। इसके लिए वह मताधिकार का विस्तार करने और नागरिक स्वतंत्रताओं के दिए जाने पर बल देता है। उसका कहना है कि जनतंत्र का आधार जनमत है इसलिए जनतंत्रीय समाज में कोई भी परिवर्तन लाने के लिए उसके पक्ष में जनमत-निर्माण करना आवश्यक होगा। अतः फ़ेबियनवाद इस बात पर आग्रह करता है कि समाजवादी विचारधारा का समुचित प्रचार औ प्रसार किया जाए ताकि समाजवाद में जनता की ज़्यादा से ज्यादा आस्था उत्पन्न हो सके। जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से विधानमण्डल पर निरन्तर यह दबाव डाल सकती है कि वह ऐसे कानूनों का निर्माण करें जिससे पूँजीवाद को कमजोर किया जाए और श्रमिकों के हितों का ज्यादा से ज्यादा विकास हो सके। फ़ेबियनवाद का विश्वास है कि धीरे-धीरे जनमत समाजवाद के पक्ष में बनता जाएगा और एक समय ऐसा आएगा जब पूँजीवाद का स्वतः अन्त हो जाएगा।

फ़ेबियनवाद के आलोचकों का कहना है कि यह विचारधारा अस्पष्ट तथा अव्यावहारिक है क्योंकि पूँजीवाद का अन्त मात्र संवैधानिक तरीकों से किया जाना संभव नहीं है। उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करने के बाद क्या वितरण-प्रणाली होगी इसकी भी कोई स्पष्ट योजना फ़ेबियनवाद प्रस्तुत नहीं करता। वास्तव में यह राज्य पर अत्यधिक भरोसा करता है और यह मानता है कि राज्य कानूनों के माध्यम से पूँजीवाद का धीरे-धीरे अन्त कर देगा। लेकिन एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में वोटों की राजनीति होती है जिसमें सामान्यतया पूँजीपतियों का आधिपत्य रहता है। अतः यह संदेहजनक प्रतीत होता है कि सरकार पूँजीपतियों के विरुद्ध कानून बना कर पूँजीवाद को नष्ट कर देगी।

उपर्युक्त कमियों के होते हुए भी फेबिनयवाद का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने समाजवाद को एक जनतांत्रिक आधार प्रदान किया और मार्क्स के क्रान्तिकारी दर्शन का एक विकल्प प्रस्तुत किया जो जन-इच्छा पर आधारित है। फेबियनवाद के इस तर्क में जान है कि किसी भी परिवर्तन को लाने के लिए हृदय - परिवर्तन की आवश्यकता है अतः समाजवाद लाने के लिए सामाजिक सोच को बदलना होगा जो शक्ति के द्वारा नहीं, शिक्षा और प्रचार-प्रसार के द्वारा ही संभव है।

13.8 उपयोगी पुस्तकें

13. कोकर, ई. डब्लू — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन

2. प्रभुदत्त शर्मा — राजनीतिक विचारकों का इतिहास

13.9 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न -

प्र01 उन परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनमें फ़ेबियनवाद का उदय हुआ। इसका मुख्य उद्देश्य क्या था?

प्र02 फ़ेबियनवाद के मूल आधारों की विवेचना कीजिए।

प्र03 फेबियनवादियों द्वारा प्रस्तुत की गई सामाजिक व्यवस्था का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए?

लघु-उत्तरीय प्रश्न -

प्र01 फेबियनवाद का प्रादुर्भाव किस देश में हुआ और उसके प्रमुख संस्थापक कौन थे?

प्र02 राज्य के विषय में फेबियनवाद का क्या मत है?

प्र03 पूँजीवाद का अन्त करने के लिए फेबियनवाद क्या तरीका बताता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

प्र01 फेबियन समाजवाद के विषय में निम्न में से कौन सा कथन सही नहीं है ?

(अ) यह पूँजीवाद का अन्त करना चाहता है।

(ब) यह नागरिक स्वतंत्रताओं को सुरक्षित रखना चाहता है।

(स) फेबियनवाद राज्य का शत्रु है।

(द) फेबियनवाद उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण स्थापित करता है।

प्र02 निम्न में से कौन फेबियनवाद के प्रवर्तकों में नहीं था?

(अ) सिडनी वेब

(ब) क्रोपोटकिन

(स) एनी बेसेन्ट

(द) सिडनी ओलीवियर

प्र03 फेबियनवाद के अनुसार समाजवाद की स्थापना किस तरह की जा सकती है।

(अ) संवैधानिक साधनों से

(ब) क्रान्ति के द्वारा

(स) निरंकुश शासन के द्वारा

(द) इनमें से किसी के द्वारा नहीं

13.9 प्रश्नोत्तर -

1 - स

2 - ब

3 - अ

इकाई 14 - श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 श्रेणी समाजवाद का प्रादुर्भाव
14.3 श्रेणी समाजवाद की विशेषताएँ
14.4 श्रेणी समाजवाद के साधन
14.5 श्रेणी समाजवादी व्यवस्था का स्वरूप
14.6 श्रेणी समाजवाद की आलोचना
14.7 सारांश
14.8 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें
14.9 संबंधित प्रश्न
14.10 प्रश्नोत्तर

14.0 उद्देश्य

श्रेणी समाजवाद इंग्लैण्ड की समाजवादी विचारधारा हैं जो पूँजीवाद का शान्तिपूर्ण साधनों से अन्त करके उद्योगों में श्रेणियों का स्वायत्त शासन स्थापित करना चाहती है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- श्रेणी समाजवाद के उद्भव और विकास का विवेचन कर सकेंगे,
- श्रेणी समाजवाद की विशेषताओं का उल्लेख कर सकेंगे
- श्रेणी समाजवाद के साधनों का विवरण कर सकेंगे।
- श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के स्वरूप का अवलोकन कर सकेंगे।
- श्रेणी समाजवाद पर टीका-टिप्पणी कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

श्रेणी समाजवाद विकासवादी समाजवाद की परम्परा में एक इंग्लिश विचारधारा है जिसका जन्म इंग्लैण्ड में 20वीं शताब्दी में हुआ। इसे एक मध्यमवर्गीय विचारधारा कहा जाता है जो न तो फेबियनवादी विचारधारा की तरह उदार हैं और न फ्राँस की श्रमिक संघवाद की विचराधारा की तरह उग्र है। इस विचारधारा का मुख्य उद्देश्य इंग्लैण्ड की मध्ययुगीन श्रेणी व्यवस्था को पुर्नस्थापित करना था। इस विचारधारा के प्रतिपादकों में ए.जी. पेंटी, ए.आर. ओरेंज, एस.जी. हाब्सन तथा जी.डी.एच. कोल के नाम प्रमुख हैं।

श्रेणी समाजवाद मार्क्सवादी दर्शन से इस बात को ग्रहण करता है कि आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए पूँजीवाद का विनाश किया जाना चाहिए लेकिन इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह हिंसात्मक क्रान्ति के साधन को न अपना कर शान्तिपूर्ण तरीकों को अपनाना चाहता है। साम्यवाद के विपरीत, श्रेणी समाजवाद राज्य को नष्ट नहीं करना चाहता, अपितु उसके स्वरूप को परिवर्तित और कार्य-क्षेत्र को सीमित करने की योजना प्रस्तुत करता है। वह लोकतंत्र का भी शत्रु नहीं है किन्तु उसे व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का आधार प्रदान करता है।

साम्यवाद के विपरीत, श्रेणी समाजवाद का लक्ष्य उद्योगों में स्वायत्त शासन स्थापित करना है। इसके लिए वह समस्त शक्तियाँ श्रमिकों को नहीं श्रेणियों को सौंपना चाहता है जिसमें श्रमिकों के अतिरिक्त वे सभी व्यक्ति सदस्य होंगे जो उत्पादन-कार्य में योगदान देते हैं। एक श्रेणी की सदस्यता का आधार वर्तमान ट्रेड यूनियनों से विस्तृत होगा। इस प्रकार श्रेणी समाजवाद 'मजदूरों की तानाशाही' स्थापित करने के लिए बजाए 'उद्योगों में जनतंत्र' को स्थापित करता है जो निःसंदेह एक आकर्षक विचारधारा है।

1.4.2 श्रेणी समाजवाद का प्रादुर्भाव

प्रसिद्ध विचारक जी0 डी0 एच0 कोल का कहना है कि श्रेणी समाजवाद फ्राँसीसी श्रमिक संघवाद के समानान्तर एक अंग्रेजी विचारधारा है जिसका उद्भव तथा विकास 20वीं शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियों में हुआ। यह एक मध्यमवर्गीय विचारधारा है जो न तो श्रमिक संघवाद की तरह क्रान्तिकारी है और न ही फेबियनवाद की तरह उदारवादी। श्रेणी समाजवाद का मूल उद्देश्य औद्योगिक प्रजातंत्र को स्थापित करना है। इसकी मान्यता है कि उद्योगों का संचालन और नियंत्रण पूरी तरह मजदूरों की श्रेणियों अथवा संघों के हाथ में हो; उत्पादन का लाभ पूरे समाज को मिले, एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति का शोषण न कर सके और श्रेणियों का संगठन जनतांत्रिक हो। जी0 डी0एच0 कोल ने इस व्यवस्था को 'उद्योगों में स्वशासन' का नाम दिया है। एक लेखक ने श्रेणी समाजवाद को फेबियनवाद और फ्राँसीसी संघवाद का "बुद्धिजीवी शिशु" कहा है। श्रमिक संघवाद की तरह श्रेणी समाजवाद भी एक ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करना चाहता है जिसमें उत्पादन का नियंत्रण और संचालन श्रमिक संघों के हाथ में हो। लेकिन वह श्रमिक-संघो के लिए श्रेणी अथवा गिल्ड (Guild) शब्द का प्रयोग करता है। ओरेज के अनुसार 'श्रेणी (गिल्ड) ऐसे व्यक्तियों का एक स्वःशासित संघ है जो समाज के किसी विशिष्ट कार्य को करने के लिए संगठित हुए हों और इसके लिए समाज के प्रति उत्तरदायी हों।" मध्यकालीन यूरोप में उत्पादकों के संघ को 'गिल्ड' ही कहते थे। इंग्लैण्ड में 13वीं और 14वीं शताब्दी में समाज के लगभग सभी कार्यों जैसे, उद्योग, स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि का प्रबन्ध गिल्ड्स या श्रेणियों के द्वारा ही होता था। प्रत्येक श्रेणी एक स्वतंत्र और स्वायत्त (Autonomous) संस्था होती थी।[1] प्रशासन में श्रेणी के प्रत्येक सदस्य को भाग लेने का अधिकार होता था। श्रेणियाँ एक अर्थों में व्यावसायिक संघ होती थीं। औद्योगिक क्रान्ति के

1. Rockow, Contemporary Political Thought in old England, P. 150

बाद इंग्लैण्ड में तेजी से विकसित होते हुए पूँजीवाद और बढ़ते हुए श्रमिक शोषण के प्रतिकार के लिए कुछ अंग्रेज विचारकों ने राज्य-समाजवाद और श्रमिक संघवाद के बीच एक नया रास्ता ढूँढ़ने का प्रयास किया। विकल्प की इस तलाश में उनकी दृष्टि 13वीं और 14वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में पायी जाने वाली गिल्ड व्यवस्था की ओर गई। श्रेणी व्यवस्था के आधार पर एक नए समाज को बनाने का विचार सबसे पहले ब्रिटिश विचारक ए0 जे0 पेण्टी ने 1905 में प्रस्तुत किया। इस विचार को आगे बढ़ाने और उसे एक विचारधारा का स्वरूप प्रदान करने में इंग्लैण्ड के कुछ अन्य विचारकों जैसे ए0 आर0 ओरेंज (A.R. Orage) एस0 जी0 हाब्सन (S.G. Hobbson) तथा जी0 डी0 एच0 कोल ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। सत्य तो यह है कि इन चार विचारकों ने ही श्रेणी समाजवादी की विचारधारा को एक दर्शन और एक आन्दोलन का रूप प्रदान किया।

श्रेणी समाजवाद का विकास मूल रूप से पेंटी की पुस्तक 'The restoration of the Guild System' से हुआ जो 1906 में प्रकाशित हुई थी। पेंटी का विचार था कि आधुनिक औद्योगिक प्रणाली ने हर प्रकार के कलात्मक और रचनात्मक कार्य को असंभव बना दिया है, वह इस प्रणाली से बहुत ज्यादा घृणा करता था। पेंटी के विचारों को बहुत ज्यादा लोकप्रियता नहीं मिल सकी क्योंकि उनमें आदर्शवाद ज्यादा था।

गिल्ड समाजवाद के विकास में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के शिक्षकों ने मौलिक योगदान दिया। पेंटी के विचारों को आधुनिक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों को अनुकूल बनाने में ओरेज तथा हाब्सन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। उन्होंने राष्ट्रीय गिल्डों की एक विस्तृत योजना प्रस्तुत की। उन्होंने 'न्यू एज' (New Age) नामक पत्रिका में 1912 में अनेक लेख प्रकाशित किए जो बाद में National Guilds : An equuiry into the wage system and way out' शीर्षक के अधीन एक पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हुए। कोकर का कहना है कि गिल्ड व्यवस्था का क्रमबद्ध प्रतिपादन सबसे पहले इसी पुस्तक में किया गया और यह पेंटी की पुस्तक के मध्यकालीन विचारों से मुक्त थीं।[1]

गिल्ड व्यवस्था के आचोलनात्मक और रचनात्मक विचारों की विस्तृत व्यवस्था जी0 डी0 एच0 कोल ने की और उसने इस समाजवादी आन्दोलन के प्रवर्तकों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। कोल के अतिरिक्त प्रोफेसर आर0 एच0 टॉनी (R. H.. Towney) बर्ट्रेन्ड रसेल (Burtrand Russel) तथा आर0 डी0 मेजतू (R.D. Maczeu) ने इस सिद्धान्त के विकास में अग्रणी भूमिका अदा की।

1915 में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के दो विद्वानों विलियम मेलोर (W. Mellor) तथा मॉरिस बी0 रेकिट (Marris B. Rockitt) ने श्रेणी समाजवादी विचारधारा को अपनाया और उसके प्रचार-प्रसार के लिए एक राष्ट्रीय गिल्ड लीग (National guilds League) की स्थापना की। बहुत से प्रतिभाशाली लेखक और विचारक उदाहरण के लिए टॉनी, रसेल, जॉर्ज लेंसबरी, कोल, मेलोर तथा रेकिट आदि इसके सदस्य थे। इस लीग के द्वारा 'गिल्ड मैन' के

1. कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन; पृ0 277

नाम से एक मासिक पत्रिका/पत्र भी निकाला गया जिसका नाम बाद में 'गिल्ड सोशलिस्ट' हो गया। 1925 तक श्रेणी समाजवादी आन्दोलन चलता रहा लेकिन उसके बाद अनेक कारणों से यह आन्दोलन विघटित हो गया। नेशनल गिल्ड लीग भी भंग कर दी गई और कोल की रूचि भी श्रेणी समाजवाद में कम हो गई। इस तरह श्रेणी समाजवादी आन्दोलन केवल दो दशाब्दियों में ही निष्प्राण हो गया।

14.3 श्रेणी समाजवाद की विशेषताएँ

श्रेणी समाजवाद के प्रतिपादकों में श्रेणी समाजवाद के सिद्धान्तों को लेकर मतैक्य नहीं है। यद्यपि वे सभी पूँजीवाद के विरोधी हैं और उद्योगों का प्रशासन श्रेणियों को सौंपना चाहते हैं लेकिन गिल्ड व्यवस्था की स्थापना से संबंधित कतिपय मुद्दों पर उनके विचार भिन्न-भिन्न हैं। गिल्ड समाजवादियों द्वारा जिन बातों पर सहमति है उनके आधार पर श्रेणी - समाज की कुछ सामान्य विशेषताएँ बताई जा सकती हैं :-

1. पूँजीवादी व्यवस्था की निंदा -

श्रेणी समाजवाद की मान्यता है कि पूँजीवादी में श्रमिकों की स्थिति दास जैसी होती है। इसमें उनका आर्थिक शोषण और नैतिक पतन होता है। मज़दूर को एक वस्तु की तरह समझकर उसकी सौदेबाजी होती है। वह अपना श्रम बेचता है और वह भी बहुत कम दामों पर। उत्पादन वही करता है किन्तु उद्योग के संचालन और नियंत्रण में उसका कोई भाग नहीं होता। जिसके कारण उसकी प्राकृतिक क्षमताएँ उभर कर सामने नहीं आ पातीं। पूँजीपति का अन्तिम लक्ष्य व्यक्तिगत लाभ होता है। वे सार्वजनिक हित की कोई परवाह नहीं करते। श्रेणी समाजवाद प्रत्येक प्रकार की पूँजी को चोरी तथा पूँजीपतियों को चोर मानता है। अतः श्रेणी समाजवाद पूँजीवाद का अन्त कर देना चाहता है। इसके लिए वह हिंसा या क्रन्ति के तरीक़े को नहीं अपनाता वरन् श्रेणी व्यवस्था के द्वारा पूँजीपति की शक्तियों को छीन कर उसे इतना कमजोर कर देगा कि पूँजीपति अपनी मौत खुद ही मर जाएगा।

14. उद्योगों में स्वायत्त शासन-

वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों का निराकरण करने के लिए श्रमिक संघवाद के समान ही श्रेणी समाजवाद भी उत्पादन का संचालन और नियंत्रण पूरी तरह से श्रेणियों के हाथ में देना चाहता है। श्रमिकों के हित की सुरक्षा और विकास के लिए श्रेणी समाजवादी यह आवश्यक मानते हैं कि प्रत्येक श्रेणी स्वतंत्र रूप से कार्य करे। उनका कहना है कि राज्य पूँजीवादी संस्था है जो कभी भी श्रमिकों के हितों के लिए कार्य नहीं कर सकती। अतः उत्पादन पर राज्य का नियंत्रण न होकर स्वयं श्रमिकों का नियंत्रण होना चाहिए। इसके लिए वे उद्योगों के संचालन और नियमन का कार्य पूँजीपतियों के हाथों से निकाल कर संबंधित उद्योगों की श्रेणियों के हाथों में दे देना चाहते हैं। उनका कहना है कि उत्पादन से संबंधित सभी मामले जैसे उत्पादन की मात्रा, कच्चा माल, मशीनरी तथा ऊर्जा की व्यवस्था, काम के घंटों का निर्धारण आदि का

निर्णय स्वयं श्रमिकों के द्वारा किया जाएगा। वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण भी श्रेणियों के द्वारा ही किया जाएगा।

मार्क्स ने पूँजीवाद के विकास का कारण अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में ढूँढा था। अतिरिक्त मूल्य के कारण ही उद्योगों में होने वाले लाभ की एक बड़ी मात्रा पूँजीपति के पास एकत्रित होकर दिनों-दिन उसकी पूँजी को बढ़ाती रहती है। श्रेणी समाजवाद मार्क्स के इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर ऐसी व्यवस्था करता है कि उत्पादन से होने वाला लाभ किसी एक व्यक्ति को न मिलकर उत्पादन-कार्य में योगदान देने वाले व्यक्तियों - श्रमिक, शिल्पी, कर्मचारी तथा पूँजी लगाने वाले, सभी के बीच एक निश्चित अनुपात में वितरित कर दिया जाए। इस प्रकार पूँजी लगाने वाला व्यक्ति उत्पादन से प्राप्त होने वाले लाभ का एकाधिकारी न होकर मात्र एक अंशधारी होगा और उसकी हैसियत, न्यूनाधिक श्रमिकों के समान ही होगी। दूसरी ओर श्रेणी समाजवाद यह भी चाहता है कि श्रमिक संघ उद्योग के मालिकों से ज्यादा से ज्यादा सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए उस पर निरन्तर दबाव डालते रहें। इसका परिणाम यह होगा कि पूँजीपति परेशान होकर श्रमिकों के सामने झुक जाएगा और पूँजीवाद स्वयं ही विलीन हो जाएगा।

इससे स्पष्ट है कि श्रेणी समाजवाद ने पूँजीपतियों से कोई प्रत्यक्ष टकराव न लेकर उसे अप्रत्यक्ष साधनों से धीरे-धीरे समाप्त करने की योजना प्रस्तुत की है।

3. राज्य के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण :-

श्रमिक संघवाद के विपरीत जो राज्य को नष्ट करने के पक्ष में है, श्रेणी समाजवाद राज्य को बनाए रखना चाहता है। लेकिन राज्य की स्थिति के विषय में श्रेणी समाजवादियों में दो प्रमुख विचारधाराएं पाई जाती हैं, एक प्रोफेसर हॉब्सन की और दूसरी कोल की।

हाब्सन के अनुसार श्रेणी मूलक समाज में राज्य की वही स्थिति होगी जो वर्तमान में है लेकिन उसकी कुछ शक्तियाँ समुदायों में बाँट दी जाएँगी। प्रभुसत्ता केवल राज्य के पास होगी और उत्पादन के समस्त साधनों पर उसी का स्वामित्व होगा। लेकिन उद्योगों का संचालन और उस पर नियंत्रण श्रेणियों का होगा। राज्य विभिन्न श्रेणियों के लिए सामान्य नीति का निर्धारण करेगा और उनको अपने कार्यों के निर्वहन के लिए आर्थिक सहायता भी प्रदान करेगा। राष्ट्रीय महत्व के विषय राज्य के कार्यक्षेत्र में होंगे। उसे सेना और न्यायालयों की भी व्यवस्था करनी होगी। विभिन्न श्रेणियों के पारस्परिक विवादों को निपटाने के लिए राज्य अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करेगा।

प्रोफेसर हाब्सन के विपरीत प्रोफेसर जी0 डी0 एच0 कोल राज्य को शोषण का एक यंत्र मानते हैं। वह राज्य की प्रभुसम्पन्नता को स्वीकार नहीं करते। समाज के दूसरे समुदायों की भाँति वह राज्य को भी एक समुदाय से ज्यादा महत्व नहीं देते। कोल राज्य को उत्पादन के साधनों को नियंत्रित करने की शक्ति देने के पक्ष में नहीं हैं और न ही श्रेणियों के पारस्परिक झगड़ों को हल करने का कार्य उसे देना चाहते हैं। कोल का कहना है कि यदि राज्य को रखना ही है तो वह उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि के रूप में कार्य कर सकता है। इस स्थिति में राज्य का कार्य देश की सुरक्षा, अपराधों की रोक-थाम, दण्ड-व्यवस्था, शिक्षा विवाह तथा तलाक आदि,

सामान्य हितों के विषयों तक ही सीमित होंगे। कोल की हार्दिक इच्छा यही है कि राज्य विलीन हो जाए। राज्य का अन्त करके कोल एक नई संस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसे उन्होंने कम्यून (Commune) का नाम दिया है। राज्य की बहुत सी शक्तियाँ इस नई संस्था को प्रदान की जाएँगी।

4. व्यावसायिक प्रजातंत्र का समर्थन

श्रेणी समाजवाद वर्तमान जनतंत्रीय देशों में प्रचलित भू-भागीय प्रतिनिधि प्रणाली (Territorial Representation) को संतोषजनक नहीं मानता। इसके स्थान पर वह व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रणाली को अपनाना चाहता है। श्रेणी समाजवादियों का तर्क है कि वर्तमान जनतंत्र में चुनाव-क्षेत्रों का निर्माण भू-भागीय (Territorial basis) आधार पर होता है। एक चुनाव क्षेत्र में विभिन्न व्यवसाय में लगे हुए लोग रहते हैं जिनके हित भिन्न-भिन्न होते हैं। इस स्थिति में कोई एक व्यक्ति एक निर्वाचन क्षेत्र में रहने वाले विभिन्न व्यवसायियों के हितों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। एक व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों की समस्याओं को वही व्यक्ति ठीक ढंग से समझ सकता है जो स्वयं उसी व्यवसाय में लगा हुआ है। एक खिलाड़ी ही खिलाड़ियों का सही अर्थों में प्रतिनिधित्व कर सकता है। अतः प्रतिनिधित्व का आधार व्यावसायिक होना चाहिए, क्षेत्रीय नहीं। हर बड़े व्यवसाय का प्रतिनिधित्व स्वयं उस व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों के द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रणाली को अपनाने से ही विधानमण्डल विभिन्न हितों का वास्तविक दर्पण बन सकेगा।

5. उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के बीच सामंजस्य :-

श्रमिक संघवाद समस्त आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियाँ श्रमिक संघों को सौंप देता है और उपभोक्ताओं की उपेक्षा करता है। श्रेणी समाजवाद में जहाँ एक ओर स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक विभिन्न उद्योगों और व्यवसायों की श्रेणियाँ होंगी वहीं दूसरी ओर इन श्रेणियों के समानान्तर उपभोक्ताओं की परिषदें भी होंगी जो निर्वाचित संस्थाएँ होगीं। उत्पादक श्रेणियाँ उपभोक्ता परिषदों के परामर्श से उनकी आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करेंगी तथा वस्तुओं के मूल-निर्धारण, उनके वितरण तथा आयात निर्यात जैसे महत्वपूर्ण विषयों में निर्णय उत्पादक परिषदों के परामर्श से लिया जायेगा। इस व्यवस्था का उद्देश्य यह है कि उत्पादक श्रेणियाँ मनमाने ढंग से आम जनता के हितों की उपेक्षा करके कार्य न करें।

6. प्रजातंत्र का विरोध :-

जी0 डी0 एच0 कोल का कहना है कि वर्तमान जनतंत्रीय व्यवस्था में तीन मुख्य दोष हैं। प्रथम, इसमें नागरिकों को अपने आप शासन करने का अधिकार नहीं दिया जाता, वे केवल अपने शासकों को चुनने का अधिकार रखते हैं। द्वितीय, यह अधिकार उन्हें केवल राजनैतिक क्षेत्र में दिया जाता है। अन्य क्षेत्रों, जैसे आर्थिक तथा औद्योगिक क्षेत्रों, में नहीं। फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में बहुत ज्यादा असमानता पाई जाती है जो स्वस्थ जनतंत्रीय शासन के लिए अत्यधिक घातक है। तृतीय, शासकों के चुनाव के लिए क्षेत्रीय या भौगोलिक आधार पर चुनाव क्षेत्र बनाए जाते हैं और एक व्यक्ति उस चुनाव - क्षेत्र के सभी वर्गों का प्रतिनिधि माना जाता है, जो

हास्यास्पद है। समाज बहुलवादी है अतः किसी एक व्यवसाय में लगा व्यक्ति अन्य सभी व्यवसाय में लगे व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। अतः जो भी प्रतिनिधि चुना जाता है वह वास्तव में उस क्षेत्र में रहने वालों का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करता। वास्तविक प्रतिनिधित्व व्यावसायिक आधार पर चुनाव-क्षेत्रों का निर्माण किए बिना संभव ही नहीं है।

श्रेणी समाजवाद लोकतंत्र को एक मिथक मानता है। उसका कहना है कि लोकतंत्रात्मक सरकार का गठन चुनाव के द्वारा किया जाता है जो कभी निष्पक्ष नहीं होते। वास्तविकता यह है कि पूरी चुनावी-प्रक्रिया को पूँजीपति नियंत्रित करते हैं। वे अपने धन के जोर पर उचित अनुचित साधनों को अपना कर ज्यादा से ज्यादा संख्या में अपने आदमियों को चुनाव में सफलता दिला सकते हैं। श्रमिकों को उनकी संख्या के अनुपात में न तो प्रतिनिधित्व मिलता है और न ही वे अपने मताधिकार का प्रयोग करने के प्रति बहुत दिलचस्पी ही लेते हैं। सच तो यह है कि चुनाव के दिन के बाद से अगले पाँच वर्षों तक मतदाताओं और उनके तथाकथित प्रतिनिधियों के बीच कोई सम्पर्क नहीं रहता। अतएव वर्तमान जनतंत्रीय व्यवस्था जनसाधारण का नहीं, कुछ प्रभावशाली वर्गों का प्रतिनिधित्व करती है। इसके स्थान पर औद्योगिक जनतंत्र की स्थापना की जानी चाहिए।

7. वेतन या मज़दूरी (Wage System) व्यवस्था का विरोध :-

अराजकतावादियों की तरह ही श्रेणाी समाजवादी मज़दूरी व्यवस्था (Wage System) का विरोध करते हैं। उनके अनुसार मजदूरी व्यवस्था दासता है जिसे वे पूँजीवादी व्यवस्था की देन मानते हैं। श्रेणी समाजवादियों का कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था में समाज का अधिकांश भाग स्वतंत्र न होकर दास होता है। वह एक मजदूरी-दास (Wage Slave) होता है। कोल का कहना है कि इसमें श्रमिक को मनुष्य के बजाए एक वस्तु समझ कर उसका क्रय-विक्रय उसी प्रकार किया जाता है। जिस प्रकार, 'मक्खन' का। हाब्सन के अनुसार मजदूर की स्थिति 'खाद' जैसी है। पूँजीपति उसे खरीद कर उत्पादन के लिए इस्तेमान करता है। श्रम के बदले में उसे मजदूरी मिलती है और अगर वह बीमारी या अन्य किसी कारण काम करने के योग्य न रहे तो उसे उत्पादन से हुए लाभ में से कुछ भी नहीं मिलता और वह भूखों मर जाता है। अतः श्रेणी समाजवाद का कहना है कि पारश्रमिक व्यवस्था का अन्त कर देना चाहिए। एक उद्योग में उत्पादन से जो भी लाभ हो उसे उत्पादन कार्य में लगे हुए सभी लोगों में एक निश्चित अनुपात में बाँट देना चाहिए। यदि बीमारी या किसी दूसरे कारण से कोई श्रमिक कार्य करने के योग्य नहीं है तो भी मानव होने के नाते सामाजिक उत्पादन में उसे अवश्य भाग मिलना चाहिए।

14.4 श्रेणी समाजवाद के साधन

श्रमिक संघवाद के बिल्कुल विपरीत, श्रेणी समाजवादी अपेक्षित आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए हिंसात्मक पद्धति के बजाय शान्तिपूर्ण पद्धति में विश्वास करते हैं। वे सांविधानिक साधनों को अपना कर नवीन समाज को स्थापित करना चाहते हैं। श्रेणी समाज़वाद को विश्वास है कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था को शान्तिमय साधनों से समाप्त किया जा सकता है किंतु राज्य के वर्तमान स्वरूप को सांविधनिक साधनों से नहीं बदला जा सकता। इसका सबसे

बड़ा कारण यह है कि यदि राजनैतिक उपायों से श्रेणी समाजवाद की स्थापना का प्रयास किया जाएगा तो शासक वर्ग बलपूर्वक इस प्रयास को कुचल देगा और एक प्रतिरोधी-आन्दोलन प्रारम्भ हो जाएगा। इसलिए श्रेणी समाजवादी अपनी पसंद के समाज का निर्माण करने के लिए 'आर्थिक साधनों' का उपयोग करना चाहते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि श्रमिक अपनी शक्ति का ज्यादा से ज्यादा विस्तार करें और श्रेणियों के रूप में संगठित होकर आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में अपना वर्चस्व स्थापित करें।

श्रेणी समाजवाद निम्न साधनों के द्वारा आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन लाने की योजना प्रस्तुत करता है।

1. क्रमिक अधिकार स्थापित करने की नीति :-

क्रान्ति के बजाए श्रेणी समाजवादी धीरे-धीरे अतिक्रमणकारी नियंत्रण (Encroaching Control) की पद्धति को अपना कर परिवर्तन लाना चाहते हैं। उनका कहना है कि पूँजीपतियों से एक दम सत्ता छीनने की अपेक्षा उसे धीरे-धीरे छीनना ज्यादा अच्छा है। इसकी प्रक्रिया यह होगी कि पहले मजदूरों ओर मिल मालिकों की समितियों का निर्माण किया जाए जिसमें मजदूर अपनी माँगों को पूरा कराने के लिए मिल मालिकों को बाध्य करते रहें। मज़दूरें के निरन्तर दबाव के फलस्वरूप पूँजीपति धीरे-धीरे कमजोर होते जाएंगे। इस तरह धीरे-धीरे मिल मालिकों से उनके सारे अधिकार छीने जा सकते हैं।

14. सामूहिक ठेका :-

दूसरी पद्धति सामूहिक ठेकों की है। इसके अनुसार मज़दूर दैनिक मज़दूरी या वेतन लेने के बजाए मिल मालिकों से एक निश्चित काम का सामूहिक ठेका ले लेगें और उस काम को कम से कम समय में पूरा करके ज्यादा से ज्यादा धन अर्जित कर सकेंगे। यह ठेके व्यक्तिगत रूप से नहीं वरन् व्यावसायिक श्रेणियों के द्वारा लिए जाएंगें। इस पद्धति का लाभ यह होगा कि श्रमिक उद्योगपतियों के हस्तक्षेप के बगैर काम करेंगे और उत्पादन कार्य का संचालन पूरी तरह उनकी श्रेणियों के हाथ में रहेगा।

3. प्रचार तथा विज्ञापन :-

श्रेणी समाजवाद प्रचार तथा विज्ञापन में भी विश्वास करता है। इस से श्रेणी व्यवस्था को लोकप्रिय बनाने, पूँजीपतियों द्वारा किए जा रहे शोषण को उजागर करने तथा श्रमिकों को संगठित करने में सहायता मिलेगी।

अत्यधिक असाधारण परिस्थितियों में श्रेणी समाजवादी कतिपय क्रान्तिकारी साधनों को अपनाने की छूट देते हैं लेकिन मूल रूप से वे सांविधानिक तथा शान्तिमय तरीकों से मज़दूरों की आर्थिक स्थिति में सुधार लाना चाहते हैं तथा पूँजीपतियों के विरुद्ध शक्तिशाली जनमत उत्पन्न करके पूँजीवाद को विलीन कर देना चाहते हैं।

14.5 श्रेणी समाजवादी व्यवस्था का स्वरूप

श्रमिक संघवाद की तरह श्रेणी समाजवाद भी वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करके भावी समाज का संगठन श्रेणियों (श्रमिक संघ) के आधार पर करना चाहता है। उसका कहना है कि वर्तमान व्यवस्था में श्रमिकों का उत्पादन के संचालन तथा नियंत्रण में कोई भाग या अधिकार नहीं होता। वह अपना श्रम बेच देता है और उसका शरीर पूँजीपतियों का बंदी बन जाता है। उद्योग-संचालन में केवल उद्योगपतियों का स्वेच्छाचारी नियंत्रण होता है और वह हर संभव तरीके से श्रमिकों का शोषण करता है इस पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके श्रेणी समाजवाद 'उद्योगों में स्वाशासन' (Self-government in Industry) स्थापित करना चाहता है।

जी0 डी0 एच0 कोल के अनुसार श्रेणी समाजवाद की निम्नलिखित तीन मुख्य धारणाएँ हैं :

1- समाज को स्वेच्छा से बनाए गए संघों का संगठन होना चाहिये जिसका उद्देश्य जन-कल्याण होना चाहिए।

2- सामाजिक संगठन स्वयंशासित (Self-governing) तथा पूर्णतया जनवादी हो। जिसमें हर व्यक्ति को सक्रिय रूप से कार्य करने का अवसर मिलना चाहिए।

3- न केवल राजनैतिक व्यवस्था, बल्कि आर्थिक तथा औद्योगिक व्यवस्था भी वास्तविक अर्थों में जनवादी होना चाहिए।

श्रेणी समाजवाद वर्तमान पूँजीवाद व्यवस्था के दोषों को दूर करने और अन्ततः उसका उन्मूलन करने के लिए उद्योगों के संचालन और नियंत्रण का कार्य श्रमिकों को सौंप देना चाहता है। श्रमिक अपने को व्यवसाय के आधार पर निर्मित श्रेणियों में संगठित करके उत्पादन प्रणाली का स्वयं प्रबन्ध करेंगे। इस प्रकार श्रमिक स्वशासित होंगे। औद्योगिक श्रेणियों के अतिरिक्त समाज में नागरिक श्रेणियाँ होंगी जो सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों का प्रबन्ध करेंगी।

(i) श्रेणियों का संगठन

जैसा प्रारम्भ में बताया जा चुका है, "श्रेणी ऐसे व्यक्तियों का एक स्वःशासित संघ है जो कि समाज के किसी विशिष्ट कार्य को करने के लिए संगठित हुए हों और उसके लिए समाज के प्रति उत्तरदायी हों।" यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि श्रेणी और ट्रेड यूनियन में थोड़ा सा अन्तर है। एक श्रेणी में हाथ और दिमाग से काम करने वाले सभी व्यक्ति-श्रमिक, प्रबन्धक, क्लर्क, चपरासी आदि, इसके सदस्य होते हैं जबकि ट्रेड यूनियन में केवल शारीरिक श्रम करने वाले व्यक्ति ही सदस्य हो सकते हैं। हर श्रेणी स्वायत्त (Autonomous) तथा स्वःशासित्त होगी तथा इसका संगठन जनतांत्रिक आधार पर किया जाएगा। हर व्यवसाय का कार्य करने वालों की एक श्रेणी होगी, अतः समाज में असंख्य श्रेणियाँ होंगी। जी0 डी0 एच0 कोल ने चार प्रकार की श्रेणियाँ बताई हैं:, 1. आर्थिक श्रेणियाँ अर्थात् उत्पादकों के संगठन 14. उपभोक्ताओं के संगठन अर्थात् व्यक्तिगत तथा घरेलू उपभोग संबंधी सहकारी समितियाँ 3. नागरिक श्रेणियाँ अर्थात् समाज

सेवा संबंधी संगठन तथा 4. सांस्कृतिक और स्वास्थ्य संबंधी श्रेणियाँ। इन श्रेणियों के अतिरिक्त कृषि की व्यवस्था के लिए अलग श्रेणियाँ होंगी जो औद्योगिक श्रेणियों की अपेक्षा ज्यादा विकेन्द्रित होंगी।

श्रेणी समाजवादियों में इस बात पर मतैक्य नहीं है कि श्रेणियों का संगठन स्थानीय होना चाहिए या राष्ट्रीय स्तर पर हो। कुछ विचारक, जैसे पेण्टी, स्थानीय श्रेणियों के पक्ष में थे क्योंकि इसमें श्रमिकों को ज्यादा स्वतंत्रता प्राप्त होती है। यह उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन श्रेणियाँ भी स्थानीय होती थीं। विचारकों के दूसरे वर्ग का कहना है कि वर्तमान काल में उद्योगों का विस्तार पूरे देश तक हो चुका है अतः उद्योगों के अनुरूप श्रेणियों को भी राष्ट्रव्यापी होना चाहिए। जी0 डी0 एच0 कोल का कहना है कि श्रेणियाँ राष्ट्रीय, प्रादेशिक तथा स्थानीय आधार पर संगठित की जाना चाहिए। उद्योगों के आन्तरिक प्रबन्ध में राष्ट्रीय श्रेणी का प्रत्यक्ष नियंत्रण न होगा। राष्ट्रीय श्रेणी का कार्य स्थानीय श्रेणियों के बीच समन्वय स्थापित करना, कच्चा माल खरीदना, सामान्य नीति निर्धारित करना तथा अन्य राष्ट्रीय श्रेणियों से संबंध स्थापित करना होगा।

(ii) श्रेणियों के पदाधिकारी

श्रेणी समाजवाद का लक्ष्य औद्योगिक जनतंत्र (Industrial democracy) स्थापित करना है। इसलिए श्रेणियों का प्रशासन स्वयं उन्हीं के सदस्यों के द्वारा चलाया जाएगा। श्रेणी के नेताओं अथवा अधिकारियों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से श्रेणी के सदस्यों द्वारा किया जायेगा। प्रादेशिक तथा राष्ट्रीय श्रेणियों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होगा। प्रादेशिक श्रेणियों के सदस्यों का निर्वाचन प्रादेशिक वर्कशाप -श्रेणियाँ करेंगी और राष्ट्रीय श्रेणियों के सदस्यों का निर्वाचन प्रादेशिक श्रेणियाँ करेंगी।

(iii) वेतन व्यवस्था का अन्त

श्रेणी समाजवाद वर्तमान मज़दूरी व्यवस्था की कटु आलोचना करता है जिसमें मज़दूर को एक वस्तु की तरह खरीदा और बेचा जाता है। अतः श्रेणी समाजवाद पारिश्रमिक पद्धति के स्थान पर उत्पादन से होने वाले लाभ को उत्पादन-कार्य में योगदान देने वाले मज़दूरों तथा कर्मचारियों अर्थात् एक श्रेणी के समस्त सदस्यों में वितरित कर देना चाहता है। पूँजी लगाने के कारण इस लाभ में पूँजीपति भी एक अंशधारी होगा। लाभ-वितरण का क्या सिद्धान्त होगा इस विषय में श्रेणी समाजवादी एकमत नहीं है।

(iv) अन्तर्श्रेणीय संबंध

विभिन्न श्रेणियों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध होना आवश्यक है क्योंकि उनमें से बहुत सी श्रेणियाँ एक दूसरे पर निर्भर होती हैं। जैसे यातायात की श्रेणी का कोयला तथा लोहा उत्पादकों की श्रेणी से संबंध होना अपरिहार्य है। एक की सहायता के बगैर दूसरी श्रेणी अपने कार्यों का निवर्हन नहीं कर सकती। यह संबंध कई तरह से स्थापित किया जा सकता है जैसे एक श्रेणी की कार्यकारिणी में दूसरी श्रेणी के प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जाए।

(v) राज्य का स्वरूप

बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जिनका संबंध सम्पूर्ण समाज के हितों से होता है। उदाहरण के लिए विदेशी संबंध, मुद्रा-संचालन, सुरक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था, ऐसे विषय हैं जिनका संबंध किसी व्यवसाय या वर्ग-विशेष से न होकर पूरे समाज से है। हाब्सन इन कार्यों के संपादन का दायित्व राज्य को सौंपना चाहता है क्योंकि राज्य ही एक ऐसी संस्था है जो सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करती है, राज्य "संप्रभु" रहेगा किन्तु उसके बहुत से कार्य श्रेणियों को हस्तान्तरित कर दिए जाएंगे जिससे उसका कार्य-क्षेत्र सीमित हो जाएगा। यद्यपि श्रेणियों को अपने आन्तरिक मामलों में स्वायत्तता प्राप्त होगी किन्तु राज्य उन पर संप्रभु के रूप में कार्य करते हुए उनके बीच उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करेगा। उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व होगा, श्रेणियाँ केवल उनकी न्यासी (Trustees) होंगी। श्रेणियों पर कर लगाने, दीवानी और फौजदारी कानून बनाने; दण्ड व्यवस्था स्थापित करने, सेना की व्यवस्था करने तथा विदेशों से संबंध स्थापित करने के कार्य राज्य द्वारा किए जाएँगे, राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी आर्थिक संबंधों का नियन्त्रण करना होगा।

जी0 डी0 एच0 कोल ने राज्य को एक प्रभुसम्पन्न संस्था मानने से इन्कार किया। वह राज्य को अन्य समुदायों की तरह समुदाय मानता है। उसका कहना है कि जब राज्य भी अन्य समुदायों के समान एक समुदाय है तो फिर उसे विभिन्न व्यावसायिक समुदायों के कार्यों के बीच सामन्जस्य स्थापित करने का अधिकार कैसे दिया जा सकता है। कोल ने इस कार्य को राज्य को न देकर उसके स्थान पर 'कम्यून' नामक एक नई संस्था या प्रणाली का प्रतिपादन किया है।

कम्यून का संगठन स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय, तीनों स्तरों पर होगा। हर कम्यून में उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों ही के प्रतिनिधि होंगे। कम्यून के कार्यों को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है।

1. पूँजी की व्यवस्था करना तथा वस्तुओं के मूल्य और नागरिकों की आय को नियमित करना।

14. नीति संबंधी प्रश्नों पर विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं के बीच उत्पन्न विवादों का निर्णय करना।

3. विभिन्न व्यावसायिक संस्थाओं/सेवाओं के कार्य-क्षेत्र का विभाजन करना ।

4. विदेश संबंध, युद्ध तथा संधि घोषणा, सेना की व्यवस्था जैसे राष्ट्रीय महत्व के कार्यों को सम्पन्न करना जो श्रेणियों के कार्य क्षेत्र से बाहर हैं।

5. दण्ड व्यवस्था तथा पुलिस का प्रबन्ध करना।

कोल का दावा है कि राज्य के कार्यों को श्रेणियों और कम्यूनों को सौंप देने के बाद स्वतः राज्य का विलोपन हो जायेगा।

14.6 श्रेणी समाजवाद की आलोचना

श्रमिक संघवाद की तरह श्रेणी समाजवाद भी बहुत दिनों जीवित नहीं रह सका फिर भी उसने इंग्लैण्ड के आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन पर अपनी गहरी छाप छोड़ी। इसने बहुलवादी विचार-धारा को बहुत ज्यादा प्रभावित किया। वर्तमान मशीनी युग में कला का किस तरह पतन हो रहा है इस ओर भी श्रेणी समाजवाद ने विश्व को आकृष्ट किया। श्रेणी समाजवाद में इन गुणों के होते हुए भी उसकी कटु आलोचना की गई है जिसका वर्णन संक्षेप में नीचे किया जा रहा है-

1. विचारधारा की अस्पष्टता

श्रेणी समाजवाद के प्रवर्तकों के बीच समाजवादी योजना के कुछ मूल बिन्दुओं पर मतभेद है जिसके कारण श्रेणी समाजवादी व्यवस्था का चित्र बहुत स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। उदाहरण के लिए पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने के साधन; श्रेणियों के संगठन का स्वरूप, राज्य की स्थिति और विभिन्न श्रेणियों के बीच शक्तियों का वितरण और उनके बीच समन्वय इत्यादि। इन विषयों में इतना मतभेद है कि यह समझ में नहीं आता कि श्रेणी व्यवस्था को अपनाने के लिए किस रास्ते पर जाना होगा।

श्रेणी समाजवाद वर्तमान औद्योगिक तथा व्यावसायिक संस्थापनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करके उनका संचालन और नियंत्रण श्रेणियों के हाथों में हस्तान्तरित करना चाहता है, लेकिन इन उद्योगों को किस तरह पूँजीपतियों के स्वामित्व से निकाला जाएगा इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करने के लिए श्रेणी समाजवाद मुख्य रूप से क्रमिक अधिक्रमणकारी नीति को अपनाने का सुझाव देता है। उसका विश्वास है कि श्रमिकों के निरन्तर दबाव के कारण पूँजीपति उत्पादन के साधनों पर से अपने स्वामित्व का त्याग कर देंगे। यह एक काल्पनिक धारणा प्रतीत होती है। इतिहास में बिरले ही कोई ऐसा उदाहरण मिलेगा जब किसी वर्ग ने अपनी आर्थिक या राजनीतिक सत्ता को खुशी-खुशी त्याग दिया हो। अगर यह मान भी लिया जाए कि धीरे-धीरे पूँजीपति अपने स्वामित्व का त्याग कर देंगे तो भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि इसमें कितना समय लगेगा। श्रेणी समाजवाद यह स्पष्ट रूप से नहीं बताता कि यदि क्रमिक अधिक्रमण की साधन असफल हो जाएँ तो फिर कैसे पूँजीवाद का अन्त करके श्रेणी-व्यवस्था को स्थापित किया जाएगा। कुछ श्रेणीवादी विशेष परिस्थितियों में हिंसात्मक साधनों का प्रयोग करने की अनुमति देते हैं लेकिन उसका स्वरूप और सीमा क्या होगी, यह स्पष्ट नहीं है।

14. श्रेणी-व्यवस्था की अव्यावहारिकता

श्रेणी समाजवाद का कहना है कि समाज में उतनी श्रेणीयाँ होंगी जितने व्यवसाय अथवा कार्य होंगे। यह स्वाभाविक हैं कि सामाजिक परिवर्तनों और वैज्ञानिक विकास के फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र निरन्तर विस्तृत होता रहेगा और नए-नए व्यवसायों का जन्म होता जाएगा। परिणामस्वरूप श्रेणियों की संख्या निरन्तर बढ़ती रहेगी। श्रेणियों की जितनी संख्या बढ़ती जायेगी उनके संगठन

और उनके पारस्परिक संबंधों की समस्या उतनी ही गंभीर होती जाएगी। इस प्रकार श्रेणी समाजवाद द्वारा प्रस्तावित आर्थिक तथा सामाजिक योजना अव्यावहारिक दिखाई देती है। लेडलर (Laidler) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के वर्तमान युग में मध्यकालीन यूरोप की श्रेणी व्यवस्था को लागू करना असंभव प्रतीत होता है।

3. साधनों की अनुपयुक्तता

श्रेणी समाजवाद पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करने के लिए जो उपाय बताता है वे बहुत प्रभावी न होंगे। श्रेणी समाजवादी शान्तिपूर्ण तरीकों से पूँजीवाद को इस तरह कमजोर कर देने का दावा करते हैं कि पूँजीपति स्वयं ही अपने औद्योगिक संस्थानों को श्रमिकों को समर्पित कर देंगे। वे क्रान्ति तथा हिंसा के रास्ते को अपनाना नहीं चाहते। आलोचकों का कहना है कि पूँजीवादी की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उसको शान्तिमय तरीकों से समाप्त करना संभव न होगा।

4. राज्य की भ्रमात्मक स्थिति

श्रेणी समाजवादियों में इस बात पर भी विरोध है कि भावी समाज में राज्य की क्या स्थिति होगी। हाब्सन राज्य को एक प्रभुसम्पन्न संस्था के रूप में स्वीकार करता है और उसे बनाए रखना चाहता है। यदि राज्य प्रभुसम्पन्न है तो श्रेणियाँ पूर्णतया स्वशासित और स्वतंत्र रूप से कैसे कार्य कर सकेंगी।

कोल राज्य को अन्य समुदायों की तरह ही एक समुदाय मानता है और उसकी प्रभुसम्पन्नता का खण्डन करता है। प्रश्न यह है कि राज्य नामक समुदाय को अन्य समुदायों के मुकाबले में सर्वोच्च और प्रभुसम्पन्न स्थिति न दी जाएगी तो वह अन्य समुदायों के बीच समन्वय कैसे स्थापित कर सकेगा।

5. आर्थिक तथा राजनैतिक व्यवस्थाओं का पृथक्कीकरण अवांछनीय

श्रेणी समाजवादी आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नों या मुद्दों को एक दूसरे से पृथक समझते हैं, जो गलत है। व्यावहारिक जीवन में आर्थिक प्रश्नों को राजनैतिक प्रश्नों से अलग नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिए खाद्य समस्या एक आर्थिक प्रश्न भी है और एक राजनैतिक प्रश्न भी; इसका प्रभाव राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन दोनों ही पर पड़ता है। इसी प्रकार आर्थिक असमानता राजनैतिक क्रान्ति को जन्म दे सकती है। इस प्रकार से आर्थिक और राजनैतिक कार्यों का वर्गीकरण अव्यावहारिक और समाज की प्रगति के लिए हानिकारक है। श्रेणी समाजवाद के अनुसार औद्योगिक तथा व्यावसायिक श्रेणियाँ राजनैतिक नियंत्रण से मुक्त स्वायत्तशासी संस्थाएँ होंगी जिन पर राजनैतिक नियंत्रण न होगा। लेकिन आर्थिक कार्य केवल उत्पादन या वितरण तक सीमित नहीं होते। विनिमय, वितरण, मशीनों की व्यवस्था, कच्चे माल का आयात-निर्यात, विदेशों से व्यापार यह सारे कार्य श्रेणियाँ नहीं कर सकतीं, इसके लिए राजनैतिक व्यवस्था की सहायता लेनी पड़ेगी। अतः आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं में पृथक्कीकरण संभव नहीं है।

6. काल्पनिक विचारधारा

श्रेणी समाजवाद के अधिकांश विचारक इंग्लैण्ड के बुद्धिजीवी वर्ग के सदस्य थे। अतः श्रमिकों की वास्तविक समस्याओं का उन्हें बहुत अधिक ज्ञान नहीं था। यही कारण है कि तत्कालीन

आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं के समाधान के लिए उन्होनें जो योजना प्रस्तुत की वह अत्यधिक काल्पनिक तथा आदर्शात्मक प्रतीत होती है। उद्योगों में स्वायत्त शासन की स्थापना, विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली श्रेणियों का स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक संगठन और उनके बीच सामंजस्य स्थापित करना, शान्तिपूर्ण साधनों से पूँजीवाद का अन्त करना तथा राज्य के स्वतः विलीनीकरण की आशा, यह सब काल्पनिक बातें मालूम होती हैं और इन्हें व्यावहारिक रूप देना संभव न होगा।

7. व्यावसायिक लोकतंत्र के दुष्परिणाम

कुछ आलोचकों का यह कहना है कि व्यावसायिक आधार पर असंख्य श्रेणियों का निर्माण, जिसे श्रेणी समाजवादी व्यावसायिक लोकतंत्र का नाम देते हैं, करने से समाज बहुत से वर्गों में विभाजित हो जाएगा और उन वर्गों के बीच तरह-तरह के टकराव उत्पन्न होंगे जो राष्ट्रीय एकता के लिए घातक होगा। प्रोफेस एस0 मीन के शब्दों में ''व्यवसायिक लोकतंत्र एक असत्य धारणा तथा मिथ्यापूर्ण कल्पना है। यह समाज की एकता को उचित महत्व नहीं देती तथा राष्ट्रीय सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

श्रेणी समाजवाद वर्तमान लोकतांत्रिक व्यवस्था का, अन्य कारणों के अतिरिक्त, इस आधार पर विरोध करता है कि इसमें चुनाव-क्षेत्रों का निर्माण भौगोलिक आधार पर किया जाता है जबकि सत्य यह है कि एक व्यक्ति समस्त व्यावसायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। अतः श्रेणी समाजवाद व्यावसायिक प्रतिनिधि प्रणाली को अपनाने का आग्रह करता है। लेकिन मूल प्रश्न यह है कि यदि विधानमण्डल का चुनाव व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार किया जाय तो इस पर सदैव विवाद रहेगा कि किस व्यवसाय को कितना प्रतिनिधित्व दिया जाए। दूसरी ओर संसद व्यावसायिक या वर्गीय हितों का समाधान करने में उलझ जाएगी और राष्ट्रीय हित पीछे रह जाएँगे।

8. श्रेणियों पर उत्पादकों का निरंकुश नियंत्रण-

श्रेणी समाजवादी योजना के अनुसार प्रत्येक श्रेणी अपने व्यवसाय के आन्तरिक मामलों में स्वायत्तशासी होगी। राज्य तथा उपभोक्ताओं को उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार न होगा। उत्पादन के क्षेत्र मे श्रेणियों का इस प्रकार एकाधिकार स्थापित करने से राष्ट्र दिवालियापन की ओर जा सकता है। कारण यह है कि वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण श्रेणियों के द्वारा किया जाएगा। यह हो सकता है कि श्रेणियाँ वस्तुओं का मूल्य इतना ज्यादा बढ़ा दें कि उपभोक्ता उन्हें खरीद ही न सकें। प्रतियोगिता के न होने के कारण श्रेणियाँ वस्तुओं की क्वालिटी भी घटा सकती हैं, किन्तु उपभोक्ताओं को मजबूर हो कर अच्छे मूल्य पर खराब चीजें खरीदना पड़ेगी। इस स्थिति में वस्तुओं की माँग स्वाभाविक रूप से कम हो जाएगी और वस्तु का उत्पादन घटता जाएगा। फलस्वरूप देश की आर्थिक स्थिति पर इस का बुरा प्रभाव पड़ेगा।

14.7 सारांश

पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए 20वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में श्रेणी

समाजवाद का उदय हुआ। इस विचारधारा के मूल प्रवर्तकों में ए0 जे0 पेण्टी, ए0 आर0 ओरेज, एस0 जी0 हाब्सन तथा जी0 डी0 एच0 कोल के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्रेणी समाजवादी का उद्देश्य औद्योगिक प्रजातंत्र को स्थापित करना है। वह उत्पादन के साधनों पर से व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त करके समस्त उत्पादन-कार्य का संचालन श्रेणियों को सौंप देना चाहता है। वह उद्योगों में स्वायत्त शासन स्थापित करना चाहता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वह मध्यकालीन यूरोप की श्रेणी व्यवस्था को पुर्नस्थापित करने की योजना प्रस्तुत करता है। एक कारखाने में मानसिक और शारीरिक कार्य करने वाले सभी व्यक्ति एक श्रेणी में संगठित होंगे, जबकि श्रमिक संघों में केवल मजदूर ही सदस्य होते हैं, अन्य कर्मचारी नहीं।

साम्यवाद की तरह श्रेणी समाजवाद का उद्देश्य भी पूँजीवाद को नष्ट कर देना है, किन्तु ऐसा करने के लिए वह हिंसा या क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण तरीकों को अपनाने के पक्ष में है। पूंजीवाद को कमजोर करने के लिए क्रमिक अतिक्रमण की नीति और सामूहिक ठेका जैसी पद्धतियों को अपनाना होगा। संक्षेप में श्रेणी समाजवादी धीरे-धीरे पूँजीवाद का विनाश करना चाहते हैं।

राज्य के प्रति श्रेणी समाजवादियों के दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है। हाब्सन तथा कुछ अन्य विचारक राज्य को प्रभुत्वसम्पन्न संस्था का दर्जा देते हैं जबकि विचारकों का दूसरा समूह, जिसके प्रमुख जी0 डी0 एच0 कोल हैं, राज्य को अन्य समुदायों के समान ही मानते हैं। लेकिन वे इस बात पर एकमत हैं कि राज्य का अन्त न किया जाना चाहिए अपितु उसके कार्यक्षेत्र को सीमित कर देना चाहिए। उसे विदेश संबंध, सुरक्षा, मुद्रा, शिक्षा आदि जैसे सामान्य हित के कार्यों तक सीमित रखना चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में श्रेणियों को स्वायत्त इकाईयों के रूप में कार्य करना चाहिए।

उत्पादन के क्षेत्र में श्रेणी समाजवाद वर्तमान मज़दूरी व्यवस्था को समाप्त करके उत्पादन में हुए लाभ को उत्पादन कार्य में लगे सभी व्यक्तियों के बीच वितरित कर देने की पद्धति को स्थापित करता है। पूँजी लगाने के कारण इसमें पूँजीपति का भी हिस्सा होगा; इस प्रकार पूँजी का किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष में संचय न होने पाएगा और पूँजीपति अपनी मौत खुद ही मर जाएगा।

श्रेणी समाजवाद जनतंत्रीय व्यवस्था का पक्षधर है लेकिन वह भू-भागीय प्रतिनिधित्व के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का समर्थन करता है।

स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक विभिन्न व्यवसायों की अपनी-अपनी श्रेणियाँ होंगी जो उत्पादन का कार्य करेंगी। इन्हीं के समानान्तर उपभोक्ताओं की भी परिषदें होंगी जो वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण, आयात-निर्यात आदि जैसे महत्वपूर्ण मामलों में श्रेणियों को परामर्श देंगी। इस प्रकार श्रेणी समाजवाद उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। कोल राज्य के स्थान पर कम्यून (Commune) नामक संस्था को स्थापित करना चाहते हैं वर्तमान राज्य के द्वारा किए जाने वाले अनेक कार्यों का संपादन कम्यूनों के द्वारा किया जाएगा।

श्रेणी समाजवाद में अनेक गुण होते हुए भी इसकी कटु आलोचना की गई है। आलोचकों का कहना है कि यह अस्पष्ट विचारधारा है और इसको व्यावहारिक रूप देना संभव न होगा। श्रेणी समाजवाद की यह धारणा कि पूँजीवाद का अन्त क्रमिक अधिक्रमणकारी नीति के द्वारा किया जा सकेगा, काल्पनिक प्रतीत होती है। पूँजीपति हँसी-खुशी मजदूरों के समक्ष समर्पण कर देंगे यह संभव नहीं होगा। श्रेणी समाजवादी राज्य की स्थिति, उसके कार्य-क्षेत्र तथा श्रेणियों से उसके सम्बन्ध आदि के विषय में भी एकमत नहीं है। श्रेणी समाजवादियों का कहना है कि प्रत्येक व्यवसाय की स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तर पर अपनी-अपनी श्रेणियाँ होंगी जो उत्पादन का संचालन और नियंत्रण करेंगी। राज्य जैसे किसी प्रभुसम्पन्न संगठन के अभाव में हजारों की संख्या में गठित इन श्रेणियों के बीच सहयोग और समन्वय स्थापित करना अत्यधिक कठिन कार्य होगा।

14.8 संदर्भ ग्रन्थ / उपयोगी पुस्तकें

1. कोकर ई0 डब्लू0 — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन

14. प्रभुदत्त शर्मा — राजनीतिक विचारकों का इतिहास

14.9 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न

1. श्रेणी समाजवाद के आधारभूत सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

14. राज्य और लोकतंत्रतात्मक शासन व्यवस्था के विषय में श्रेणी समाजवाद के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।

3. श्रेणी समाजवाद द्वारा प्रस्तुत किए गए भावी समाज का चित्रण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. श्रेणी समाजवाद पूँजीवाद का किस तरह अन्त करना चाहता है।

14. राज्य के प्रति श्रेणी समाजवाद का क्या दृष्टिकोण है?

3. मज़दूरी-व्यवस्था के स्थान पर श्रेणी समाजवाद क्या विकल्प बताता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न -

प्र01 श्रेणी समाजवाद का प्रादुर्भाव किस देश में हुआ ?

(अ) इंग्लैण्ड

(ब) अमेरिका

(स) फ्राँस

(द) रूस

प्र02 श्रेणी समाज का लक्ष्य किस / किन को समाप्त करना है ?

(अ) पूँजीवाद

(ब) वेतन व्यवस्था

(स) भौगोलिक प्रतिनिधित्व

(द) उपर्युक्त सभी का

प्र03 श्रेणी समाजवाद उत्पादन के साधनों पर किसका स्वामित्व स्थापित करना चाहता है?

(अ) राज्य का

(ब) श्रमिक संघों का

(स) उत्पादकों का

(द) उपर्युक्त में से किसी का नहीं

14.10 प्रश्नोत्तर

1- अ

2- द

3- स

इकाई 15 - श्रमिक संघवाद (SYNDICALISM)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 श्रमिक संघवाद का प्रादुर्भाव

15.3 श्रमिक संघवाद के मूल आधार

15.4 श्रमिक संघवाद के साधन

15.5 संघवादी समाज का स्वरूप

15.6 श्रमिक संघवाद की आलोचना

15.7 श्रमिक संघवाद में संशोधन

15.8 सारांश

15.9 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

15.10 संबंधित प्रश्न

15.11 प्रश्नोत्तर

15.0 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य फ्राँस में जन्मी क्रान्तिकारी समाजवाद की एक प्रशाखा श्रमिक संघवाद के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालना है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः

- श्रमिक संघवाद के उद्भव एवं विकास के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- श्रमिक संघवाद के मूल आधारों का विवेचन कर सकेंगे।
- श्रमिक संघवाद के साधनों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- संघवादी समाज के स्वरूप का परीक्षण कर सकेंगे।
- श्रमिक संघवाद की दुर्बलताओं का विवेचन और उसमें किए गए संशोधन को रेखांकित कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

श्रमिक संघवाद अंग्रेजी के 'Syndicalism' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जिसकी उत्पत्ति फ्रींसीसी शब्द 'सिण्डीकेट' से हुई है। सिण्डीकेट का अर्थ है 'श्रमिक संघ' अथवा 'लेबर यूनियन'। श्रमिक संघवाद एक श्रमिक आन्दोलन का प्रतिरूप है जो 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में फ्राँस में प्रारम्भ हुआ। यह एक नई क्रान्तिकारी विचारधारा थी जिसका उद्देश्य समस्त

उत्पादन के संचालन और नियंत्रण का कार्य श्रमिकों के हाथों में सौपना था। श्रमिक संघवाद व्यक्तिगत पूंजी और पूँजीवाद का विरोधी हैं; वह राज्य को शोषण का प्रबल यंत्र मानकर उसका अन्त कर देना चाहता है, वह जनतंत्र और संसदीय शासन व्यवस्था को पूंजीपतियों के हितों को बढ़ावा देने वाला साधन मानता है, वह उत्पत्ति के साधनों पर निजी स्वामित्व को समाप्त करके उसके स्थान पर सामुदायिक स्वामित्व को स्थापित करना चाहता है। पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त करने और श्रमिक-शासन स्थापित करने के लिए श्रमिक संघवादी सांविधानिक तरीकों को अपनाने के पक्ष में नहीं हैं। उनका विश्वास है कि पूँजीवाद और राज्य दोनों का विनाश केवल हिंसा और क्रान्ति के द्वारा हो सकता है। इस प्रकार श्रमिक संघवाद विकासवादी समाजवाद से बिल्कुल भिन्न और मार्क्सवादी तथा अराजकतावादी दर्शन के बहुत करीब है। सी0 ई0 एम0 जोड़ के अनुसार "संघवाद वह सामाजिक सिद्धान्त है जो श्रमिक संघों को नवीन समाज की आधारशिला और साथ ही साथ वह साधन भी मानता है जिसके द्वारा नए समाज की स्थापना की जाएंगी।" एक अन्य लेखक प्रोफेसर ग्रे का कहना है कि "श्रमिक संघवाद समाजवाद का वह रूप है जो कि क्रान्ति को वर्ग-संघर्ष का परिणाम मानता है, जो सिण्डीकेट अथवा श्रमिक संघों का यांत्रिक रूप में प्रयोग करके निश्चित ही राज्य की मशीन का अन्त कर देगा।"

15.2 श्रमिक संघवाद का प्रादुर्भाव

जैसा पहले बताया जा चुका है श्रमिक संघवाद का जन्म 19वीं शताब्दी के अन्त में फ्रांस में हुआ। वास्तव में यह फ्रांस में फैले हुए भ्रष्टाचार और श्रमिक-शोषण के खिलाफ एक क्रान्तिकारी आन्दोलन था जो फ्रांस की तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम था।

1789 में फ्रांस में हुई क्रान्ति के बाद निरंकुश राजतंत्र का तो अन्त हो गया किन्तु श्रमिकों की स्थिति में सुधार आने के बजाए उनकी दशा दिनों-दिन खराब होती गई। उन्हें न तो संघ बनाने की अनुमति थी और न ही सामूहिक सौदेबाजी करने की। मजदूरों द्वारा पूंजीपतियों के विरुद्ध चलाए गए हर आन्दोलन का दमन राज्य द्वारा किया गया। 1830, 1848 औ 1870 में श्रमिकों द्वारा जो क्रान्तियाँ हुई उन्हें हर बार राज्य द्वारा बलपूर्वक कुचल दिया गया। श्रमिकों ने अपने जिन नेताओं को चुनकर फ्रांस की संसद में भेजा उन्होंने भी श्रमिकों के साथ विश्वासघात किया और पूँजीपतियों से गठबंधन कर लिया। इससे राज्य और संसदीय शासन दोनों ही से मजदूरों की आस्था खत्म हो गई औ उन्हें यह विश्वास हो गया कि पूँजीपति ही नहीं राज्य भी उनका दुश्मन है। पूँजीपति उनका शोषण करता है और राज्य उनका साथ देकर मजदूरों का दमन करता है। इन निराशाजनक परिस्थितियों में श्रमिक संघवाद का उदय हुआ। मूलरूप से श्रमिक संघवाद एक क्रान्तिकारी आर्थिक आन्दोलन था। जिसका मुख्य उद्देश्य पूँजीवाद व्यवस्था का अन्त करना तथा आर्थिक शक्तियाँ श्रमिक संघों के हाथों में सौंपना था। इस आन्दोलन को दार्शनिक आधार कतिपय दार्शनिक नेताओं के विचारों से मिला। उदाहरण के लिए 1897 में एक दार्शनिक जार्ज सोरेल (George Sorel) ने अपने एक लेख में यह विचार प्रतिपादित किया कि वास्तविक समाजवाद की स्थापना तभी हो सकती है जब आर्थिक जीवन का संचालन और

नियंत्रण स्वतंत्र श्रमिक संघों के हाथों में दे दिया जाए। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि समाज का सर्वांगीण विकास और मजदूरों के हितों का संरक्षण राज्य द्वारा नियंत्रित और संचालित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में सम्भव नहीं है। कुछ अन्य फ्रांसीसीं दार्शनिकों और नेताओं जैसे पैलोतिए (Palloutier) एमीलि पोगेट (Emile Pouget), एमीलि पेटॉउ (Emile Patua), एडुअर्ड बर्थ (Eduard Berth) आदि ने भी यह दावा किया कि सही अर्थों में समाजवाद की स्थापना उसी समय हो सकती है जब संपूर्ण सत्ता श्रमिक संघों को हस्तान्तरित कर दी जाए।

1884 में फ्रांस में श्रमिकों को संघ बनाने की स्वतंन्त्रता प्रदान की गई और हड़ताल करने के अधिकार को कानूनी मान्यता दी गई। फलस्वरूप पूरे देश में बड़ी संख्या में श्रमिक संघों का निर्माण हुआ। 1886 में इन सभी श्रमिक संघों ने मिलकर एक राष्ट्रीय संघ की स्थापना की। देश के विभिन्न नगरों में बूर्स (Burse) नामक संगठन स्थापित किए गए जिनका मुख्य कार्य मजदूरों को काम दिलाना और उन्हें संघवादी-दर्शन का प्रशिक्षण देना था। बूर्स के इन स्थानीय संगठनों का एक राष्ट्रीय संगठन Federation De Bourses Du Travail De France के नाम से 1893 में अस्तित्व में आया। 1895 में श्रमिकों द्वारा एक और राष्ट्रीय संगठन Confederation General Du Travail (C.G.T.) की स्थापना की गई। इस केन्द्रीय संगठन ने फ्रांस में श्रमिक-आन्दोलन का नेतृत्व और पूंजीवाद तथा राज्य का उन्मूलन करने के लिए मजदूरों को भीषण क्रान्ति करने के लिए प्रोत्साहित किया। कुछ ही वर्षो बाद 1902 में उपर्युक्त दोनों राष्ट्रीय संगठन, (फैड्रेशन तथा सी0 जी0 टी0) एक हो गए और इस ने श्रमिक संघवाद आन्दोलन को तेजी से आगे बढ़ाया।

1905 में अमेरिका में भी विलियन हेवुड (Willian Haywood), ई0 वी0 डेव्स (E.V. Devs) तथा डेनियल डी लियोन (Daniel D. Leon) के प्रयत्नों से 'Industrial workers of the world (I.W.W.)' नामक संगठन की स्थापना की गई जिसका कार्यक्रम भी संघवादियों के समान था किन्तु वह फ्रांस के संघवादियों के मुकाबले में ज्यादा उग्रवादी नहीं था। अमेरिका में इस प्रकार के दो दर्जन से अधिक संगठनों का निर्माण किया गया। इंग्लैण्ड, इटली, स्पेन आदि देशों में संघवाद आन्दोलन बहुत सफल नहीं हो सका। इसे सबसे ज्यादा सफलता अपनी जन्म -भूमि, फ्राँस में ही मिली। श्रमिक संघवादियों ने दावा किया कि उनका आन्दोलन ही वास्तविक अर्थों में श्रमजीवी आन्दोलन है। इससे पहले जो भी श्रमिक आन्दोलन हुए वह उच्च तथा मध्यम वर्ग से संबंध रखने वाले दार्शनिकों के दिमाग की उपज थे। वह श्रमिकों की वास्तविक समस्याओं को समझ ही न सके।

15.3 श्रमिक संघवाद के मूल आधार

श्रमिक संघवाद का कोई क्रमबद्ध दर्शन नहीं है। वास्तव में संघवादी नेता सिद्धान्तों की अपेक्षा कार्यक्रम में अधिक विश्वास रखते थे। इसीलिए उन्होंने किसी सुव्यवस्थिति दर्शन के निर्माण पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया।

श्रमिक संघवाद को दार्शनिक आधार प्रदान करने वाले दार्शनिक-नेताओं में जॉर्ज सोरेल

(George Sorel), पैलोतिए (Palloutier), एमीलि पोगेट (Emile Pouget), एमीलि पेटॉड (Emile Patuad), लीओन जाक्स (Leon Jouhaux), ह्यूबर्ट लागर्डेल (Hubert Lagardelle) और एडुअर्ड बर्थ (Eduard Berth) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जार्ज सोरेल ने 1817 में अपने एक लेख में यह दावा किया कि "समाजवाद का सम्पूर्ण भविष्य श्रमिक संघों के स्वायत्त विकास पर अवलम्बित हैं।" इस मूल सूत्र का समर्थन उपर्युक्त विचारकों ने भी किया और उन्होंने श्रमिकों को यह संदेश दिया कि राज्य से किसी न्यायपूर्ण सुधार की आशा नहीं करनी चाहिए और सांविधानिक तरीकों से पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन नहीं किया जा सकता। अतः वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करने का एकमात्र साधन श्रमिक-क्रान्ति है।

समय-समय पर संघवादी विचारकों द्वारा जो लेख प्रसारित किए गए और संघवादी नेताओं ने जो कार्यक्रम अपनाया उन्हीं के आधार पर संघवाद की कुछ मूल विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

1. श्रमिकों का आधिपत्य

श्रमिक संघवाद मूल रूप से एक श्रमिक आन्दोलन है जिसका अन्तिम लक्ष्य राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों में मजदूरों का प्रभुत्व स्थापित करना और सम्पूर्ण सत्ता श्रमिकों के हाथों में सौंप देना है। वह पूँजीपतियों का विरोध करने के साथ ही मध्यम वर्ग का भी विरोध करता है। संघवादियों का कहना है कि मध्यमवर्ग और पूँजीपतियों के बीच घनिष्ठ संबंध होता है और मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों का नेतृत्व मजदूरों को पथ-भ्रष्ट कर सकता है। अतः संघवादी मध्यम वर्ग का भी अन्त करके उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का आधिपत्य कायम करना चाहते हैं। मज़दूरों के हाथ में व्यापार और व्यवसाय का संचालन देने के लिए यह आवश्यक है कि हर स्थान पर और हर कारखाने में सिण्डीकेटों (श्रमिकों संघों) का निर्माण किया जाए। प्रत्येक नगर के समस्त श्रमिक संघों का एक स्थानीय संगठन होना चाहिए जिसे फ्रेंच भाषा में बूर्स (Burse) कहा जाता है। बूर्स विभिन्न स्थानीय संघों के बीच सहयोग और समन्वय का कार्य करेगा।

2. वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज

साम्यवाद की तरह संघवादी भी राज्य को समाप्त कर देना चाहते हैं क्योंकि राज्य अमीरों की संस्था (Bourgei's institution) है जो पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना और मजदूरों के शोषण का एक प्रबल यंत्र है। उनका कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से भी राज्य ने सदैव धनिकों और शक्ति सम्पन्नों का साथ दिया है। राज्य मध्यम वर्गीय संस्था है जिसमें कुछ ही लोगों के हाथों में वास्तविक सत्ता होती है और वे उत्पादकों के हितों के प्रति उदासीन रहते हैं। राज्य अपने कार्यों का संपादन कर्मचारी तंत्र (Bureaucracy) के द्वारा करता है जिसकी आम जनता की मांगों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं होती। उनका व्यवहार उद्योगपतियों के प्रति मैत्रीपूर्ण रहता है। अतः राज्य श्रमिकों के हितों का शोषण करने वाली शक्तिशाली संस्था है जिसे समाप्त किए बगैर मजदूरों के हितों की रक्षा करना संभव नहीं है। श्रमिक संघवाद का कहना है कि यदि

उसके द्वारा बताए गए सिद्धान्तों के अनुसार समाज का संगठन हो जाए तो राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। फिर भी जब तक राज्य का अस्तित्व है उसकी सेवाओं से लाभ उठाने में कोई संकोच न करना चाहिए और मजदूरों के लिए हितकारी कानून बनवाने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रमिक संघवाद वर्ग संघर्ष में विश्वास करता है और यह कहता है कि पूँजीपतियों और राज्य के विरुद्ध संघर्ष जारी रहना चाहिए ताकि श्रमिक सक्रिय और सावधान रहें।

3. प्रतिनिधि शासन का विरोध-

श्रमिक संघवादी जनतंत्र और संसदीय शासन व्यवस्था दोनों ही में आस्था नहीं रखते। उनका कहना है कि संसदात्मक शासन प्रणाली एक धोखा है और इसमें श्रमिकों के हितों का संरक्षण नहीं हो सकता क्योंकि श्रमिकों के प्रतिनिधि भी चुनाव जीतने के बाद पूँजीपतियों के चंगुल में आकर कार्य करने लगते हैं। संघवादी संसद को षणयंत्रों का छविगृह मानते हैं। उनका विश्वास है कि जब तक पूँजीपतियों का विनाश नहीं होता तब तक मज़दूरों का विकास नहीं हो सकता। प्रजातंत्र कहने को जनता का शासन होता है लेकिन वास्तव में शासन सत्ता पूँजीपतियों के हाथ में होती है जो धन के बल पर मत खरीदते हैं और अपने आदमियों को चुनाव जिता कर संसद में भेजते हैं।

श्रमिकों संघवादियों का कहना है कि लोकतंत्रात्मक शासन में कानून बनाने का कार्य प्रायः अयोग्य लोगों के हाथों में होता है जो धन, बल और झूठे-सच्चे प्रचार के द्वारा चुनाव जीत कर संसद में पहुँच जाते हैं। उन्हें श्रमिकों की समस्याओं में कोई रुचि नहीं होती, वे जनसाधारण के हित को दृष्टि में रखकर कानून नहीं बनाते। संघवादियों का विश्वास है कि श्रमिकों का कल्याण तभी हो सकता है जब सम्पूर्ण आर्थिक जीवन के संचालन और नियंत्रण का कार्य श्रमिक संघों के पास हो और वही कानूनों का निर्माण भी करें।

राज्य और लोकतांत्रिक व्यवस्था का विरोधी होने के बावजूद श्रमिक संघवाद आराजकता की स्थापना नहीं करना चाहता। उसका कहना है कि श्रमिक संघों के शासन की स्थापना के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए श्रमिकों को राजनैतिक दलों और लोक-संस्थाओं में भाग लेने की छूट दी जा सकती है।

4. राजनैतिक दलों का विरोध-

जनतंत्र और संसदीय शासन व्यवस्था का विरोध करने के साथ ही संघवादी राजनैतिक दलों के भी घोर विरोधी हैं। वे राजनैतिक दलों को षड्यंत्र के साधन मानते हैं। एक ही राजनैतिक दल में पूँजीपति, मध्यम वर्ग, श्रमिक तथा समाज के हर वर्ग के सदस्य होते हैं जिनके हित श्रमिकों के हितों से मेल नहीं खाते। हितों के इस परस्पर टकराव के कारण राजनैतिक दल मजदूरों के हितों को सुरक्षित और विकसित करने के सक्षम नहीं होते। इसीलिए श्रमिक संघवादी राजनैतिक कार्यक्रम की अपेक्षा आर्थिक कार्यक्रम पर अधिक बल देते हैं। श्रमिक संघवाद रूसी व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करता क्योंकि वहाँ भी श्रमिकों के अधिनायकतंत्र के नाम पर साम्यवादी दल का अधिनायकतंत्र है और जनता वास्तविक अर्थों में राजनैतिक स्वतंत्रता से वंचित है।

5. युद्ध का विरोध-

श्रमिक संघवादी राज्य का विरोध करने के साथ ही युद्ध का भी विरोध करते हैं उनके अनुसार पूँजीपति ही युद्ध को जन्म देता है। पूँजीपतियों के हितों में परस्पर और निरन्तर टकराव रहता है। उनके अपने स्वार्थों में टकराव होने के कारण युद्ध होता है। संघवादियों का कहना है कि दुनिया के सारे मजदूरों के हित एक समान हैं और उनके बीच कोई टकराव नहीं है। यही कारण था कि प्रथम महायुद्ध के समय श्रमिक संघवादियों ने मजदूरों से युद्ध में भाग न लेने का निर्देश दिया था। साम्यवादियों की तरह श्रमिक संघवादी भी पूरी दुनिया को मजदूरों का घर मानते हैं। अतः उनका कहना है कि पूँजीपतियों के चक्कर में फँसकर श्रमिकों को अपने साथियों का खून नहीं बहाना चाहिए।

6. राष्ट्रवाद और देश-भक्ति में अविश्वास-

चूँकि श्रमिक संघवादी सम्पूर्ण विश्व को मजदूरों का घर मानते हैं अतः वह श्रमिकों की निष्ठा को किसी देश विशेष की भौगोलिक सीमाओं में बाँधने के पक्ष में नहीं है। उनका विश्वास है कि श्रमिकों का कोई देश अथवा राष्ट्र नहीं होता। संघवादी देश-भक्ति और देश-प्रेम जैसी अवधारणाओं का घोर विरोध करते हैं। वे देश-प्रेम की भावना को शोषण का सूत्र मामते हैं। उनका कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था में आरम्भ से ही बच्चों को देश-भक्ति और देश-प्रेम का पाठ पढ़ाया जाता है ताकि वे विश्व के दूसरे देशों से न जुड़ सकें। देश प्रेम और देश भक्ति जैसी भावनाओं के सहारे पूँजीपति अपने लाभ के लिए जनसाधारण को दूसरे देशों से युद्ध करने के लिए उकसाते हैं। इसीलिए संघवादी देश-भक्ति और राष्ट्र-प्रेम जैसे नारों को पूँजीवादी व्यवस्था के यंत्र मानते हैं और उनकी निंदा करते हैं।

7. वर्ग संघर्ष में विश्वास और मध्यम वर्ग का विरोध -

साम्यवादियों की तरह श्रमिक संघवादी भी वर्ग संघर्ष में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि समाज के दो वर्ग, पूँजीपति और श्रमिक, के हितों के बीच टकराव है जिसके कारण इन दोनों के बीच संघर्ष चलता रहता है जिसका अंत पूँजीवाद के अंत के बाद ही हो सकता है। पूँजीपति और श्रमिकों के इन दो वर्गों के अतिरिक्त समाज का तीसरा वर्ग मध्यम वर्ग कहलाता है। संघवादी दर्शन में समाज के मध्यमवर्ग के लिए कोई स्थान नहीं है। संघवादियों का कहना है कि मध्यम वर्ग के लोग मज़दूरों के शोषण करने में सदैव पूंजीपतियों के साथ रहते हैं। मध्यम वर्ग का पूँजीपतियों के साथ गठबंधन रहता है और उनसे मजदूरों के हित में कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती। श्रमिक संघवादी मध्यम वर्ग की तुलना दो मुँह वाले साँप से करते हैं जो हमेशा अपने स्वार्थ-पूर्ति के लिए कार्य करते हैं। कभी-कभी मध्यम वर्ग के कुछ लोग श्रमिक आन्दोलनों में भी भाग लेते हैं लेकिन इसका उद्देश्य श्रमिकों को सहयोग देना नहीं अपितु ख्याति प्राप्त करना होता है। अवसर आने पर वे पूँजीपतियों के साथ गठबंधन करने में संकोच नहीं करते। अतः मध्यम वर्ग के लोगो पर विश्वास नहीं किया जा सकता है।

8. उत्पादकों द्वारा नियंत्रण की व्यवस्था-

श्रमिक संघवादियों के अनुसार राज्य एक ऐसी संस्था है जिस पर सदैव पूँजीपतियों का

आधिपत्य होता है। इसलिए वे राज्य को समाप्त करके एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसमें सामाजिक व्यवस्था का नियंत्रण श्रमिक संघों के हाथ में हो। सामाजिक व्यवस्था पर उत्पादकों का नियंत्रण स्थापित हुए बिना मजदूरों को वास्तविक स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। meffaJeoe er JUaJenLee cevVcepeo ty meoepe keâe Jeenlefekeâ Meenekeâ neieeâ GheYeeeâDeeVkeâ Éeje Meeneve ßeefekeâ-efi leeVkeâ Øeefekeue neâee nwDeey Ùen hepeefeo keâsmeyeuelee Øeoeve keâj lee nW

9. सैन्यवाद का विरोध -

मजदूर का घर पूरा विश्व है, यह कहकर संघवाद अन्तर्राष्ट्रवाद का संदेश देता है। चूँकि संघवादी युद्ध का विरोध करते हैं इसलिए वे युद्ध करने के लिए रखी जाने वाली सेना को भी अनावश्यक समझते हैं। उनका कहना है कि राज्य अपनी सेना का प्रयोग केवल वाह्य देशें से युद्ध कने के लिए ही नहीं करता वरन् उसका प्रयोग श्रमिक आन्दोलनों को कुचलने के लिए भी किया जाता है। संघवादी राज्य को सैन्यवाद का प्रतीक समझते हैं किन्तु सैनिकों को वह श्रमिकों की श्रेणी में ही रखते है। केवल सेना की वर्दी पहन लेने से उनका वर्ग नहीं बदल जाता। इसीलिए वह सैनिकों से यह अपील करते हैं कि वे अपने मजदूर भाईयों पर गोली न चलाएँ।

10. हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन

पूँजीवाद के विनाश और श्रमिकों के शासन की स्थापना के लिए श्रमिक संघवाद हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन करता है। वह वर्ग-संघर्ष में विश्वास रखता है और यह चाहता है कि राज्य और पूँजीपतियों के खिलाफ निरन्तर संघर्ष चलते रहना चाहिए ताकि मजदूर अपने हितों के प्रति जागरूक और पूँजीवाद का अन्त करने के लिए सक्रिय रहें। जैसा पहले लिखा जा चुका है, संघवादी युद्ध का विरोध करते हैं क्योंकि इसमें अन्ततोगत्वा श्रमिकों का ही रक्तपात होता है।

उपर्युक्त वाद-विवाद से यह स्पष्ट हो जाता है श्रमिक संघवाद एक ऐसी विचारधारा है जो पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करके उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करने के बजाए श्रमिक संघों का नियंत्रण स्थापित करना चाहती है। संघवादी व्यवस्था में केवल उत्पादन का ही नहीं वरन् उपभोग और वितरण का नियंत्रण भी श्रमिक संघों के हाथों में होगा। संघवाद, समाज की अर्थ-व्यवस्था का संचालन पूर्ण रूप से श्रमिक संघों को देना चाहता है और उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का पूरी तरह से अन्त कर देना चाहता है। यही नहीं, संघवादी राज्य का भी विरोध करते हैं क्योंकि वह पूँजीवाद को मजबूती प्रदान करने वाला एक उपकरण है। लेकिन उनका यह भी कहना है कि जब तक राज्य का अस्तित्व है मजदूरों को भी अपने हित-सिद्धि के लिए उसे एक साधन की तरह इस्तेमाल करना चाहिए और यथासंभव उससे लाभ उठाना चाहिए।

15.4 श्रमिक संघवाद के साधन

उपर्युक्त लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए श्रमिक संघवादी प्रत्यक्ष कार्रवाई करने में विश्वास करते हैं। संवैधानिक तरीकों को अपनाने के बजाए, श्रमिक संघवाद हिंसात्मक तथा क्रान्तिकारी

पद्धति को अपनाने का आग्रह करते हैं। प्रत्यक्ष कार्रवाई का अर्थ स्पष्ट करते हुए लेवाइन ने लिखा है कि 'प्रत्यक्ष कार्रवाई वह कार्रवाई है जो श्रमिकों द्वारा बिना किसी मध्यस्थता के की जाती है, जिसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि सदैव ही उसकी आकृति हिंसात्मक हो। प्रत्यक्ष कार्रवाई अंतश्चेतना का प्रत्यक्षीकरण है और इच्छा का वाह्य रूप है। यह दबाव का वह रूप है जो प्रत्यक्ष रूप से उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाया जाता है।" उदाहरण के लिए यदि राजनैतिक दलों या विधायकों की सहायता के बगैर श्रमिक मिल मालिकों को किसी भी तरह मजदूरी बढ़ाने के लिए मजबूर कर दें तो यह प्रत्यक्ष कार्रवाई कहलाएगी।

प्रत्यक्ष कार्रवाई के अन्तर्गत, संघवादी निम्न प्रविधियों (Techniques) को सम्मिलित करते हैं :-

1. हड़ताल तथा आम हड़ताल -

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रमिक संघवाद हड़ताल को क्रान्ति की दिशा में पहला कदम मानते हैं। उनके अनुसार सेना में जो महत्व ड्रिल का है वही उपयोगिता प्रत्यक्ष कार्रवाई में हड़ताल की है। हड़ताल का उद्देश्य पूँजीपतियों को श्रमिकों की माँगों को स्वीकार करने के लिए मजबूर करना है। संघवादियों का कहना है कि हड़ताल असफल भी हो जाए तो भी उससे निराश न होना चाहिए क्योंकि इससे श्रमिकों की पारस्परिक एकता और अनुशासन में वृद्धि होती है। अतः जब भी और जहाँ भी संभव हो मजदूरों को पूँजीपतियों के खिलाफ हड़ताल करते रहना चाहिए। लेवाइन (Levine) का कहना है कि "हड़ताल श्रमिकों को संघर्ष में उनके मालिकों के सम्मुख प्रस्तुत कर देती है। हड़ताल दामिनी की एक चमक की भाँति गहन वैमनस्य को स्वच्छ कर देती है जो कि मालिकों तथा श्रमिकों के मध्य वर्तमान रहता है। इसके द्वारा मालिकों और श्रमिकों के बीच की खाई और भी अधिक गहरी हो जाती है। हड़ताल एक बड़े महत्व का क्रान्तिकारी तथ्य है।"

हड़ताल दो प्रकार की हो सकती है, एक विशिष्ट अथवा छोटी हड़ताल जो किसी एक कारखाने या स्थान पर होती है तथा दूसरी सामान्य हड़ताल जो देशव्यापी होती है। छोटी या विशिष्ट हड़तालों का क्षेत्र तथा उद्देश्य सीमित होता है। वास्तव में यह छोटी-छोटी हड़तालें बड़ी हड़ताल के लिए भूमि तैयार करती हैं। एलेक्जेंडर ग्रे का मत है कि "हड़ताल शिक्षाप्रद, अनुशासनप्रद तथा प्रतीकात्मक होती हैं ...... छोटी से छोटी हड़तालें यदि बार-बार की जाएं तो श्रमिकों में समाजवादी भावना को प्रबल करने, उनमें वीरता, त्याग तथा एकता की भावना को भरने तथा क्रान्ति की आशा को चिरस्थाई बनाए रखने में वे असफल नहीं हो सकतीं।"

आम हड़ताल अथवा देशव्यापी हड़ताल छोटी-छोटी हड़तालों की चरम सीमा होती है। संघवादियों के अनुसार छोटी-छोटी हड़तालें करते रहने से श्रमिकों की हिम्मत बढ़ती रहती हैं और उनमें एकता इतनी दृढ़ हो जाती है कि अन्त में वे देशव्यापी तथा विश्वव्यापी हड़ताल करने का साहस कर सकते हैं। आम हड़ताल के द्वारा पैदा किए गए दबाव के फलस्वरूप पूँजीपति और सरकार दोनों ही श्रमिकों के समक्ष आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य हो जाएँगे। आम हड़ताल के लिये यह आवश्यक नहीं है कि सारे मजदूर हड़ताल करें, श्रमिकों के बहुमत का भाग

लेना ही काफी है।

संघवादियों के अनुसार आम हड़ताल के सफल बनाने के लिए श्रमिकों को हर संभव उपाय अपनाना चाहिए। उन्हें हिंसात्मक तरीकों को अपनाने में भी संकोच न करना चाहिए। हड़ताल करने से पहले अथवा हड़ताल को दौरान उन्हें बाजारों को लूट लेना चाहिए। ताकि उनके पास खाने-पीने की चीजों की कमी न पड़े। उन्हें मशीनों को इस प्रकार तोड़-फोड़ देना चाहिए कि नए मजदूरों की मदद से भी पूँजीपति उत्पादन का कार्य न सक सकें। यदि सरकार श्रमिकों के रास्ते में कोई बाधा उत्पन्न करती हैं तो मजदूरों को उसका भी बलपूर्वक मुकाबला करना चाहिए। आम हड़ताल बड़े-बड़े और मुख्य उद्योगों में भी की जानी चाहिए इसके प्रभाव स्वरूप छोटे-छोटे उद्योग स्वतः ही बंद हो जाएंगे। सार्वजनिक हड़ताल के नाम से ही पूँजीपति आधा मर जाता है और हड़ताल सफ़ल होने पर वह पूरी तरह मर जाता है।

2. ध्वंस (Sabotage) अथवा गुप्त तोड़-फोड़ -

ध्वंस से उन सब कार्यों का बोध होता है जिनके द्वारा जान-बूझ कर श्रमिकों द्वारा पूँजीपतियों को भारी नुकसान पहुँचाया जा सकता है। ध्वंस कई प्रकार का हो सकता है। जैसे एक मजदूर किसी ग्राहक को यह भड़का सकता है कि जो चीज़ वह खरीदने जा रहा है वह अच्छे प्रकार की नहीं है।

मन्द गति से काम करके मजदूर उत्पादन को घटा सकता है, किसी वस्तु की क्वालिटी खराब कर सकता है जिसके कारण उसकी बाज़ार में माँग कम हो जाए। इन तरीकों से स्वाभाविक रूप से मालिक को भारी नुकसान पहुँचाया जा सकता है। ध्वंस के साधारण तरीकों के यह कुछ उदाहरण हैं जिनमें हिंसा की कोई भूमिका नहीं होती।

ध्वंस (Sabotage) का दूसरा रूप कुछ उग्र हो सकता है। जैसे मालिकों को नुकसान पहुँचाने की दृष्टि से मजदूर मशीनों को तोड़-फोड़ दें। किसी मशीन को बनाते समय जान-बूझ कर कोई ऐसी कमी छोड़ दें जिससे मशीन में कोई बड़ी खराबी आजाए या मशीन का कोई पेंच ढीला कर दें जिससे मशीन ही टूट जाए और उसके बनवाने में मालिक को भारी रकम खर्च करना पड़े। इसी प्रकार वस्तुओं को बनाते समय उसमें कोई ऐसी गुणात्भक कमी कर दें जिससे बाजार में उस वस्तु की माँग ही कम हो जाए और माल न बिकने के कारण मालिक को भारी नुकसान हो जाए। बाहर भेजे जाने वाले माल पर गलत पता लिख दिया जाए जिससे माल सही स्थान और सही समय पर न पहुँच सके। एक लेखक कोकर का कहना है कि "तोड़-फोड़ का मुख्य उद्देश्य मालिकों के व्यापार तथा सम्पत्ति को विकृत करके व्यर्थ बना देना है। पूँजीपतियों के खिलाफ संघर्ष में ध्वंस का वही महत्व है जो सैनिक युद्ध में छापामार (Gaurilla Warfare) का होता है। इसके द्वारा मज़दूर खामोशी के साथ अपने मालिकों को भारी आर्थिक हानि पहुँचाता रहता है।

3. बहिष्कार (Boycott)

बहिष्कार (Boycott) का अर्थ किसी वस्तु को न खरीदने या न प्रयोग करने का निश्चय या संकल्प लेना है। ऐसा करने से उस वस्त की बाज़ार में माँग खत्म हो जाएगी और

मिल मालिक को नुकसान पहुँचेगा। हमें यह स्मरण होगा कि स्वतंत्रता आन्दोलन के क्रम में गाँधी जी ने भी विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने का नारा दिया था।

4. लेबिल (Label)

लेबिल (Label) की पद्धति के द्वारा भी मज़दूर पूँजीपतियों को नुकसान पहुँचा सकते हैं। वे उपभोक्ताओं से यह अनुरोध कर सकते हैं कि वे उन्हीं चीजों को खरीदें जिनको मजदूरों द्वारा संचालित अथवा नियंत्रित कारखानों में बनाया गया हो और जिन पर पहचान रूप में कोई विशेष छाप अथवा लेबिल लगा हुआ हो। इस प्रकार यदि लोग उन चीजों को नहीं खरीदते हैं जिन पर लेबिल नहीं लगा है तो स्वाभाविक रूप से मिल मालिकों को भारी नुकसान पहुँचेगा।

5. कैकनी नीति (Cacany policy)

यह तोड़-तोड़ का एक नया तरीका है जो इस सिद्धान्त पर आधारित है कि जैसा दाम वैसा काम। अगर मिल मालिक कम मजदूरी देता है तो मजदूर भी अच्छा काम नहीं करेगा। कैकनी नीति का साधारण अर्थ कामचोरी या मन्द गति से काम करने की नीति है। मजदूर लापरवाही से काम करके अपने मालिक को नुकसान पहुँचा सकता है। उदाहरण के लिए किसी किताब की दुकान पर काम करने वाला व्यक्ति किताबों को इस तरह इधर-उधर कर दे कि ग्राहक के माँगने पर वह मिल ही न पाए। कम मजदूरी पर काम करने वाला मिस्त्री (Mason) दीवार की चुनाई इस तरह करे कि उसमें आवश्यकतानुसार सीमेंट ही न लगाए और इस प्रकार की दीवार को कमजोर छोड़ दे। रेल का ड्राइवर जान-बूझकर इंजन का कोई पुंर्जा खराब कर दे जिससे रेल घण्टों रुकी रहे और, फलस्वरूप यात्री रेल - प्रशासन के खिलाफ आन्दोलित हो उठें। इटली, जर्मनी तथा कुछ अन्य देशों में इस प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग किया जा चुका है।

15.5 संघवादी समाज का स्वरूप

श्रमिक-क्रान्ति के बाद स्थापित होने वाली सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप क्या होगा, इस विषय में श्रमिक संघवाद कोई निश्चित तथा सुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं करता। उसकी दिलचस्पी क्रान्ति के उपरान्त समाज के स्वरूप का उल्लेख करने में नहीं थी। कुछ श्रमिक संघवादियों का कहना है कि इस प्रश्न पर विचार करने का उपयुक्त समय तभी होगा जब श्रमिक क्रान्ति के बाद पूँजीवाद और राजसत्ता का अन्त हो जाएगा। इससे पहले इस विषय पर विचार करने से स्वयं श्रमिकों में मतभेद उत्पन्न हो सकता है। सोरेल का मत है कि मनुष्य अपने कार्यों में विवेक के बजाए अपनी अन्तरप्रेरणा (Intiution) का अनुसरण करता है। इसलिए क्रान्ति के बाद मजदूर अपनी अन्तरप्रेरणा से प्रभावित होकर अपने आदर्शों के अनुकूल स्वयं ही नए समाज का निर्माण कर लेंगे। एक अन्य दार्शनिक बर्थ ने भी संघवादी समाज के भावी स्वरूप के विषय में सोरेल के विचारों का समर्थन किया है। फिर भी, संघवादी चिन्तकों ने जो कुछ लिखा है उससे संघवादी समाज का एक चित्र तैयार किया जा सकता है।

संघवादियों का कहना है कि क्रान्ति के पश्चात राज्य तथा सरकार दोनों का विघटन कर

दिया जाएगा और पूँजीवाद का अन्त हो जाएगा। फलस्वरूप उत्पादन के साधनों तथा राजसत्ता पर पूरी तरह श्रमिकों का प्रभुत्व स्थापित हो जायेगा। पूँजीपतियों से श्रमिकों को सत्ता हस्तान्तरित होने के बाद सामाजिक असमान्ताओं का अन्त हो जायेगा और एक स्वतंत्र समाज की रचना होगी जिसमें समस्त उत्पादन कार्य श्रमिक संगठनों (सिण्डीकेट) द्वारा संचालित और नियंत्रित होगा। पॉतोद (Patuad) तथा पूगे (Pouget) ने अपनी पुस्तक 'How We Shall Bring About The Revolution' में भावी संघवादी समाज के कुछ आधारभूत लक्षण बताए हैं। संघवादियों के अनुसार स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक श्रमिक संघों (Syndicates) की एक शृंखला होगी। संघवादी समाज की सबसे छोटी इकाई सिण्डीकेट होगी। एक ही व्यवसाय या एक प्रकार का काम करने वाले सभी व्यक्ति उसके सदस्य होंगे।

प्रत्येक व्यवसाय के सिण्डीकेट (श्रमिक संघ) अपने-अपने व्यवसायों का संचालन और नियंत्रण करेंगे। इन स्थानीय संघों के केन्द्रीय संगठन होंगे जो नीतियों का निर्माण करेंगे। विभिन्न स्थानीय संघों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए स्थानीय बूर्स का गठन किया जाएगा जो इन व्यावसायिक संघों का संघ होगा। सिण्डीकेट और बूर्स में अन्तर यह है कि एक सिण्डीकेट में एक क्षेत्र के केवल एक ही व्यवसाय के श्रमिक सदस्य हो सकते हैं जबकि बूर्स में उस क्षेत्र के सभी व्यवसायों के श्रमिक सम्मिलित होंगे। बूर्स लेबर एक्सचेंज का काम करेगा अर्थात् मजदूरों को काम दिलाएगा। यह उपभोग की वस्तुओं का वितरण करेगा और अपने क्षेत्र की आर्थिक आवश्यकताओं की सूची तैयार करके अन्य प्रादेशिक बूर्सों के सहयोग से उनकी पूर्ति करने का प्रयत्न करेगा। समस्त स्थानीय प्रबंधन कार्य बूर्स करेंगे।

प्रत्येक व्यावसायिक संघ की एक राष्ट्रीय संस्था होगी जिसका नाम सी0 जी0 टी0 (Confederation Generale du Travail) होगा। यह राष्ट्रीय श्रमिक संघ राष्ट्रीय कार्यों जैसे रेल, डाक, तार, इत्यादि का प्रबंध करेगा। जिन विषयों पर पूरे राष्ट्र के लिए समान नीति की आवश्यकता है, जैसे वेतन तथा कार्य के घण्टों का निर्धारण, बच्चों, बूढ़ों और बीमारों की देखभाल इत्यादि, उनपर नीति-निर्माण का कार्य भी राष्ट्रीय संघ करेगा, इस प्रकार श्रमिक संघवादी समाज का स्वरूप बहुलवादी होगा जिसमें सम्पूर्ण सत्ता विभिन्न स्तरों पर श्रमिक संघें में निहित होगी।

श्रमिक संघवादियों के अनुसार न्याय का कार्य भी श्रमिक संघों के द्वारा संपादित किया जाएगा। मानव - विरोधी और समाज - विरोधी कार्य करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था वर्तमान राज्यों द्वारा अपनाई गई व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न होगी। प्रत्येक स्थानीय संघ को इस बात का अधिकार होगा कि वह अपने किसी सदस्य के मानव-विरोधी व्यवहार के लिए दण्ड का निर्धारण करे। यह दण्ड बहिष्कार के रूप में होगा। मुनाफाखोरों का बहिष्कार किया जायेगा और आलसी व्यक्तियों अथवा श्रमिक संघवादी व्यवस्था का विरोध करने वालों को निर्वासित कर दिया जाएगा। कुछ विशेष मामलों में मजदूर संघों की सामान्य सभा को दण्ड देने का अधिकार होगा। श्रमिक संघवादियों का विश्वास है कि पूँजीवाद की समाप्ति और श्रमिक स्वशासन की स्थापना के बाद अपराध बहुत कम हो जाएंगे। इसलिए न्यायालयों तथा बंदी-गृहों की कोई आवश्यकता न

होगी और उन्हें समाप्त कर दिया जाएगा।

विदेशी आक्रमणों के विरुद्ध प्रतिरक्षा के लिए संघवादी व्यवस्था में न तो कोई वैतनिक सेना होगी और न बहुत ज्यादा हथियार और गोला-बारूद आदि। समाज में गठित सिण्डीकेटों के पास अपनी स्वयं-सेवक सेनाएँ रहेंगी जो आवश्यकतानुसार स्थानीय क्षेत्रों में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने का कार्य करेंगी।

जैसा पहले बताया जा चुका है, श्रमिक संघवादी श्रमिक-क्रान्ति के पश्चात् स्थापित होने वाली सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था की बहुत स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत नहीं करते। ऐसा करना वे अनावश्यक और असामयिक मानते हैं। उनका विश्वास है कि समय आने पर श्रमिक खुद ही इसका निर्णय कर लेंगे।

15.6 श्रमिक संघवाद की आलोचना

अपने उद्देश्यों की दृष्टि से श्रमिक संघवाद भले ही एक आकर्षक विचारधारा हो किन्तु उसे कहाँ तक और किस तरह व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है, इसमें बहुत संदेह है। पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त करने के लिए बताए गए साधनों की उपयोगिता, श्रमिक संघों का स्वरूप, और नवीन संघवादी व्यवस्था के विचार में निहित जटिलताओं के सन्दर्भ में श्रमिक संघवाद की निम्न आधारों पर आलोचना की जाती है :-

1. वर्तमान आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध श्रमिक संघवाद का मुख्य तर्क यह है कि यह व्यवस्था उपभोक्ताओं के हित साधन पर आधारित है और उत्पादकों के हितों की उपेक्षा करती है। इसी प्रकार का तर्क श्रमिक संघवाद के विरुद्ध भी दिया जाता है। आलोचकों का कहना है कि श्रमिक संघवाद भी चित्र के केवल एक पक्ष अर्थात् उत्पादक (श्रमिक) के हितों को देखता है, जबकि उपभोक्ताओं के हितों का उतना ही महत्व है जितना कि उत्पादकों का। इस प्रकार श्रमिक संघवाद एकांगी और संकीर्ण विचारधारा है।

2. पूँजीवाद का अन्त करने के लिए श्रमिक संघवाद हिंसात्मक पद्धति को अपनाने का सुझाव देता है। जिसमें लूट-मार, तोड़-फोड़ और छोटी-बड़ी हड़तालें शामिल हैं। आलोचकों का कहना है कि हिंसा के प्रयोग करने से जीवन और धन दोनों का विनाश होता है और साथ में मानसिक शान्ति भी भंग होती है। पवित्र उद्देश्यों की प्राप्ति पवित्र साधनों से ही करना चाहिए।

3. ऐसा लगता है कि संघवादी श्रमिकों को आवश्यकता से कुछ अधिक शक्तिशाली और राज्य को बहुत दुर्बल मानते हैं, जो उनकी बहुत बड़ी भूल है। उनका भ्रम है कि आम हड़ताल के द्वारा श्रमिक राज्य को उखाड़ फेकेंगे और पूँजीपति इस बात के लिए बाध्य हो जाएँगे कि वे अपने औद्योगिक संस्थानों को श्रमिकों को सौंप दें।

4. संघवादी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि श्रमिकों द्वारा की गई हड़तालें असफल भी हो सकती हैं। इस स्थिति में भी उनका कहना है कि श्रमिकों को निराश न होना चाहिए

क्योंकि हड़तालें मजदूरों में अनुशासन और एकता उत्पन्न करती हैं, किन्तु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत होती है। अनुभव बताता है कि हड़ताल असफल होने पर मजदूरों का मनोबल खत्म हो जाता है और उनकी आर्थिक स्थिति इतनी बिगड़ जाती है कि वह दोबारा हड़ताल करने के लिए मुश्किल से तैयार होते हैं।

5. श्रमिक संघवाद द्वारा बताई गई तोड़-फोड़ की पद्धति से केवल पूँजीपति को ही हानि नहीं होगी इसका प्रभाव पूरे राष्ट्र के विकास पर पड़ेगा। रैमज़े मेकडानल्ड का कहना है कि "तोड़-फोड़ की नीति द्वारा समाज की रचनात्मक शक्ति कम हो जाएगी। तोड़-फोड़ की नीति द्वारा औद्योगिक सम्पत्ति का विनाश होगा, जिससे सामाजिक प्रगति रुक जायेगी।"

6. संघवादी प्रजातंत्र की जिस तरह आलोचना करते हैं वह अतिश्योक्तिपूर्ण प्रतीत होती है। मूल प्रश्न यह है कि यदि प्रजातंत्र दोषपूर्ण शासन व्यवस्था है तो उसका विकल्प क्या है?

7. संघवादियों द्वारा स्वदेश-प्रेम और देश-भक्ति को पूँजीवादी विचारधारा कहकर उनकी निन्दा करने का कोई तार्किक आधार नहीं है।

8. श्रमिक संघवाद क्रान्ति के उपरान्त स्थापित होने वाली सामाजिक व्यवस्था की कोई स्पष्ट तथा निश्चित रूपरेखा नहीं प्रस्तुत करता। यह कहना कि समय आने पर मजदूर जैसा उचित समझेंगे करेंगे, हास्यस्पद है। साम्यवादियों की तरह संघवादी भी राज्य का अन्त कर देना चाहते हैं परन्तु वे निश्चित रुप में यह नहीं बताते कि इसके बाद राजसत्ता का प्रयोग किसके द्वारा और कैसे होगा। ऐसा लगता है कि संघवादी श्रमिकों की योग्यता और क्षमता में आवश्यकता से अधिक विश्वास रखते हैं जो व्यावहारिक दृष्टि से सही नहीं लगता। क्या श्रमिक संघों में वास्तव में इतनी सूझ-बूझ होगी कि राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को समझ कर उनका निराकरण कर सकें। क्या राज्य के अभाव में सामाजिक जीवन का संचालन और नियंत्रण करना एक कल्पना मात्र नहीं है? वर्तमान काल में राज्य के अस्तित्व में होने के बाद भी स्वयं श्रमिक संघों में जिस प्रकार पारस्परिक संघर्ष और द्वेषभाव पाया जाता है उसको देखते हुए यह आशा नहीं की जा सकती कि राज्य का अन्त हो जाने के बाद श्रमिक संघ सुचारू रूप से उद्योगों का संचालन और प्रबन्ध कर सकेंगे।

9. श्रमिक संघवाद श्रमिकों की क्षमता और उनकी शान्तिप्रियता में कुछ ज्यादा ही आस्था प्रदर्शित करता है। हितों का टकराव श्रमिकों और पूँजीपतियों के बीच तो पाया ही जाता है लेकिन इस बात की क्या गारण्टी है कि विभिन्न व्यवसायों के बीच तथा उनको संचालित करने वाले श्रमिक संघों के बीच कोई टकराव न होगा और निरन्तर हड़ताल तथा तोड़-फोड़ करने वाले मजदूर बिना किसी राजसत्ता के नियंत्रण के और बिना सुसंगठित न्याय-व्यवस्था के शान्ति के साथ रह सकेंगे। क्या इस बात की संभावना नहीं है कि राजनैतिक दलों का अन्त हो जाने के बाद भी मजदूर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए

किसी न किसी आधार पर अलग-अलग गुटों में संगठित हो जाएंगे।

10. समाज के मध्यम वर्ग के बारे में संघवादियों की जो धारणा है वह भी कटु आलोचना का विषय रही है। श्रमिक संघवाद मध्यम वर्ग के बद्धिजीवियों को शोषणकर्ता मानता है और इस प्रकार बुद्धिजीवी-विरोधी है। वास्तविकता यह है कि बुद्धिजीवियों ने अपने विचारों और लेखन से सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

उपर्युक्त दोषों और अस्पष्टताओं के कारण श्रमिक संघवाद मुख्य रूप से फ्रांस तक सीमित रहा। प्रथम विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों ने श्रमिक संघवाद के सिद्धान्तों की अव्यावहारिकता को सिद्ध कर दिया। उसके युद्ध-विरोधी, राज्य-विरोधी और देश-भक्ति विरोधी-सिद्धान्त समय की कसौटी पर खरे न उतर सके।

15.7 श्रमिक संघवाद में संशोधन

प्रथम विश्व युद्ध छिड़ जाने पर जर्मनी ने फ्रॉंस पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रीय संकट के इस अवसर पर अपने युद्ध-विरोधी और देश-भक्ति विरोधी सिद्धान्तों को छोड़कर श्रमिक संघवादी भी देश की रक्षा के लिए लिए एकजुट हो गए। उन्होंने जर्मनी के हमले का मुकाबला करने के लिए तत्कालीन फ्रांसीसी सरकार के साथ पूरा सहयोग किया और अपने क्रान्तिकारी आन्दोलन को स्थगित कर दिया। युद्ध ने पूरे देश को एकता को सूत्र में बांध दिया और यह सिद्ध कर दिया कि देश-प्रेम और देश-भक्ति वास्तविक मान्यताएं हैं और किसी सिद्धान्त या योजना के द्वारा इन भावनाओं और मूल्यों का अन्त नहीं किया जा सकता। परिणामस्वरूप युद्ध समाप्त होने के बाद श्रमिक संघवादी विचारधारा में भी आमूल परिवर्तन आया और उसका उग्रवादी रूप समाप्त हो गया। हिंसा और क्रान्ति के स्थान पर वह एक शान्तिवादी तथा जनतंत्रवादी सिद्धान्त बन गया। वर्ग संघर्ष का स्थान स्वामी और श्रमिकों के पारिस्परिक सहयोग ने ले लिया। उद्योगों में सहकारी नियंत्रण के लिए उन्होंने नई नीति प्रस्तुत की। संघवादियों ने यह प्रतिपादित किया कि जो उद्योग सार्वजनिक स्वामित्व में हैं उनके प्रबन्धन में तीन पक्षों अर्थात् उत्पादनकर्ता (श्रमिक), उपभोक्ता तथा जनता को समान प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए।जो उद्योग व्यक्तिगत स्वामित्व में हों उन पर उनके मालिकों तथा मजदूरों का संयुक्त नियंत्रण होना चाहिए।

राज्य का उन्मूलन करके एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है जिसमें समस्त आर्थिक और राजनैतिक सत्ता श्रमिक संघों के हाथों में हो। श्रमिक संघवाद पूँजीवाद और राज्य का अन्त करने के अतिरिक्त लोकतंत्र और राजनैतिक दलों का भी विरोध करता है। वह वर्ग - संघर्ष पर विश्वास करता है और समाज के मध्यम वर्ग का कटु आलोचक है। उपर्युक्त सामाजिक परिवर्तनों के लिए वह हिंसात्मक क्रान्ति को एक प्रभावी साधन मानता है। श्रमिक संघवादियों का कहना है कि हड़ताल और तोड़-फोड़ के द्वारा श्रमिक पूंजीपतियों को इस बात के लिए बाध्य कर सकते हैं कि वह उत्पादन के संस्थानों को श्रमिकों को सौंप दें। श्रमिक संघवादी युद्ध और सैन्यवाद का विरोध करते हैं। देश-भक्ति और राष्ट्र-प्रेम को एक ढोंग मानते हैं और यह कह कर

कि मजदूरों का धर पूरा विश्व हैं, संघवादी राष्ट्रवाद का खण्डन करते हैं।

प्रथम विश्व युद्ध में जब जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण कर दिया तो श्रमिक संघवाद के कतिपय मूल सिद्धान्त विशेष रूप से युद्ध, देश-भक्ति तथा देश-प्रेम के प्रति उनका विरोधी दृष्टिकोण, असत्य सिद्ध हो गए। फ्रांस पर आक्रमण होते ही अपनी मातृ-भूमि के प्रति उनकी देश-भक्ति की भावना जाग उठी और श्रमिक संघवादियों ने श्रमिक आन्दोलन को स्थगित करके अपने देश की प्रतिरक्षा के लिए सरकार के साथ पूरा सहयोग किया। इस प्रकार श्रमिक संघवाद के विकास के इतिहास में प्रथम विश्व युद्ध एक महत्वपूर्ण मोड़ था। उसने श्रमिक संघवाद के मूल सिद्धान्तों की असलियत और उनकी अव्यावहारिकता को स्पष्ट कर दिया। परिणाम यह हुआ कि युद्ध समाप्त होने के बाद श्रमिक संघवादी विचारधारा में आमूल संशोधन किए गए। संघवादियों ने राज्य की आवश्यकता को अनुभव किया; उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व के साथ ही साथ उद्योगों पर व्यक्तिगत स्वामित्व को भी स्वीकार किया तथा उद्योगों के प्रबन्धन में उत्पादकों के साथ-साथ उपभोक्ताओं को भी प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की।

राज्य को उखाड़ फेंकने का आग्रह करने वाले श्रमिक संघवाद ने अब राज्य की आवश्यकता और महत्व को भी स्वीकार कर लिया। संघवादियों ने यह मान लिया कि राज्य का पुर्नगठन करके उसे जन कल्याण के एक साधन के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार संघवाद की राज्यविहीन समाज की कल्पना ने भी दम तोड़ दिया।

संशोधित संघवाद, ध्वसांत्मक नीतियों के स्थान पर रचनात्मक नीतियों को अपनाने और सार्वजनिक उद्योगों के साथ ही व्यक्तिगत उद्योगों के अस्तित्व को बनाये रखने का समर्थन करता है। इस प्रकार श्रमिक संघवादी पूँजीवाद का अन्त करने के अपने मूल लक्ष्य से दूर हो जाते हैं।

अपने सिद्धान्तों की अव्यावहारिकता तथा अत्यधिक उग्र और क्रान्तिकारी होने के कारण श्रमिक संघवाद बहुत ही कम समय में बेजान हो गया और अपना मूल रंग-रूप खो बैठा। प्रथम युद्ध के बाद श्रमिक संघवाद के सिद्धान्तों में जो संशोधन किए गए उसने श्रमिक संघवाद को समाजवाद के बिल्कुल निकट पहुँचा दिया। एक लेखक ने लिखा है कि "श्रमिक संघवाद का शीघ्र अन्त इसलिए हुआ क्योंकि उसका दार्शनिक आधार अस्पष्ट था, उसके प्रतिपादकों का बौद्धिक स्तर साधारण था और उसका कोई रचनात्मक कार्यक्रम नहीं था।

15.8 सारांश

19वीं शताब्दी के अन्त में फ्राँस में श्रमिक संघवाद का जन्म हुआ। यह एक समाजवादी विचारधारा थी जिस पर साम्यवादी और अराजकतावादी दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है। श्रमिक संघवाद का मुख्य उद्देश्य उद्योगों में श्रमिक स्वाशासन स्थापित करना है। साम्यवाद की तरह श्रमिक संघवाद भी पूँजीवाद का विनाश और श्रमिक संघवाद के जन्म के लगभग तीन दशकों के बाद ही उसमें आमूल परिवर्तन करने के फलस्वरूप श्रमिक संघवाद का असली चेहरा ही बदल

गया और उसका स्वरूप समाजवाद से मिलने लगा।

यद्यपि श्रमिक संघवाद अपने मूल रूप में बहुत दिनों तक जिंदा नहीं रह सका लेकिन इसने अन्य समाजवादी विचारधाराओं के विकास-क्रम को अवश्य प्रभावित किया। इसने श्रमिकों के शोषण के खिलाफ आवाज उठाई, राज्य के निरंकुश व्यवहार और दमनकारी तौर-तरीकों की कटु आलोचना की, उत्पादन के संचालन और नियंत्रण में श्रमिकों के प्रभुत्व को स्थापित करने पर बल दिया। इस दृष्टि से श्रमिक संघवाद एक महत्वपूर्ण विचारधारा है।

15.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. कोकर ई0 डब्लू — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
2. सी0 एम0 जोड — माडर्न पोलिटिकल थेयरी

15.10 सम्बन्धित प्रश्न

दीर्घ-उत्तरीय प्रश्न :-

1. श्रमिक संघवाद लोकतंत्र विरोधी है, तर्क विरोधी है तथा बुद्धि विरोधी है। व्याख्या कीजिए।
2. श्रमिक संघवाद के मूल सिद्धान्तों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. "श्रमिक संघवाद संगठित अराजकता है।" व्याख्या कीजिए।

लघु-उत्तरीय प्रश्नः-

1. श्रमिक संघवाद के मूल सिद्धान्त क्या है?
2. श्रमिक संघवादियों द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्ष कार्रवाई से क्या तात्पर्य है?
3. श्रमिक संघवाद संसदीय लोकतंत्र का किन कारणों से विरोध करता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न :-

प्र01 श्रमिक संघवाद का प्रादुर्भाव किस देश में हुआ?

(अ) इंग्लैण्ड

(ब) अमेरिका

(स) फ्राँस

(द) इटली

प्र02 श्रमिक संघवाद निम्न में से किसका विनाश करना चाहता है?

(अ) राज्य, पूँजीवाद तथा समाज

(ब) लोकतंत्र, श्रमिक संघ तथा पूँजीवाद

(स) राज्य, राजनैतिक दल, परिवार

(द) राज्य, लोकतंत्र, पूँजीवाद

प्र03 संघवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिए श्रमिक संघवादी निम्न में से किस साधन को अपनाने के पक्षधर हैं?

(अ) विधायन

(ब) शिक्षा

(स) क्रान्ति

(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

15.11 प्रश्नोत्तर

1- स,

2-द,

3-स

इकाई 16 - अराजकतावाद (ANARCHISM)

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 अराजकतावाद का अर्थ

16.3 अराजकतावाद का विकास

16.4 अराजकतावाद की मान्यताएँ

16.5 अराजकतावाद के साधन

16.6 अराजकतावादी समाज का स्वरूप

16.7 अराजकतावाद की आलोचना

16.8 सारांश

16.9 संदर्भ ग्रन्थ/उपयोगी पुस्तकें

16.10 संबंधित प्रश्न

16.11 प्रश्नोत्तर

16.0 उद्देश्य

इस अध्याय में अराजकतावादी विचारधारा के उद्भव, विकास तथा उसके मूल सिद्धान्तों की चर्चा की गई है और यह बताने का प्रयास किया गया है कि अराजकतावादी दर्शन के अनुसार भावी समाज का क्या स्वरूप होगा। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपः-

- अराजकतावाद का अर्थ और उसके विकास का विवेचन कर सकेंगे।
- अराजकतावाद के मूल सिद्धान्तों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- किन साधनों से अराजकतावाद स्थापित किया जा सकता है, इसका विवरण कर सकेंगे।
- अराजकतावादी समाज के स्वरूप का चित्रण कर सकेंगे।
- अराजकतावाद की दुर्बलताओं का रेखांकन कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

अराजकतावाद एक क्रान्तिकारी दर्शन है जो हिंसात्मक साधनों से पूँजीवादी व्यवस्था को तत्काल समाप्त करना चाहता है। यह राज्य को "एक अनावश्यक बुराई" मानता है तथा उसे भी समाप्त करके उत्पादन के साधनों पर ऐच्छिक संघों का स्वामित्व स्थापित करने की योजना प्रस्तुत करता है। वह धर्म का भी विरोधी है और व्यक्ति को धार्मिक प्रतिबंधों से मुक्त करना चाहता है

ताकि वे स्वतंत्र रूप से अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें। कुछ अर्थों में अराजकतावाद साम्यवाद का ही उग्र रूप है। साम्यवाद की तरह वह पूँजीवाद, राज्य और धर्म तीनों का शत्रु है। साम्यवाद की तरह अराजकतावाद भी हिंसात्मक साधनों तथा क्रान्ति के द्वारा पूँजीवाद का अन्त करना चाहता है लेकिन वह एक क्षण भी राज्य के अस्तित्व को बर्दाश्त नहीं करना चाहता जबकि साम्यवाद संक्रमण काल में राज्य को बनाए रखता है। साम्यवाद की ही तरह अराजकतावाद धर्म का विरोधी है। इस प्रकार अराजकतावाद की अधिकांश मान्यताएँ साम्यवाद से मिलती-जुलती हैं।

साम्यवाद से अत्यधिक निकट होने के साथ ही अराजकतावाद अपने लक्ष्य की दृष्टि से व्यक्तिवाद के भी बहुत करीब है। वह पूँजीवाद, राज्य तथा धर्म का इस कारण विरोधी है कि इन सबके अस्तित्व से व्यक्ति की स्वतंत्रता प्रतिबंधित होती है। अराजकतावाद इनके हस्तक्षेप से व्यक्ति को मुक्त कराना चाहता है। इसीलिए अराजकतावाद राज्य का अन्त करके ऐच्छिक संघों का शासन स्थापित करना चाहता है।

16.2 अराजकतावाद का अर्थ

साधारण अर्थों में अराजकता से एक ऐसी स्थिति का बोध होता है जिसमें कोई कानून और व्यवस्था न हो, जिसमें अशान्ति व्याप्त हो, जिसमें विध्वंस, तोड़-फोड़ तथा आतंक का वातावरण हो, और हर व्यक्ति अपने-अपने स्वार्थ के लिए कार्य कर रहा हो। लेकिन एक राजनैतिक विचाधारा के रूप में अराजकतावाद का अर्थ 'अव्यवस्था' नहीं है, यह एक राजनैतिक दर्शन है, एक आन्दोलन है, एक क्रमबद्ध विचारधारा है जिसका निरन्तर विकास होता रहा है।

अंग्रेजी शब्द 'Anarchism' ग्रीक भाषा के 'अनारकिया' (Anarchia) शब्द से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'शासन का आभाव'। इस प्रकार अराजकतावाद का तात्पर्य ऐसी व्यवस्था से है जिसमें राज्य का अस्तित्व न हो। अराजकतावाद हर प्रकार की शासन प्रणाली को शोषण का जनक मानता है अतः वह राज्य का अस्तित्व समाप्त करके उसके स्थान पर ऐचिछक संस्थाओं को स्थापित करना चाहता है। यह एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें न्यायालय, जेल तथा सेना की कोई आवश्यकता न होगी। उसका कहना है कि राज्य-विहीन समाज में व्यक्ति नियमों का पालन दण्ड के भय के कारण नहीं वरन् अपनी इच्छा से करेगा। प्रतिष्ठित लेखक कोकर के अनुसार "अराजकतावाद राजनीतिक सत्ता को किसी भी रूप में अनावश्यक एवं अवांछनीय मानता है। आधुनिक अराजकतावाद में राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ व्यक्तिगत संपत्ति-संस्था का विरोध और संगठित धार्मिक संस्था के प्रति शत्रुता भी निहित है।" अराजकतावाद का जन्मदाता प्रिंस क्रोपोटकिन को माना जाता है। उनके अनुसार "अराजकतावाद जीवन के उस सिद्धान्त अथवा आदर्श को कहते हैं जिसके अधीन सरकार-विहीन समाज की कल्पना की जाती है। इस प्रकार के समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए किसी कानून अथवा सत्ता के आदेशों का पालन करने के लिए समर्पण करना आवश्यक न होगा। ऐसे समाज में सामंजस्य, उत्पादन तथा उपभोग तथा एक सभ्य प्राणी की अनेक प्रकार की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की संतुष्टि के लिए, स्वतंत्र रूप से संगठित विभिन्न प्रादेशिक तथा व्यावसायिक

समुदायों की ऐच्छिक तथा स्वतंत्र समझौतों की नीति से उत्पन्न होगा।"

एक अन्य विचारक हक्सले (Huxley) के अनुसार "अराजकतावाद समाज की वह स्थिति है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक होगा (Anarchy is state of society in which the rule of each individual by himself is the only government) ई० वी० जेंकर (E.V. Jenkar) का कहना है कि "आदर्श रूप में अराजकतावाद का अर्थ उस पूर्ण स्वतंत्र व्यक्तिगत शासन से है जिसका, उद्देश्य प्रत्येक प्रकार के वाह्य शासन की अनुपस्थिति है।" ("Anarchism means, in its ideal sense, the perfect unfettered self government of the individual and consequently, the absence of any kind of external government".)

व्यक्तिवादी विचारकों के विपरीत जो राज्य को "एक आवश्यक बुराई" मानते हैं, अराजकतावादी विचारक उसे एक "अनावश्यक बुराई" मानते हैं अतः वे राज्य का अन्त कर देना चाहते हैं और एक राज्य-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

16.3 अराजकतावाद का विकास

अराजकतावाद एक प्राचीन विचारधारा है जिसकी जड़ें यूनानी दर्शन में पाई जाती हैं। राज्य-विहीन समाज का विचार सबसे पहले स्टोइक विचारक ज़ेनों (Zeno) के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। ज़ेनो ने प्लेटो के स्वाधिकारवादी राज्य की कटु आलोचना की और राज्य का विनाश करने का विचार प्रस्तुत किया। स्टोइक का कहना था कि न्याय मानव स्वभाव में अर्न्तनिहित है और यदि व्यक्ति को ठीक तरह से प्रशिक्षित किया जाए तो वह कभी अन्याय के रास्ते को न अपनाएगा। मध्यकाल में कुछ ऐसे सम्प्रदाय थे जिनका विश्वास था कि मनुष्य को अच्छा बनाने और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए धर्म का नियंत्रण काफी है, उस पर राज्य का नियंत्रण न होना चाहिए। ईसा से लगभग 300 वर्ष पूर्व चाँगजू (Chaung Tzu) नामक एक चीनी दार्शनिक ने कहा था कि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्तियों को अपने अधीन रखना मानव स्वभाव के प्रतिकूल है।

आधुनिक काल में विलियम गॉडविन (William Godwin 1756-1838) प्रथम विचारक था जिसने वैज्ञानिक आधार पर अराजकतावाद का प्रतिपादन किया। उसने राज्य तथा व्यक्तिगत संपत्ति दोनों ही को शोषण के उपकरण मानते हुए उनके उन्मूलन के लिए आवाज़ उठाई। उसका कहना था कि राज्य का अन्त धीरे-धीरे विचार-परिवर्तन के द्वारा किया जाना चाहिए, हिंसा के द्वारा नहीं।

अराजकतावादी दर्शन के विकास में अन्द यूरोपीय विचारकों के अतिरिक्त जोजेफ प्रोधाँ (Joseph Proudhon 1809-1865) का महत्वपूर्ण योगदान है। प्रोधाँ व्यक्तिगत संपत्ति और राजनैतिक सत्ता दोनों का घोर विरोधी था। उसका कहना था कि श्रमिकों को उनके श्रम का न्यायसंगत फल नहीं मिलता जबकि पूंजीपति अधिकतम लाभ कमाता है परिणाम स्वरूप पूँजी एक वर्ग विशेष के पास एकत्रित होती रहती है। प्रोधाँ ने अपनी पुस्तक 'What is property' में

यह प्रश्न उठाया है कि संपत्ति क्या है? उसका उत्तर यह था कि संपत्ति "चोरी का फल" है। पूँजीपति श्रमिकों का तरह-तरह से शोषण करता है और राज्य इस शोषण-कार्य में पूँजीपतियों की सहायता करता है। अतः प्रोधाँ ने व्यक्तिगत संपत्ति और राज्य दोनों का ही घोर विरोध किया। प्रोधाँ की कुछ पुस्तकों का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि वह व्यक्तिगत संपत्ति के विनाश के बजाए उसके शोषणात्मक एवं एकाधिकारात्मक रूप का विनाश करना चाहता था। इसलिए वह संपत्ति के न्यायसंगत और समान वितरण किए जाने पर बल देता था। वह एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जिसमें उत्पादन और सामाजिक व्यवस्था का संचालन स्वैच्छिक (Voluntary associations) के हाथों में हो और व्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई राजनैतिक या आर्थिक बंधन न हों। इस प्रकार प्रोधाँ ने यह दावा किया कि मैं "पूर्णतया अराजकतावादी हूँ"।

अमेरिका के कुछ विचारकों ने भी अराजकतावादी दर्शन का समर्थन किया। इनमें जोशिया वारेन (Josiah Warren 1799-1814), हेनरी डेविड थोरू (Henry Davit Thoreou), स्टिफन पर्ल एण्ड्रोज (Stephen Pearl Andrews 1812-1886) के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार जर्मन विचारक जॉन शिम्ट (John Schmidt) और मेक्स स्ट्रनर (Max Striner) के विचारों में भी अराजकतावाद की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्ट्रनर राज्य का शत्रु था क्योंकि राज्य, उसके अनुसार, व्यक्ति की स्वतंत्रता का सबसे बड़ा शत्रु हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि यूरोप और अमेरिका के बहुत से विचारकों ने अराजकतावादी विचार प्रस्तुत किए किन्तु इस विचारधारा को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने में माइकेल बाकूनिन (Michael Bakunin 1814-1876) तथा पीटर क्रोपॉटकिन (Peter Kropotkin) के नाम सबसे प्रमुख हैं। रूसी विचारक बाकूनिन का कहना था कि राज्य, व्यक्तिगत संपत्ति तथा धर्म, इन तीनों का अन्त कर दिया जाना चाहिए क्योंकि यह मनुष्य के स्वाभाविक विकास और उसकी स्वतंत्रता में बाधक हैं और समाज के एक बड़े वर्ग के शोषणकर्ता हैं। राज्य पूँजीपतियों के हाथ में एक खिलौना है और राज्य के कानून, पुलिस, न्याय-व्यवस्था तथा कर्मचारी तंत्र सभी पूँजीपतियों के रक्षक हैं। अतः इन सबका अन्त कर देना चाहिए। बाकूनिन का कहना है कि वर्तमान व्यवस्था में पूँजीपति और पूँजीहीन दोनों का नैतिक पतन होता है, एक का शोषणकर्ता के रूप में और दूसरे का शोषित होने के कारण। बाकूनिन ने धर्म का विरोध किया और यह कहा कि धर्म व्यक्ति के विवेक को निष्क्रिय बना देता है, उसमें अन्धविश्वास उत्पन्न करता है और उसे भाग्यवादी बना कर खराब से खराब परिस्थितियों में भी संतोष करना सिखाता है। ऐसा कहा जाता है कि "बाकूनिन ने अराजकतावाद में दो नवीन प्रवृत्तियों का समावेश किया- प्रथम, उसने राज्य के प्रति घृणा को समिष्टवादी दर्शन से संयुक्त किया और इस प्रकार साम्यवादी अराजकतावाद की आधार शिला रखी, द्वितीय, उसने यह विश्वास व्यक्त किया कि हिंसात्मक क्रान्ति के बिना राज्य को नष्ट नहीं किया जा सकता और इससे वह आतंकवादी अराजकतावाद का जनक कहलाया।" बाकूनिन व्यक्ति को आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद की दासता से, राजनैतिक क्षेत्र में राज्य की दासता से और धर्म के क्षेत्र में पुरोहित वर्ग की दासता से मुक्त कराना चाहता था। साम्यवादी विचारधारा की तरह बाकूनिन का विचार था कि क्रान्ति के द्वारा वर्तमान राजनैतिक और आर्थिक संगठनों

का सदैव के लिए अन्त कर दिया जाएगा। क्रान्ति के बाद उत्पादन के साधनों पर पूर्णरूप से समाज का स्वामित्व स्थापित होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेगा और आवश्यकताओं के अनुसार वस्तुएँ प्राप्त करेगा। स्थानीय, प्रादेशिक, तथा राष्ट्रीय स्तर पर स्वैच्छिक संघों का निर्माण किया जायेगा जो उत्पादन का कार्य करने के साथ ही सामाजिक व्यवस्था का संचालन भी करेंगे।

क्रोपॉटकिन (1842-1921) को अराजकतावाद का प्रमुख विचारक कहा जाता है। उसका कहना था कि पशु, मनुष्य और समाज सबका धीरे-धीरे विकास होता है। उसका विश्वास था कि मनुष्य स्वभाव से सदाचारी होता है और उसमें दूसरों के साथ मिल-जुल कर काम करने की इच्छा होती है। समाज का विकास इसी सहयोग और पारस्परिक सहायता का परिणाम होता है लेकिन जब कभी सामाजिक विकास की प्रक्रिया किसी कारण रुक जाती है तो यह आवश्यक हो जाता है कि क्रान्ति के द्वारा उन बाधाओं को दूर करके सामाजिक व्यवस्था को फिर से विकास के रास्ते पर लाया जाए। वर्तमान काल में समाज के विकास में तीन बाधाएँ है-व्यक्तिगत संपत्ति, धर्म और राज्य। क्रान्ति द्वारा इन तीनों का विनाश कर दिया जाना चाहिए। इनके अन्त के बाद जो राज्य-विहीन, व्यक्तिगत संपत्ति-विहीन और धर्म विहीन व्यवस्था उत्पन्न होगी वही अराजकतावादी समाज होगा।

क्रोपॉटकिन, जिसे अराजकतावाद का जनक कहा जाता है, के विचारों को आधार बनाते हुए, अराजकतावाद के लक्षणों या प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया जा रहा है।

16.4 अराजकतावाद की मान्यताएँ

ऐसा कहा जाता है कि 'अराजकतावाद वहाँ से आरम्भ होता है जहाँ पर साम्यवाद समाप्त होता है। (Anarchism begins where communism ends)। अराजकतावाद में उदारवाद, समाजवाद और साम्यवाद की प्रवृत्तियों का मिश्रण पाया जाता है। वह व्यक्तिगत पूँजी का खण्डन करता है इसलिए समाजवादी है और राज्य का विरोध करने के कारण वह उदारवादी है। वह साम्यवादी इसलिए है कि वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को बदलने के लिए हिंसात्मक प्रणाली को अपनाना चाहता है। वह साम्यवाद से भी आगे है क्योंकि वह साम्यवादियों द्वारा बताए गए संक्रमणकाल (जिस अवस्था में राज्य होगा) का इंतजार किए बगैर हिंसात्मक क्रान्ति के द्वारा तुरन्त राज्य का विनाश कर देना चाहता है।

1. राज्य एक अप्राकृतिक तथा अनावश्यक संस्था

व्यक्तिवादी विचारक राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते हैं जिसका अर्थ यह है कि मूल रूप से राज्य एक बुरी संस्था है किन्तु उसके बगैर शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती, अतः वह आवश्यक है। इसी कारण व्यक्तिवादी राज्य का अन्त करने के बजाए उसके कार्यक्षेत्र तथा शक्तियों को अत्यधिक सीमित कर देना चाहते हैं। अराजकतावादी राज्य को सबसे बड़ा दुश्मन समझते हैं अतः वे उसका अन्त कर देना चाहते हैं क्योंकि वह एक बेकार तथा हानिकारक संस्था है। इस सम्बन्ध में अराजकतावादी निम्न तर्क देते हैं।

(i) राज्य मनुष्य के स्वभाव के प्रतिकूल हैं :

क्रोपॉटकिन का तर्क यह है कि इतिहास बताता है कि युगों तक मनुष्य बिना राज्य के स्वैच्छिक संघों में संगठित होकर शान्ति और सुख का जीवन व्यतीत करता रहा है। मनुष्य स्वभाव से सामाजिक है और वह पारस्परिक सहयोग तथा परोपकार की भावना से प्रेरित रहते हैं। कानून के अभाव में प्रथाओं और परम्पराओं द्वारा उनका जीवन नियंत्रित होता था। व्यक्तिगत संपत्ति के उदय के कारण समाज में वर्गों का जन्म हुआ, एक वह जिसके पास संपत्ति थी और दूसरा वह जो संपत्ति-विहीन था। पहले वर्ग को पूँजीपति और दूसरे को श्रमिक कहा गया। उत्पादन के समस्त साधनों पर कुछ व्यक्तियों अर्थात् पूँजीपतियों का अधिकार हो गया, वहीं से व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति का शोषण प्रारम्भ हुआ।

राज्य का निर्माण पूँजीपतियों का रक्षा करने और श्रमिकों का दमन करने के लिए हुआ। राज्य के कानून प्राचीन प्रथाओं और रीतिरिवाजों का लिखित रूप हैं। इसलिए राज्य और कानून सभी अनावश्यक हैं। अराजकतावाद का कहना है कि राज्य इस असत्य धारणा पर टिका हुआ है कि मनुष्य स्वभाव से प्रतियोगी और असामाजिक हैं। उसका कहना है कि विकास के लिए संघर्ष की नहीं सहयोग की आवश्यकता है। यदि राज्य का अन्त कर दिया जाए तो व्यक्ति सहयोग तथा स्वतंत्रता की भावना के साथ शान्तिपूर्ण-जीवन व्यतीत करेंगे। क्रोपोटकिन के अनुसार राज्य सदैव पूँजीवादियों का समर्थक और संरक्षक रहा है और उसने दमनकारी तरीकों को अपना कर वैयक्तिक स्वतंत्रता का हनन किया है। अतः राज्य मानव स्वभाव के प्रतिकूल है।

(ii) राज्य के कार्यों में निपुणता का अभाव :

अराजकतावाद की मान्यता है कि राज्य जो भी कार्य करता है उसमें निपुणता का अभाव होता है। क्योंकि वह शक्ति और दण्ड के भय के द्वारा अपने लक्ष्यों को पूरा करता है। शक्ति को प्रयोग करके वह व्यक्ति को अमानुषिक बना देता है। मनुष्य स्वभाव से शान्ति-प्रिय होता है। अतः वह स्वैच्छिक संघों द्वारा उन सभी कार्यों को उससे कहीं ज्यादा अच्छी तरह संपादित कर सकता है जिस तरह राज्य उन कार्यों को करता है। उनका कहना है कि सुरक्षा जैसे महत्वपूर्ण कार्य को भी स्वैच्छिक संघ राज्य से ज्यादा अच्छी तरह कर सकते हैं। अतः स्थायी सेना की भी कोई आवश्यकता नहीं है। क्रोपाटकिन के अनुसार "स्थायी सेनाएँ सदैव ही आक्रान्ताओं द्वारा परास्त होती रही हैं और इतिहास की दृष्टि में उन्हें देश से बाहर निष्कासित करने में जनक्रान्तियाँ अधिक सफल हुई हैं। (Standing armies are always beaten by invaders who have historically been repulsed only by spontaneous uprisings.)

अराजकतावादी विचारक यह तर्क देते हैं कि वर्तमान काल में राज्य जिन कार्यों का संपादन करता है उसमें कोई कार्य ऐसा नहीं है जो स्वतंत्र संघों के द्वारा नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, निर्माण-कार्य, सड़कें बनाना, परिवहन आदि ऐसे कार्य हैं जो राज्य के होते हुए भी अधिक सफलता के साथ स्वैच्छिक समुदायों द्वारा संपादित किए जाते हैं। अतः राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं है। राज्य एक सामाजिक नासूर है और इसका तुरन्त

अन्त कर देना चाहिए। डिकिन्सन (Dikenson) के अनुसार "आधुनिक सरकार का अर्थ है दबाव, पृथकता, एकाकीपन तथा दण्ड, जबकि अराजकता का अर्थ है स्वतंत्रता, प्रेम तथा सहयोग।" अराजकतावादियों का कहना है कि सत्ता का नशा अच्छे से अच्छे व्यक्ति को खराब और अत्याचारी बना देता है। वे राज्य को दासता का चिन्ह बतलाते हैं।

(iii) नैतिक पतन का जनक

अराजकतावाद का कहना है कि राज्य ने सीधे-सीधे मनुष्यों को दुष्ट, स्वार्थी तथा अनैतिक बना दिया है। व्यक्ति जन्म या स्वभाव से अपराधी नहीं होता, सामाजिक वातावरण उसे खराब बना देता है। राज्य आर्थिक असमानता उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप व्यक्ति कानून और व्यवस्था को तोड़ने के लिए मजबूर हो जाता है। राज्य ऐसे दूषित वातावरण को उत्पन्न करता है जिसमें व्यक्ति अपराध की ओर उन्मुख हो जाता है। न्याय और व्यवस्था के नाम पर राज्य व्यक्ति का शोषण करता है और उसकी स्वतंत्रता का हनन करता है। राज्य शक्ति का प्रयोग करके व्यक्तियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने के लिए बाध्य करता है। वह मनुष्य पर विभिन्न प्रकार के कृत्रिम बंधन लगाकर उसके विकास को रोक देता है।

2. प्रतिनिधि शासन का विरोध

अराजकतावाद राज्य को मूलतः एक अभिशाप समझता है। उसका कहना है कि सरकार चाहे जिस प्रकार की हो उसकी कार्यशैली एक सी रहती है। अराजकतावाद जनतंत्रीय शासन व्यवस्था की कटु आलोचना करता है। उसके अनुसार, इस शासन प्रणाली में चुनाव हर 4-5 वर्ष के बाद होते हैं और यह दावा किया जाता है कि सरकार को बनाने और बदलने की अन्तिम शक्ति जनता के पास है, लेकिन यह एक धोखा है। चुनाव के बाद चुने गए प्रतिनिधियों का मतदाताओं से बहुत कम संपर्क रहता है और वे जनता के सेवक होने के बजाए उनके स्वामी बन जाते हैं। प्रतिनिधि शासन का सबसे बड़ा दोष यह है कि 'प्रतिनिधि' कहलाने वाला व्यक्ति एक चुनाव-क्षेत्र में विभिन्न व्यवसायों में लगे व्यक्तियों का वास्तव में प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। दूसरे यह कि चुनाव पर पूँजीपतियों का नियंत्रण और प्रभाव रहता है और वे अपने पैसे के बल पर अपनी पसंद के उम्मीदवारों को निर्वाचित कराने में प्रायः सफल हो जाते हैं। इसीलिए अराजकतावादी विचारक निर्वाचन को पूँजीपतियों का क्रीड़ा स्थल कहते हैं। संक्षेप में अराजकतावाद प्रतिनिधात्मक जनतंत्र का भी घोर विरोध करता है। उसकी मान्यता है कि सार्वजनिक जनता शासन करने के योग्य नहीं होती। मनुष्य के नैतिक विकास के लिए लोकतंत्र भी उतना ही घातक है जितना कि वर्गतंत्र या निरंकुशतंत्र। दोष किसी प्रकार की शासन प्रणाली का नहीं है बल्कि दोष स्वयं राजसत्ता में है।

3. पूँजीवाद का विरोध

समाजवादी और साम्यवादी दर्शन की तरह अराजकतावाद भी पूँजीवाद का कठोर विरोधी है और उसका जल्द से जल्द अन्त कर देने पर बल देता है। उसका कहना है कि पूँजीवाद में मुट्ठी भर लोग बहुत से व्यक्तियों के श्रम से अधिक से अधिक लाभ कमाते हैं और

श्रमिकों का आर्थिक शोषण करते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में जो धनिक हैं वे और ज्यादा धनिक और जो गरीब हैं वे और अधिक गरीब होते जाते हैं। आर्थिक असमानता समाज के विभिन्न वर्गों के बीच, विशेषकर श्रमिकों और पूँजीपतियों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर देती है। श्रमिकों का निरन्तर शोषण किया जाता है। अतः अराजकतावाद पूँजीवाद को तुरन्त समाप्त कर देना चाहता है।

4. व्यक्तिगत संपत्ति का निषेध

पूँजीवाद की निन्दा करने से कारण अराजकतावादी व्यक्तिगत संपत्ति का घोर विरोध करते हैं। उनका कहना है कि व्यक्तिगत संपत्ति ही समाज में आर्थिक शोषण और राजनैतिक अव्यवस्था का मूल कारण है। प्रोधाँ (Proudhan) के अनुसार "प्रत्येक प्रकार की संपत्ति चोरी है" (Every Property is a theft)। अराजकतावादी व्यक्तिगत संपत्ति को दैवी पाप से कम नहीं सनझते। उनका कहना है कि व्यक्तिगत संपत्ति का मोह ही समाज में उत्पन्न होने वाले संघर्षों और अत्याचारों का कारण है। इसका अन्त कर देने से व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अपनी प्राकृतिक अवस्था में आजाएगा और आर्थिक समानता की स्थापना होगी। अराजकतावाद का व्यक्तिगत संपत्ति विषयक विचार साम्यवाद का अनुकरण मात्र है।

5. धर्म की भर्त्सना

मार्क्स का कहना था कि धर्म मनुष्यों के लिए अफीम (Opium) की तरह है जिसके नशे में मनुष्य अपने अधिकार और कर्तव्य सभी भूल जाता है और अपना विवेक खो बैठता है। अराजकतावाद भी धर्म और धार्मिक पाखण्डों की कटु आलोचना करता है उसका कहना है कि धर्म भी गरीबों के शोषण का एक साधन है। इसने गरीबों को अपने भाग्य पर निर्भर रहना सिखाया है और धनवानों ने धर्म को शोषण के एक यंत्र के रूप में इस्तेमाल किया है। इसीलिए अकाजकतावाद धार्मिक पाखण्डों कौ बौद्धिक नपुंसकता का नाम देता है।

6. विकेन्द्रीकरण का पोषक

राज्य के विरुद्ध अराजकतावादियों का एक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि राज्य में शक्तियों का केन्द्रीकरण पाया जाता है। जिसके कारण स्थानीय समस्याओं का अच्छी तरह समाधान नहीं हो पाता। केन्द्रित राज्य हिंसात्मक तथा अमानुषिक शक्ति का प्रतीक होता है। इसलिए अराजकतावादी शासन सत्ता को स्थानीय संस्थाओं को सौंप देना चाहते हैं। उनका कहना है कि स्थानीय महत्व के विषयों का प्रशासन स्वैच्छिक संस्थाओं के द्वारा चलाया जाना चाहिए। सत्ता के विकेन्द्रीकरण से जनता में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता और अपनी समस्याओं के निराकरण के लिए ज्यादा उत्साह उत्पन्न होगा। इससे स्थानीय संस्कृति का विकास तेजी से होगा। आर्थिक दृष्टि से भी विकेन्द्रीकरण लाभदायक होगा। इससे स्थानीय उद्योग-धन्धों का तेजी से विकास होगा। जोड को अनुसार "अराजकतावाद प्रादेशिक तथा व्यावसायिक विकेन्द्रीकरण का सबसे प्रबल समर्थक तथा पोषक है।"

7. ऐच्छिक संघों द्वारा शासन

जैसा पहले बताया जा चुका है, राज्य के उन्मूलन के बाद उत्पादन और प्रशासन के कार्य ऐच्छिक संघों के द्वारा किए जाएँगे। व्यक्ति अपनी इच्छा से अलग-अलग कार्यों के लिए अलग-अलग संघों या समुदायों का निर्माण करेंगे। जैसे खेती करने वाले संगठित होकर समाज के लिए अन्न, गन्ना, रूई आदि का उत्पादन करेंगे। इसी प्रकार मकान बनाने वालों, जूता बनाने वालों, कपड़ा बनाने वालो, आदि के पृथक्-पृथक संघ होंगे। यह समुदाय आवश्यकतानुसार बनाए जाएँगे और उद्देश्य पूरा हो जाने पर स्वयं ही समाप्त होते जाएंगे। इनकी कार्य प्रणाली का आधार शक्ति या बल नहीं स्वैच्छिक सहयोग होगा। विभिन्न समुदायों द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुएँ सबकी सामान्य संपत्ति होंगी और वे नागरिकों में उनकी आवश्यकता के आधार पर वितरित की जाएंगी। डिकिन्स के शब्दों में "समुदायों का एक जटिल ताना बाना जिसमें सर्वत्र व्यवस्था बनी रहती हैं और कहीं पर भी बाध्यता नहीं रहती, अराजकतावादी समाज के निर्माण की सामग्री है, क्योंकि अराजकता व्यवस्था का अभाव नहीं, बल्कि प्रतिबन्धों का अभाव है।"

आर्थिक जीवन में कोई प्रतियोगिता तथा प्रतिद्वन्दिता न होकर मित्रता होगी। स्वैच्छिक संघ पूरे समाज के कल्याण के लिए कार्य करेंगे। व्यक्तिगत संपत्ति का अन्त कर देने से वर्ग संघर्ष और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाएगा। बेरोजगारी और गरीबी खत्म हो जाएगी और हर व्यक्ति को उसके श्रम का उचित मूल्य मिलेगा। इस प्रकार सामाजिक न्याय की स्थापना होगी। यह एक शोषण मुक्त, वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन सामाजिक व्यवस्था होगी जिसमें स्वैच्छक संघ समाज की समस्त शक्तियों का संचालन और नियंत्रण करेंगे।

16.5 अराजकतावाद के साधन

राज्य का शीघ्र अतिशीघ्र अन्त कर देना चाहिए, इस पर तो सभी अराजकतावादी विचारक एकमत हैं परन्तु राज्य का अन्त किन साधनों से किया जाए इस विषय पर उनमें मतभेद हैं। एक ओर दार्शनिक अराजकवादी हैं जिन्हें ईसाई अराजकतावादी भी कहा जाता है जो अहिंसात्मक तरीकों से राज्य का अन्त करना चाहते हैं। इस दृष्टिकोण के प्रतिनिधि विचारक टॉलस्टाय (Tolstoy) हैं जो किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साध्य और साधनों दोनों ही को समान महत्व देते हैं। दूसरी ओर अराजकतावादी विचारकों का एक समूह राज्य का अन्त करने के लिए क्रान्तिकारी पद्धति को अपनाने का सुझाव देता है। ऐसे विचारकों को क्रान्तिकारी अराजकतावादी विचारक कहा जाता है। बाकूनिन (Bakunin) तथा क्रोपोटकिन इस समूह के प्रतिनिधि विचारक हैं। क्रान्तिकारी विचारक हिंसात्मक ढंग से राज्य का विनाश करने पर बल देते हैं। वे व्यक्तिगत संपत्ति का विरोध करते हैं और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सामाजिक स्वतंत्रता के अधीन मानते हैं। अराजकतावादी, साधनों की बहुत विस्तृत चर्चा नहीं करते। उनका संबंध साधनों की अपेक्षा साध्य से अधिक है।

16.6 अराजकतावादी समाज का स्वरूप

उद्देश्य की दृष्टि से साम्यवाद और अराजकतावाद एक दूसरे के बहुत करीब हैं। दोनों ही राज्य -विहीन, वर्ग-विहीन तथा व्यक्तिगत संपत्ति-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। लेकिन साम्यवाद क्रान्तिपोरान्त स्थापित होने वाले समाज की विस्तृत व्याख्या नहीं करता वह केवल इतना कहकर समाप्त कर देता है कि ''राज्य का लोप हो जाएगा''। राज्य के विलीन हो जाने के बाद समाज का भावी स्वरूप क्या होगा, अराजकतावाद, इस का विस्तार से उल्लेख करता है। अराजकतावादी समाज के निम्न लक्षण होंगे-

1. राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज

अराजकतावाद राज्य और व्यक्तिगत संपत्ति का अन्त करके एक राज्य-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करता है। यह एक आदर्श समाज होगा। जिस में व्यक्ति पर न तो राज्य जैसे किसी दमनकारी शक्ति का नियंत्रण होगा न पुलिस और सेना का भय। यह समाज आर्थिक शोषण से मुक्त होगा। न इस समाज में पूँजीपति होंगे, न कोई वर्ग और न ही कोई वर्ग-संघर्ष और न ही उस पर धर्म का कोई अंकुश होगा। प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक अर्थों में स्वतंत्र होगा और दूसरों की स्वतंत्रता का आदर करेगा। सद्भावना और पारस्परिक सहयोग सामाजिक जीवन का आधार होंगे। अराजकतावादी समाज में व्यक्ति को 20 वर्ष से लेकर 50 वर्ष की आयु तक कार्य करने के योग्य माना जाएगा। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पसंद का कार्य दिया जाएगा और हर रोज वह लगभग चार से पाँच घण्टों तक काम करेगा।

2. प्रत्येक श्रमिक को अपनी इच्छा से कार्य करना होगा और यदि वह काम नहीं करता तो पहले उसे समझाया गया और यदि इसके बाद भी वह काम नहीं करता तो उसका बहिष्कार कर दिया जाएगा। यदि बहिष्कार का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो उसकी चिकित्सा के लिए उसे सुधार घर में रखा जाएगा। चूंकि यह समाज स्वतंत्रता और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित होगा अतः इसमें अपराधों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। यदि कोई विवाद उत्पन्न होता है तो उसका निर्णय जनता के द्वारा स्थापित किए गए पंच न्यायालय करेंगे। यह एक आदर्श व्यवस्था होगी जिसमें हर व्यक्ति सुख और शान्ति के साथ रहेगा। उत्पादन तथा उपभोग संबंधी वस्तुओं का वितरण हर व्यक्ति की आवश्यतानुसार किया जाएगा। सबसे पहले दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ दी जाएँगी और बाद में विलासिता संबंधी वस्तुएँ। वस्तुएँ पहले बच्चों, बूढ़ों तथा असहाय व्यक्तियों को दी जाएंगी।

3. समाज का पिरामिडिकल स्वरूप

अराजकतावादी समाज की प्रथम इकाई स्थानीय संघ होंगे। प्रत्येक कार्य को करने वालों अथवा विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों के पृथक्-पृथक संघ या समुदाय होंगे। इन संघों का निर्माण व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते के द्वारा किया जाएगा। स्थानीय संघ प्रादेशिक संघ के लिए अपने प्रतिनिधि/सदस्य चुनेंगे और प्रादेशिक संघों द्वारा निर्वाचित किए गए प्रतिनिधियों से राष्ट्रीय संघ का निर्माण करेंगे। इस प्रकार समाज का संगठन

नीचे से ऊपर की ओर होगा। स्थानीय संघ स्थायी तथा स्वतंत्र होंगे। अन्य संघ अस्थायी होंगे क्योंकि उनका निर्णय एक समस्या विशेष के उत्पन्न होने के बाद किया जाएगा। प्रत्येक समस्या पर पहले कम्यून में विचार किया जाएगा उसके बाद उस पर प्रादेशिक और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर गठित किए जाने वाले संघ विचार करेंगे। प्रत्येक समस्या से संबंधित विशेषज्ञ उसके प्रतिनिधि होंगे। इस व्यवस्था में दो बातें ध्यान देने योग्य है। प्रथम, जनतंत्रीय प्रणाली में निर्णय लेने में विशेषज्ञों की भूमिका बहुत कम होती है, अराजकतावादी व्यवस्था में समस्याओं का निराकरण करने का कार्य संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञों द्वारा किया जाएगा। द्वितीय, अराजकतावाद समस्याओं का अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार अन्तराष्ट्रीय संघ को देता है। इस प्रकार वह अन्तर्राष्ट्रीयवाद का पोषक है।

16.7 अराजकतावाद की आलोचना

अराजकतावाद जिस आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत करता है वह निःसन्देह बड़ा आकर्षक है लेकिन इस में संदेह है कि इस प्रकार की व्यवस्था वास्तव में स्थापित की जा सकेगी। आलोचकों ने इसके विरुद्ध निम्नलिखित आपत्तियाँ उठाई हैं -

1. अराजकतावाद की मौलिक मान्यता यह है कि मनुष्य स्वाभाव से शान्ति-प्रेमी और सदगुणी होता है, सामाजिक वातावरण उसे खराब बना देता है। इसके लिए वह राज्य को दोषी ठहराता है और इसीलिए अराजकतावाद राज्य का अन्त कर देना चाहता है। मनुष्य के स्वभाव का यह चित्रण एकांगी है। मनुष्य में गुणों के साथ-साथ व्यक्तिगत स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष और घृणा जैसे अवगुण भी पाए जाते हैं। अतः मनुष्यों को एकदम से इतना अच्छा कैसे बना दिया जाएगा कि राज्य जैसी किसी बाध्यकारी शक्ति के अभाव में भी वे स्वैच्छिक संघों में शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकेंगे। इस दृष्टि से अराजकतावादी समाज मात्र एक कल्पना और एक आदर्श के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

2. अराजकतावाद आवश्यकता से अधिक आशावादी है। एक ओर वह मानव स्वभाव के अच्छेपन में बहुत ज्यादा विश्वास व्यक्त करता है और दूसरी ओर सैकड़ों की संख्या में बनने वाले स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय संघों की कार्यकुशलता में अटूट आस्था प्रदर्शित करता है। वह इस बात को भूल जाता है कि राज्य के स्थान पर कार्य करने वाले इन स्वैच्छिक संघों के बीच निरन्तर संघर्ष होता रहेगा और उससे सामाजिक अव्यवस्था बनी रहेगी। अतः संघों की यह योजना अव्यावहारिक है।

3. अराकजतावादी व्यक्ति को ज्यादा स्वतंत्रता देने के पक्षधर हैं। उनका विचार है कि राज्य का अस्तित्व व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए बाधक और घातक दोनों ही हैं। स्वतंत्रता के विषय में यह विचार भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। अनुभव यह बताता है कि निर्बाध स्वतंत्रता उच्छृंखलता को जन्म देती है और इससे अशान्ति और अव्यवस्था उत्पन्न होती है। अतः वास्तविक स्वतंत्रता बंधनों के आभाव में नहीं, विवेक-युक्त बंधनों के अस्तित्व में ही निहित है।

4. अराजकतावादियों का राज्य के विरुद्ध यह आरोप है कि उसने कभी कोई महान कार्य नहीं किया है। आलोचकों का कहना है कि यह आरोप इतिहास की कसौटी पर सच्चा नहीं उतरता। इतिहास से इस बात का प्रमाण मिलता है कि दुनिया के विभिन्न देशों ने अब तक जो उन्नति की है वह राज्य के माध्यम से हुई है। यहाँ तक कि राज्य ने व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में भी बहुमूल्य योगदान दिया है। अतः राज्य को मात्र एक दमनकारी संस्था मानकर उसकी निन्दा करना उचित प्रतीत नहीं होता।

5. आधुनिक काल में राज्य का कार्य-क्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा है और व्यक्ति राज्य पर ज्यादा से ज्यादा निर्भर होता जा रहा है। राज्य में व्यक्ति की बढ़ती हुई आस्था इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति राज्य के बगैर अपने व्यक्तित्व का विकास करने में अक्षम है, वह उसे आवश्यक समझता है।

6. अराजकतावाद की मूल धारणा यह है कि मनुष्य अपने सम्पूर्ण जीवन का संचालन और नियंत्रण करने में सक्षम है, उसके ऊपर राज्य जैसी किसी प्रभुसम्पन्न और बाध्यकारी शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। इस विचार में अन्तर्निहित विरोध पाया जाता है। राज्य मनुष्यों से निर्मित एक संगठन या समुदाय है। यदि मनुष्य अच्छे हैं तो राज्य भी अच्छा होगा। इसी प्रकार अराजकतावाद समाज में जिन स्वैच्छिक संघों के हाथ में सत्ता सौंपना चाहता है वे भी मनुष्यों से ही बनते हैं। यदि मनुष्यों से निर्मित यह संघ अच्छे हो सकते हैं तो फिर उन्हीं मनुष्यों से निर्मित राज्य, कैसे खराब संगठन हो सकता है। संघ और राज्य दोनों ही के घटक व्यक्ति हैं। अतः एक खराब और दूसरा अच्छा कैसे हो सकता है।

7. अराजकतावादी समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक झगड़ों तथा विभिन्न संघों के बीच उत्पन्न होमे वाले विवादों का निपटारा कैसे किया जाएगा, इसका कोई संतोषजनक तरीका नहीं बताया गया है। राज्य जैसी किसी सर्वोच्च शक्ति के अभाव में यह कार्य कौन और कैसे संपादित करेगा। यदि इसके लिए राष्ट्रीय स्तर पर कोई संघ बनाया जाएगा तो उसे समुचित शक्ति दिए बगैर यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, और अगर उसे शक्तिसंपन्न बना दिया गया तो फिर उस संघ और राज्य के बीच नाम के अतिरिक्त और क्या अन्तर रहेगा। इस संबंध में एक अराजकतावादी विचारक चार्ल्स फोरीयर (Charles Fourier) का कहना है कि व्यक्ति स्वयं ही आपस में समन्वय कार्य कर लेंगे। इसको समझने के लिए उन्होंने यह उदाहरण दिया कि "कुछ कंकड़ लो और उन्हें एक डिब्बे में डाल दो, फिर डिब्बे को हिलाओ। कंकड़ अपने आप को इस कलात्मक ढंग से व्यवस्थित कर लेंगे जैसा कि किसी कुशल व्यक्ति को इस काम को समर्पित करने के पश्चात् भी उस सुन्दरता के साथ नहीं व्यवस्थित किया जा सकता।" यह युक्ति सुनने में भले ही अच्छी लगती हो लेकिन वास्तव में यह निराधार तर्क है। पहली बात यह है कि मनुष्यों की तुलना कंकड़ जैसी निर्जीव वस्तु से करने का ही कोई औचित्य नहीं है। दूसरे यह कि कंकड़ों को व्यवस्थित करने के लिए डिब्बे को हिलाना

ज़रुरी है, मात्र डिब्बे में डाल देने से कंकड़ व्यवस्थित रूप न प्राप्त कर सकेंगे। प्रश्न है कि सजीव, विवेकपूर्ण और स्वतंत्र व्यक्तियों और उनसे निर्मित स्वैच्छिक संघों के बीच सामन्जस्य स्थापित करने के लिए अराजकतावादी समाज में "डिब्बे को हिलाने" का काम कौन करेगा।

8. यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि राज्य अस्तित्व में कब आया, लेकिन तमाम विरोधों, आक्षेपों, आलोचनाओं, आन्दोलनों और राज्य-विरोधी विचारधाराओं के बाद भी आज तक किसी भी देश में कभी भी राज्य का विनाश नहीं किया जा सका जो स्वयं में राज्य की उपयोगिता और अपरिहार्यता का प्रमाण है। अतः राज्य के विनाश का विचार अब तक एक कल्पना या आदर्श से आगे नहीं बढ़ सका है।

9. राज्य और पूँजीवाद के साथ ही अराजकतावाद धर्म को भी शोषण का एक प्रबल यंत्र मानकर उसका भी अन्त कर देना चाहता है, जो गलत है। यह हो सकता है कि कभी किसी देश में धर्म को सामाजिक शोषण के एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया गया हो। अगर ऐसा हुआ भी है तो इसमें धर्म का क्या दोष है, दोष तो उन व्यक्तियों का है जिन्होंने धर्म का दुरूपयोग किया। धर्म मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में सकारात्मक भूमिका अदा करता है। वह व्यक्ति में अनुशासन, कर्तव्यपरायणता, सद्भावना, प्रेम, दया और बलिदान जैसे नैतिक गुणों को उत्पन्न एवं विकसित करता है। इसलिए धर्म-विहीन समाज की कल्पना करना पूर्णतया अव्यावहारिक है।

10. पूँजीवाद और राज्य का अन्त करने के लिए अराजकतावाद हिंसात्मक एवं क्रान्तिकारी साधनों को अपनाने का सुझाव देता है। आलोचकों का कहना है कि मात्र बल का प्रयोग करके हम किसी सामाजिक व्यवस्था को चिरस्थाई रूप में नहीं बदल सकते। क्रान्ति, क्रान्ति को जन्म देती है। इसलिए बगैर वैचारिक परिवर्तन लाए हुए मात्र शक्ति या हिंसा के बल पर कोई परिवर्तन लाना संभव न होगा।

11. व्यक्तिगत संपत्ति के विषय में अराजकतावादियों की यह धारणा कि "प्रत्येक संपत्ति चोरी है" बिल्कुल गलत है। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत संपत्ति प्रतियोगिता को जन्म देती है जिससे उत्पादन में गुणगत और मात्रागत वृद्धि होती है। अतः संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व होना अपने में कोई बुरी बात नहीं है यदि उसे समाजोपयोगी बनाया जा सके। अरस्तू ने व्यक्तिगत संपत्ति को एक प्राकृतिक संस्था माना है जो मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है। वह मनुष्य के नैतिक विकास के लिए भी संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त का समर्थन करता है। लेकिन शर्त यह लगाता है कि उसका प्रयोग सार्वजनिक हित में किया जाए।

2. अराजकतावाद स्वैच्छिक संघों के गठन की जो व्यवस्था बताता है वह अत्यधिक अस्पष्ट तथा अव्यावहारिक प्रतीत होती हैं। उसका कहना है कि हर बार एक नई समस्या का निराकरण करने के लिए प्रादेशिक और राष्ट्रीय संघों की रचना की जाएगी ताकि विभिन्न

(स) गाडविन

(द) लास्की

प्र02 अराजकतावादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर किसका स्वामित्व होगा?

(अ) व्यक्तियों का

(ब) ऐच्छिक संघों का

(स) राज्य का

(द) उपर्युक्त सभी का

प्र03 "राज्य एक आवश्यक बुराई है।" यह कथन किसका है?

(अ) साम्यवाद

(ब) अराजकतावाद

(स) व्यक्तिवाद

(द) उपर्युक्त में से किसी का नहीं

16.11 प्रश्नोत्तर

1- द, 2-ब, 3-द